सिद्धान्त से संयुक्त (उज्जाणम्मि समोसढं) उद्यान में समवसृत यानी विराजित (गणिं) आचार्य जीको (पुच्छंति) पूछते हैं कि हे भगवन् ! (भे) आप जैन साधुओं का (आयार गोयरो) आचार गोचर (कह) किस प्रकार का है ॥ १ २ ॥

मूलार्थ—राजा, राज मन्त्री, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय आदि लोग निश्चल चित से ज्ञान दर्शन सपन्न, संयम और तपकी क्रियाओं में पूर्णतया रत, आगम ज्ञानी, उद्यान में पधारे हुए आचार्य जी से पूछते हैं कि हे भगवन् ! आपका आचार गोचर क्रिया कलाप कैसा है ! कृपया जैसा हो वैसा बतलाइये ॥ १-२ ॥

भाष्य—पूर्व पिण्डैषणा अध्ययन में साधुओं की भिक्षा विशुद्धि पर शास्त्रकार द्वारा काफी प्रकाश डाला जा चुका है। अब प्रसंग वश इस अध्ययन द्वारा प्रश्नोत्तर रूप में साधुओं के अन्य संयमाचार पर भी समुचित प्रकाश डाला जाता है।

इस प्रारम्भिक गाथा युग्म में प्रश्न, प्रश्न कर्ता, तथा उत्तर दाता तीनों की असाधारणता का वर्णन किया है। प्रश्न और प्रश्न कर्ता राजा, राज मन्त्री, ब्राह्मण आदि की असाधारणता स्वयं सिद्ध है। उत्तर दाता आचार्य जी की असाधारणता, ज्ञान दर्शन सपन्न आदि सुविशाल विशेषणों से सूत्रकार ने स्पष्टतः बतलादी है। अस्तु, प्रयोजन-उत्तर सिद्धि के लिये तीनों में असाधारणता का होना अतीव आवश्यक मानागया है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है, कि जब पहले आचार्य को ज्ञान दर्शन संपन्न के सुन्दर विशेषण से समलंकृत करदिया है तो फिर आगे जाकर आगम संपन्न का दूसरा व्यर्थ का विशेषण क्यों दिया है?

उत्तर में कहना है कि-बहुत से आगमों की प्रधानता दिखाने के लिये—आचार्य को विशिष्ट श्रुतधर सिद्ध करने के लिये—गुरुगत अनुयोग शैली की परंपरा को अविच्छिन्न सिद्ध करने के लिये-तथा आचार्य जी का शुद्ध बोधितत्व प्रकट करने के लिये "आगम सपन्न" का विशेषण दिया गया है अतः इसको व्यर्थ की आशङ्का करना सर्वथा व्यर्थ है।

दूसरी प्रश्न विषयिक आशङ्का होती है कि-प्रश्न में 'आचार -और 'गोचर यह दो शब्द क्यों है? मोक्षादि सम्बन्धी अन्य ऊँचे जटिल प्रश्न क्यों नहीं किए?

समाधान स्पष्ट है कि- आचार शब्द से सदाचार का और गोचर शब्द से भिक्षा वृत्ति का ग्रहण है। दोनों का शुद्ध पालने का जो मुख्योद्देश है वह निर्वाण प्राप्ति करना है ही। अतः भाव गाम्भीर्य के विशाल दृष्टि बिन्दु से सब से पहले आचार और गोचर का ही प्रश्न किया है। इसी प्रश्न में अन्य सब प्रश्नों का समावेश हो जाता है। इस के साथ ही यह भी भली भाँति जानलेना चाहिए कि जिसका आचार और आहार शुद्ध होता है, वही सच्चा आस्तिक कहलाता है। सो आस्तिक का मुख्य उद्देश निर्वाण पद प्राप्त करना है। सच्चे आस्तिक की तृप्ति उरे परे की स्वर्ग आदि वस्तुओं से नहीं होती। वह तो मंजिल मक्सूद पर आकर ही दमलेता है।

अध्ययन के नाम के विषय में पूछा जाता है कि-इस वर्णित अध्ययन का नाम महाचार कथाख्य क्यों रक्खा गया है? ऐसी इसी नाम की इसमें क्या वर्णनीय विशेषता है?

उत्तर में कहाजाता है कि- जो सयमाचार 'क्षुल्लक चार कथाख्य' तीसरे अध्ययन में वर्णित है; उस की अपेक्षा यह महाचार कथाख्य अध्ययन है अर्थात् उसकी अपेक्षा इस अध्ययन में आचार सम्बन्धी वर्णन उत्कृष्ट रूपसे सविस्तर प्रतिपादन किया गया है ॥ १-२ ॥

उत्थानिका—राजा आदि के प्रश्न के अनतर आचार्य जी कहते हैं—

तेसिं सो निहुओ दंतो , सव्वभूअसुहावहो ।
सिक्खाए सुसमाउत्तो , आयक्खइ वियक्खणो ॥ ३ ॥

तेभ्यः स निभृत दान्त , सर्वभूत सुखावह ।
शिक्षया सुसमायुक्त , आख्याति विचक्षणः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(निहुओ) भय से रहित-असंभ्रान्त (दंतो) इन्द्रियजयी (सव्वभूअसुहावहो) समस्त जीवों का हित करने वाला (सिक्खाए) ग्रहण आसेवन रूप शिक्षासे (सुसमाउत्तो) भली भाँति सयुक्त एव (वियक्खणो) परम विचक्षण (स) वह आचार्य (तेसिं) उन राजा आदि प्रश्न-कर्ताओं से (आयक्खइ) प्रश्न के उत्तर में कहता है ॥ ३ ॥

मूलार्थ—सर्वथा असभ्रान्त, चञ्चल इन्द्रियों को जीतने वाले, सब जीवों को सुख पहुँचाने वाले, ग्रहण और आसेवन रूप शिक्षाओं से सयुक्त, परम विचक्षण वे उद्यान विराजित आचार्य-

उनराजा आदि प्रश्नकर्ताओं से उत्तर में कहते हैं ॥ ३ ॥

भाष्य—इस गाथा में उत्तर दाता आचार्य जी के श्रेष्ठ गुणों का वर्णन किया गया है। जैसे कि व आचार्य सब प्रकार के भयों से रहित हैं, पाँचों इन्द्रियों और मनको जीतने वाले हैं,। ग्रहण और आसेवन रूप शिक्षा विधि के सुमर्मज्ञ हैं, चालू समय की परिस्थिति को ठीक-ठीक जानने वाले हैं, इतनाही नहीं, किन्तु संसार के सभी जीवों के परम हित चिन्तक यानी परम हितकारी हैं।

अस्तु एवं विध गुणोपपेत व आचार्य जी महाराज अब प्रश्नकर्ता राजा आदि लोगों के प्रश्न के उत्तर में विस्तृत विवेचना करते हुए कहना शुरू करते हैं।

इसगाथा के कहने का आशय यह है कि—जब तक वक्ता सब प्रकार के वक्ता के योग्य गुणों से सुशोभित नहीं होगा, तबतक उसका प्रतिवचन यानी उत्तर भी निष्पक्ष और असाधारण उपमा से उपमित नहीं होसकेगा। इसीलिये सूत्रकार ने आचार्य जी के मुख्य विशेषण रूपसे यह पद पढा है कि "सिक्खाए सुसमाउत्तो"। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि-'आचार्य जी ग्रहण और आसेवन रूप सुन्दर शिक्षाओं से अतीव मर्यादया सुशोभित हैं।' क्यों कि जो आत्माएं सुशिक्षाओं से सुशोभित होते हैं, वही असम्भ्रान्त और विजितेन्द्रिय होते हैं। इतनाही नहीं—वे सबजीवों के सुखकारी भी होते हैं। उनकी तरफ से कोई ऐसी क्रिया नहीं होती, जिससे किसी को दुःख पहुचे। वे अपने शीतल-शान्त मधुर उपदेश से सब जीवों को—शत्रु, मित्र एवं उदासीनों को—एकभाव से सुख-शान्ति का दिव्य संदेश देते हैं।

उत्तर में कहाजाता है कि- जो संयमाचार 'क्षुल्लक आचार कथास्य' तीसरे अध्ययन में वर्णित है, उस की अपेक्षा यह महाचार कथाख्य अध्ययन है अर्थात् उसकी अपेक्षा इस अध्ययन में आचार सम्बन्धी वर्णन उत्कृष्ट रूपसे सविस्तर प्रतिपादन किया गया है ॥ १-२ ॥

उत्थानिका—राजा आदि के प्रश्न के अनतर आचार्य जी कहते हैं—

तेसिं सो निहुओ दंतो , सव्वभूअसुहावहो ।
सिक्खाए सुसमाउत्तो , आयक्खइ वियक्खणो ॥ ३ ॥

तेभ्य स निभृतः दान्तः , सर्वभूत सुखावह ।
शिक्षया सुसमायुक्त , आख्याति विचक्षणः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(निहुओ) भय से रहित-असंभ्रान्त (दंतो) इन्द्रियजयी (सव्वभूअसुहावहो) समस्त जीवों का हित करने वाला (सिक्खाए) ग्रहण आसेवन रूप शिक्षासे (सुसमाउत्तो) भली भाँति संयुक्त एव (वियक्खणो) परम विचक्षण (स) वह आचार्य (तेसिं) उन राजा आदि प्रश्न-कर्ताओं से (आयक्खइ) प्रश्न के उत्तर में कहता है ॥ ३ ॥

मूलार्थ—सर्वथा असम्भ्रान्त, चञ्चल इन्द्रियों को जीतने वाले, सब जीवों को सुख पहुँचाने वाले, ग्रहण और आसेवन रूप शिक्षाओं से संयुक्त, परम विचक्षण वे उद्यान विराजित आचार्य-

हंदि ! धर्मार्थ कामानां , निर्ग्रन्थानां शृणुत मम (सकाशात्) ।
आचार गोचरं भीमं , सकलं दुरधिष्ठितम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(हंदि) हे राजा आदि लोको ! तुम (धम्मत्थकामाणं) धर्मार्थ कामी (निग्गंथाणं) निग्रन्थों के (भीम) कर्म शत्रुओं के प्रति जो भयकर है और (दुरहिट्ठिअं) कायर पुरुषों के प्रति जो दुरधिष्ठित है—धारण करना असक्य है ऐसे (सयलं) समग्र (आयारगोयर) आचार गोचर को (मे) मुझसे (सुणेह) श्रवण करो ॥ ४ ॥

मूलार्थ—अयि जिज्ञासुओ ! जो धर्मार्थ की कामना करने वाले निर्ग्रन्थ हैं, उनके भीम और दुरधिष्ठित सम्पूर्ण आचार-गोचर का वर्णन मेरे से सावधान होकर सुनो ॥ ४ ॥

भाष्य—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि-जब उन राजा आदि लोगों ने आचार्य श्री से प्रश्न किया कि-हे भगवन ! आपका आचार गोचर किस प्रकार का है ? तब आचार्य श्री उक्त प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व उन लोगों को सबोधन द्वारा महात्माओं के महान् आचार विषय को सुनने के लिये सावधान करते हैं ।

जैसे कि-हे जिज्ञासु श्रोताओ ! जिन पवित्र आत्माओं ने संसार के दुःखसम्बन्ध को अपने अन्तःकरण से पूर्णरूपेण त्याग दिया है, उन धर्म और अर्थ की कामना करने वाले श्रमण निर्ग्रन्थों के भीम और दुरधिष्ठित आचार गोचर का विधान उपयोग पूर्वक मुझ से श्रवण करो ।

अस्तु उक्त गुणों के धारक, परम विचक्षण सत्पुरुष, जब जिस विषयका वर्णन करने लगेंगे, तब उस विषय को अत्यन्त स्फुट रूप से वर्णन करके वह चित्र ही खींच कर दिखा देंगे। जिसकी जिस विषय में अव्याहत गति है, वह अवश्यही उस विषय में श्रोता शिष्यों को मंत्र मुग्धसा कर देता है।

अब यहाँ सूत्रगत षष्ठी विभक्ति सम्बन्धी शङ्का के विषय में कहा जाता है कि—यद्यपि सूत्र में 'तेसिं '— तेषाम्' षष्ठी विभक्ति दी गई है परन्तु यह षष्ठी विभक्ति, चतुर्थी विभक्ति के ही स्थान में व्यवहृत है। क्योंकि प्राकृत भाषा में "चतुर्थ्याः षष्ठी" इस सूत्र से चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का ही विधान किया गया है।

यदि कोई सज्जन कहे कि—इस गाथा के निर्माता कौन हैं ? तो इस शङ्का के उत्तर में कहना है कि— स्वयं सूत्र कार ही इस गाथा के निर्माता हैं। उन्होंने सम्बन्ध पूर्ति के लिये इस गाथा का निर्माण किया है ॥ ३ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, जिज्ञासु जनों के प्रश्न के उत्तर में आचार्य जी ने क्या कहा ? यह कहते हैं—

हंदि धम्मत्थकामाणं, निग्गंथाण सुणेह मे ।
आयारगोयरं भीमं, सयलं दुरहिट्ठिअं ॥ ४ ॥

शुद्ध हो जाता है, ठीक उसी प्रकार इस आचार द्वारा कर्म मल के निकल जाने पर आत्मा स्वच्छ और शुद्ध हो जाती है।

सूत्रकारने जो 'दुरधिष्ठित' पद दिया है, उसका भी यही भाव है कि-सकल आचार का धारण करना दुर्बल आत्माओं के लिये असंभव नहीं है तो कठिन तो अवश्यमेव है। तथा इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि संपूर्ण आचार के स्थान पर असंपूर्ण आचार तो बहुत सी आत्माएँ पालन कर सकती हैं। जिससे वे उस जन्म से मोक्ष प्राप्ति न करते हुए स्वर्ग प्राप्ति अवश्यमेव कर लेते हैं।

सूत्रगत 'हंदि' शब्द अव्यय है। इसके हेम चन्द्राचार्य' विरचित 'हेम शब्दानु शासन' के-'हन्दि विषाद विकल्प पश्चात्ताप निश्चय सत्ये ॥ ८ २ १८० ॥' सूत्रानुसार अनेक अर्थ होते हैं। परन्तु प्रकरण सगत्या यहाँ पर उपदर्शन अर्थ ही गृहीत है ॥ ४ ॥

उत्थानिका—अब आचार्य, प्रतिपाद्य-आचार गोचर के गौरव का वर्णन करते हैं—

नन्नत्थ एरिसं वुत्तं, जं लोए परमदुच्चरं।
विउलट्ठाणभाइस्स, न भूअं न भविस्सइ ॥५॥

नान्यत्रेदृशमुक्तं, यल्लोके परमदुश्चरम्।
विपुलस्थानभाजिनः, न भूतं न भविष्यति ॥५॥

यद्यपि सूत्रगत धर्म और अर्थ ये दोनों शब्द अनेक अर्थों के वाचक हैं। जैसे कि-धर्म शब्द— ग्राम धर्म नगर धर्म राष्ट्र धर्म कुल धर्म गण धर्म संघ धर्म, पाखण्ड धर्म, श्रुत धर्म चारित्र धर्म, और अस्तिकाय धर्म आदि का वाचक है। इसी प्रकार अर्थ शब्द भी धन और धान्य के साथ सम्बन्ध रखता है। सो धन और धान्य के अनेक भेद होने से अर्थ शब्द के भी अनेक अर्थ हो जाते हैं। तथापि इस स्थान पर धर्म शब्द से केवल श्रुत धर्म और चारित्र धर्म का एवं अर्थ शब्द से मोक्ष का ही ग्रहण है। क्यों कि प्रश्न कर्ताओं के प्रश्न का सम्बन्ध इसी धर्म से है-अन्य से नहीं। जब यह सिद्ध हो जाता है तो साथ ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि- श्रुत धर्म और चारित्र धर्म का अर्थ (प्रयोजन) वस्तुतः मोक्ष ही है।

यदि ऐसे कहाजाए कि-प्रश्न कर्ताओं ने तो बिना किसी भेद विवक्षा के यह प्रश्न किया था कि हे भगवन ! आपका आचार-गोचर किस प्रकार का है? परन्तु गणी जी उत्तर में भिक्षुओं के आचार का ही वर्णन करने लग गए हैं क्या यह भ्रान्ति नहीं है? इस के उत्तर में कहा जाता है कि प्रश्न में जो आप शब्द आया है उसका सम्बन्ध भिक्षु गण से ही है। इसी लिये गणी महाराज ने उक्त प्रश्न के उत्तर में निर्ग्रन्थों के आचार विषय को श्रवण करने के लिये प्रश्न कर्ताओं को सावधान किया है।

यदि यह और कहा जाए कि-आचार शब्द का भीम शब्द के साथ क्यों सम्बन्ध रक्खागया है? तो कहना है कि जिस प्रकार वस्त्रगत मल के लिये क्षार पदार्थ रौद्र है ठीक उसी प्रकार कर्म मल के लिए भिक्षु आचार रौद्र है। तथा जिस प्रकार क्षारयुक्त मल के निकल जाने पर वस्त्र स्वच्छ और

शुद्ध हो जाता है, ठीक उसी प्रकार इस आचार द्वारा कर्म मल के निकल जाने पर आत्मा स्वच्छ और शुद्ध हो जाती है।

सूत्रकारने जो 'दुरधिष्ठित' पद दिया है, उसका भी यही भाव है कि-सकल आचार का धारण करना दुर्लभ आत्माओं के लिये असंभव नहीं है तो कठिन तो अवश्यमेव है। तथा इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि संपूर्ण आचार के स्थान पर असंपूर्ण आचार तो बहुत सी आत्माएं पालन कर सकती हैं। जिससे वे उस जन्म से मोक्ष प्राप्ति न करते हुए स्वर्ग प्राप्ति अवश्यमेव कर लेती हैं।

सूत्रगत 'हरि' शब्द अव्यय है। इसके हेम चन्द्राचार्य' विरचित 'हेम शब्दानु शासन' के- 'हरि विषाद विकल्प पश्चात्ताप निश्चय सत्ये ॥ ८ २ १८० ॥' सूत्रानुसार अनेक अर्थ होते हैं। परन्तु प्रकरण संगत्या यहाँ पर उपदर्शन अर्थ ही गृहीत है ॥ ४ ॥

उत्थानिका—अब आचार्य, प्रतिपाद्य-आचार गोचर के गौरव का वर्णन करते हैं—

नन्नत्थ एरिसं वुत्तं, जं लोए परमदुच्चरं।
विउलट्ठाणभाइस्स, न भूअं न भविस्सइ ॥५॥

नान्यत्रेदृशमुक्तं, यल्लोके परमदुश्चरम्।
विपुलस्थानभाजिनः, न भूतं न भविष्यति ॥५॥

अन्वयार्थ—अयि भव्यो! (अन्नत्थ) जैन शासन के अतिरिक्त अन्य मतों में (न एरिसं वुत्तं) इस प्रकार के उक्त आचार का कथन नहीं किया गया है (जं) जो (लोए) प्राणि-लोक में (परम दुच्चरं) अत्यन्त दुष्कर है अर्थात् जिसका पालन करना अतीव कठिन है। अन्य मत में ऐसा (विउलट्ठाण भाइस्स) विपुल स्थान के सेवक साधुओं का आचार (न भूअं) न गत काल में कभी हुआ और (न भविस्सइ) न आगामी काल में कभी होगा-उपलक्षण से, न अब वर्तमान काल में कहीं है ॥ ५ ॥

मूलार्थ—अयि धर्म प्रेमी सज्जनों! जैसा कि संयम स्थान सेवी, साधु ओं का सदाचार जैन धर्म में वर्णित है, वैसा और किसी मत में नहीं है। निर्ग्रन्थ साधुओं का जैसा उत्कृष्ट आचार न अन्यमतों में कभी हुआ और न भविष्य में कभी होगा। वर्तमान तो प्रत्यक्ष है-इस में तो भला है ही कहाँ ॥ ५ ॥

भाष्य—इस गाथा में निर्ग्रन्थाचार के गौरव का प्रदर्शन किया है। जैसे कि—गणी जी महाराज कहते हैं कि 'हे राजादि भव्यो! जैसा साध्वाचार का वर्णन जैन धर्म में किया है वैसा अन्य किसी भी मत में नहीं है। जैन साधु आचार अतीव दुर्द्धर है—इसे निर्बल आत्माएँ सहज में ही धारण नहीं करसकती। यही कारण है कि-अन्य किसी मतमें ऐसे विपुलस्थान सेवी साधु न तो पहले कभी हुए

और न अब भविष्य में भी होंगे। वर्तमान काल तुम्हारे सम्मुख है—इसमें भी जिधर देखो उधरही पूर्ण अभाव ही देखने में आता है। ”

गणीजी के कहने का यह आशय है कि, जैन साधुओं का आचार गोचर कुछ साधारण श्रेणी का नहीं है। जो हर कोई दुर्बल हृदय आसानी से इसका पालन करले। जैन साधुओं का आचार अत्यन्त कठिन है। कठिन क्या? जीते ही मरजाना है। इसको धारण करने के लिये पहले अपनी आत्मा में असाधारण साहस शक्ति पैदा करने की परमावश्यकता है। यही कारण है कि—जैन धर्म जैसा निर्ग्रन्थाचार का वर्णन अन्य सुकुमार, सुख-दुःख विचारक मतों में कहीं भी नहीं मिलता। मिलेभी कहाँ से? क्योंकि आचार सम्यग दर्शन के आधीन है। बिना सम्यग दर्शन के आचार में आचारत्व नहीं आसकता।

यहाँ शङ्का होसकती है कि जैन शास्त्रों में जब 'अन्य लिंगी सिद्धा' पाठ आता है तो फिर सूत्रकार का यह कथन किस प्रकार संगत हो सकता है? क्या कभी किसी को बिना आचार के भी मोक्ष मिली है? यदि नहीं तो फिर 'अन्य लिंगी सिद्धा'—अन्य मतसे मोक्ष गये हुए सिद्ध भगवान इस जैन पाठ सेही अन्य मत में उत्कृष्ट आचार का होना सिद्ध होजाता है। इस शङ्का के समाधान में कहना है कि-जहाँ जैन शास्त्रों में मोक्ष प्राप्त आत्माओं का वर्णन करते हुए जो 'अन्य लिङ्गी सिद्धा' पाठ आया है। वहाँ पर लिङ्ग से मतलब वेष से ही है—आचार से नहीं। आचार अर्थ में प्रयुक्त हुआ लिङ्ग शब्द सैद्धान्तिक रूप में कहीं नहीं देखा जाता। यदि सूत्रकारों को अन्यमत का आचार ही अभिप्रेत होता, तो वे लिङ्ग शब्द पर क्यों आते? सीधे आचार शब्द को जोड़कर 'अन्य आचार सिद्धा' ऐसाही

अन्वयार्थ—अयि भव्यो! (अन्नत्थ) जैन शासन के अतिरिक्त अन्य मतों में (न एरिसं वुत्तं) इस प्रकार के उन्नत आचार का कथन नहीं किया गया है (जं) जो (लोए) प्राणि-लोक में (परम दुच्चरं) अत्यन्त दुष्कर है अर्थात् जिसका पालन करना अतीव कठिन है। अन्य मत में ऐसा (विउलट्ठाण भाइस्स) विपुल स्थान के सेवक साधुओं का आचार (न भूअ) न गत काल में कभी हुआ और (न भविस्सइ) न आगामी काल में कभी होगा-उपलक्षण से, न अब वर्तमान काल में कहीं है ॥ ५ ॥

मूलार्थ—अयि धर्म प्रेमी सज्जनों! जैसा कि संयम स्थान सेवी, साधु ओं का सदाचार जैन धर्म में वर्णित है, वैसा और किसी मत में नहीं हैं। निर्ग्रन्थ साधुओं का जैसा उत्कृष्ट आचार न अन्यमतों में कभी हुआ और न भविष्य में कभी होगा। वर्तमान तो प्रत्यक्ष है-इस में तो भला है ही कहाँ ॥ ५ ॥

भाष्य—इस गाथा में निर्ग्रन्थाचार के गौरव का प्रदर्शन किया है। जैसे कि—गणी जी महाराज कहते हैं कि ' हे धर्मप्रिय भव्यो! जैसा साध्वाचार का वर्णन जैन धर्म में किया है वैसा अन्य किसी भी मत में नहीं है। जैन साधु आचार अतीव दुर्धर है—इसे निर्बल आत्माएं सहज में ही धारण नहीं कर सकती। यही कारण है कि-अन्य किसी मतमें ऐसे विपुलस्थान सेवी साधु न तो पहले कभी हुए

और न अब भविष्य में भी होंगे। वर्तमान काल तुम्हारे सम्मुख है—इसमें भी जिधर देखो उधरही पूर्ण अभाव ही देखने में आता है।"

गणीजी के कहने का यह आशय है कि, जैन साधुओं का आचार गोचर कुछ साधारण श्रेणी का नहीं है। जो हर कोई दुर्बल हृदय आसानी से इसका पालन करले। जैन साधुओं का आचार अत्यन्त कठिन है। कठिन क्या? जीते ही मरजाना है। इसको धारण करने के लिये पहले अपनी आत्मा में असाधारण साहस शक्ति पैदा करने की परमावश्यकता है। यही कारण है कि—जैन धर्म जैसा निर्ग्रंथाचार का वर्णन अन्य सुकुमार, सुख-दुःख विचारक मतों में कहीं भी नहीं मिलता। मिलभी कहाँ से? क्योंकि आचार सम्यग दर्शन के आधीन है। बिना सम्यग दर्शन के आचार में आचारत्व नहीं आसकता।

यहाँ शङ्का होसकती है कि जैन शास्त्रों में जब 'अन्य लिंगी सिद्धा' पाठ आता है तो फिर सूत्रकार का यह कथन किस प्रकार संगत हो सकता है? क्या कभी किसी को बिना आचार के भी मोक्ष मिली है? यदि नहीं तो फिर 'अन्य लिंगी सिद्धा'—अन्य मतसे मोक्ष गये हुए सिद्ध भगवान इस जैन पाठ सेही अन्य मत में उत्कृष्ट आचार का होना सिद्ध होजाता है। इस शङ्का के समाधान में कहना है कि-जहाँ जैन शास्त्रों में मोक्ष प्राप्त आत्माओं का वर्णन करते हुए जो 'अन्य लिङ्गी सिद्धा' पाठ आया है। वहाँ पर लिङ्ग से मतलब वेष से ही है—आचार से नहीं। आचार अर्थ में प्रयुक्त हुआ लिङ्ग शब्द सैद्धान्तिक रूप में कहीं नहीं देखा जाता। यदि सूत्रकारों को अन्यमत का आचारही अभिप्रेत होता, तो वे लिङ्ग शब्द पर क्यों जाते? सीधे आचार शब्द को जोड़कर 'अन्य आचार सिद्धा' ऐसाही

पाठ बना देते जो पूर्ण असंदिग्ध रहता। आशय को शब्दों द्वारा असंदिग्ध रखना सूत्रकारों का असाधारण गुण होता है। इसके बिना सच्चा सूत्रकार नहीं बना जाता। अस्तु 'अन्यलिङ्ग सिद्धा' इस पाठ से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि-सिद्ध होने वाले व्यक्ति का लिङ्ग भले ही अन्य किसी मतका हो। परंतु वास्तविकता में उसका आत्मा सम्यग् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप वास्तविक जैनत्व से विभूषित रहता है। तभी वह अजर-अमर—सिद्ध पद प्राप्त करता है।

ऊपर के वक्तव्य से स्पष्ट ही यह निष्कर्ष निकल आता है कि—शास्त्रकारों का जो कुछ भी कथन होता है, वह व्यक्तिगत न होकर गुण गत होता है। अस्तु व्यक्ति चाहे किसी भी मतके किसी भी लिङ्ग में हो-यदि उसका स्वीकृत आचार सम्यगाचार है तो वह आचार सर्वज्ञ प्रतिपादित ही मानना चाहिए। क्यों कि वही जैनत्व है। सम्यगाचार जहाँ कहीं हो सम्यगाचार ही रहता है। वह कभी दुराचार नहीं बनता ॥ ५ ॥

उत्थानिका—अब आचार्य, यह कहते हैं कि वह आचार सभी भिक्षुओं के लिये एक समान पालन करने योग्य है—

सखुड्डगवियत्ताण, वाहियाण च जे गुणा।
अखंडफुडिया कायव्वा, त सुणेह जहा तहा ॥ ६ ॥

स खुड्डगवियत्ताणं , वाहियाणं च जे गुणा ।
अखण्डफुडिया कायव्वा , तं सुणेह जहा तहा ॥ ६ ॥

स क्षुल्लकव्यक्तानां , व्याधिमतां च ये गुणाः ।
अखण्डास्फुटिताः कर्तव्या , तच्छृणुत यथा तथा ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो वक्ष्यमाण (गुणा) गुण यानी नियम (सखुड्डग वियत्ताणं) सभी बालकों एवं वृद्धों को (वाहियाणं च) अस्वस्थों एवं स्वस्थों को (अखंड फुडिया) अखण्ड एवं अस्फुटित रूप से (कायव्वा) धारण करने चाहिएँ (तं) वे गुण (जहा) जिस प्रकार हैं (तहा) उसी प्रकार मुझ से (सुणेह) श्रवण करो ॥ ६ ॥

मूलार्थ—अयि भव्यो! जैन साधुओं के ये वक्ष्यमाण नियम,—बालक, वृद्ध, व्याधिग्रस्त एवं सर्वथा स्वस्थ सभी व्यक्तियों को एक रूपसे अखण्ड एवं अस्फुटित पालन करने होते हैं। सो तुम हमारे साधु समाज की यह उग्र नियमावली जैसी है वैसी ध्यान पूर्वक मेरे से सुनो ॥ ६ ॥

भाष्य—इस गाथा में इस बातका प्रकाश किया है कि—तीर्थंकर देवों ने जो साध्वाचार प्रतिपादन किया है, वह सभी साधुओं के लिये सामान्य रूपसे प्रतिपादन किया है। किसी के लिये न्यूनता और अधिकता से नहीं। क्यों कि जैन शासन में मुख देख टीका करने की पद्धति को कहीं स्थान नहीं है। यहाँ जो बात है वह बिल्कुल स्पष्ट है और सभी के लिये एक समान है।

अतएव व्याख्याता आचार्य श्रीने प्रश्नकर्ताओं से कहा है कि—साधु पद योग्य आत्मार्थी

आशय को शब्दों द्वारा असंदिग्ध रखना सूत्रकारों का
पाठ बना देते जो पूर्ण असंदिग्ध रहता। असाधारण गुण होता है। इसके बिना सच्चा सूत्रकार नहीं बनाजाता। अस्तु 'अन्यलिङ्ग सिद्धा' इस पाठ से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि-सिद्ध होने वाले व्यक्ति का लिङ्ग भले ही अन्य किसी मतका हो। परन्तु वास्तविकता में उसका आत्मा सम्यग् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यग् चारित्र रूप वास्तविक जैनत्व से विभूषित रहता है। तभी वह अजर-अमर—सिद्ध पद प्राप्त करता है।

ऊपर के वक्तव्य से स्पष्ट ही यह निष्कर्ष निकल जाता है कि—शास्त्रकारों का जो कुछ भी कथन होता है वह व्यक्तिगत न होकर गुण गत होता है। अस्तु व्यक्ति चाहे किसी भी मतके किसी भी लिङ्ग में हो-यदि उसका स्वीकृत आचार सम्यगाचार है तो वह आचार सर्वथ प्रतिपादित ही जानना चाहिए। क्यों कि वही जैनत्व है। सम्यगाचार जहाँ कहीं हो सम्यगाचार ही रहता है। वह कभी कुत्सचार नहीं बनता ॥ ५ ॥

उत्थानिका—अब आचार्य, यह कहते हैं कि यह आचार सभी भिक्षुओं के लिये एक समान पालन करने योग्य है—

सखुड्डगवियत्ताणं, वाहियाणं च जे गुणा।
अखंडफुडिया कायव्वा, तं सुणेह जहा तहा ॥ ६ ॥

स क्षुल्लकव्यक्तानां , व्याधिमतां च ये गुणाः ।
अखण्डास्फुटिताः कर्तव्याः , तच्छृणुत यथा तथा ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(जे) ये वक्ष्यमाण (गुणा) गुण यानी नियम (सखुड्डग वियत्ताण) सभी बालकों एवं वृद्धों को (वाहियाण च) अस्वस्थों एवं स्वस्थों को (अखंड फुडिया) अखण्ड एवं अस्फुटित रूप से (कायव्वा) धारण करने चाहिएँ (त) वे गुण (जहा) जिस प्रकार हैं (तहा) उसी प्रकार मुझ से (सुणेह) श्रवण करो ॥ ६ ॥

मूलार्थ—अयि भव्यो! जैन साधुओं के ये वक्ष्यमाण नियम,—बालक, वृद्ध, व्याधिग्रस्त एवं सर्वथा स्वस्थ सभी व्यक्तियों को एक रूपसे अखण्ड एवं अस्फुटित पालन करने होते हैं। सो तुम हमारे साधु सबकी यह उग्र नियमावली जैसी है वैसी ध्यान पूर्वक मेरे से सुनो ॥ ६ ॥

भाष्य—इस गाथा में इस बातका प्रकाश किया है कि—तीर्थंकर देवों ने जो साध्वाचार प्रतिपादन किया है, वह सभी साधुओं के लिये सामान्य रूपसे प्रतिपादन किया है। किसी के लिये न्यूनता और अधिकता से नहीं। क्यों कि जैन शासन में मुंह देख टीका करने की पद्धति को कोई स्थान नहीं है। यहाँ जो बात है वह बिल्कुल स्पष्ट है और सभी के लिये एक समान है।

अतएव व्याख्याता आचार्य जीने प्रश्नकर्ताओं से कहा है कि—साधु पद योग्य आत्मार्थी

पाठ बना देते जो पूर्ण असंदिग्ध रहता। आशय को शब्दों द्वारा असंदिग्ध रखना सूत्रकारों का असाधारण गुण होता है। इसके बिना सच्चा सूत्रकार नहीं बनाजाता। अस्तु 'अन्यलिङ्ग सिद्धा' इस पाठ से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि-सिद्ध होने वाले व्यक्ति का लिङ्ग भले ही अन्य किसी मतका हो। परंतु वास्तविकता में उसका आत्मा सम्यग दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यग् चारित्र रूप वास्तविक जैनत्व से विभूषित रहता है। तभी वह अजर-अमर—सिद्ध पद प्राप्त करता है।

ऊपर के वक्तव्य से स्वयं ही यह निष्कर्ष निकल आता है कि—शास्त्रकारों का जो कुछ भी कथन होता है, वह व्यक्तिगत न होकर गुण गत होता है। अस्तु व्यक्ति चाहे किसी भी मतके किसी भी लिङ्ग में हो-यदि उसका स्वीकृत आचार सम्यगाचार है तो वह आचार सर्वत्र प्रतिपादित ही जानना चाहिए। क्यों कि यही जैनत्व है। सम्यगाचार जहाँ कहीं हो सम्यगाचार ही रहता है। वह कभी कुआचार नहीं बनता ॥ ५ ॥

उत्थानिका—अब आचार्य, यह कहते हैं कि यह आचार सभी भिक्षुओं के लिये एक समान पालन करने योग्य है—

सखुड्डगवियत्ताणं, वाहियाणं च जे गुणा।
अखण्डफुडिया कायव्वा, तं सुणेह जहा तहा ॥ ६ ॥

की या (अवरज्झइ) अपराध करता है तथा (तत्थ) उन अष्टादश स्थानकों में से (अन्नयरे ठाणे) किसी भी एक स्थानक में प्रमाद से वर्तता है वह (निग्गंथत्ताओ) निर्ग्रन्थता से (भस्सइ) भ्रष्ट होजाता है ॥ ७ ॥

मूलार्थ—जो विवेक–विलुप्त-व्यक्ति, सम्पूर्ण अष्टादश स्थानों की तथा किसी भी एक स्थानकी विराधना करता है, वह साधुता के सर्वोच्च पद से बुरी तरह भ्रष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥

भाष्य—इस गाथा में साधु के मुख्य-मुख्य गुणों के विषय में कथन किया गया है और बतलायागया है कि य अष्टादश वास्तविक साधुता के गुण हैं। जो इन गुणोंपर पूर्ण रूपेण स्थिर है, वही सच्चा साधु है। और जो प्रमाद के कारण इनकी विराधना करदेता है, वह साधुता से भ्रष्ट हो जाता है। अर्थात् वह साधु वृत्ति से पतित माना जाता है।

यहाँ कहा जा सकता है, कि ससार का परित्याग कर जो साधु ही होगया तो वह फिर किस प्रकार अपने गुणों की विराधना करसकता है? उत्तर में कहा जाता है कि स्वय सूत्रकार ने ही इस शङ्का का समाधान करदिया है। क्योंकि सूत्र में जो 'बालो'—'बाल शब्द आया है उसका यही भाव है कि जब कोई व्यक्ति किसी नियम का खंडन करने लगता है, तब वह अज्ञान और प्रमाद से युक्त होजाता है। सो जब अज्ञान और प्रमाद भाव से युक्त होगया तो वह साधुता से स्वय ही पतित होगया। फिर उसमें साधुता कहाँ रहगई। यहतो रही निश्चय पक्ष की बात। व्यवहार पक्ष में भी साधु जिस नियम

भले ही बालक वृद्ध व्याधि ग्रस्त एवं स्वस्थ आदि की किसी भी अवस्था में क्यों न हो अपने गुणों को पूर्ण रूपेण देश विराधना तथा सर्व विराधना से रहित धारण करने चाहिए। क्योंकि जो वीर संसारिक सुखों को लात मारकर साधुता के क्षेत्र में निर्भय एवं निरुद्वेग खड़े होगये हैं वे फिर चाहे बालक हों वृद्ध हों, रोगी हों नीरोगी हों अर्थात् कोई हों-उन्हें साधु वृत्ति के नियम सर्वथा शुद्धता पूर्वक ही पालन करने समुचित हैं।

सूत्रगत 'अखण्ड' शब्द देश विराधना रहित अर्थ में और 'अस्फुटित' शब्द सर्व विराधना रहित अर्थ में व्यवहृत है॥६॥

उत्थानिका—अब आचार्य, व्याख्येय अष्टादश गुणों के पालन में ही साधुत्व है—अन्यथा नहीं। यह कहते हैं—

> दस अट्ठ य ठाणाइं, जाइं बालो वरज्झइ।
> तत्थ अन्नयरे ठाणे, निग्गंथत्ताओ भस्सइ॥ ७॥
>
> दशाष्टौ स्थानानि, यानि बालोऽपराध्यति।
> तत्रान्यतरे स्थाने, निर्ग्रन्थत्वात् भ्रश्यति॥ ७॥

अन्वयार्थ—(बालो) जो अज्ञानी साधु (जाइं) इन (दस अट्ठय ठाणाइं) अष्टादश स्थान

गृहस्थों के आसनों पर बैठना, स्नान करना और शरीर की विभूषा करना—ये सब सर्वथा त्याज्य हैं ॥ ८ ॥

भाष्य—इस गाथा में अष्टादश स्थानों के नाम वर्णन किए हैं। यथा—

षड्व्रत—(१) प्राणातिपात (२) मृषावाद (३) अदत्ता दान (४) अब्रह्मचर्य (५) परिग्रह (६) और रात्रि भोजन इन छः अव्रतों का सर्वथा परित्याग करना।

षट्काय—पृथ्वी काय, अप् काय, तेजस्काय वायुकाय, वनस्पतिकाय, और त्रस काय-इन छः काया के जीवों की रक्षा करनी।

(१३) अकल्पनीय पदार्थ का परित्याग करना (१४) गृहस्थ के कांसी आदि के पात्रों में भोजन करने का परित्याग करना (१५) पर्यंक आदिपर नहीं बैठना (१६) घरों में जाकर नहीं बैठना (१७) † देश स्नान तथा सर्व स्नान का परित्याग करना - (१८) विभूषा का—शोभा शृङ्गार का सर्वथा परित्याग करना।

यद्यपि सूत्रकारने सोह वज्जण शोभा के साथही वर्जन शब्द जोड़ा है। तथापि इसका सम्बन्ध प्रत्येक पद के साथ प्राणातिपात वर्जन, मृषा वाद वर्जन अदत्तादान वर्जन आदि आदि करना

---

† देशस्नान—हाथ पैर आदिका प्रक्षालन तथा सर्वस्नान—शिर से लेकर पैरों पर्यंत सर्वाङ्गपर जलकी एक धारा डालनी। साधु के लिये यह स्नान क्रिया सर्वथा अयोग्य है-इसका विशेष वर्णन इस स्थान की व्याख्या में किया जाएगा।

को तोड़ता है, उस नियम से भ्रष्ट माना जाता है। कोई सभ्य पुरुष उसमें पूर्ण साधुता स्वीकार नहीं करता ॥ ७ ॥

उत्थानिका—अब आचार्य, अष्टादश स्थानों के नाम बतलाते हैं—

वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं ।
पलियंकनिसज्जा य, सिणाणं सोहवज्जणं ॥ ८ ॥

व्रतषट्कं कायषट्कं, अकल्पो गृहिभाजनम् ।
पर्यङ्कः निषद्या च, स्नानं शोभावर्जनम् ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—सच्चा साधु (वयछक्कं) छः व्रत का पालन करे तथा (कायछक्कं) षट् काय (अकप्पो) अकल्पनीय पदार्थ (गिहिभायणं) गृहस्थों के पात्रों में भोजन करना (पलियंक) पर्यंक पर बैठना (अ) तथा (निसज्जा) गृहस्थ के घर पर तथा गृहस्थ के आसन पर बैठना (सिणाणं) स्नान एवं (सोह वज्जणं) शरीर शोभा को—सर्वथा वर्जे ॥ ८ ॥

मूलार्थ—साधु के लिये प्राणातिपात आदि छः व्रत, पृथ्वी काय आदि छः जीवनिकाय, अकल्पनीय पदार्थ, गृहस्थ के भाजन में भोजन करना, पर्यंक पर बैठना, गृहस्थों के घरों में एवं

गृहस्थों के आसनों पर बैठना, स्नान करना और शरीर की विभूषा करना—ये सब सर्वथा त्याज्य हैं ॥ ८ ॥

भाष्य—इस गाथा में अष्टादश स्थानों के नाम बतलाये हैं। यथा—

षड्व्रत—(१) प्राणातिपात (२) मृषावाद (३) अदत्ता दान (४) अब्रह्मचर्य (५) परिग्रह (६) और रात्रि भोजन इन छः अव्रतों का सर्वथा परित्याग करना।

षट्काय—पृथ्वी काय, अप् काय, तेजस्काय वायुकाय, वनस्पतिकाय, और त्रस काय-इन छः काया के जीवों की रक्षा करनी।

(१३) अकल्पनीय पदार्थ का परित्याग करना (१४) गृहस्थ के कांसी आदि के पात्रों में भोजन करने का परित्याग करना (१५) पर्यंक आदिपर नहीं बैठना (१६) घरों में जाकर नहीं बैठना (१७) † देश स्नान तथा सर्व स्नान का परित्याग करना - (१८) विभूषा का—शोभा शृङ्गार का सर्वथा परित्याग करना।

यद्यपि सूत्रकारने सोलहवें शोभ के साथही वर्जन शब्द जोड़ा है। तथापि इसका सम्बन्ध प्रत्येक पद के साथ प्राणातिपात वर्जन, मृषा वाद वर्जन अदत्तादान वर्जन आदि आदि करना

---

† देशस्नान—हाथ पैर आदिका प्रक्षालन तथा सर्वस्नान—सिर से लेकर पैरों पर्यंत सर्वाङ्गपर जलकी एक धारा डालनी। साधु के लिये यह स्नान क्रिया सर्वथा अयोग्य है इसका विशेष वर्णन इस स्थान की व्याख्या में किया जायगा।

अतएव (सव्वभूएसु) सर्व भूतों के विषय में (संजमो) संयम रखना चाहिए ॥ ९ ॥

मूलार्थ—अष्टादश स्थान क्रम में से यह प्रथम अहिंसा स्थानक, भगवान् महावीर स्वामी ने उपदेशित किया है कि—अहिंसा सब सुखों की देनेवाली देखी गई है—अतः त्रस स्थावर सभी जीवों के विषय में पूर्णतया संयम रखना चाहिये ॥ ९ ॥

भाष्य—इस गाथा में अष्टादश स्थानकों में से सब से प्रथम अहिंसा व्रत के विषय में कथन किया है। जैसे कि—श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने अपने अप्रतिहत केवल ज्ञान में अहिंसा भगवती को देखा जो सब सुखों की देनेवाली—प्राणि मात्र से प्रेमोत्पादन करनेवाली—एवं मोक्ष पथ प्रदर्शन करने वाली है।

अस्तु, विश्व हितैषी वीरने कल्याणाभिलाषी मनुष्यों को शिक्षा देते हुए यह प्रतिपादन किया कि अयि भव्य मनुष्यो! संसार में छोटे-बड़े, शुभ-अशुभ जितने भी प्राणी हैं सभी की रक्षा करो—किसी को भी दुःख मत पहुंचावो। क्योंकि सभी प्राणियों को एक सुख ही प्रिय है—दुःख नहीं। दुःखके नाम से तो सभी दूर भागते हैं। अतः सुखकी इच्छा रखने वाले सज्जनों का कर्तव्य है कि वे † दुःख पहुंचाकर किसी के सुख में अनुचित विघ्न न डालें।

† यहां यह विचार जरूर रखना चाहिये कि किसी व्यक्ति को दुराचारी से सदाचारी बनाते समय—जो समयानुसार कटुताका बर्ताव किया जाता है वह हिंसा में सम्मिलित नहीं है।

उचित है—क्योंकि तभी सूत्र का अर्थ ठीक बैठ सकता है, अन्यथा नहीं।

यह सूत्र, चारित्र विषयक होने से इस में उन्हीं विषयों का समावेश कियागया है, जो चारित्र विषयक हैं। और साथ में उन के न पालने का फल भी दिखलाया गया है।

यहाँ यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि—केवल क्रिया कलाप से ही आत्म-कल्याण नहीं हो जाता। सम्यग ज्ञान और सम्यग दर्शन पूर्वक ही क्रिया कलाप आत्मोद्धार करने में अपना सामर्थ्य रखता है। अस्तु-इस स्थल में जो भी चरित्र वर्णित है वह सब ज्ञान दर्शन पूर्वक ही है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, उक्त अष्टादश स्थानकों में से प्रथम स्थान का वर्णन करते हैं—

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसिअं।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ॥ १ ॥

तत्रेदं प्रथमं स्थानं, महावीरेण देशितम्।
अहिंसा निपुणा दृष्टा, सर्वभूतेषु संयमः ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(तत्थिमं) उन अष्टादश स्थानकों में से यह (पढमं) प्रथम (ठाणं) स्थानक (महावीरेण) भगवान् महावीर स्वामी ने (देसिअं) अनासेवन द्वार से उपदेशित किया है। क्योंकि (अहिंसा) जीवदया (निउणा) निपुणा-अनेक प्रकार के सुखों की देनेवाली (दिट्ठा) देखी गई है,

जावंति लोए पाणा , तसा अदुव थावरा ।
ते जाणमजाण वा , न हणे णो विघायए ॥ १० ॥
यावन्तो लोके प्राणिन , त्रसा अथवा स्थावरा ।
तान् जानन्नजानन् वा , न हन्यात् नापिघातयेत् ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(लोए) लोक में (जावंति) जितने भी (तसा) त्रस (अदुव) और (थावरा) स्थावर (पाणा) प्राणी हैं साधु तो (ते) उन सभी जीवों का (जाणमजाणंवा) जानता हुआ-अजानता हुआ (न हणे) स्वय हनन करे नहीं (णोविघायए) औरों से प्रेरणा कर हनन करावे नहीं तथा हनन करते हुओं की अनुमोदना भी न करे ॥१०॥

मूलार्थ—ससार में जो भी त्रस स्थावर प्राणी हैं, साधु समीक्षा-क्या जानते क्या अजानते-स्वय घात करे नहीं दूसरों से कहकर करावे नहीं और जो कोई अपने आप करते हों उनकी अनुमोदना भी करे नहीं ॥ १० ॥

भाष्य—श्री भगवान प्रतिपादन करते हैं कि—हे भव्य जीवो ! ससार में जितने भी त्रस स्थावर प्राणी हैं, उन सभी को अपने प्रयोजन के लिये वा प्रमाद आदि के वशीभूत होकर स्वय हिंसा

अहिंसा धर्म के—दया धर्म के पालन से जो जीवात्मा को सुख मिलता है, वह अद्वितीय है। उसके विषय में साधारण मनुष्यों की तो बात क्या, बड़े-बड़े तर्कशास्त्री दिग्गज विद्वानों तक की मन-वचन की शक्तियाँ लाचार हैं—वे कुछ काम नहीं देतीं। काम तब दें—जब कि वह उनका विषय हो और उस की कहीं न कहीं सीमा हो।

भगवान महावीर का यह प्रतिपादन उपदेश रूप में शिक्षा के ऊपर ही नहीं रहा। उन्होंने अहिंसा धर्म के पालन की क्रमबद्ध नियमावली भी बनाई, जो श्रावक और साधु दो विभागों में विभक्त की गई। श्रावक की अहिंसा में अपूर्णता और साधु की अहिंसा में पूर्णता है। साधु वर्ग की अहिंसा की पूर्णता के लिये ही भगवान् ने साधुओं को आधा कर्म और औद्देशिक आदि हिंसा जनित आहारों के त्याग का बड़े जोर दार शब्दों में बार-बार उपदेश किया है।

संक्षिप्त शब्दों में सूत्रकार के कहने का यह आशय है कि—वस्तुतः अहिंसा ही सुखों की देनेवाली है। अतः साधुओं का कर्तव्य है कि—वे इस अहिंसा का पालन बड़ी यत्ना और सावधानी से करें।

सूत्र में जो 'दट्ठा' पद दिया गया है, उसका यह भाव है कि श्री भगवान् ने जो यह अहिंसा भगवती का उपदेश किया है, वह स्वयं अपने ज्ञान में देखकर किया है। किसी से सुनकर या आगम से जानकर नहीं किया। इससे एक तो भगवान की पूर्ण सर्वज्ञता सिद्ध होती है, दूसरे अहिंसा अन्य मत विषयक संदिग्धता भी दूर हो जाती है ॥ ९ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, फिर उक्त विषय में ही कहते हैं—

मूलार्थ—संसार के दुःखी से दुःखी और सुखी से सुखी सभी जीव बस एक जीना ही चाहते हैं–मरना कोई नहीं चाहता। अस्तु, इसी तत्व को लेकर दयालु मुनि भयकर दुःखोत्पादक प्राणि-वध का पूर्णतया परित्याग करते हैं ॥ ११ ॥

भाष्य—यह संसार है। इस में सभी स्थिति के प्राणी होते हैं। कोई दुःखी होते हैं तो कोई सुखी। परन्तु एक बात अवश्य है–वह यह कि, जीव दुःखी से दुःखी और सुखी से सुखी चाहे कैसे ही हों पर हैं अपनी-अपनी योनि में सब मस्त मन मूरख और जोण में दुःखा कोई नहीं।'

जो सुखी हैं उनका तो कहना ही क्या–वे तो भला मरना क्यों चाहने लगे ? पाठक किसी ऐसे दुःखित प्राणी को लें–जिसे समझें कि यहतो बस जीने की कोई इच्छा न करता होगा। वह भी वस्तुतः जीने की ही इच्छा करता दिखाई देगा–मरने की नहीं। भले ही वह ऊपर से दिखावटी फॉफटे मचाकर मृत्यु का आवाहन करता हो।

कारण कि- अपना आयुष्प्राण सभी जीवों को प्रिय है–किसी को अप्रिय नहीं। इसी लिये तो यह प्राणिवध रौद्र बतलाया गया है। प्रत्येक दुःखों की उत्पत्ति का कारण यही है।

अस्तु–इसी कारण से विज्ञ भिक्षु इस रौद्र प्राणिवध का परित्याग करते हैं। जब कि कोई प्राणी मरना चाहता ही नहीं–तो फिर उसकी इच्छा के विपरीत क्रिया करनी कभी फलवती हो सकती है कभी नहीं।

मत करो और न दूसरों से करवाओ तथा जो हिंसादि क्रियाएं करते हैं उनकी अनुमोदना भी मतकरो।

कारणकि—जब मन वचन और काय तथा कृत कारित और अनुमोदित द्वारा हिंसा का सर्वथा परित्याग किया जायगा तभी आत्मा इस व्रत का सुख पूर्वक पूर्ण पालन कर सकेगा।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, हिंसा क्यों नहीं करनी! इस शङ्का के समाधान में कहते हैं—

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥ ११ ॥

सर्वे जीवा अपि इच्छन्ति, जीवितुं न मर्तुम्।
तस्मात् प्राणिवधं घोरं, निर्ग्रन्थाः वर्जयन्ति (णम्) ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(सव्वेवि) सभी (जीवा) जीव (जीविउं) जीने की (इच्छंति) इच्छा करते हैं परन्तु (मरिज्जिउं) मरने की कोई इच्छा नहीं करते (तम्हा) इसीलिये (निग्गंथा) निर्ग्रन्थ-साधु (घोरं) घोर-भयंकर (पाणिवहं) प्राणि वध को (वज्जयंति) छोड़ते हैं (णं) यह शब्द वाक्यालङ्कार अर्थ में है ॥ ११ ॥

आत्मार्थं परार्थं वा, क्रोधाद्वा यदि वा भयात् ।
हिंसक न मृषा ब्रूयात्, नाऽप्यन्य वादयेत् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—साधु (अप्पणट्ठा) अपने वास्ते (वा) अथवा (परट्ठा) परके वास्ते (कोहा) क्रोध से (वा) मान माया और लोभ से (जइवा) अथवा (भया) भय से (हिंसगं) परपीड़ाकारक (मुसं) मृषावाद (न वूआ) स्वयं न बोले तथा (अन्नवि) औरों से भी न बुलवावे ॥ १२ ॥

मूलार्थ—क्रोध, मान, माया, लोभ तथा भयके कारण से अपने लिये तथा दूसरों के लिये साधु, नतो स्वयं मृषा भाषण करे और न दूसरों से करवावे ॥ १२ ॥

भाष्य—यदि सच्चा साधु बनना है तो क्या अपने लिये-क्या दूसरों के लिये कभी असत्य नहीं बोलना चाहिए। एक बोलना ही नहीं-न दूसरों से बुलवाना चाहिये और न बोलने वालों का अनुमोदन करना चाहिये।

असत्य आत्मा के पतन का मूल कारण है। क्योंकि जितने भी असत्य हैं वे सब के सब स्वपर पीड़ोत्पादक होने से हिंसक हैं। अतः आत्मोन्नति के अभिलाषी मोक्ष मार्ग के अनथक पथिक साधुओं का परम कर्तव्य है कि-वे असत्य का सर्वथा परित्याग करके सत्य का आश्रय लें। विना सत्य के सत्य लोक में आकर सदा काल के लिये सत्य नहीं बना जासकता। भगवान् महावीर के 'तं सच्चं भगवं' के प्रवचनानुसार सत्य भगवान्' है। अतः सत्य भगवान् के जो सच्चे उपासक

के स्मारक में साहित्य भवन और सामायिक संयम' का दो मंजिला भव्य भवन बनाकर गुरुकुल को
भेंट किया है। और फिर अभी ६००) रु० की जमीन गुरुकुल को खरीद कर दी है, और उसपर
अध्यापकों के मकानात बनवाने के लिये २५००) रु० दान दिये हैं। गुरुकुल का स्थान तो आप को
इतना पसंद आया है कि आपने वहाँ ११००) की जमीन खरीद कर एक कोठी बनवाई है और एक
बगीचा भी लगाया है। वह आपके चि० सुपुत्र माणिकचंद्र के नाम से माणिकभवन करके प्रसिद्ध
है। आपकी इन आदर्श सेवाओं से हर्षित होकर जिनेन्द्र गुरुकुल के चतुर्थ वार्षिकोत्सव पर २२ मार्च
सन् १९३२ को उपस्थित जैनसंघ ने, आपको 'जैनसमाजभूषण' की उपाधि से विभूषित किया है।
इसी गत भाद्रव आश्विन में, आपके निमंत्रण पर, जिनेन्द्र गुरुकुल के सभी ब्रह्मचारी और अध्यापक,
महेन्द्रगढ़ में आये हुये थे। भोजन आदि का समस्तव्यय आप ही की तरफ से हुआ था। ब्रह्मचारियों
के भजनकीर्तन आदि से बड़ा भारी आनंद रहा। आपकी सेवाओं से गुरुकुल, दिनोंदिन उन्नति की
ओर अग्रसर हो—यही वीर से प्रार्थना है।

आपने अभी एक वर्ष हुआ अपने निवासस्थान महेन्द्रगढ़ में, अपने पिता श्री सुखदेव सहाय

पुस्तकालय महेन्द्रगढ़

जी के नाम से एक सार्वजनिक पुस्तकालय एवं वाचनालय खोला है। इसका
समस्त व्यय आप अपनी तरफ से ही कर रहे हैं। इस थोड़े से अर्से में ही २००० के
करीब पुस्तकें इकट्ठी होगई हैं जिनमें धार्मिक, साहित्य, उपन्यास चरित्र, ज्योतिष, वैद्यक आदि सभी

विषयों की पुस्तकें हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी मनोवृत्ति के अनुसार यथोचित लाभ उठा सकता है। इस समय पुस्तकालय में हिन्दी उर्दू, अंग्रेजी और संस्कृत भाषाओं के मासिक पाक्षिक साप्ताहिक एवं दैनिक, करीब १५ । २० समाचार पत्र आते हैं जिन से समाचारपत्रप्रेमी काफी संख्या में प्रति दिन लाभ ले रहे हैं। महेन्द्रगढ का शिक्षित समाज लाला जी के इस अमूल्य शिक्षा प्रचार पर, सधन्यवाद प्रमुदित है।

विक्रमाब्द १९८८ फाल्गुण कृष्णा ५ मी के दिन महेन्द्रगढ में, श्री मनोहरदास जी महाराज की

आचार्यपद महोत्सव महेन्द्रगढ

संप्रदाय के शान्त स्वभावी तपोवृद्ध श्री मोतीरामजी महाराज को श्री संघ की ओर से आचार्य पदवी—पूज्यपदवी दी गई है। देहली, पञ्जोत चिनोली नारनौल, अलवर आदि करीब ३० । ३५ क्षेत्रों के प्रेमी सज्जन उत्सव में सम्मिलित हुए थे। इस महोत्सव का कुल खर्च आपने ही उठाया है। भोजन, मोटर सवारी और उतारे आदिका सब प्रबंध आपही की तरफ से हुआ है। आपने उक्त संप्रदाय के सगठन के लिये भी काफी कोशिश की है।

अभी संवत् १९८९ ज्येष्ट सुदी १२ के दिन इंदोर (मालवा) में ऋषिसम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध

आचार्य पद महोत्सव इन्दोर

शास्त्रोद्धारक बालब्रह्मचारी श्री अमोलक ऋषिजी महाराजको श्रीसंघ की तरफ से जो पूज्य पदवी दी गई है, उस उत्सव पर भी आपने उल्लेखनीय कार्य किया है। ऋषि श्रावकसमिति की स्थापना के समय आपने ५००) रु० संरक्षक के रूप में दिये और

के स्मारक में साहित्य भवन और सामायिक भवन' का दो मंजिला भव्य भवन बनाकर गुरुकुल को भेंट किया है। और फिर अभी (१००) रु० की जमीन गुरुकुल को खरीद कर दी है, और उसपर अध्यापकों के मकानात बनवाने के लिये २५००) रु० दान दिये हैं। गुरुकुल का स्थान तो आप को इतना पसन्द आया है कि आपने वहाँ ११००) की जमीन खरीद कर एक कोठी बनवाई है और एक बगीचा भी लगाया है। वह आपके चि० सुपुत्र माणिकचन्द्र के नाम से माणिकभवन करके प्रसिद्ध है। आपकी इन आदर्श सेवाओं से हर्षित होकर जिनेन्द्र गुरुकुल के चतुर्थ वार्षिकोत्सव पर २२ मार्च सन् ११३२ को उपस्थित जैनसंघ ने, आपको 'जैनसमाजभूषण' की उपाधि से विभूषित किया है। इसी गत भाद्रव आश्विन में आपके निमंत्रण पर, जिनेन्द्र गुरुकुल के सभी ब्रह्मचारी और अध्यापक, महेन्द्रगढ़ में आये हुये थे। भोजन आदि का समस्तव्यय आप ही की तरफ से हुआ था। ब्रह्मचारियों के भजनकीर्तन आदि से बड़ा भारी आनंद रहा। आपकी सेवाओं से गुरुकुल, दिनोंदिन उन्नति की ओर अग्रसर हो—यही वीर से प्रार्थना है।

आपने अभी एक वर्ष हुआ अपने निवासस्थान महेन्द्रगढ में, अपने पिता श्री सुखदेव सहाय जी के नाम से एक सार्वजनिक पुस्तकालय एवं वाचनालय खोला है। इसका समस्त व्यय आप अपनी तरफ से ही कर रहे हैं। इस थोड़े से अर्से में ही १००० के करीब पुस्तकें इकट्ठी होगई हैं, जिसमें धार्मिक साहित्य, उपन्यास चरित्र, ज्योतिष, वैद्यक आदि सभी

पुस्तकालय महेन्द्रगढ़

विषयों की पुस्तकें हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी मनोवृत्ति के अनुसार यथोचित लाभ उठा सकता है। इस समय पुस्तकालय में हिन्दी उर्दू, अंग्रेजी और संस्कृत भाषाओं के मासिक पाक्षिक साप्ताहिक एवं दैनिक, करीब १५।२० समाचार पत्र आते हैं जिन से समाचारपत्रप्रेमी काफी संख्या में प्रति दिन लाभ ले रहे हैं। महेन्द्रगढ का शिक्षित समाज लाला जी के इस अमूल्य शिक्षा प्रचार पर, सधन्यवाद प्रमुदित है।

विक्रमाब्द १९८८ फाल्गुण कृष्णा ५ मी के दिन महेन्द्रगढ में, श्री मनोहरदास जी महाराज की

आचार्यपद महोत्सव महेन्द्रगढ

सम्प्रदाय के शान्त स्वभावी वयोवृद्ध श्री मोतीरामजी महाराज को श्री संघ की ओर से आचार्य पदवी—पूज्यपदवी दी गई है। देहली, पञ्जाब चिनोली नारनोल, अलवर आदि करीब २०।२५ क्षेत्रों के प्रेमी सज्जन उत्सव में सम्मिलित हुए थे। इस महोत्सव का कुल खर्च आपने ही उठाया है। भोजन, मोटर सवारी और उतारे आदिका सब प्रबंध आपही की तरफ से हुआ है। आपने उक्त संप्रदाय के संगठन के लिये भी काफी कोशिश की है।

अभी संवत् १९८९ ज्येष्ठ सुदी १२ के दिन इंदोर (मालवा) में ऋषिसंप्रदाय के सुप्रसिद्ध

आचार्य पद महोत्सव इन्दोर

शास्त्रोद्धारक बालब्रह्मचारी श्री अमोलक ऋषिजी महाराजको श्रीसंघ की तरफ से जो पूज्य पदवी दी गई है, उस उत्सव पर भी आपने उल्लेखनीय कार्य किया है। ऋषि श्रावकसमिति की स्थापना के समय आपने ५००) रु० संरक्षक के रूप में दिये और

के स्मारक में साहित्य भवन और सामायिक भवन' का दो मंजिला भव्य भवन बनाकर गुरुकुल को भेंट किया है। और फिर अभी ६००) रु० की जमीन गुरुकुल को खरीद कर दी है, और उसपर अध्यापकों के मकानात बनवाने के लिये २५००) रु० दान दिये हैं। गुरुकुल का स्थान तो आप को इतना पसन्द आया है कि आपने वहाँ ११००) की जमीन खरीद कर एक कोठी बनवाई है और एक बगीचा भी लगाया है। वह आपके चि० सुपुत्र माणिकचंद्र के नाम से माणिकभवन करके प्रसिद्ध है। आपकी इन आदर्श सेवाओं से हर्षित होकर जिनेन्द्र गुरुकुल के चतुर्थ वार्षिकोत्सव पर २२ मार्च सन् १९२२ को उपस्थित जैनसंघ ने, आपको 'जैनसमाजभूषण' की उपाधि से विभूषित किया है। इसी गत भाद्रव आश्विन में, आपके निमंत्रण पर, जिनेन्द्र गुरुकुल के सभी ब्रह्मचारी और अध्यापक, महेन्द्रगढ़ में आये हुये थे। भोजन आदि का समस्तव्यय आप ही की तरफ से हुआ था। ब्रह्मचारियों के भजनकीर्तन आदि से बड़ा भारी आनंद रहा। आपकी सेवाओं से गुरुकुल, दिनोंदिन उन्नति की ओर अग्रसर हो—यही वीर से प्रार्थना है।

आपने अभी एक वर्ष हुआ अपने निवासस्थान महेन्द्रगढ में, अपने पिता श्री सुखदेव सहाय

पुस्तकालय
मोहल्ला

जी के नाम से एक सार्वजनिक पुस्तकालय एवं वाचनालय खोला है। इसका समस्त व्यय आप अपनी तरफ से ही कर रहे हैं। इस थोड़े से अर्से में ही २००० के करीब पुस्तकें इकट्ठी होगई हैं, जिनमें धार्मिक, साहित्य, उपन्यास चरित्र, ज्योतिष, वैद्यक आदि सभी

और इस अग्रिम पौषमास में, बड़ौत जि० मेरठ में, होने वाली एस एस, जैन कान्फ्रेंस यू० पी० के सभापति बनने की आप से स्वीकृति लेकर गया है। यद्यपि आपके पास गृहस्थसम्बन्धी कतिपय कार्यों के कारण समय नहीं था, किन्तु समाजसेवा के कार्यों के प्रति आप नहीं कहना तो जानते ही नहीं। आपकी यह सामाजिक कार्यों के प्रति नहीं कहने की नहीं सदा चिरजीवी रहे।

मंगल कामना

आप के द्वारा होने वाले शुभकार्य, बहुसंख्यक हैं, संक्षिप्तता के दृष्टिबिन्दु से यहाँ सब का उल्लेख नहीं होरहा है। आप उदारता के पूरे धनी हैं। आपकी तरफ से अबतक ३०००००) के लग भग दान हो चुका है अब भी बराबर होता रहता है। आप अपार धनराशि के स्वामी होते हुये भी अतीव नम्र, विनयी एवं शान्तप्रकृति के धर्ता हैं। आपके अनुसार आपका परिवार भी सद्गुणी है। आपके इस समय सन्तानों में दो पुत्र और दो पुत्रियां हैं। बड़े पुत्र का नाम चि० माणिकचंद्र और छोटे पुत्र का नाम चि० महावीर प्रसाद है। ये दोनों पुत्र भी "होन हार विरवान के होत चीकने पात" के सत्य आभाणक से, निकट भविष्य में ही समाज के कार्य क्षेत्र में अपनी, अलौकिक प्रभा फैलायेंगे। अब शासनाधीश जगद्गुरु वीर प्रभु से मंगल कामना है कि—आप सपरिवार सदैव आनंद में रहें और तन, मन, धन से समाजसेवा करके अपने एवं समाज के अक्षुण्ण गौरव की वृद्धि करें।

मंत्री–
ऋषिश्रावकसमिति।

आप सर्वसम्मति से समिति के सभापति निर्वाचित हुए। इसी समय जैनगुरुकुल ब्यावर के निजी भवन के लिये अपील की जाने पर, आपने गुरुकुल को २५०१) रु० की स्वीकृति दी। अपि सम्प्रदाय के संगठन के लिए भी आपकी ओर से प्रशंसनीय प्रयत्न किया गया है।

साधुसंमेलन

अभी निकट भविष्य में ही (सं० १९८९ फाल्गुण मास अजमेर में) जो अखिल भारत वर्षीय श्वे० स्था० जैन साधुसंमेलन होने जारहा है, उस को सफल बनाने के लिए आप पूर्ण प्रयत्न कर रहे हैं। सम्मेलन समिति के आप माननीय सदस्य हैं और उसकी देहली वाली कमेटी के आप सभापति भी हो चुके हैं। अभी हाल में (कार्तिक मास में) संमेलन की सफलता के लिये जो डेप्यूटेशन भारत के विभिन्न प्रान्तों में घूमा है, उसमें भी आप सम्मिलित थे। गुजरात कच्छ, काठियावाड़, मारवाड़ पंजाब आदि सुदूर प्रान्तों में डेपूटेशन ने भ्रमण किया और मुनिवरों से सम्मेलन में पधारने की बीनती के साथ सम्मेलन की सफलता के लिए दिव्य संदेश लिया। प्राय: सभी स्थानों पर डेपूटेशन का बड़ा जोरदार स्वागत हुआ। इस महती यात्रा में आप को महीने से ऊपर समय लगा, हालांकि आप की धर्मपत्नी रुग्णावस्था में थी और आपका वृद्धावस्थाजन्य दुर्बल शरीर भी इस सुदूर यात्रा के योग्य नहीं था। आप सामाजिक कार्यों के आजाने पर अपने गृहसंबन्धी कार्यों की ओर कोई लक्ष्य नहीं देते। सामाजिक कार्यों में आपका उत्साह दर्शनीय होता है। यही बात है कि अभी हाल में ही जमनापार बड़ौत से एक डेपूटेशन आपके पास आया था

श्री जी की इस चमत्कारपूर्ण कृति के प्रकाशन का सौभाग्य मुझ सेवक को प्राप्त हुआ, एतदर्थ मैं अपने आप को धन्य समझता हूँ। आप (पाठक) भी यथाशक्यआचरणपूर्वक इस का अध्ययन करें और अपने आप को धन्य बनाएँ। आप सज्जनों से सेवक की यही एक विनीत प्रार्थना है, आशा है, इसे पूरी करने का सप्रेम कष्ट उठायेंगे।

यहाँ एक बात यह कहनी आवश्यक है कि, यह सूत्र प्रारम्भ में आगरा निवासी बाबू पद्मसिंहजी के यहाँ मुद्रित होना प्रारम्भ हुआ था वहाँ इसके ३१२ पृष्ठ मुद्रित भी हुए, किन्तु किन्हीं कारणों से वहाँ मुद्रण में विलम्ब होता देखकर, यहाँ स्थानीय महेन्द्रगढ के कौशिक प्रिंटिंग प्रेस में ही मुद्रण का प्रबन्ध किया। परन्तु यहाँ यह समस्या सामने उपस्थित हुई कि संशोधन कौन करे। प्राकृत जैनसूत्रों का संशोधन जैनपरिभाषाओं से अपरिचित संस्कृत पण्डितों के वश का नहीं। भावविपर्यय का भय बनाही रहता है। अस्तु इसी प्रसंग में अत्रविराजित श्री मनोहरदास जी महाराज की सम्प्रदाय के श्री श्री १००८ वर्तमान पूज्य श्री मोतीराम जी महाराज के शिष्य पं० श्री पृथ्वीचन्द्र जी महाराज से इस विषय का जिकर हुआ। आपने यह भार अपने ज्येष्ठ शिष्य प० श्री अमर चन्द्र जी महाराज को सौंपा और इसके लिये उत्साहप्रद प्रेरणा की। मुनि श्री ने भी यह साहित्यसेवा सहर्ष स्वीकार की और अपनी संशोधन की समस्या सहज में ही हल होगई। मुनि श्री बड़े ही उग्र उत्साही, साहित्यसेवी एवं सुन्दर लेखक हैं। आपकी लेखनशैली अतिलालित्य, भावपूर्ण एवं हृदय को

किंचिद् वक्तव्य ।

प्रेमी पाठको ! यह टीका सहित दशवैकालिक सूत्र आपके पवित्र कर कमलों में सप्रेम समर्पित है। की प्रधानता इस सूत्र के विषय में मुझे कुछ कहना नहीं है, क्यों कि इस के विषय में जितना मैं जानता हूं, उतना ही—नहीं—उससे भी अधिक आप स्वयं भी जानते हैं। हाँ यह अवश्य है कि यह सूत्र एक तो स्वयं ही बहुत अधिक सुन्दर एवं उपादेय है, दूसरे उपाध्याय श्री आत्माराम जी महाराज ने आत्मज्ञान प्रकाशिका विस्तृत एवं अति सरल टीका रच कर, इस की सुन्दरता तथा उपादेयता और भी अधिक बढ़ा दी है। उपाध्याय जी महाराज से प्रायः सभी धार्मिक शिक्षाप्राप्त पाठक परिचित होंगे। आप प्राकृत भाषा के प्रतिष्ठाप्राप्त अद्भुत विद्वान हैं। जैन सूत्रों के पूर्ण अभ्यासी एवं मर्मज्ञ हैं। आपने अनुयोग द्वार जैसे अतीव गूढ विषय के सूत्र पर यह सरल हिन्दी टीका रची है जो शिक्षित समाज में सभी प्रकार से आदरास्पद हुई है। आप उग्र परिश्रमी हैं साहित्यसेवा के भाव से कुछ न कुछ सदा लिखते ही रहते हैं। आप की लेखिनी में एक विशेष चमत्कार है, जिससे आप की लिखी हुई प्रायः सभी पुस्तकें सर्वप्रियपद पर पहुंची हैं। आपने दशवैकालिक की प्रस्तुत टीका के लिखने में भी अपना वही अद्भुत चमत्कार दिखलाया है और टीका के 'आत्मज्ञानप्रकाशिका' नाम को यथा नाम तथा गुण के दृष्टि बिन्दु से यौगिक बनाने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। उपाध्याय

श्री जी की इस चमत्कारपूर्ण कृति के प्रकाशन का सौभाग्य मुझ सेवक को प्राप्त हुआ, एतदर्थ मैं अपने आप को धन्य समझता हूँ। आप (पाठक) भी यथाशक्यमाचरणपूर्वक इस का अध्ययन करें और अपने आप को धन्य बनाएं। आप सज्जनों से सेवक की यही एक विनीत प्रार्थना है, आशा है, इसे पूरी करने का सप्रेम कष्ट उठाएंगे।

यहाँ एक बात यह कहनी आवश्यक है कि, यह सूत्र प्रारंभ में आगरा निवासी बाबू पद्मसिंहजी के यहाँ मुद्रित होना प्रारंभ हुआ था वहाँ इसके ३१२ पृष्ठ मुद्रित भी हुए। किन्तु किन्हीं कारणों से वहाँ मुद्रण में विलम्ब होता देखकर, यहाँ स्थानीय महेन्द्रगढ के कौशिक प्रिंटिंग प्रेस में ही मुद्रण का प्रबंध किया। परन्तु यहाँ यह समस्या सामने उपस्थित हुई कि संशोधन कौन करे। प्राकृत जैनसूत्रों का संशोधन जैनपरिभाषाओं से अपरिचित संस्कृत पंडितों के वश का नहीं। भावविपर्यय का भय बनाही रहता है। अस्तु इसी प्रसंग में अत्रविराजित श्री मनोहरदास जी महाराज की संप्रदाय के श्री श्री १००८ वर्तमान पूज्य श्री मोतीराम जी महाराज के शिष्य पं० श्री पृथ्वीचन्द्र जी महाराज से इस विषय का ज़िकर हुआ। आपने यह भार अपने ज्येष्ठ शिष्य प० श्री अमर चन्द्र जी महाराज को सौंपा और इसके लिये उत्साहप्रद प्रेरणा की। मुनि श्री ने भी यह साहित्यसेवा सहर्ष स्वीकार की और अपनी संशोधन की समस्या सहज में ही हल होगई। मुनि श्री बड़े ही उग्र उत्साही, साहित्यसेवी एवं सुन्दर लेखक हैं। आपकी लेखनशैली अतिलालित भावपूर्ण एवं हृदय को

किंचिद् वक्तव्य ।

प्रेमी पाठको ! यह टीका सहित दशवैकालिक सूत्र आपके पवित्र कर कमलों में सप्रेम समर्पित है। की प्रधानता इस सूत्र के विषय में मुझे कुछ कहना नहीं है, क्यों कि इस के विषय में जितना मैं जानता हूँ, उतना ही—नहीं—उससे भी अधिक आप स्वयं भी जानते हैं। हाँ यह अवश्य है कि यह सूत्र एक तो स्वयं ही बहुत अधिक सुन्दर एवं उपादेय है, दूसरे उपाध्याय श्री आत्माराम जी महाराज ने आत्मज्ञान प्रकाशिका विस्तृत एवं अति सरल टीका रच कर, इस की सुन्दरता तथा उपादेयता और भी अधिक बढ़ा दी है। उपाध्याय जी महाराज से प्रायः सभी धार्मिकशिक्षाप्राप्त पाठक परिचित होंगे। आप प्राकृत भाषा के प्रतिष्ठाप्राप्त उद्भट विद्वान हैं। जैन सूत्रों के पूर्ण अभ्यासी एवं मर्मज्ञ हैं। आपने अनुयोग द्वार जैसे अतीव गूढ विषय के सूत्र पर यह सरल हिन्दी टीका रची है जो शिक्षित समाज में सभी प्रकार से आदरास्पद हुई है। आप श्रम परिश्रमी हैं, साहित्यसेवा के भाव से कुछ न कुछ सदा लिखते ही रहते हैं। आप की लेखिनी में एक विशेष चमत्कार है, जिससे आप की लिखी हुई प्रायः सभी पुस्तकें सर्वप्रियपद पर पहुंची हैं। आपने दशवैकालिक की प्रस्तुत टीका के लिखने में भी अपना वही अद्भुत चमत्कार दिखलाया है और टीका के 'आत्मज्ञानप्रकाशिका' नाम को यथा नाम तथा गुण के दृष्टि बिन्दु से यौगिक बनाने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। उपाध्याय

"णमोत्थुण समणस्स भगवतो महावीरस्स"

सिरि-दसवेआलियं-सुत्तं।

दुमपुप्फिया पढम अज्झयण।

(श्रीदशवैकालिक सूत्र।)

द्रुमपुष्पित नामक प्रथम अध्ययन।

धर्म-मगल और धर्म-माहात्म्य—

धम्मो मगलमुक्किट्ठ, अहिसा सजमो तवो।
देवा वि त नमसति, जस्स धम्मे सया मणो ॥ १ ॥

छाती हुई होती है। आपकी अमरपद्य मुक्तावली, अमरजैनपुष्पांजली, आदर्शजीवन, अहिंसा-सिद्धान्त वीरस्तुति नामक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनका शिक्षित जनताने बड़े ही प्रेम से स्वागत किया है। आपने इस पुस्तक का भी बहुबुद्धिमत्ता से उत्साहपूर्वक सपादन किया है। लगातार पाँच मास के कठिन परिश्रम से उपाध्याय जी के कच्चे लेख की हिन्दी भाषा को सशोधित करके पक्का लेख बनाया और यथास्थान पाद टिप्पणियों एवं विराम आदि से पुस्तक को मनोमोद कता का रूप दिया। आपका यह साहित्यप्रेम हृदय से अभिवन्दनीय है। आपकी इस साहित्य सेवा के लिये सेवक सासार कृतज्ञ है। शासनपति वीर परमात्मा से प्रार्थना है कि मुनि श्री उत्तरोत्तर सिस्य-नूतन ज्ञान वृद्धि करें और भविष्य में अनेकानेक धार्मिक साहित्य की आदर्श सेवाओं द्वारा श्री संघ में पूर्ण परिचित हों-

लाला मधन
महेन्द्रगढ़ (पटियाला)
१०-११-१९९२-ई०

सेवक—
ज्वालाप्रसाद जैन जौंहरी

या यह आत्मा निर्वाण पदको शीघ्र प्राप्त करेगा। क्योंकि जब तक आत्मा उपशमभाव या क्षयोपशमभाव अथवा क्षायिकभावको पूर्णरूपसे प्राप्त नहीं करता, तब तक वह धर्मपथसे पराङ्मुख ही रहता है।

इसका कारण यह है कि औदयिकभावकी प्रकृतियां इस आत्माको संसारके पदार्थोंकी ओर ही प्रवृत्त कराती हैं। और औपशमिक आदि भावोंकी शक्तियां इस आत्माको निर्वाण साधनके लिये उत्साहित तथा बाध्य करती हैं। इसीलिये ऐसे मंगलमय पदार्थ, मंगलमय कार्योंके सिद्ध करनेवाले प्रतिपादन किये गये हैं।

प्रत्येक आत्मा मंगल रूप पदार्थोंके देखनेकी इच्छा करता है। वह जानता है कि मंगलमय पदार्थोंके देखनेसे मुझे मंगल रूप पदार्थोंकी उपलब्धि होती रहेगी। संसारमें पांच प्रकारके पदार्थ मंगल रूप माने गये हैं, १-पुत्रादिके जन्मपर गाए जानेवाले मंगल रूप गीतों को 'शुद्ध मंगल' माना गया है, २-नूतन गृहादिकी रचना करनेको 'अशुद्ध मंगल' कथन कियागया है, ३-विवाहोत्सवके समय जो शुभ गीतादि गाए जाते हैं, उस को 'चमत्कार मंगल' प्रतिपादन किया गया है, ४-धनादिकी प्राप्तिको 'क्षीण मंगल' बतलाया गया है और पांचवां षट्कायकी रक्षा रूप धर्म मंगल श्रीभगवान् द्वारा वर्णन किया गया है।

धर्म मंगलके अतिरिक्त प्रथम कहे हुए चार मंगल समयान्तरमें अमंगलके रूपको भी धारण कर लेते हैं। परन्तु धर्म मङ्गल संसार पक्षमें उक्त मङ्गलोंकी प्राप्ति कराता हुआ जीवको निर्वाण पदकी प्राप्ति करानेमें भी अपनी सामर्थ्य रखता है। कारण कि—

धर्मः मगलमुत्कृष्टम्, अहिंसा सयमस्तप ।
देवा अपि त नमस्यन्ति, यस्य धर्मे सदा मनः ॥ १ ॥

पदार्थ—(**धम्मो**) धर्म (**मगल**) मगल (**उक्किट्ठ**) उत्कृष्ट है जो (**अहिंसा**) दया (**सजमो**) सयम (**तवो**) तपरूप है, (**जस्स**) जिसका (**धम्मे**) धर्ममें (**सया**) सदा (**मणो**) मन है (**देवा**) देवता (**वि**) भी ,अपि शब्द से अन्य चक्रवर्त्यादि) (**त**) उस (धर्मयुक्त व्यक्ति को) (**नमसति**) नमस्कार करते हैं ।

मूलार्थ—अहिंसा, सयम और तप रूप जो धर्म मगल है, वह उत्कृष्ट मगल है । जिसका उक्त धर्ममें मन सदा लगा रहता है, उस धर्मात्माको देवता तथा अन्य, चक्रवर्त्यादि भी नमस्कार करते हैं ।

विस्तृतार्थ—यद्यपि इस अनादि अनन्त ससार चक्रमें परिभ्रमण करते हुए प्रत्येक प्राणी को प्रत्येक पदार्थकी प्राप्ति हुई, हो रही है और होगी, परन्तु जिससे यह ससारसे पार हो जाय उस पदार्थकी उसे प्राप्ति होना असाध्य तो नहीं, किन्तु कष्टसाध्य अवश्य है । जब पूर्व पुण्यो दय अथवा । स्वकीय क्षयोपशम भावके कारण ग_प्य जन्मकी और उसके सहकारी पदार्थोंकी प्राप्ति हो, तब जानना चाहिये कि निर्वाण पद अब इस आत्माके निकट हो रहा है ।

या यह आत्मा निर्वाण पदको शीघ्र प्राप्त करेगा। क्योंकि जब तक आत्मा उपशमभाव वा क्षयोपशमभाव अथवा क्षायिकभावको पूर्णतया प्राप्त नहीं करता, तब तक वह धर्मपथसे पराङ्मुख ही रहता है।

इसका कारण यह है कि औदयिकभावकी प्रकृतियां इस आत्माको संसारके पदार्थोंकी ओर ही प्रवृत्त कराती हैं। और औपशमिक आदि भावोंकी शक्तियां इस आत्माको निर्वाण साधनकेलिये उत्साहित तथा बाध्य करती हैं। इसीलिये ऐसे मंगलमय पदार्थ, मंगलमय कारणोंके सिद्ध करनेवाले प्रतिपादन किये गये हैं।

प्रत्येक आत्मा मंगल रूप पदार्थोंके देखनेकी इच्छा करता है। वह जानता है कि मंगलमय पदार्थोंके देखनेसे मुझे मंगल रूप पदार्थोंकी उपलब्धि होती रहेगी। संसारमें पांच प्रकारके पदार्थ मंगल रूप माने गये हैं; १-पुत्रादिके जन्मपर गाए जानेवाले मंगल रूप गीतों को 'शुद्ध मंगल' माना गया है, २-नूतन गृहादिकी रचना करनेको 'अशुद्ध मंगल' कथन कियागया है, ३-विवाहोत्सवके समय जो शुभ गीतादि गाए जाते हैं, उस को 'चमत्कार मंगल' प्रतिपादन किया गया है, ४-धनादिकी प्राप्तिको 'क्षीण मंगल' बतलाया गया है और पाचवां षट्कायकी रक्षा रूप धर्म मंगल श्रीभगवान् द्वारा वर्णन किया गया है।

धर्म मंगलके अतिरिक्त प्रथम कहे हुए चार मंगल समयान्तरमें अमंगलके रूपको भी धारण कर लेते हैं। परन्तु धर्म मंगल संसार पक्षमें उक्त मंगलोंकी प्राप्ति कराता हुआ जीवको निर्वाण पदकी प्राप्ति करानेमें भी अपनी सामर्थ्य रखता है। कारण कि—

"दुर्गतो प्रपतन्तमात्मान धारयतीति धर्म्म" ।

'धर्म' शब्दकी व्युत्पत्ति शास्त्रकारोंने यही कथन की है कि जो दुर्गतिमें पड़ते हुए प्राणियोंको उठा कर सुगतिमें स्थापन करता है, उसे 'धर्म' कहते हैं। तथा जिस प्रकार सुन्दर या शुद्ध जल उद्यान या आरामके सौन्दर्यको बढ़ाता है या पुष्पों आदिके विकसित करनेमें सहायक बनता है, ठीक उसी प्रकार धर्म मङ्गल भी आत्माके विकास करनेमें सहायक होता है। अत एव आत्माके विकास होनेकेलिये अथवा आत्माको ही मङ्गल रूप बनानेकेलिये इस गाथामें धर्म मङ्गलका ही अधिकार किया गया है।

प्रथमके चार मङ्गलोंका यहां इसलिये उल्लेख नहीं किया गया कि एक तो वे नित्य मङ्गल नहीं हैं। दूसरे वे धर्म रूप मङ्गलके ही फल रूप कथन किये गये हैं। इसलिये इस स्थानपर केवल धर्म मङ्गल या धर्म मङ्गलके माहात्म्यका ही वर्णन किया गया है। क्योंकि सब मांगलिक पदार्थोंमें उत्कृष्ट या सब मांगलिक पदार्थोंका उत्पादक धर्म मङ्गल ही है। यह धर्म्म मङ्गल अहिंसा (प्राणोंकी रक्षा) संयम (आस्रवके निरोध) और तप (१२ प्रकार के तप) रूप है।

यद्यपि विशेष्य के सामान्य कथन करनेसे ही अभिप्रेत पदार्थोंकी संपूर्ण सिद्धि की जा सकती है तथापि शास्त्रकारने इस स्थानपर विशेषणका विशेष रूपसे वर्णन कर दिया है। अर्थात् यद्यपि धर्ममङ्गल अहिंसा रूप ही होता है, परन्तु जब तक आस्रव (कर्म आनेके मार्ग) का निरोध और तप (इच्छाके निरोध) का सम्यक्तया आसेवन नहीं किया जावे, तब तक आत्मा

अहिंसाद्वीकी भी सम्यक्तया उपासना नहीं कर सकता। क्योंकि अहिंसाका पालन उसी समय हो सकता है जब कि आस्रव के मार्गोंका सर्वथा निरोध करते हुए तप द्वारा इच्छाओंका भी निरोध कर दिया जाये। इसके बिना अहिंसा रूप धर्मकी पालना सम्यक्तया नहीं की जा सकती। अहिंसाकी सम्यक्तया पालनाकेलिये ही सत्रह प्रकारका संयम प्रतिपादन किया गया है। जो कि निम्नलिखित हैः—

१ पृथिवीकाय संयम, २ अप्काय संयम, ३ तेजस्काय संयम, ४ वायुकाय संयम, ५ वनस्पतिकाय संयम, ६ द्वीन्द्रिय संयम, ७ त्रीन्द्रिय संयम, ८ चतुरिन्द्रिय संयम, ९ पञ्चेन्द्रिय संयम, १० अजीवकाय संयम, ११ उपेक्षा संयम, १२ उत्प्रेक्षा संयम, १३ अपहृत्य संयम, १४ प्रमार्जना संयम, १५ मनः संयम, १६ वचन संयम, १७ और काय संयम।

इन संयमोंके कथन करनेका सारांश इतना ही है कि अहिंसा धर्मकी पालना करनेकेलिये प्रत्येक कार्यके करते समय यह यत्न करना चाहिये कि किसी भी जीवके द्रव्य अथवा भाव प्राणोंका घात न हो जाये। बारह प्रकारके तपका वर्णन भी इसी वास्ते किया गया है कि इच्छाओं का सर्वथा निरोध करके उक्त धर्म सुखपूर्वक पालन किया जा सके। बारह तप ये हैं–१ अनशन, २ ऊनोदर, ३ भिक्षाचरी, ४ रसपरित्याग, ५ कायक्लेश और ६ प्रतिसंलीनता, यह छह प्रकारका बाह्य तप है। इसी प्रकारसे छह प्रकारका आभ्यन्तर तप है। जैसे कि–१ प्रायश्चित्त, २. विनय, ३ वैयावृत्य, ४ स्वाध्याय ५ ध्यान और ६ व्युत्सर्ग। इन संयम और तपोंके द्वारा अहिंसा रूप धर्म मंगलकी सुखपूर्वक पालना की जा सकती है।

"दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मान धारयतीति धर्म्म"।

'धर्म' शब्दकी व्युत्पत्ति शास्त्रकारोंने यही कथन की है कि जो दुर्गतिमें पड़ते हुए प्राणियोंको उठा कर सुगतिमें स्थापन करता है, उसे 'धर्म' कहते हैं। तथा जिस प्रकार सुन्दर वा शुद्ध जल उद्यान वा आरामके सौन्दर्य्यको बढ़ाता है या पुष्पों आदिके विकसित करनेमें सहायक बनता है, ठीक उसी प्रकार धर्म मङ्गल भी आत्माके विकास करनेमें सहायक होता है। अत एव आत्माके विकास होनेकेलिये अथवा आत्माको ही मङ्गल रूप बनानेकेलिये इस गाथामें धर्म मङ्गलका ही अधिकार किया गया है।

प्रथमके चार मङ्गलोंका यहां इसलिये उल्लेख नहीं किया गया कि एक तो वे नित्य मङ्गल नहीं हैं। दूसरे वे धर्म रूप मङ्गलके ही फल रूप कथन किये गये हैं। इसलिये इस स्थानपर केवल धर्म मङ्गल वा धर्म मङ्गलके माहात्म्यका ही वर्णन किया गया है। क्योंकि सब मांगलिक पदार्थोंमें उत्कृष्ट वा सब मांगलिक पदार्थोंका उत्पादक धर्म मङ्गल ही है। वह धर्म्म मङ्गल अहिंसा (प्राणोंकी रक्षा) संयम (आस्रवके निरोध) और तप (१२ प्रकार के तप) रूप है।

यद्यपि विशेष्य के सामान्य कथन करनेसे ही अभिप्रेत पदार्थोंकी संपूर्ण सिद्धि की जा सकती है तथापि शास्त्रकारने इस स्थानपर विशेषणका विशेष रूपसे वर्णन कर दिया है। अर्थात् यद्यपि धर्म मङ्गल अहिंसा रूप ही होता है, परन्तु जब तक आस्रव (कर्म्म आनेके मार्ग) का निरोध और तप (इच्छाके निरोध) का सम्यक्तया आसेवन नहीं किया जावे, तब तक आत्मा

अहिंसात्रयीकी भी सम्यक्तया उपासना नहीं कर सकता। क्योंकि अहिंसाका पालन उसी समय हो सकता है जब कि आस्रव के मार्गोंका सर्वथा निरोध करते हुए तप द्वारा इच्छाओंका भी निरोध कर दिया जावे। इसके बिना अहिंसा रूप धर्मकी पालना सम्यक्तया नहीं की जा सकती। अहिंसाकी सम्यक्तया पालनाकेलिये ही सत्रह प्रकारका संयम प्रतिपादन किया गया है। जो कि निम्नलिखित है:—

१ पृथिवीकाय सयम, २ अप्काय सयम, ३ तेजस्काय सयम, ४ वायुकाय सयम, ५ वनस्पतिकाय सयम, ६ द्वीन्द्रिय सयम, ७ त्रीन्द्रिय सयम, ८ चतुरिन्द्रिय सयम, ९ पञ्चेन्द्रिय सयम, १० अजीवकाय सयम, ११ उपेक्षा सयम, १२ उत्प्रेक्षा सयम, १३ अपहृत्य सयम, १४ अप्रमार्जना सयम, १५ मनः सयम, १६ वचन सयम, १७ और काय सयम।

इन सयमोंके कथन करनेका साराश इतना ही है कि अहिंसा धर्मकी पालना करनेकेलिये प्रत्येक कार्य्यके करते समय यह यत्न करना चाहिये कि किसी भी जीवके द्रव्य अथवा भाव प्राणोंका घात न हो जावे। बारह प्रकारके तपका वर्णन भी इसी वास्ते किया गया है कि इच्छाओं का सर्वथा निरोध करके उक्त धर्म सुखपूर्वक पालन किया जा सके। बारह तप ये हैं—१ अनशन, २ ऊनोदर, ३ भिक्षाचरी, ४ रसपरित्याग, ५ कायक्लेश और ६ प्रतिसंलीनता, यह छह प्रकारका बाह्य तप है। इसी प्रकारसे छह प्रकारका आभ्यन्तर तप है। जैसे कि—१ प्रायश्चित्त, २. विनय, ३ वैयावृत्य, ४ स्वाध्याय ५ ध्यान और ६ व्युत्सर्ग। इन सयम और तपोंके द्वारा अहिंसा रूप धर्म मगलकी सुखपूर्वक पालना की जा सकती है।

इस प्रकार सूत्रकारने उक्त गाथाके प्रथम दो पादोंमें धर्म मङ्गल और उसके विशेषण-लक्षण प्रतिपादन किये हैं। शेष दो पादोंमें धर्म मङ्गलका माहात्म्य वर्णन किया है कि जो आत्मा उक्त कथन किये हुए धर्म मङ्गलसे अलंकृत हो जाता है, उसको देवता तथा चक्रवर्ती आदि महापुरुष भी नमस्कार करते हैं। अथवा जिस पुरुषका उक्त धर्ममें मन सदा लगा रहता है उसी को देवता आदि नमस्कार करते हैं, अन्यको नहीं। कारण कि धर्म मङ्गल रूप व्यक्ति सबका पूज्य बन जाता है। इस प्रकार इस गाथामें धर्म मङ्गलकी उत्कृष्टता, उसके लक्षण तथा उसके माहात्म्यका दिग्दर्शन कराया गया है।

यहां यदि कहा जावे कि धर्म मङ्गल मात्र ही उत्कृष्ट है, इस लिये उसमें अहिंसारूप विशेषण नहीं लगाना चाहिये ? तो इसका उत्तर यह है कि 'धर्म' शब्दके अनेक अर्थ हैं और उसका कई प्रकारसे प्रयोग किया जाता है। जैसे—ग्रामधर्म, नगरधर्म, देशधर्म, पाखण्डधर्म, अस्तिकाय धर्म, इत्यादि। धर्म शब्दके अनेक अर्थोंमें गमन करनेके कारण शंका उत्पन्न हो सकती है कि ग्रामधर्म परमोत्कृष्ट मङ्गल है अथवा पाखण्डधर्मादि उत्कृष्ट मङ्गल हैं। इसी शंकाके व्यवच्छेद करनेकेलिये सूत्रकर्ताने धर्म मङ्गलके साथ ही 'अहिंसा' पद जोड दिया है। जिससे फिर किसी को शंका करनेका अवसर प्राप्त न हो सके। साथ ही उस अहिंसाकी रक्षाकेलिये संयम और तप, जो कि उसके मुख्य हेतु हैं, वर्णन कर दिये हैं। क्योंकि बहुतसे लोग अपनी मानी हुई हिंसाको भी अहिंसाकी कोटिमें रखते हैं। जैसे कि यज्ञोंकी हिंसाको कतिपय लोगोंने वेद विहित होनेसे अहिंसा ही स्वीकार किया है। किसी किसीने अपनी यज्ञाश्रमकी विधि

में होती आई हिंसाको अहिंसा माना है, । किसी किसीने संग्राम आदिकी हिंसाको अहिंसाका रूप दे रक्खा है । इत्यादि विकल्पोंके व्यवच्छेद करनेकेलिये सूत्रकर्ताने संयम शब्दसे सत्रह प्रकारकी हिंसाओंका निषेध कर दिया है । इतना ही नहीं, किन्तु इच्छाके उत्पन्न होनेसे जो हिंसा उत्पन्न होती है, उसका भी निषेध करनेकेलिये उन्होंने 'तप' शब्दका प्रयोग कर दिया है ।

धर्म मङ्गलका माहात्म्य वर्णन करते हुए पहिले जो देवताओंका पद रक्खा है, उसका कारण यह है कि लौकिकमें लोग देवोंकी विशेष उपासना करते हैं । सो धर्म मङ्गलकी देवता लोग भी उपासना करते हैं, इस बातको स्फुटतया दिखलाया गया है । तथा जो 'वि'—'अपि' शब्दका प्रयोग किया गया है, उसका कारण यह है कि यद्यपि सूत्रकर्ताके ज्ञानमें देव प्रत्यक्ष रूप में ठहरे हुए हैं तथापि प्रायः सामान्य जनताके सामने देव परोक्ष हैं । अतः धर्म माहात्म्य दिखलाने के लिये ही 'वि' शब्दका प्रयोग किया गया है, जिससे प्रतीत हो जाय कि जो वर्त्तमान कालमें महा ऋद्धिशाली चक्रवर्ती आदि महाराजे हैं, वे भी धर्मात्मा पुरुषोंकी पर्युपासना करनेमें अपना कल्याण समझते हैं और इसी कारण वे ऋषि वा महर्षियों की सेवा, नमस्कारादि क्रिया तथा उनकी स्तुति करते रहते हैं ।

गाथाके चतुर्थ चरणका वर्णन यह दिखलानेकेलिये किया गया है कि देवता अथवा अन्य महाव्यक्ति उसी धर्मात्मा पुरुषको नमस्कार करते हैं, जिसका मन सदा उक्त धर्म मङ्गलमें लगा रहता है अर्थात् जिसने आयु पर्यन्त उक्त धर्म को धारण कर लिया है ।

इस प्रकार सूत्रकारने उक्त गाथाके प्रथम दो पादोंमें धर्म मङ्गल और उसके विशेषण-लक्षण प्रतिपादन किये हैं। शेष दो पादोंमें धर्म मङ्गलका माहात्म्य वर्णन किया है कि जो आत्मा उक्त कथन किये हुए धर्म मङ्गलसे अलङ्कृत हो जाता है, उसको देवता तथा चक्रवर्ती आदि महापुरुष भी नमस्कार करते हैं। अथवा जिस पुरुषका उक्त धर्ममें मन सदा लगा रहता है उसी को देवता आदि नमस्कार करते हैं, अन्यको नहीं। कारण कि धर्म मङ्गल रूप व्यक्ति सबका पूज्य बन जाता है। इस प्रकार इस गाथामें धर्म मङ्गलकी उत्कृष्टता, उसके लक्षण तथा उसके माहात्म्यका दिग्दर्शन कराया गया है।

यहां यदि कहा जावे कि धर्म मङ्गल मात्र ही उत्कृष्ट है, इस लिये उसमें अहिंसारूप विशेषण नहीं लगाना चाहिये? तो इसका उत्तर यह है कि 'धर्म' शब्दके अनेक अर्थ हैं और उसका कई प्रकारसे प्रयोग किया जाता है। जैसे-ग्रामधर्म, नगरधर्म, देशधर्म, पाखण्डधर्म, अस्तिकाय धर्म, इत्यादि। धर्म शब्दके अनेक अर्थोंमें गमन करनेके कारण शंका उत्पन्न हो सकती है कि ग्रामधर्म परमोत्कृष्ट मङ्गल है अथवा पाखण्डधर्मादि उत्कृष्ट मङ्गल हैं। इसी शंकाके व्यवच्छेद करनेकेलिये सूत्रकर्ताने धर्म मङ्गलके साथ ही 'अहिंसा' पद जोड दिया है। जिससे फिर किसी को शंका करनेका अवसर प्राप्त न हो सके। साथ ही उस अहिंसाकी रक्षाकेलिये संयम और तप, जो कि उसके मुख्य हेतु हैं, वर्णन कर दिये हैं। क्योंकि बहुतसे लोग अपनी मानी हुई हिंसाको भी अहिंसाकी कोटिमें रखते हैं। जैसे कि यज्ञोंकी हिंसाको कतिपय लोगोंने वेद विहित होनेसे अहिंसा ही स्वीकार किया है। किसी किसीने आश्रमकी विधि

अहिंसा रूप व्रतकी रक्षाकेलिये शेष व्रतोंका वर्णन किया गया है। साथ ही संयम और तप, इन दो शब्दोंके कहनेसे तो चारित्र धर्मका सर्वस्व ही प्रतिपादन कर दिया गया है। क्योंकि जितनी भी चारित्र रूप धर्मकी व्याख्या है, वह सब संयम और तप रूप धर्मकी ही व्याख्या है। इसलिये जिसके मनमें प्रथम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान रूप उत्कृष्ट धर्म मङ्गल उत्पन्न होचुके हों, उसी आत्माको अहिंसा धर्म रूप मङ्गलकी प्राप्ति हो सकती है। तथा इसी सूत्रके चतुर्थाध्यायमें दयाका कारण ज्ञान माना है। सो जब दर्शन और ज्ञान, कारण हुए तो फिर चारित्र रूप धर्म कार्य्य सहजमें ही हो जाता है। अतः चारित्र रूप धर्मको उत्कृष्ट मङ्गल मानना, युक्तिसंगत सिद्ध होता है।

जब आत्मा सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र रूप धर्मसे अलंकृत हो जाता है, तब वह चारित्र रूप धर्मको पालनेकेलिये अपने शरीरकी पालना शुद्ध आहार आदिकेद्वारा करने लगता है। क्योंकि शरीर आहारादिके आश्रित ही रह सकता है। अत एव अब सूत्रकार दृष्टान्त द्वारा आहारकी शुद्धिका वर्णन करते हुए मुनिवृत्तिका निरूपण करते हैं —

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं।
ण य पुप्फं किलामेइ, सो अ पीणेइ अप्पयं ॥ २ ॥

यथा द्रुमस्य पुष्पेषु भ्रमर आपिबति रसम्।
न च पुष्पं क्लामयति, स च (प्रीणाति प्रीणयति) आत्मानम् ॥२॥

यहां यदि यह कहा जाय कि प्रत्येक धर्म, मङ्गल रूप होसकता है, यदि उसमें सहानुभूतिका गुण पाया जाये तो सो हमको इसमें कुछ भी विवाद नहीं है। भले ही वह धर्म मङ्गल रूप धारण कर ले। यदि यह सहानुभूति स्वार्थरूपसे है तब तो वह धर्म, मङ्गल का रूप नहीं कहा जा सकता। किन्तु धर्मके रूपमें प्राय अपने स्वार्थकी सिद्धि की जाती है। हाँ, यदि वह सहानुभूति स्वार्थके भावोंको छोड़ कर केवल परोपकारकी बुद्धिसे की जाती है, तब तो वह धर्म मङ्गल रूप अवश्य है। इसमें किसीको भी विवाद करनेका स्थान नहीं है।

यहां यदि यह कहा जावे कि जब मुक्ति पदकी प्राप्तिकेलिये सम्यग् दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र, इन तीनोंका समूह वर्णन किया गया है, तो फिर यहां क्रमको छोड़ कर केवल चारित्रको ही क्यों उत्कृष्टता दी गई? तो इसका उत्तर यह है कि "उत्तराध्ययन सूत्र" के २८ वें 'मोक्षमार्ग' नामक अध्याय में प्रतिपादन किया है कि—"ना दसणिस्स नाण, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा। अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाण" अर्थात् बिना सम्यग् दर्शन के ज्ञान और ज्ञानके बिना चारित्रके गुण उत्पन्न नहीं हो सकते। बिना गुणोंके मोक्ष और बिना मोक्षके निर्वाण पद प्राप्त नहीं हो सकता। सो कर्म क्षय करनेकेलिये सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञानका साध्य चारित्र रूप तृतीय गुण ही हो जाता है। इसी वास्ते इस गाथामें सम्यग् दर्शन वा ज्ञान हो जानेके पश्चात् चारित्र रूप धर्मकी उत्कृष्टता दिखलाई गई है।

और चारित्र रूप धर्ममें प्रथम अहिंसा रूप व्रतका ही निरूपण किया गया है। तथा

का निर्देश किया है। फिर अहिंसा, संयम और तप रूप, ये धर्मीके विशेषण हैं। उत्कृष्ट मङ्गलके कथन करनेसे धर्म साध्य बतलाया गया है। अत एव धर्मी और धर्मसमुदायका कथन करनेसे पूर्व गाथाके दो पादों द्वारा प्रतिज्ञाका कथन किया गया है। फिर देव आदिसे वह धर्मी पूजित है, इस प्रकार कथन करनेसे हेतुकी सिद्धि की गई है। 'अपि' शब्दसे विद्याधर आदिका भी ग्रहण कर लेना चाहिये। पूर्व गाथाके तृतीय पादसे हेतुका कथन किया गया है। 'अर्हदादिवत्' यह दृष्टान्त है तथा जो जो देवादिसे पूजित हैं, वे वे उत्कृष्ट मङ्गल हैं। जैसे अर्हदादि तथा देवादि से जो पूजित है वह धर्म है, यह उपनयन है। इसलिये देवादिसे पूजित होने से ही उत्कृष्ट मङ्गल है, यह निगमन है।

सूत्रकर्ताने जब दो अवयवोंको ग्रहण कर लिया तब शेष तीनों अवयव अविनाभावी होने से साथ ही ग्रहण कर लिये गये हैं। इसी तरह प्रत्येक गाथामें भी न्यायके आश्रित होकर विषयकी सम्भावना कर लेनी चाहिये।

तथा स्थानान्तरपर जो भ्रमरका उदाहरण दिया गया है, वह देशोपमासे ही साध्य हो सकता है, न कि सर्वोपमासे। जैसे कि इसका मस्तक चन्द्रवत् सौम्य है। यहांपर चन्द्रका सौम्य गुण मस्तकमें देशोपमासे माना गया है। इसी प्रकार भ्रमर अस्थिरतादि गुणोंसे युक्त होनेपर भी जो अनियतवृत्तिता उसमें गुण है, सूत्रकर्ताने उसी गुणको लक्ष्यमें रखकर दृष्टान्तमें भ्रमर ग्रहण किया है।

यहां यदि ऐसा कहा जाय कि गृही लोग अन्नादि जो पदार्थ पकाते हैं, उन पदार्थों को भिक्षादि द्वारा भिक्षु लोग भी खाते हैं तो फिर उनको उसका पाप क्यों नहीं लगता?

पदार्थ—(जहा) जिस प्रकार (भमरो) भ्रमर (दुमस्स) वृक्षके (पुप्फेसु) पुष्पोंमेंसे (रस) रसको (आवियइ) खूब पीता है (च) तथा (पुप्फं) पुष्पको (ण य) नहीं (किलामेइ) भ्रम देता (सो) वह भ्रमर (अप्पयं) आत्माको (पीणेइ) तृप्त करता है।

मूलार्थ—जिस प्रकारसे भ्रमर, वृक्षके पुष्पोंमेंसे पुष्पको विना कष्ट दिये हुये रसको खूब पीता है और अपनी आत्माको भी तृप्त कर लेता है।[उसी प्रकार —]

विस्तृतार्थ—इस गाथामें धर्ममूर्ति आत्माके आहारकी विधिका निरूपण दृष्टान्त द्वारा किया गया है कि जिस प्रकार भ्रमर वृक्षके पुष्पोंपर जाकर प्रमाणपूर्वक उन पुष्पोंके रसको पी लेता है और उस रससे स्वकीय आत्माकी तृप्ति कर लेता है, परन्तु उन पुष्पोंको पीड़ित नहीं करता।

अब इस कथनसे यहां यह शङ्का उत्पन्न हो जाती है कि शास्त्रने पंचावयव रूप वाक्यको छोड़ कर यहां केवल दृष्टान्तको ही क्यों ग्रहण किया ? सो इसका उत्तर यह है कि हेतु और प्रतिज्ञाने दृष्टान्तको ही मुख्य माना जाता है अतः सूत्रकारने इस स्थानपर उसीका ग्रहण किया है। पूर्व गाथामें पचावयव रूप वाक्यसे धर्म मङ्गल सर्वोत्कृष्ट सिद्ध किया ही गया है। यथा—अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म मङ्गल उत्कृष्ट है यह प्रतिज्ञा वचन है, क्योंकि यहांपर धर्म कहनेसे धर्म्मी

यहां यदि यह कहा जाय कि जहांपर गृहस्थ भक्तिवश केवल साधुकेलिये ही आहार तैयार करवाता है, तो वहांपर उस आहारको ग्रहण करनेसे साधु कैसे पापसे लिप्त न होगा ? इसका उत्तर यह है कि यदि साधुको मालूम हो जाय कि यह आहार मेरेलिये ही तैयार करवाया है और फिर वह उसे ले ले तो वह साधु अवश्य पापलिप्त होगा। क्योंकि साधु करना, कराना और अनुमोदन करना—कृत कारित अनुमोदना, इन तीनोंका ही त्यागी होता है। इतना ही नहीं, किन्तु जैन साधुकेलिये भगवान् महावीरकी आज्ञा है कि वह परमोत्कृष्ट—भयंकरसे भयंकर संकटके समय उपस्थित होनेपर भी वृत्तिसे विरुद्ध आचरण कभी न करे। अनशनादिसे प्राण त्याग चाहे भले ही हो जायँ*। जो साधु अपनी शास्त्रोक्त क्रियाओंपर खड्गधाराके समान चला जा रहा है, वह पाप क्रियाओंसे कभी लिप्त नहीं होता ॥२॥

एमए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो ।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्तेसणा (णे) रया ॥ ३ ॥

अनेन श्रमणा मुक्ता, ये लोके सन्ति साधवः ।
विहंगमा इव पुष्पेषु, दानभक्तैषणारताः ॥ ३ ॥

* "आपत्तिकाले मर्यादा नास्ति" का जघन्य सिद्धान्त जैन साहित्य स्वीकार नहीं करता।—प्रकाशक।

इस शङ्काके उत्तरमें कहा जाता है कि पाप कर्म करनेके तीन हेतु हैं। करना, कराना और अनुमोदन करना। सो जब कि भिक्षु तीनों कारणोंका निरोध कर चुका है तो फिर उसको पाप क्यों लगेगा? इसके अतिरिक्त गृहस्थ लोग उस कार्यको स्वयं ही करते हैं। क्योंकि जिन ग्राम नगरादिमें भिक्षु नहीं आते तो क्या उन स्थानोंपर लोग अन्नादि नहीं पकाते? अपि तु पकाते ही हैं। तो बतलाइये कि क्या वह पाप भी भिक्षुकको ही लगता है? अतः यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार वर्षा तृण आदिकेलिये ही नहीं बरसती, तृणादि मृगादिके खानेकेलिये ही वृद्धि नहीं पाते, वृक्षोंकी शाखायें केवल मधुकरोंके लिये ही नहीं विकसित होतीं, उसी प्रकार गृहस्थ लोग भी साधुओंकेलिये ही अन्नादि नहीं पकाते।

जिस प्रकार उक्त कार्य्य स्वाभाविक और समयपर होते रहते हैं, ठीक उसी प्रकार भिक्षु जन भी समयका पूर्ण बोध रखते हुए समयपर ही भिक्षादिकेलिये गृहस्थ लोगोंके गृहादिमें जाते हैं। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि जिस प्रकार वृक्षादि को कोई अपर शक्ति विकसित नहीं करती, केवल काल (समय) और उन वृक्षोंका स्वभाव ही उन्हें विकसित करता है, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्तिके क्षुधा वेदनीयका स्वभाव और उसके शान्त करनेका समय भिक्षाचरीमें मुख्य कारण होता है। क्योंकि जहांपर भ्रमरादि नहीं आते तो क्या वहांपर वृक्षादि विकसित नहीं होते? अपि तु होते ही हैं। इसी प्रकार जिन २ स्थानोंपर भिक्षु भिक्षाकेलिये नहीं आते, तो क्या उन स्थानोंपर अन्नादि नहीं पकाये जाते? अपि तु अवश्यमेव पकाये जाते हैं। इससे भिक्षु सर्वथा निर्दोष हैं।

परिग्रह से रहित आत्मा। 'मुच्यत इति मुक्त।' उपरोक्त पांचों प्रकारके श्रमण परीषह तो सहते हैं लेकिन अन्तरङ्ग परिग्रहके त्यागी नहीं होते। अन्तरङ्ग परिग्रहका त्याग सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेके बाद होता है।

यही नहीं, बल्कि 'श्रमण' के साथ 'साधु' शब्दका एक और प्रयोग किया गया है। वह इसलिये कि मुक्तबन्धन तो निह्नवादि भी हो जाते हैं लेकिन वे निर्वाण पदकी साधना नहीं कर सकते। उनके व्यवच्छेदकेलिये 'श्रमण' के साथ 'मुक्त' के अतिरिक्त 'साधु' शब्दका विशेषण और लगाना आवश्यक हुआ। 'साधु' का अर्थ है—'साधयतीति साधुः' अर्थात् जो ज्ञान और निर्वाणपद की साधना करता है, वह साधु है।

गाथामें आये हुए 'लोक' शब्दका अर्थ 'ढाई द्वीप' इसलिये किया गया है कि मनुष्य सिवा इन ढाई द्वीपोंके अन्यत्र पैदा नहीं होते। तथा जो सूत्रकर्ता ने "दानभत्तेसणारया" 'दान भक्तैषणारताः' यह पद ग्रहण किया है। इसका भी अर्थ इस प्रकारसे जानना चाहिये। जैसे कि दान शब्दसे यह आशय है कि—दाताके देनेसे ही दान कहा जाता है। जिससे अदत्तादानका निषेध किया गया अर्थात् आहार विधिमें तृतीय महाव्रतके पालनेकी परमोपयोगिता दिखलाई गई है तथा 'भक्त' शब्दसे प्रासुक आहारके ग्रहण करनेका उपदेश दिया गया है। अर्थात्—प्रथम महाव्रतको सम्यक्तया पालन करते हुए आधाकर्मादि दोषयुक्त आहारका निषेध किया गया है। साथ ही 'एषणा' शब्द से तीनों एषणाओंका ग्रहण किया गया है अर्थात् एषणासमितिके

पदार्थ—(एमेए) इस प्रकारसे (लोए) लोकमें (जे) जो (मुत्ता) मुक्त बंधन (समणा) श्रमण (साहुणो) साधु लोग (संति) हैं, वे (पुप्फेसु) पुष्पोंमें (विहंगमा व) पक्षियोंके समान (दाणभत्तेसणा) दाताके दिये हुए दान, प्रासुक आहार-पानी और एषणामें (रया) रत होते हैं ॥३॥

मूलार्थ—इस प्रकार आरम्भादिसे मुक्त, लोकमें विद्यमान साधु-श्रमण दाताके दान, प्रासुक आहार-पानी और एषणामें इस प्रकार आसक्त होते हैं जिस प्रकार भ्रमर पुष्पोंमें लीन होता है ॥३

भाष्य—पूर्व गाथामें दृष्टान्तका वर्णन किया गया था। इस गाथामें सूत्रकार दार्ष्टान्तिक (उपमेय) का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार भ्रमरगण फूलोंके रस लेनेकी इच्छासे उनके पास आता है ठीक उसी प्रकार अढ़ाई द्वीपमें जो साधु विद्यमान हैं, वे भी गृहस्थोंके घरोंमें भिक्षाकेलिये जावें।

उक्त गाथामें 'श्रमण' और 'मुक्त' ये दो शब्द दिये गये हैं। वह इसलिये कि 'श्रमण' शब्द का अर्थ 'श्राम्यतीति श्रमणः' अर्थात् जो परीषह सहे, वह 'श्रमण' यह होता है। इस तरह 'श्रमण' शब्दसे निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरिक और आजीवक भी ग्रहण किये जा सकते हैं। अतः उसके संग 'मुक्त' शब्द लगाना आवश्यक है। 'मुक्त' शब्दका अर्थ है—अभ्यन्तर और बाहिरक

वय च वृत्तिं लप्स्याम', न च कोऽपि उपहन्यते ।
यथाकृतेपु रीयन्ते, पुष्पेपु भ्रमराः यथा ॥ ४ ॥

पदार्थ– (**अहागडेसु**) जिन घरोंमें अपने लिये भोजन तैयार किया है, उनमें (**वयं**) हम (**वित्तिं**) वृत्तिको (**लब्भामो**) प्राप्त करेंगे, जिससे (**कोइ**) कोई भी जीव (**न उवहम्मइ**) हनन क्रियाको प्राप्त न हो । (**जहा**) जिस प्रकार कि (**पुप्फेसु**) पुष्पोंमें (**भमरा**) भ्रमर (**रीयंते**) जाते हैं (**च,य**) चकार पादपूर्णार्थमें है ॥४॥

मूलार्थ—गृहस्थीने जो आहारादि अपने वास्ते बनाये हैं, उनके यहां हम वृत्तिको इस तरह प्राप्त करेंगे, जिससे कोई भी जीव विराधित न हो । जिस प्रकार कि भ्रमर पुष्पों से रस लेनेमें किसीको नही सताते ॥४॥

भाष्य—इस गाथामें पूर्व शंकाका समाधान किया गया है । जैसे कि–अब यह शंका उत्पन्न की गई थी कि–आहारादि भक्तिभावसे लिया हुआ अवश्यमेव आधाकर्मादि दोषोंसे युक्त हो जायगा । तब इस शंकाके उत्तरमें शंकाकारके प्रति कहा गया है कि–हम मुनिकी आहारादि वृत्तिको उसी प्रकार प्राप्त करेंगे जिस प्रकार पट्कायमें किसी भी जीवकी विराधना होनेकी सम्भावना न की जा सके । जिस प्रकार कि पुष्पोंपर रस लेनेकेलिये भ्रमर आते हैं

द्वारा निर्दोष आहारके आसेवनसे शरीरकी रक्षाका उपदेश किया गया है। इस प्रकार इन गाथाओंके शब्दोंपर सूक्ष्मबुद्धिसे विचार करते रहना चाहिये।

सूत्रकर्ताने 'भ्रमर' शब्दके स्थानपर जो 'विहंगम *' शब्द ग्रहण किया है, उसका तात्पर्य्य यह है कि जिस प्रकार आकाशमें भ्रमर (विहंगम) भ्रमण करता है, ठीक उसी तरह आत्मा कर्मों के वश होकर लोकाकाशमें परिभ्रमण कर रहा है। उस परिभ्रमणकी निवृत्तिकेलिये मधुकरी वृत्तिकी अत्यन्त आवश्यकता है। संसारचक्रसे विमुक्त होनेकेलिये यह मधुकरी वृत्ति उस समय ग्रहण की जाती है, जब कि अहिंसादि महाव्रत धारण कर लिये जाते हैं ॥ ३ ॥

यदि कहा जावे कि—भक्ति आदिके वशसे जब किसीके यहां आहार लिया जावे तब तो जीव हिंसाके होनेकी सम्भावना की जा सकेगी। यदि न लिया जावे तब स्ववृत्तिके अलाभसे मृत्यु आदि दोषोंकी प्राप्ति हो जावेगी ' इसी प्रकारकी शंकाओंके समाधान सूत्रकार करते हैं—

वयं च वित्तिं लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ ।
अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरा जहा ॥ ४ ॥

---

* विहायसि—आकाशे गच्छति गमनशीलः इति 'विहंगमः' —प्रकाशक ।

चारित्रसे परितृप्त करते हैं। जिस तरह कर्ताकी क्रियामें करण साधकतम है, उसी तरह आत्माके ज्ञान-दर्शन-चारित्रकेलिये शरीर कारण है और शरीरकी स्थितिकेलिये आहार कारण है।

इस तरह रत्नत्रयके साधक निरवद्य आहारको लेता हुआ मुनि अपने आत्मिक गुणोंके विकास करनेमें लवलीन रहे। मुनिको यह ख्याल रखना चाहिये कि 'रसमूर्छित' आदि दोषोंसे उस आहार को वह दूषित न करे ॥४॥

इस प्रकार आहार ग्रहण करते हुए मुनिको अब अगाडी क्या करना चाहिये ? वह कहते हैं --

महुगारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया ।
नाणापिंडरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो ॥५॥
त्तिबेमि । पढमं दुमपुप्फियज्झयणं सम्मत्तं ॥१॥

मधुकरसमा बुद्धाः, ये भवन्ति अनिश्रिताः ।
नानापिण्डरता दान्ता, तेन उच्यन्ते साधवः ॥५॥
इति ब्रवीमि । प्रथमं द्रुमपुष्पिताध्ययनं समाप्तम् ॥१॥

ठीक उसी प्रकार मुनि भिक्षाचरीमें गमनक्रिया करते हैं अर्थात् गृहस्थ लोगोंने अपने निमित्त जो भोजन तय्यार किया है उसीमें भ्रमरवत् मुनि भिक्षाचरीमें प्रवृत्त होते हैं।

क्योंकि–जो भोजन केवल मुनिके वास्ते ही तय्यार किया गया है वह दोषोंसे विमुक्त नहीं है। इस वास्ते दोषोंकी शुद्धि करनेकेलिये मुनि उसी आहारको लेनेकेलिये आते हैं, जिसे कि गृहस्थ लोग अपने ही निमित्त तैयार करवाते हैं। जिस तरह वृक्षोंके समूह अपने स्वभावसे पुष्पित और फलित होते हैं, उसी तरह गृहस्थ लोग अपने स्वभावसे ही अन्नादि पकाते हैं। अन्तर है तो केवल इतना ही कि भ्रमर उन पुष्पोंका रस लेते समय वृक्षोंकी आज्ञा नहीं लेता—उनका दिया हुआ नहीं लेता, और मुनि, दाताका दिया हुआ ही ग्रहण करते हैं। इसमें दोनों समान हैं कि भ्रमर पुष्पोंका रस लेनेमें वृक्षोंको कष्ट नहीं पहुँचाते और मुनि आहार लेनेमें गृहस्थोंको कष्ट नहीं पहुँचाते। वे इतना लेते ही नहीं कि जिसमें गृहस्थोंको दुबारा रसोई बनानेकी आवश्यकता पड़े।

सूत्रकारने उक्त गाथाके तृतीय पादमें 'रीयन्ते' यह वर्तमान कालका और प्रथम पादमें 'लब्भामो' यह भविष्यत्कालका पद दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि मुनियोंकी उक्त वृत्ति त्रिकालवर्ती है। अर्थात् मुनिकी मधुकरी वृत्ति तीनों कालमें एक समान है।

जिस प्रकार भ्रमर पुष्पोंसे रस लेकर अपनी आत्माको तृप्त करता है, उसी तरह मुनि भी गृहस्थोंके घरोंसे आहार लेकर शरीर साधन करते हुए अपनी आत्माको ज्ञान, दर्शन और

किसी तपोविशेषके निमित्त से यदि किसी प्रकारके आहारका अभिग्रह कर लिया गया हो तो यह बात अलग है। ऐसा करना हानिकारक नहीं है। किन्तु रसगृद्धिसे किया हुआ किसी प्रकार के आहारका अभिग्रह मुनिधर्मसे विरुद्ध है।

इससे साधुको उचित है कि वे नाना प्रकारके अभिग्रह तथा अन्त प्रान्त आदि प्रासुक आहारके ग्रहण करनेमें ही रत रहें—उद्वेगयुक्त न हों। साथ ही पाँचों इन्द्रियों और छठे मनको तथा क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि अध्यात्मदोषोंके दमन करनेमें तत्पर रहें। इस तरहकी वृत्तिसे अपना जीवन करनेवाले व्यक्ति ही आत्मसाधक बन सकते हैं और वे ही 'साधु' कहलानेके योग्य हैं। उन्हें एषणासमिति तथा ईर्यापथमें यत्न करना चाहिये। और सदैव परमार्थ में लगे रहना चाहिये।

इस अध्ययनके अध्ययनसे यह भी सिद्ध होता है कि ज्ञान और क्रिया, दोनोंसे ही निर्वाण पदकी प्राप्ति होती है। जब जीवको सम्यक् ज्ञान हो जायगा, तभी वह चारित्रकी ओर रुचि कर सकता है। सिद्धान्तमें चारित्रकी व्युत्पत्ति की गई है--" चयरित्तीकरं चारित्तं आहिय " अर्थात् कर्मके चय (सञ्चय) को जो रिक्त (खाली) करे, वह 'चारित्र' है।

यहां यदि कहा जाय कि तत्त्वके जाननेवाले साधुको चतुरिन्द्रिय भ्रमरकी उपमा क्यों दी? इसका उत्तर यह है कि उपमा एकदेशीय होती है। जैसे—"चन्द्रमुखी कन्या"। यहां सिर्फ सौम्य गुणकी अपेक्षासे ही कन्याके मुखको चन्द्रकी उपमा दी है। उसी तरह पुष्पोंसे रस लेते हुए उन्हें

पदार्थ—(जे) जो (बुद्धा) तत्त्वके जाननेवाले हैं और (महुगारसमा) भ्रमरके समान (अणिस्सिया) कुलादिके प्रतिबन्धसे रहित (भवंति) हैं (नाणापिंडरया) अनेक थोडा थोडा कई घरोंसे प्रासुक आहारादिके लेने में (रया) रक्त हैं तथा (दंता) इन्द्रिय और नोइन्द्रियके दमन करनेवाले हैं, (तेण) इसी वृत्तिके कारण वे (साहुणो) साधु (वुच्चंति) कहे जाते हैं। (त्ति बेमि) इस प्रकार मैं कहता हूं ॥५॥

मूलार्थ—जो तत्त्वको जाननेवाले हैं, भ्रमरके समान कुलादिके प्रतिबन्धसे रहित हैं और थोडा २ प्रासुक आहार अनेक जगहसे एकत्रित करके अपनी उदरपूर्ति करनेवाले है तथा इन्द्रियादिके दमन करनेमें जो समर्थ है, वे ही 'साधु' कहे जाते है। अर्थात् इन गुणोंकी वजह से ही वे 'साधु' कहलानेके योग्य होते है ॥५॥

भाष्य—इस गाथामें उक्त विषयका उपसंहार किया गया है। भ्रमरके दृष्टान्तको दार्ष्टान्तिकपर घटा कर उपमाको स्पष्ट कर दिया है। जिस तरह भ्रमर यह प्रतिबन्ध नहीं रखता कि मैं अमुक पुष्पवाटिकासे या अमुक पुष्पसे ही रस लूंगा, उसी तरह साधु भी ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं रखता कि मैं अमुकके ही घरसे अथवा अमुक ही प्रकारका आहार लूंगा। हां ' यदि

किसी तपोविशेषके निमित्त से ... [illegible] ... यदि

यह बात अलग है। ऐसा करना हानिकारक नहीं है। किन्तु रसवृत्तिसे किया हुआ ... के आहारका अभिग्रह मुनिधर्मसे विरुद्ध है।

इससे साधुको उचित है कि वे नाना प्रकारके अभिग्रह तथा अन्त प्रान्त आदि प्रासुक आहारके ग्रहण करनेमें ही रत रहें—उद्वेगयुक्त न हों। साथ ही पाँचों इन्द्रियों और छठे मनको तथा क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि अध्यात्मदोषोंके दमन करनेमें तत्पर रहें। इस तरहकी वृत्तिसे अपना जीवन करनेवाले व्यक्ति ही आत्मसाधक बन सकते हैं और वे ही 'साधु' कहलानेके योग्य हैं। उन्हें एषणासमिति तथा ईर्यापथमें यत्न करना चाहिये। और सदैव परमार्थ में लगे रहना चाहिये।

इस अध्ययनके अध्ययनसे यह भी सिद्ध होता है कि ज्ञान और क्रिया, दोनोंसे ही निर्वाण पदको प्राप्ति होती है। जब जीवको सम्यक् ज्ञान हो जायगा, तभी वह चारित्रकी ओर रुचि कर सकता है। सिद्धान्तमें चारित्रकी व्युत्पत्ति की गई है—" चयरित्तीकरं चारित्त आहिय " अर्थात् कर्म ... [illegible] (संचय) को जो रिक्त (खाली) करे, वह 'चारित्र' है।

यहां यदि कहा जाय कि तत्त्वके जाननेवाले साधुको चतुरिन्द्रिय भ्रमरकी उपमा क्यों दी ? इसका उत्तर यह है कि उपमा एकदेशीय होती है। जैसे—"चन्द्रमुखी कन्या"। यहां सिर्फ सौम्य गुणकी अपेक्षासे ही कन्याके मुखको चन्द्रकी उपमा दी है। उसी तरह पुष्पोंसे रस लेते हुए उन्हें

पीड़ित न करना तथा किसी अमुक पुष्पसे या पुष्पवाटिकासे ही रस लेने का नियम न होना, सिर्फ इन्हीं दो गुणोंकी अपेक्षासे साधुको भ्रमरकी उपमा दी गई है ॥५॥

' श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीसे कहते हैं कि हे शिष्य ! श्रमण भगवान् श्रीमहावीर स्वामीके मुखारविन्दसे मैंने जैसा अर्थ इस अध्ययनका सुना है, वैसा ही मैंने तुझसे कहा है। अपना बुद्धिसे कुछ भी नहीं कहा। * "

इति श्रीदशवैकालिक सूत्रके द्रुमपुष्पित नामक प्रथमाध्ययनकी "आत्मज्ञानप्रकाशिका" नामकी हिन्दी भाषा टीका समाप्त हुई।

—॥१॥—

* यद्यपि इस पाठका मूल नहीं है, फिर भी प्रत्येक सूत्रके प्रत्येक अध्ययनके अन्तमें इस प्रकारसे कहनेकी रिवाज गुरुसे चली आ रही है। इससे किसी ऐतिहासिक बातका पता लगना सम्भव है, इसलिये इसे यहां दे देना उचित समझा गया है।—प्रकाशक।

अह सामण्णपुव्विया बिजिय अज्झयण ।

अथ श्रामण्यपूर्विका नामक द्वितीय अध्ययन ।

गत अध्ययनमें चारित्रधर्मके माहात्म्यका दिग्दर्शन कराया गया है । परन्तु स्मरण रहे कि चारित्रधर्म को वही वीर पालन कर सकता है जिसका आत्मा परम धैर्यवान् और सम्यग्दर्शन सम्पन्न हो। क्योंकि अतिदुस्सह सर्वविरतिरूप चारित्र केवल जैनशासनमें ही उपलब्ध होता है, अन्य दर्शनोंमें नहीं। चारित्र धारण किये विना न तो परिणामोंमें दृढता आती है और न किसी कार्यमें सफलता प्राप्त होती है। जिस कार्यकेलिये जिस प्रकारका चारित्र—जैसी क्रियारूप आचरण आवश्यक है, उसको धारण किये विना, वह कार्य कभी सफल नहीं हो सकता। यदि उसके विना वह कार्य सफल हो सकता होता तो वह उसकेलिये आवश्यक—कारण ही क्यों कहलाता? इसीलिये शास्त्र कारोंने जगह-व जगह चारित्रकी अपरपार महिमा गाई है।

चारित्रकी जितनी महिमा है, उतनी ही उसकी आवश्यकता है। और जितना वह आवश्यक है, उतना ही वह कठिन है। परम धैर्यवान् ही उसे धारण कर सकता है, और वही उसे पाल सकता—निभा सकता है।

चारित्रके जो अनेक भेद हैं, वे सब कामके जीतनेपर ही सफल होते हैं। चारित्रको पालनेकेलिये कामदेवको, जो कि 'त्रिभुवनजयी' कहलाता है, जीतना आवश्यक है । इसकी उत्पत्तिभूमि मन है, जो कि अतिचंचल है, और चिरतनके सकल्प उसके कारण हैं, जो कि बार-बार आकर उसे सताते हैं। इसीलिये मनका जीतना सरल है, मगर इस त्रिभुवनजयीका जीतना अति-कठिन है। और नवदीक्षित शिष्योंकेलिये तो और भी कठिन है। इसलिये उनको लक्ष्यमें रखकर सूत्रकार गाथा पढते हैं:—

कह नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए ।
पए पए विसीदंतो, संकप्पस्स वसं गओ ॥ १ ॥

कथं नु कुर्याच्छ्रामण्यं, यः कामं न निवारयति ।
पदे पदे विषीदन्, सङ्कल्पस्य वशं गतः ॥१॥

पदार्थ—(जो) जो पुरुष (कामे) काम (न निवारए) निवारण नहीं करता है वह (पए पए) पद पदमें (विसीयंतो) विषाद पाता हुआ (संकप्पस्स) संकल्पोंके (वसं गओ)

वश होता हुआ (**सामण्णं**) श्रामण्यभावकी (**कहं नु**) किस प्रकारसे पालना कर सकता है ॥१॥

मूलार्थ—जो कामोंको निवारण नहीं करता है, वह पुरुष पद पदमें संकल्पोंसे खेद-खिन्न होता हुआ किस प्रकार संयमभावकी पालना कर सकता है ? ॥ १ ॥

भाष्य—इस गाथामें आक्षेपपूर्वक शिक्षा दी गई है कि जिस पुरुषने कामभोगेच्छा का निवारण नहीं किया है, वह पग पगमें संयममार्गसे पतित होता है । क्योंकि जब उस व्यक्ति को कामभोगकी आशा तो बनी हुई है, परन्तु वे उसको प्राप्त होते नहीं हैं तो फिर संकल्प और विकल्पोंके वश होता हुआ किस प्रकार वह श्रामण्यभावकी पालना कर सकता है ? अपि तु नहीं कर सकता ।

यहांपर "नु" अव्यय आक्षेप अर्थमें आया हुआ है* ।

'काम' शब्दसे यहां शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्श इन सबका ही ग्रहण किया गया है । ये सब मोहनीय कर्मके उत्तेजक हैं । इन द्रव्यकामोंसे इच्छाकाम और मदनकाम, इस प्रकार दोनों भावकामोंकी वासना जीवको लग जाती है । जिससे कि वह प्राणी इच्छाके वश होता हुआ मदनकामकी आसेवनामें प्रतिबद्ध हो जाता है । उसे कामी या कामरागी कहा जाता है ।

---

*यथा—कथं नु स राजा, यो न रक्षति प्रजाम् । कथं नु स वैयाकरणो योऽपशब्दान् प्रयुङ्क्ते ।

कामभोगोंको शास्त्रकारोंने रोग प्रतिपादन किया है। इससे जो व्यक्ति कामकी प्रार्थना करता है, वह वास्तवमें रोगोंकी प्रार्थना कर रहा है।

जब तक आत्मा उक्त पांचों ही विषयोंसे पराङ्मुख नहीं हो जाता, तब तक वह सम्यग् विचारणा भी नहीं कर सकता। कामी पुरुष पगपगपर विषाद पाता है और वस्तुके न मिलनेसे संकल्प-विकल्पोंके वश होकर आर्त्तध्यान वा रौद्रध्यानके वशीभूत सदा बना रहता है।

इस गाथासे यह भी शिक्षा प्राप्त होती है कि सम्यग् विचारणा वही आत्मा कर सकता है, जिसका कि आत्मा कामभोगोंसे उपरत हो गया हो। जो विषयी आत्मा, पदार्थोंके निर्णय करनेकी आशा रखते हैं, वे आकाशपुष्पोंके पानेकेलिए निरर्थक क्रिया कर रहे हैं। तथा जिन्होंने द्रव्य लिंग धारण कर रक्खा है और द्रव्य क्रियाएँ भी कर रहे हैं परन्तु जिनकी अन्तरङ्ग आत्मा विषयोंकी ओर ही लगी हुई है, वे वास्तव में अश्रमण ही हैं॥ १॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार इसी बातका प्रकाश करते हुए कहते हैं -

वत्थ गंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ ॥ २ ॥

वस्त्र गन्धमलङ्कार, स्त्रियः शयनानि च।
अच्छन्दाः ये न भुञ्जन्ते, नासौ त्यागीत्युच्यते ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(ज) जो पुरुष (अच्छंदा) पदार्थोंके वश होते हुए (वत्थ) वस्त्र (गंध) गंध (अलंकार) आभूषण (इत्थीओ) नाना प्रकारकी स्त्रियां (सयणाणि) शय्याएं (य) अन्य आसनादि, इनको (न भुंजंति) नहीं भोगते हैं, (से) वह पुरुष (चाइत्ति) 'त्यागी' इस प्रकारसे (न वुच्चइ) नहीं कहा जाता ॥ २ ॥

मूलार्थ—वस्त्र, गंध, आभूषण, स्त्रियाँ तथा शय्याओं आदि का जो पुरुष भोगता तो नहीं है, लेकिन जिसके उक्त पदार्थ वशमें भी नहीं हैं वह वास्तवमें 'त्यागी' नहीं कहा जाता ॥ २ ॥

भाष्य—इस गाथामें इस बातका प्रकाश किया है कि वास्तवमें भावप्रधान ही संयमक्रिया मोक्षसाधक होती है। क्योंकि जिसने द्रव्यलिङ्ग तो धारण कर लिया है, परन्तु उसके अन्तःकरणमें इच्छाका रोग लगा हुआ है। इस प्रकारके व्यक्तिको शास्त्रकार 'त्यागी' नहीं कहते हैं। जैसे कि किसी व्यक्तिके भाव हैं कि मैं सुन्दर २ वस्त्र पहरूं, सुगन्धका आसेवन करूं आभूषणोंसे अलङ्कृत हो जाऊं, नाना प्रकारके ऋतुओंके अनुसार सुख देनेवाली शय्याओं में नाना देशोंकी उत्पन्न हुई स्त्रियोंके साथ कामक्रीड़ाएं करूं तथा नाना प्रकारके आसनों द्वारा अपने मनको प्रसन्न करूं, ऐसी दशामें वह यदि इन पदार्थोंका त्याग कर दे तो फल यह होगा कि पदार्थ तो उसको प्राप्त होंगे ही नहीं और इच्छा बनी ही रहेगी। तब हमेशा उसके चित्तमें नाना

कामभोगोंको शास्त्रकारोंने रोग प्रतिपादन किया है। इससे जो व्यक्ति कामकी प्रार्थना करता है, वह वास्तवमें रोगोंकी प्रार्थना कर रहा है।

जब तक आत्मा उक्त पाँचों ही विषयोंसे पराङ्मुख नहीं हो जाता, तब तक वह सम्यग् विचारणा भी नहीं कर सकता। कामी पुरुष पगपगपर विषाद पाता है और वस्तुके न मिलनेसे संकल्प-विकल्पोंके वश होकर आर्त्त ध्यान वा रौद्रध्यानके वशीभूत सदा बना रहता है।

इस गाथासे यह भी शिक्षा प्राप्त होती है कि सम्यग् विचारणा वही आत्मा कर सकता है, जिसका कि आत्मा कामभोगोंसे उपरत हो गया हो। जो विषयी आत्मा, पदार्थोंके निर्णय करनेकी आशा रखते हैं, वे आकाशपुष्पोंके पानेकेलिए निरर्थक क्रिया कर रहे हैं। तथा जिन्होंने द्रव्य लिंग धारण कर रक्खा है और द्रव्य क्रियाएँ भी कर रहे हैं परन्तु जिनकी अन्तरङ्ग आत्मा विषयोंकी ओर ही लगी हुई है, वे वास्तवमें अश्रमण ही हैं ॥ १ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार इसी बातका प्रकाश करते हुए कहते हैं –

वत्थ गन्धमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छन्दा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ ॥ २ ॥

वस्त्र गन्धमलंकार, स्त्रिय शयनानि च।

मूलार्थ—जो पुरुष प्रिय और कमनीय भोगोंके मिलनेपर भी उन्हें पीठ दे देता है तथा स्वाधीन भोगोंको छोड देता है वास्तवमें वही पुरुष 'त्यागी' कहा जाता है ॥ ३ ॥

भाष्य – इस गाथामें त्यागी पुरुषका स्वरूप वर्णन किया गया है। जो पुरुष शोभनरूप और परम इच्छित भोगोंके मिल जानेपर भी नाना प्रकारकी शुभ भावनाओं द्वारा उनकी ओर पीठ कर देता है तथा स्वाधीन कामभोगोंको छोड देता है, वास्तवमें उसी पुरुषको त्यागी कहा जाता है।

जो भोग इन्द्रियोंको प्रिय नहीं हैं, या प्रिय हैं, पर स्वाधीन नहीं हैं और स्वाधीन भी हैं, लेकिन किसी समय प्राप्त नहीं होते तो उनको मनुष्य स्वय ही नहीं भोगता या नहीं भोग सकता। लेकिन जो इन्द्रियोंको प्रिय हैं, स्वाधीन हैं और प्राप्त भी हैं, उन्हें जो छोड़ता है–उनसे विमुख रहता है, वास्तवमें त्यागी वही है। ऐसा त्याग करना धीर वीर पुरुषोंका काम है।

गाथामें 'पिट्ठीकुव्वई' शब्द आजानेपर भी उसका समानार्थक ही दूसरा जो 'चयइ' पद और दिया है, वह इसलिये कि जब शुभ भावनाओं द्वारा उन कामभोगोंसे मनको पीछे कर लिया जाय तो फिर उन काम भोगोंका त्याग ही कर दिया जाय तब तो मनोवृत्ति ठीक रह सकती है, नहीं तो न मालूम किस समय मनोवृत्ति फिर उनकी उस ओर लग जाय, यह सूचित करनेकेलिये है।

गाथामें 'य' और 'हु' शब्द अवधारणार्थमें आया हुआ है ॥ ३ ॥

प्रकारके सकल्प-विकल्प होते रहेंगे अर्थात् चित्तमें हमेशा बना रहेगा। इसलिये द्रव्यलिङ्ग धारण किये जानेपर भी वह 'त्यागी' नहीं कहा जा सकता। इस गाथामें धैर्यके रखनेके लिये उपदेश दिया गया है और साथ ही वास्तविक त्यागीका लक्षण भी प्रतिरूपन किया गया है ॥ २ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार त्यागीका स्वरूप वर्णन करते हुए कहते हैं—

जे य कते× पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठीकुव्वइ ।
साहीणे चयई भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ ॥ ३ ॥

यश्च कान्तान् प्रियान् भोगान्, लब्धानपि पृष्ठीकरोति ।
स्वाधीनान् त्यजति भोगान्, स खलु त्यागीत्युच्यते ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो पुरुष (कन्ते) मनका आकर्षण करनेवाले (पिये) प्रिय (लद्धे) मिल जानेपर (य) और (साहीणे) वशवर्ती हो जानेपर (वि) भी (भोए भोगोंको पिट्ठीकुव्वइ) पीठ करता है और (चयइ) छोड़ता है, (से) वही पुरुष (हु) वास्तवमें (चाइ) त्यागी (त्ति) इस प्रकार (वुच्चइ) कहा जाता है ॥ ३ ॥

×[कान्त] यथा "कान्त" इत्यनेन शस। ण्त्वे पद् ।

मूलार्थ—जो पुरुष प्रिय और कमनीय भोगोंके मिलनेपर भी उन्हें पीठ दे देता है तथा स्वाधीन भोगोंको छोड़ देता है वास्तवमें वही पुरुष 'त्यागी' कहा जाता है ॥ ३ ॥

भाष्य - इस गाथामें त्यागी पुरुषका स्वरूप वर्णन किया गया है। जो पुरुष शोभनरूप और परम इच्छित भोगोंके मिल जानेपर भी नाना प्रकारकी शुभ भावनाओं द्वारा उनकी ओर पीठ कर देता है तथा स्वाधीन कामभोगोंको छोड़ देता है, वास्तवमें उसी पुरुषको त्यागी कहा जाता है।

जो भोग इन्द्रियोंको प्रिय नहीं हैं, या प्रिय हैं, पर स्वाधीन नहीं हैं और स्वाधीन भी हैं, लेकिन किसी समय प्राप्त नहीं होते तो उनको मनुष्य स्वयं ही नहीं भोगता या नहीं भोग सकता। लेकिन जो इन्द्रियोंको प्रिय हैं, स्वाधीन हैं और प्राप्त भी हैं, उन्हें जो छोड़ता है-उनसे विमुख रहता है, वास्तवमें त्यागी वही है। ऐसा त्याग करना धीर वीर पुरुषोंका काम है।

गाथामें 'पिट्ठीकुव्वई' शब्द आजानेपर भी उसका समानार्थक ही दूसरा जो 'चयइ' पद और दिया है, वह इसलिये कि जब शुभ भावनाओं द्वारा उन कामभोगोंसे मनको पीछे कर लिया जाय तो फिर उन काम भोगोंका त्याग ही कर दिया जाय तब तो मनोवृत्ति ठीक रह सकती है, नहीं तो न मालूम किस समय मनोवृत्ति फिर उनकी उस ओर लग जाय, यह सूचित करनेकेलिये है।

गाथामें 'य' और 'हु' शब्द अवधारणार्थमें आया हुआ है ॥ ३ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार कहते हैं कि यदि त्यागी पुरुषको कदाचित् रागकी संभावना हो जाय तो वह उस कामरागको अपने मनसे किस प्रकारसे हटावे—

समाइपेहाइ परिव्वयतो, सिया मणो निस्सरई बहिद्धा ।
न सा महं नो वि अहं पि तीसे, इच्चेव ताओ विणइज्ज रागं ॥ ४ ॥

समयाप्रेक्षया परिव्रजतः, स्यात् मनो निःसरति बहिर्धा ।
न सा मम नाप्यहं तस्या, इत्येव तस्या व्यपनयेत् रागम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(**समाइपेहाइ**) समभावकी दृष्टिसे (**परिव्वयतो**) विचरते हुए साधुका (**मणो**) मन (**सिया**) कदाचित् (**बहिद्धा**) बाहिर (**निस्सरई**) निकले तो (**सा**) वह (**महं**) मेरी (**न**) नहीं है तथा (**अहं पि**) मैं भी (**तीसे**) उसका (**नो वि**) नहीं हूं (**इच्चेव**) इस प्रकारसे (**ताओ**) उस स्त्रीपरसे (**रागं**) रागको (**विणइज्ज**) दूर करे ॥४॥

मूलार्थ—समभावकी विचारणासे विचरते हुए मुनिका मन कदाचित् संयमरूपी गृहसे बाहर निकल जाय तो मुनि 'वह स्त्री आदि मेरी नहीं है और न मैं ही उसका हूं,' इस प्रकारकी विचारणासे उस स्त्रीपरसे रागको हटा ले ॥ ४ ॥

भाष्य—इस काव्यमें मोहकर्मके उदय हो आनेपर कामरागके निवृत्त होनेका उपदेश दिया गया है। अपने आत्माके समान प्रत्येक जीवको मानते हुए मुनिका मन कदाचित् कर्मोदय से संयमरूपी घरसे या मार्गसे निकलता हो तो मुनिको इस प्रकारकी भावनासे मनको फिर संयम मार्गमें ही लाना चाहिये। मुनि यदि भुक्तभोगी होकर दीक्षित हुआ है, तब तो पूर्व विषयों की स्मृति मात्रसे मनके विषम हो जानेकी संभावना रहती है। यदि अभुक्तभोगी रूपमें ही दीक्षित हो गया है, तब कामरागके उत्पादक ग्रन्थोंके—कथाओंके सुननेसे तथा कुतूहलादिके कारणसे कामरागका उदय हो जाता है। तब उसे इस प्रकारकी विचारणासे मनको शान्त करना चाहिये कि 'जिस स्त्री आदिको मैं कामदृष्टिसे देखता हूँ, वह स्त्री मेरी नहीं है और न मैं ही उसका हूं। तात्पर्य यह है कि जब मेरा उससे कुछ सम्बन्ध ही नहीं है, तो फिर मेरा उसपर राग करना व्यर्थ है।'

यहां यह शङ्का की जा सकती है कि रागद्वेषके अभावको समभाव कहते हैं। स्त्री आदि भोगोपभोगोंकी अभिलाषा रागभावके होनेसे ही पैदा होती है। तो फिर जो व्यक्ति 'समाइपेहाइ परिव्वयंतो'—समानभावसे संसारमें विचरण करनेवाले हैं, उनके स्त्री आदि भोगोपभोगोंकी अभिलाषा पैदा हो कैसे सकती है? इसका उत्तर यह है कि कर्मों की बड़ी विचित्रता है। जबतक आत्माके साथ कर्मोंका सम्बन्ध लगा हुआ है, तबतक समभाववाले मुनिके भी कदाचित् वैसा कर्मोदय हो सकता है।

गाथामें 'सा' और 'तीसे' स्त्रीलिङ्ग शब्दोंका जो प्रयोग किया गया है, वह उपलक्षण है। जैसे 'काकेभ्यो दधि रक्षताम्'—'कौओंसे दहीको बचाना' यहांपर 'काकेभ्यः' पद उपलक्षण है।

पात्रधर्में सभी प्रकारके पदार्थोंसे वस्त्रकी रक्षा करना उसका अर्थ है। उसी प्रकार यहांपर भी सभी प्रकारके पदार्थोंसे रागभावको हटाना चाहिये, यह अर्थ है ॥ ४ ॥

उत्थानिका—इस प्रकार सूत्रकर्ताने मनोनिग्रहकी अन्तरंग विधि तो बतलाई परंतु बाह्य विधिके आसेवन किये विना प्रायः पूर्ण मनोनिग्रह नहीं किया जा सकता। अत एव सूत्रकार अब बाह्य विधिका बतलाते हैं और साथ ही उसके फलका भी निदर्शन करते हैं—

आयावयाही चय सोगमल्लं, कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए ॥ ५ ॥

आतापय त्यज सौकुमार्यं, कामान् क्राम क्रान्तं खलु दुःखम्।
छिन्धि द्वेषं व्यपनय रागं, एवं सुखी भविष्यति संपराये ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(आयावयाही) आतापना ले (सोगमल्लं) सौकुमार्य भावको (चय) छोड़ (कामे) कामभोगोंको (कमाही) अतिक्रम कर (दुक्खं) दुःख (कमियं खु) निश्चय ही अतिक्रान्त हो जाता है (दोसं) द्वेषको (छिंदाहि) छेदन कर तथा (रागं) रागको (विणएज्ज) दूर कर (एवं) इस प्रकारसे (संपराए) संसारमें (सुही) सुखी (होहिसि)

मूलार्थ— गुरु कहते हैं कि हे शिष्य ! आतापना ले, सुकुमार भावको छोड, कामोंको अतिक्रम कर। इनके त्यागनेसे दुःख निश्चय ही अतिक्रान्त हो जाता है। द्वेषको छेदन कर, रागको दूर कर, इस प्रकारके करनेसे संसारमें तू सुखी हो जायगा ॥ ५ ॥

भाष्य— आतापनादि तप और सुकुमारताका अभाव कामको रोकनेकेलिये बाह्य कारण हैं और रागद्वेषको छोड़ना अन्तरङ्ग कारण। इन दोनों निमित्त कारणोंके आसेवन करनेसे मनुष्य कामको जीत सकता है, और सुखी हो सकता है।

यहांपर 'आतपन तप' उपलक्षण है। वास्तवमें ऊनोदरी आदि बारहों प्रकारका तप कामके जीतनेमें सहायता पहुँचाता है। शरीरकी सुकुमारता भी कामकी वृद्धि करती है। अतः उसको भी छोड़ना चाहिये।

गाथामें आए हुए 'संपराए' शब्दका अर्थ कोई २ 'परीषहोपसर्गसंग्राम' भी करते हैं। यह भी ठीक है। क्योंकि जो कामको जीत सकेगा, वही पुरुष परीषह और उपसर्गोंको आसानीसे जीत सकता है।

यहांपर 'खु' शब्द अवधारण अर्थमें आया हुआ है। जिसका तात्पर्य यह है कि निश्चयसे पाप मात्र दुःखोंका कारण एक 'काम' ही है ॥ ५ ॥

उत्थानिका—फिर संयमरूपी गृहसे मन निकल न जाय, इसकेलिये मुनि इस प्रकारकी विचारणा करे। जैसे कि—

वास्तवमें सभी प्रकारके पदार्थोंसे वस्त्रकी रक्षा करना उसका अर्थ है। उसी प्रकार यहांपर भी सभी प्रकारके पदार्थोंसे रागभावको हटाना चाहिये, यह अर्थ है ॥ ४ ॥

उत्थानिका—इस प्रकार सूत्रकर्ताने मनोनिग्रहकी अन्तरग विधि तो बतलाई परन्तु बाह्य विधिके आसेवन किये बिना प्राय पूर्ण मनोनिग्रह नहीं किया जा सकता। अत एव सूत्रकार अब बाह्य विधिको बतलाते हैं और साथ ही उसके फलका भी निदर्शन करते हैं—

आयावयाही चय सोगमल्लं, कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए ॥ ५ ॥

आतापय त्यज सौकुमार्यं, कामान् क्राम क्रान्तं खलु दुःखम्।
छिन्धि द्वेषं व्यपनय रागं, एवं सुखी भविष्यति संपराये ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(आयावयाही) आतापना ले (सोगमल्लं) सौकुमार्य भावको (चय) छोड (कामे) कामभोगोंको (कमाही) अतिक्रम कर (दुक्खं) दुःख (कमियं खु) निश्चय ही अतिक्रान्त हो जाता है (दोसं) द्वेषको (छिंदाहि) छेदन कर तथा (रागं) रागको (विणएज्ज) दूर कर (एवं) इस प्रकारसे (संपराए) संसारमें (सुही) सुखी (होहिसि) हो जायगा ॥ ५ ॥

मूलार्थ—गुरु कहते हैं कि हे शिष्य ! आतापना ले, सुकुमार भावको छोड़, कामोंको अतिक्रम कर। इनके त्यागनेसे दुःख निश्चय ही अतिक्रान्त हो जाता है। द्वेषको छेदन कर, रागको दूर कर, इस प्रकारके करनेसे संसारमें तू सुखी हो जायगा ॥ ५ ॥

भाष्य—आतापनादि तप और सुकुमारताका अभाव कामको रोकनेकेलिये बाह्य कारण हैं और रागद्वेषको छोड़ना अन्तरङ्ग कारण। इन दोनों निमित्त कारणोंके आसेवन करनेसे मनुष्य कामको जीत सकता है, और सुखी हो सकता है।

यहांपर 'आतपन तप' उपलक्षण है। वास्तवमें ऊनोदरी आदि बारहों प्रकारका तप कामके जीतनेमें सहायता पहुँचाता है। शरीरकी सुकुमारता भी कामकी वृद्धि करती है। अतः उसको भी छोड़ना चाहिये।

गाथामें आए हुए 'संपराए' शब्दका अर्थ कोई २ 'परीषहोपसर्गसंग्राम' भी करते हैं। यह भी ठीक है। क्योंकि जो कामको जीत सकेगा, वही पुरुष परीषह और उपसर्गोंको आसानीसे जीत सकता है।

यहांपर 'खु' शब्द अवधारण अर्थमें आया हुआ है। जिसका तात्पर्य यह है कि निश्चयसे यावन्मात्र दुःखोंका कारण एक 'काम' ही है ॥ ५ ॥

उत्थानिका—फिर संयमरूपी गृहसे मन निकल न जाय, इसकेलिये मुनि इस प्रकारकी विचारणा करे। जैसे कि—

पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं ।
नेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥ ६ ॥

प्रस्कन्दन्ति ज्वलितं ज्योतिषं, धूमकेतुं दुरासदम् ।
नेच्छन्ति वान्तं भोक्तुं, कुले जाता अगन्धने ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(अगंधणे) अगंधन नामक (कुले) कुलमें (जाया) उत्पन्न हुए सर्प (दुरासयं) दुष्करसे जो सहन की जाय, इस प्रकारकी (जलियं) ज्वलित (जोइं) ज्योति जो (धूमकेउं) धूम है केतु-ध्वजा जिसकी अर्थात् अग्नि, उसमें (पक्खंदे) गिर जाते हैं परन्तु (वंतयं) वमन किये हुए विषके (भोत्तुं) भोगनेकेलिये अर्थात् वान्त विषको पीना (नेच्छन्ति) नहीं चाहते ॥ ६ ॥

मूलार्थ—अगंधन कुलमें उत्पन्न हुए सर्प, जिसके पास तक जाना भी कठिन हो और धुंयेके गुब्बार जिसमें उठ रहे हों ऐसी जाज्वल्यमान प्रचण्ड अग्निमें गिरनेकी तो इच्छा कर लेते हैं परन्तु वमन किए हुए विषके पीनेकी इच्छा नहीं करते ॥ ६ ॥

भाष्य—सर्पोंकी दो जातियां हैं—१ गन्धन और २. अगन्धन। इनमेंसे 'अगन्धन' नामके सर्पकी यह आदत होती है कि वह जिसे काट जाय, उसका विष फिर नहीं चूसता। भले ही उसे प्रचण्ड अग्निमें जलना पड़े।

एक अशिक्षित तिर्यञ्चकी जब इतनी प्रबल दृढ़ता होती है तो फिर विवेकी पुरुषोंकेलिये क्या कहा जाय! अर्थात् व्रत स्वीकार कर लेनेके बाद-स्त्री आदि भोगोपभोगोंका त्याग कर देनेके बाद उसे फिर कभी ग्रहण न करना चाहिये। कर्मोदयकी विचित्रतासे यदि कभी मन चलायमान भी हो जाय तो उसे धैर्यपूर्वक सँभालना चाहिये।

इस द्वितीय अध्ययनकी ७ वीं, ८ वीं आदि गाथाओंमें शास्त्रकारने श्रीराजीमतीके उपालम्भ पूर्वक इस विषयका निदर्शन किया है। अतः उस कथाका पूर्वरूप यहां लिख देना अच्छा होगा,—

सोरठ देशमें 'द्वारिका' नामकी एक नगरी थी। विस्तारमें वह बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी थी। उस समय नौवें वासुदेव श्रीकृष्ण महाराज राज्य करते थे। उनके पिताके एक भाई समुद्रविजय थे। इनके शिवा नामकी रानीसे भगवान् श्रीअरिष्टनेमि जन्मे। युवा हुए। उग्रसेन राजाकी पुत्री श्रीराजीमतीसे उनका विवाह होना तय हुआ। धूमधामके साथ जब वे बरात लेकर जारहे थे तो उन्होंने जूनागढ़के पास बहुतसे पशुओंको बाड़े और पिंजरोंमें बन्द हुआ देखा। श्रीअरिष्टनेमिने जानते हुए भी जनताको बोधकरानेकेलिये सारथिसे पूछा—ये पशु यहां किस लिये बँधे हुए हैं? सारथिने कहा—हे भगवन्! ये पशु आपके विवाहमें साथ आये हुए मांसाहारी बरातियोंके भोजनार्थ यहां लाये गये हैं। यह सुनते ही भगवान् अरिष्टनेमिजीका चित्त बड़ा

उदासीन हुआ। आपने विचार किया कि मेरे विवाहकेलिये इतने पशुओंका वध कराना मुझे इष्ट नहीं है। इस पापके बदले न जाने मुझे कितने जन्म धारण कर कष्ट उठाना पड़ेगा। इस तरह विचार करनेपर उनके चित्तकी वृत्ति विवाह करनेसे ही हट गई। तब सारथिको मुकुट और राज्य-चिन्ह छोड़कर, सम्पूर्ण भूषण उतार कर प्रीति-दानमें दे दिये और आप उन पशुओंको बन्धनोंसे छुड़ाकर विवाह न कराते हुए अपने घरको वापिस चले आये। एक वर्ष पर्य्यन्त आपने करोड़ सुवर्ण मुद्राओंका दान देकर एक सहस्र पुरुषोंके साथ आपने साधु वृत्ति ग्रहण की। तदनन्तर वे विदुषी श्रीराजीमती कन्या भी अपने अविवाहित पतिके वियोगके कारण वैराग्यभावको धारण कर सात सौ सखियोंके साथ स्वयमेव दीक्षित हो गई। और भगवान् श्रीअरिष्टनेमिजीके दर्शनार्थ रेवती पर्वतपर जहां कि वे तपश्चर्य्या कर रहे थे, चलीं। अकस्मात् रास्तेमें अति वायु और वृष्टि होनेके कारण सब सखियां तितर-बितर होगईं। श्रीराजीमतीने वायु-वर्षाकी घबराहटके कारण एक गुफामें प्रवेश किया। वहां जाकर उन्होंने निर्जन स्थान जान व्याकुलताके कारण अपने सर्व वस्त्र उतार कर भूमिपर रख दिये। यहां श्रीअरिष्टनेमिके छोटे भाई श्रीरथनेमि पहिलेसे ही समाधि लगाकर खड़े थे। बिजलीकी चमकमें नग्न श्रीराजीमती पर श्रीरथनेमिकी दृष्टि पड़ी। देखते ही श्रीरथनेमिका चित्त कामभोगोंकी ओर आकर्षित हो गया और श्रीराजीमतीसे प्रार्थना करने लगे। इसपर विदुषी श्रीराजीमतीने श्रीरथनेमिको समझाया कि देखो, अगन्धन जातिका सर्प एक पशु होता हुआ भी अपनी जातीय हठसे जाज्वल्यमान और दुरासद अग्निमें कूद तो पड़ता है पर वह यह इच्छा नहीं करता कि मैं वमन किये हुए विषको फिरसे

अंगीकार कर लूं । परन्तु शोक है कि तुम अहरकी तरह विषय भोगोंको समझ त्याग कर चुके हो फिर भी उसे अंगीकार करना चाहते हो ॥ ६ ॥

उत्थानिका—इस विषयका उपदेश कर अब श्रीराजीमती आक्षेपपूर्वक उपदेश करती हुई कहती हैं कि—

धिरत्थु ते जसोकामी, जो त जीवियकारणा ।
वंत इच्छसि आवेउ, सेय ते मरण भवे ॥ ७ ॥

धिगस्तु तेऽयशस्कामिन् !, यस्त्व जीवितकारणात् ।
वान्तमिच्छस्यापातु, श्रेयस्ते मरणं भवेत् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(अजसोकामी) हे अयशकी कामना करनेवाले ! (ते) तुझे (धिरत्थु) धिक्कार हो । (जो) जो (त) तू (जीवियकारणा) असंयमरूप जीवनके वास्ते (वंत) वमनको (आवेउ) पान करनेकी (इच्छसि) इच्छा करता है अत (ते) तेरेलिये (मरण) मृत्यु (सेय) कल्याण रूप (भवे) है ॥ ७ ॥

उदासीन हुआ। आपने विचार किया कि मेरे विवाहकेलिये इतने पशुओंका वध कराना मुझे इष्ट नहीं है। इस पापके वशसे न जाने मुझे कितने जन्म धारण कर कष्ट उठाना पड़ेगा। इस तरह विचार करनेपर उनके चित्तकी वृत्ति विवाह करनेसे ही हट गई। तब सारथिको मुकुट और राज्य-चिन्ह छोड़कर, सम्पूर्ण भूषण उतार कर प्रीति-दानमें दे दिये और आप उन पशुओंको बन्धनोंसे छुड़ाकर विवाह न करते हुए अपने घरको वापिस चले आये। एक वर्ष पर्य्यन्त अपने करोड़ों सुवर्ण मुद्राओंका दान देकर एक सहस्र पुरुषोंके साथ आपने साधु वृत्ति ग्रहण की। तदनन्तर वे विदुषी श्रीराजीमती कन्या भी अपने अविवाहित पतिके वियोगके कारण वैराग्यभावको धारण कर सात सौ सखियोंके साथ स्वयमेव दीक्षित हो गई। और भग वान् श्रीअरिष्टनेमिजीके दर्शनार्थ रैवती पर्वतपर जहां कि वे तपश्चर्य्या कर रहे थे, चलीं। अकस्मात् रास्तेमें अति वायु और वृष्टि होनेके कारण सब सखियां तितर-बितर होगईं। श्रीराजीमती ने वायु-वर्षाकी घबराहटके कारण एक गुफामें प्रवेश किया। वहां जाकर उन्होंने निर्जन स्थान जान व्याकुलताके कारण अपने सर्व वस्त्र उतार कर भूमिपर रख दिये। वहां श्रीअरिष्टनेमिके छोटे भाई श्रीरथनेमि पहिलेसे ही समाधि लगाकर खड़े थे। बिजलीकी चमकमें नग्न श्रीराजीमती पर श्रीरथनेमिकी दृष्टि पड़ी। देखते ही श्रीरथनेमिका चित्त कामभोगोंकी ओर आकर्षित हो गया और श्रीराजीमतीसे प्रार्थना करने लगे। इसपर विदुषी श्रीराजीमतीने श्रीरथनेमिको समझाया कि देखो, अगन्धन जातिका सर्प एक पशु होता हुआ भी अपनी जातीय हठसे जाज्वल्यमान और दुरापद अग्निमें कूद तो पड़ता है पर यह यह इच्छा नहीं करता कि मैं वमन किये हुए विषको फिरसे

उत्थानिका — श्रीराजीमतीने और भी कहा —

अहं च भोगरायस्स तं चऽसि अंधगवण्हिणो ।
मा कुले गंधणा होमो, संजमं निहुओ चर ॥ ८ ॥

अहं च भोगराज्ञः, त्वं चास्यन्धकवृष्णेः ।
मा कुले गन्धनौ भूव, संयमं निभृतश्चर ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(अहं) मैं (**भोगरायस्स**) उग्रसेनकी पुत्री हूं (च) और (तं) तू (**अंधगवण्हिणो**) समुद्रविजयका पुत्र (**आसि**) है (**गंधणाकुले**) गन्धन कुलमें उत्पन्न हुए के समान (**मा होमो**) हम दोनों न हों बल्कि (**निहुओ**) मनको स्थिर रखते हुए (**संजमं**) संयमको (**चर**) पाल ॥ ८ ॥

मूलार्थ—हे रथनेमि ! मैं उग्रसेन राजाकी पुत्री हूं और तू समुद्रविजय राजाका पुत्र है। अतः गन्धन कुल में उत्पन्न हुए सर्पके समान हम दोनों न हों। किन्तु तू चित्त निश्चल कर और संयम पाल ॥ ८ ॥

मूलार्थ—रे अपयश चाहनेवाले ! अपने असंयमरूप जीवनकेलिये जो तू वमनको पुन पीना चाहता है, उससे तो तेरा मरण हो जाना ही अच्छा है ॥ ७ ॥

भाष्य—उपालम्भपूर्वक श्रीराजीमतीका श्रीरथनेमिको समझाना है। गाथाका जो अर्थ ऊपर किया गया है वह पहिले चरणमें 'तेऽजसोकामी' पदमें अकारका प्रश्लेष मानकर किया गया है। कोई २ अकार-प्रश्लेष नहीं भी मानते। उस पक्षमें भी उक्त पदका सुन्दर अर्थ घट जाता है। तब उसका असूयापूर्वक आमन्त्रण अर्थ होगा। जैसे—'हे यशकी चाहनावाले!' अर्थात् तू पापकी चाहना करता है और ऐसा तेरा विचार है। इसलिये तुझे धिक्कार है।'

मरण श्रेयस्कर इसलिये कहा जाता है कि अकार्य सेवनसे व्रतोंका भङ्ग होता है। व्रतो की रक्षा करता हुआ जीव यदि मरणको प्राप्त हो जाय तो वह आत्मघाती नहीं कहलाता, किन्तु 'व्रतरक्षक' कहा जाता है।

गाथामें 'धिरत्थु' और 'सेयं' 'धिगस्तु' और 'श्रेयः' दोनों शब्द साथ-ही-साथ काममें लाये गये हैं। इसका तात्पर्य यह है कि एक संयमी पुरुषको जिस प्रकार कामवासना धिक्कारका हेतु है, उसी प्रकार संयमकी रक्षाकेलिये उसका मरण हो जाना कल्याणका कारण है। 'धिरत्थु' का अर्थ धिक्कार और 'सेयं' का अर्थ कल्याण है। अतः आचार्यने अन्वय और व्यतिरेक दोनों हेतुओं से पक्ष-समर्थन किया है ॥ ७ ॥

जइ त काहिसि भाव जा जा दिच्छसि नारीओ ।
वायाविद्धु व्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥ ६ ॥

यदि त्वं करिष्यसि भावं, या या द्रक्ष्यसि नारीः ।
वाताविद्ध इव वृक्ष, अस्थिरात्मा भविष्यसि ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(त) तू (जा जा) जिन २ (नारीओ) नारियोंको (दिच्छसि) देखेगा (भाव) विषयक भावको (जइ) यदि (काहिसि) करेगा तो (वायाविद्धु) वायुसे प्रेरित (हडो व्व) अबद्धमूल वृक्षवत् (अट्ठिअप्पा) अस्थिरात्मा (भविस्ससि) हो जायगा ॥ ९ ॥

मूलार्थ—हे रथनेमि ! तू जिन २ स्त्रियों को देखेगा फिर यदि उनमें विषयके भाव करेगा, तो तू वायुसे प्रेरित अबद्धमूल वृक्षवत् अस्थिर आत्मावाला हो जायगा ॥ ९ ॥

भाष्य—ध्यानका लक्षण है—"एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्"—एक पदार्थकी ओर चित्त का लगाना—मनका एकाग्र करना । विषयोंकी ओर जब मन आकृष्ट होता है, तब वह एकाग्रताको

भाष्य—इस गाथामें श्रीराजीमतीने अपने और श्रीरथनेमिके कुलकी प्रधानतापर श्रीरथनेमिका ध्यान आकर्षित किया है। क्योंकि कुलपरम्परागत पुरुष प्रायः अकृत्योंसे बच जाता है। यह कष्टसहनमें कुछ स्वाभाविक ही धीर होता है।

गाथामें 'भोयरायस्स' और 'अंधगवण्हिणो' दोनों षष्ठ्यन्त पद दिये हैं जो कि सम्बन्ध-वाचक हैं लेकिन गाथामें उसका सम्बन्धी कोई पद नहीं दिया है। इसलिये इनके साथ क्रमसे 'पुत्री' और 'पुत्र' शब्द का अध्याहार पारिशेष्यात् कर लेना चाहिये।

भोगराजका अर्थ 'उग्रसेन' और अन्धकवृष्णि का अर्थ समुद्रविजय' होता है। यथा——

"अंधगवण्हि–पु० (अन्धकवृष्णि) समुद्रराजा‌नु अमर नाम, पृष्ठ १२। भोगराय–पुं० (भोगराज) भोगकुलमा एक राजा, यदुवंशी उग्रसेन राजा, पृष्ठ ५८९।" - अर्ध मागधी गुजराती कोष।

गाथाका 'भिडुओ'—'निभृतः' पद यह सूचित करता है कि सर्व–दुःख–निवारक संयमके विधि विधान या क्रिया–कलापको वही जीव पालन कर सकता है, जिसका चित्त अव्याक्षिप्त हो, व्याक्षिप्त चित्तवाला पुरुष धैर्यच्युत हो जाता है और संयमकी विराधना कर बैठता है॥ ८॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार धैर्यगुणके न होनेसे जिस दशाके हो जाने की संभावना की जा सकती है, उसी विषय में कहते हैं —

अन्वयार्थ—(सो) वह (तीसे) उस (सजयाइ) सयमिनीके (सुभासिय) सुन्दर (वयण) वचनको (सोच्चा) सुनकर (अकुसेण) अकुशसे (नागो) हाथीकी (जहा) तरह (धम्मे) धर्ममें (सपडिवाडओ) स्थिर हो गया ॥ १० ॥

मूलार्थ—वह रथनेमि! उस आर्या श्रीराजमतीके सुन्दर वचनोंका सुनकर, जिस प्रकार अकुश से हस्ती वश हो जाता है, उसी प्रकार धर्ममें स्थिर हो गया ॥ १० ॥

भाष्य—इस गाथामें उपदेशकी सफलता दृष्टान्तपूर्वक दिखलाई गई है। स्वयं आचरणपर दृढ़ एक स्त्रीके वचनोंकी सफलता इस बातको सिद्ध करती है कि चारित्रवान् आत्माका प्रभाव अवश्य होता है।

श्रीरथनेमिका एक स्त्रीकी बातको स्वीकार करना इस बातको सिद्ध करता है कि कुलीन-प्रभाव पुरुष शिक्षासे ही मान जाते हैं।

हाथीका उदाहरण एक प्रभाव पुरुषकेलिये सर्वथा उपयुक्त है। वह स्वभावसे ही धैर्यशाली होता है। धैर्यशाली व्यक्तिको थोड़ासा इशारा ही काफ़ी होता है ॥ १० ॥

हट जाता है और चञ्चल हो जाता है। यों तो संसारके जितने भर पदार्थ हैं, वे सभी मन की चञ्चलताको बढ़ानेवाले हैं, परन्तु उन सबमें स्त्री बड़ी प्रबल है। इसका संसर्ग होते ही मनकी एकाग्रता एक दम काफूर हो जाती है।

कोई स्त्री सुन्दर है तो उस ओर अनुराग और कोई असुन्दर है तो उस ओर अरुचि बस यही तो चञ्चलता है। ऐसे चञ्चल पुरुष की हालत, आंधी के प्रबल झोकोंसे उखड़े हुए वृक्षके समान है। वह शीघ्र ही गिर जाता है।

गाथामें आए हुए 'हडो' शब्द का अर्थ 'अबद्धमूलो वनस्पतिविशेषः' है। और 'व्व' का अर्थ 'इव' है॥९॥

उत्थानिका इस उपदेशके बाद क्या हुआ ? यह सूत्रकार कहते हैं—

तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाइ सुभासियं।
अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ ॥ १० ॥

तस्या असौ वचनं श्रुत्वा संयताया सुभाषितम्।
अंकुशेन यथा नागः, धर्मे सम्प्रतिपादितः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(**सो**) वह (**तीसे**) उस (**संजयाइ**) संयमिनीके (**सुभासिय**) सुन्दर (**वयण**) वचनको (**सोच्चा**) सुनकर (**अंकुसेण**) अंकुशसे (**नागो**) हाथीकी (**जहा**) तरह (**धम्मे**) धर्ममें (**संपडिवाइओ**) स्थिर हो गया ॥ १० ॥

मूलार्थ —वह रथनेमि ! उस आर्या श्रीराजमतीके सुन्दर वचनोंका सुनकर, जिस प्रकार अंकुश से हस्ती वश हो जाता है, उसी प्रकार धर्ममें स्थिर हो गया ॥ १० ॥

भाष्य — इस गाथामें उपदेशकी सफलता दृष्टान्तपूर्वक दिखलाई गई है। स्वयं आचरणपर दृढ़ एक स्त्रीके वचनोंकी सफलता इस बातको सिद्ध करती है कि चारित्रवान् आत्माका प्रभाव अवश्य होता है।

श्रीरथनेमिका एक स्त्रीकी बातको स्वीकार करना इस बातको सिद्ध करता है कि कुलीन-वंशज पुरुष शिक्षासे ही मान जाते हैं।

हाथीका उदाहरण एक वंशज पुरुषकेलिये सर्वथा उपयुक्त है। वह स्वभावसे ही धैर्यशाली होता है। धैर्यशाली व्यक्तिको थोड़ासा इशारा ही काफ़ी होता है ॥ १० ॥

उत्थानिका—अब उक्त विषयका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

एवं करंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा ।
विणियट्टंति भोगेसु, जहा से पुरिसुत्तमो ॥११॥ त्तिबेमि ।

एवं कुर्वन्ति सम्बुद्धाः, पण्डिताः प्रविचक्षणाः ।
विनिवर्त्तन्ते भोगेभ्यः, यथाऽसौ पुरुषोत्तमः ॥ ११ ॥ इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ—(संबुद्धा) तत्त्वके जाननेवाले (पंडिया) पण्डित–दोषज्ञ–विषयसेवन के दोषोंको जाननेवाले (पवियक्खणा) सावद्य कर्मसे भय माननेवाले पुरुष (एवं) पूर्वोक्त प्रकारसे (करंति) करते हैं। अर्थात् वे (भोगेसु) भोगोंसे (विणियट्टंति) निवृत्त हो जाते हैं (जहा) जिस प्रकार (पुरिसुत्तमो) पुरुषोंमें उत्तम (से) वह रथनेमि ॥ ११ ॥

(त्तिबेमि) इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—तत्त्वके जाननेवाले प्रविचक्षण पण्डित उसी प्रकार भोगोंसे विरक्त हो जाते हैं, जिस प्रकार कि पुरुषोत्तम श्रीरथनेमि ॥ ११ ॥

भाष्य—इस गाथामें चालू विषयका उपसंहार करते हुए उपदेश भी दिया गया है। क्योंकि इस द्वितीयाध्ययनकी यह अन्तिम गाथा है।

यहां यह शङ्का हो सकती है कि गाथामें 'संबुद्धा', 'पण्डिया', और 'पवियक्खणा', ये एकार्थ वाचक तीन शब्द क्यों दिये ? उसका उत्तर यह है कि यद्यपि स्थूल दृष्टिसे ये एकार्थवाचक ही हैं फिर भी सूक्ष्म विचारसे इनके अर्थोंमें अन्तर है। यथा सम्यग्दर्शनकी प्रधानतासे आत्मा 'संबुद्ध' कहलाता है। सम्यक्ज्ञानकी प्रधानतासे आत्मा 'पण्डित' कहलाता है। और चारित्रकी प्रधानतासे आत्मा 'प्रविचक्षण' कहलाता है। इस तरहसे गाथामें शास्त्रकारने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप तीनों रत्नोंका वर्णन कर दिया है। जिसका कि तात्पर्य यह निकलता है कि जो इन तीनोंको धारण करता है, वही पुरुषोत्तम है।

एक शङ्का यहा और हो सकती है। और वह यह कि जब श्रीराजीमतीका नग्नावस्थामें दर्शन पाकर श्रीरथनेमिका चित्त चलायमान—चंचल हो गया, तो गाथामें उसे 'पुरुषोत्तम' क्यों कहा गया ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि उसके भाव डिगमिगा गये थे, लेकिन फिर भी श्रीराजीमतीके शिक्षो पदेशसे वह कुपथसे हट गया और प्रायश्चित्तपूर्वक अपने व्रतमें दृढ़ हो गया। सर्वोत्तम तो वही है, जो चाहे जैसी डिगानेवाली परिस्थितिके उपस्थित हो जानेपर भी न डिगे। लेकिन वह भी

उत्थानिका—अब उक्त विषयका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

एव करांति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा ।
विणियट्टंति भोगेसु, जहा से पुरिसुत्तमो ॥११॥ त्तिबेमि ।

एवं कुर्वन्ति सम्बुद्धाः, पण्डिताः प्रविचक्षणाः ।
विनिवर्त्तन्ते भोगेभ्यः, यथाऽसौ पुरुषोत्तमः ॥ ११ ॥ इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ—(**संबुद्धा**) तत्त्वके जाननेवाले (**पंडिया**) पण्डित–दोषज्ञ–विषयसेवन के दोषोंको जाननेवाले (**पवियक्खणा**) सावद्य कर्मसे भय माननेवाले पुरुष (**एवं**) पूर्वोक्त प्रकारसे (**करंति**) करते हैं। अर्थात् वे (**भोगेसु**) भोगोंसे (**विणियट्टंति**) निवृत्त हो जाते हैं (**जहा**) जिस प्रकार (**पुरिसुत्तमो**) पुरुषोंमें उत्तम (**से**) वह रथनेमि ॥ ११ ॥

(**त्तिबेमि**) इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—तत्त्वके जाननेवाले प्रविचक्षण पण्डित उसी प्रकार भोगोंसे विरक्त हो जाते हैं, जिस प्रकार कि पुरुषोत्तम श्रीरथनेमि ॥ ११ ॥

भाष्य—इस गाथामें चालू विषयका उपसंहार करते हुए उपदेश भी दिया गया है। क्योंकि इस द्वितीयाध्ययनकी यह अन्तिम गाथा है।

यहां यह शङ्का हो सकती है कि गाथामें 'संबुद्धा', 'पण्डिया', और 'पवियक्खणा', ये एकार्थ-वाचक तीन शब्द क्यों दिये ? उसका उत्तर यह है कि यद्यपि स्थूल दृष्टिसे ये एकार्थवाचक ही हैं फिर भी सूक्ष्म विचारसे इनके अर्थोंमें अन्तर है। यथा सम्यग्दर्शनकी प्रधानतासे आत्मा 'संबुद्ध' कहलाता है। सम्यक्ज्ञानकी प्रधानतासे आत्मा 'पण्डित' कहलाता है। और चारित्रकी प्रधानतासे आत्मा 'प्रविचक्षण' कहलाता है। इस तरहसे गाथामें शास्त्रकारने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप तीनों रत्नोंका वर्णन कर दिया है। जिसका कि तात्पर्य यह निकलता है कि जो इन तीनोंको धारण करता है, वही पुरुषोत्तम है।

एक शङ्का यहां और हो सकती है। और वह यह कि जब श्रीराजीमतीका नग्नावस्थामें दर्शन पाकर श्रीरथनेमिका चित्त चलायमान—चञ्चल हो गया, तो गाथामें उसे 'पुरुषोत्तम' क्यों कहा गया ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि उसके भाव डिगमिगा गये थे लेकिन फिर भी श्रीराजीमतीके शिक्षो पदेशसे वह कुपथसे हट गया और प्रायश्चित्तपूर्वक अपने व्रतमें दृढ़ हो गया। सर्वोत्तम तो वही है, जो चाहे जैसी डिगानेवाली परिस्थितिके उपस्थित हो जानेपर भी न डिगे। लेकिन वह भी

पुरुषोत्तम ही है, जो कि परिस्थितिके हिलाये हिल जाने पर भी सोच-समझकर अपने किया चरणरूप मतसे डिगे नहीं—अडल बना रहे। यह भी शूरवीर पुरुषोंका लक्षण है।

विषय-सेवनके त्यागका जो उपदेश दिया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि कामभोगोंका जनक आत्माके साथ अनादिकालसे संबद्ध एक मोहनीय कर्म है। जो कि नितान्त दुःखदायी है। उसके अभावसे अत्यन्त निराबाध सुखकी प्राप्ति होती है।

इसलिये सारांश यह निकला कि यदि पूर्व कर्मोदयके कारण कदाचित् किसीके विषय-सेवनके संकल्प-विकल्प उत्पन्न भी हो जायँ, तब भी उसका भला इसीमें है कि वह सदुपदेश, शुभ भावनाओंका स्मरण करके उनसे अलग रहे—उनमें लिप्त न हो। इसीमें उसके रत्नत्रयकी स्थिति है। इसीसे वह पुरुषोत्तम है। और इसी तरहसे वह मोक्षकी साधना कर सकता है॥११॥

अध्यायकी समाप्तिपर 'त्तिबेमि' शब्द का यहां पर भी पूर्वकी भांति यही अर्थ लगाना चाहिये कि—

"श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीसे कहते हैं कि हे शिष्य ! श्रमण भगवान् श्रीमहावीरस्वामीके

मुखारविन्दसे मैंने जैसा अर्थ इस अध्ययनका सुना है, वैसा ही मैंने तुमसे कहा है। अपनी बुद्धिसे कुछ भी नहीं कहा।"

इय सामण्णपुव्वियज्झयणं सम्मत्तं।

इति श्रामण्यपूर्वक द्वितीयाध्ययन समाप्तम्।

इति श्रीदशवैकालिकसूत्रके श्रामण्यपूर्वक नामक द्वितीयाध्ययनकी
"आत्मज्ञानप्रकाशिका" नामक हिन्दी भाषा टीका समाप्त हुई।

पुरुषोत्तम ही है, जो कि परिस्थितिके हिलाये हिल जाने पर भी सोच-समझकर अपने क्रिया चरणरूप मतसे डिगे नहीं—अडल बना रहे। यह भी शूरवीर पुरुषोंका लक्षण है।

विषय-सेवनके त्यागका जो उपदेश दिया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि काममोगोंका जनक आरमाके साथ अनादिकालसे संबद्ध एक मोहनीय कर्म है। जो कि नितान्त दुःखदायी है। उसके अभावसे अत्यन्त निराबाध सुखकी प्राप्ति होती है।

इसलिये सारांश यह निकला कि यदि पूर्व कर्मोदयके कारण कदाचित् किसीके विषय-सेवनके संकल्प-विकल्प उत्पन्न भी हो जायँ, तब भी उसका भला इसीमें है कि वह सदुपदेश, शुभ भावनाओंका स्मरण करके उनसे अलग रहे—उनमें लिप्त न हो। इसीमें उसके रत्नत्रयकी स्थिति है। इसीसे वह पुरुषोत्तम है। और इसी तरहसे वह मोक्षकी साधना कर सकता है ॥११॥

अध्यायकी समाप्तिपर 'त्तिबेमि' शब्द का यहां पर भी पूर्वकी भांति यही अर्थ लगाना चाहिये कि—

"श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीसे कहते हैं कि हे शिष्य ! श्रमण भगवान् श्रीमहावीरस्वामीके

खुड्डयायारकहा तइयमज्झयणं ।

क्षुल्लकाचारकथा नामक तृतीय अध्ययन ।

संजमे सुट्ठिअप्पाण, विप्पमुक्काण ताइण ।
तेसिमेयमणाइण्ण, निग्गंथाण महेसिण ॥ १ ॥

संयमे सुस्थितात्मानां, विप्रमुक्तानां तायिनाम् ।
तेषामिदमनाचरित, निर्ग्रन्थानां महर्षीणाम् ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(संजमे) संयममें **(सुट्ठिअप्पाण)** भली प्रकारसे स्थित **(विप्पमुक्काण)** संपूर्ण सांसारिक बन्धन रहित **(ताइण)** षट्कायकी व अपने आत्माकी रक्षा करनेवाले **(निग्गंथाण)** और परिग्रह रहित **(तेसिं)** उन **(महेसिण)** महर्षियोंके **(एय)** ये—वक्ष्यमाण **(अणाइण्ण)** अनाचीर्ण हैं ॥ १ ॥

उत्थानिका— गत अध्ययनमें मोहनीयकर्म–जन्य सकल्प–विकल्पोंको छोडकर चित्त स्थिर, करना चाहिये अर्थात् मनुष्यका धैर्यावलम्बी बनना चाहिये। धैर्य धारण किये बिना चारित्रकी पालना नहीं हो सकती। और बिना चारित्रके पाले मोक्ष नहीं हो सकती।

धैर्य आचारके विषयमें प्रयुक्त करना चाहिये। तभी जीवकी सुगति हो सकती है। अनाचारके विषयमें प्रयुक्त किया गया धैर्य दुर्गतिका कारण होता है।

'क्षुल्लकाचारकथा' नाममें जो 'क्षुल्लक' शब्द आया है, उसका अर्थ 'अल्प' होता है। 'अल्प' हमेशा 'महत्' की अपेक्षा रखता है। हाला कि वह अल्पता–महत्ता द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षासे अलहिदा–अलहिदा होती है। अस्तु। इस अध्ययनमें प्रधान चारित्रकी अपेक्षा सक्षेपसे कथन किया जायगा। अत एव इस अध्ययनका नाम 'क्षुल्लकाचारकथा' है।

साधुओंका सक्षेपसे चारित्र वर्णन करनेवाले 'क्षुल्लिकाचारकथा' नामक इस तीसरे अध्ययनमें प्रथम अनाचारका वर्णन सूत्रकार करते हैं—

इस अध्ययनकी यथ्यमाण बातें महर्षियोंकेलिये अयोग्य इसलिये हैं कि वे इनके संगममें बाधा पहुँचाती हैं। महर्षि अहोरात्र ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप-आचार और वीर्याचारमें ही लीन रहते हैं। उनकेलिये स्त्रीकथा, देशकथा, भक्तकथा और राज्यकथा तथा मोहकथा, विप्रलापकथा और मृदुकारुणिक कथा आदि विकथा-कुकथा हैं।

महर्षि हमेशा धर्मकथामें तत्पर रहते हैं। यद्यपि धर्मकथाके अनेक भेद हैं, पर उन सबका मुख्य उद्देश्य आत्माको निर्मल करना—आत्माको निज स्वरूपमें लीन करना और अन्य भव्य जीवोंको तन्मय करके उनका उद्धार करना—उनका आत्माकी ओर लगाना है। श्रुतज्ञानके प्रभावसे आत्मा स्वपरके कल्याण करनेमें समर्थ होजाता है ॥ १ ॥

उत्थानिका—अब अनाचीर्ण क्रियाओंका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं,—

उद्देसियं कीयगडं, नियागमभिहडाणि य।
राइभत्ते सिणाणे य, गंधमल्ले य वीयणे ॥ २ ॥

औद्देशिकं क्रीतकृतं, नियागमभ्याहृतानि च।
रात्रिभक्तं स्नानं च, गन्धमाल्यं च व्यञ्जनम् ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(उद्देसियं) साधुके उद्देश्यसे बनाये गये आहारको लेना (कीयगडं)

मूलार्थ—संयममें स्थित, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह रहित, स्वपररक्षक, निर्ग्रन्थ महर्षियोंके अयोग्य आचार अब वर्णन किये जायँगे ॥ १ ॥

भाष्य—इस गाथामें निर्ग्रन्थ मुनिके जो विशेषणपद दिये गये हैं, वे सब हेतुहेतुमद्भाव-पूर्वक हैं। 'यदि पढ़ेगा तो विद्वान् हो जायगा, यदि वर्षा अच्छी होगी तो संवत् हो जायगा,' यही हेतुहेतुमद्भावका उदाहरण है। इसी तरह उपरोक्त गाथा-प्रतिपादित निर्ग्रन्थ मुनिके विशेषणपदों का अर्थ करना चाहिये। यथा,—

निर्ग्रन्थ मुनि यदि भलीभांति संयममें स्थित होगा तभी वह संपूर्ण सांसारिक बन्धन रहित हो सकेगा। जो सांसारिक बन्धन-रहित अर्थात् बाह्याभ्यन्तर परिग्रह रहित होगा, वही स्वपर का रक्षक हो सकेगा। और जो स्वपरका रक्षक होगा, वही महर्षि हो सकेगा।

आत्माएं तीन प्रकारकी होती हैं। स्वरक्षक, पररक्षक और स्वपररक्षक। इस प्रकरणमें 'रक्षक' शब्दका अर्थ मरनेसे या तकलीफ़से बचाना ही नहीं है, बल्कि क्रोध, मान, माया, लोभ, दुर्व्यसन, अपवित्र भावना आदि जीवके अन्तरङ्ग शत्रुओंके आक्रमणसे भी बचाना है। इस प्रकारकी अपनी रक्षा करनेमें जो मुनि तन्मय हैं, वे स्वरक्षक हैं। दूसरेकी आत्माकी रक्षा करनेमें जो सलग्न हैं, वे पररक्षक हैं। और जो अपनी और साथ ही परकी भी रक्षा करनेमें समर्थ हैं अर्थात् अपनी आत्माके कल्याणके साथ २ पराई आत्माओंका भी जो कल्याण कर सकते हैं, वे ही 'महर्षि' कहलाते हैं।

साधुको निमित्त रखकर यदि भोजन तैयार कराया जाय और उसका पता उस साधुको लग जाय, और फिर उस आहारको वह साधु ग्रहण करले तो उस भोजनके बननेमें आरम्भादिजन्य जो हिंसा हुई थी, उसका वह भागी अवश्य होगा। क्योंकि साधुकी उसमें अनुमोदना हो गई। न मालूम हो और वह उस आहारको ले ले तो उसमें वह पापका भागी नहीं है।

२. क्रीतकृत—साधु स्वयं कहींसे भी कोई चीज़ खरीदे नहीं, खरीदवावे नहीं और बाज़ार से खरीदी हुई मिठाई आदि यदि कोई आहारमें दे तो उसे भी ले न। क्योंकि बाज़ारमें बनाये गये खाद्य पदार्थ पवित्र और प्रासुक नहीं कहे जा सकते।

३. नियाग—कोई गृहस्थ यदि किसी साधुको न्यौता दे दे कि 'आप मेरे गृहसे नित्य आहार ले जाया कीजिये।' तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा करनेसे साधुके चित्तमें अन्य लोगोंके प्रति जिनके यहांसे उसे निमन्त्रण नहीं मिला है, घृणाका भाव पैदा हो सकता है। उनकी निन्दा करनेका भी विचार साधुके चित्तमें आ सकता है। और राग और द्वेषका अविनाभावी सम्बन्ध भी है। अर्थात् जब एकके प्रति द्वेष हो गया तो दूसरेके प्रति राग हो जाना स्वाभाविक है। इसलिये निमन्त्रण देनेवाले लोगोंसे उसका राग भाव भी हो सकता है और उनकी प्रशंसा करनेका भी उसका विचार हो सकता है।

'नियाग' का एक अर्थ यह भी है कि जो आहार ब्राह्मण आदि किसीकेलिये अलग निकाल कर रख दिया हो तो उसे भी साधु ग्रहण न करे। क्योंकि वह दूसरेके हिस्सेकी चीज़ होगई।

खरीदकर लेना (**नियागं**) आमंत्रित घरसे आहार लेना (**य**) और (**अभिहडाणि**) स्वग्रामादि से साधुके वास्ते लाकर पदार्थ साधुको देना (**राइ भत्ते**) रात्रिभोजन करना (**य**) और (**सिणाणे**) स्नान करना (**गंध**) सुगंधका लेना (**मल्ले**) पुष्पमालादि धारण करना (**य**) और (**वीयणे**) वीजना—पंखादि करना ॥ २ ॥

मूलार्थ—औद्देशिक आहारादि लेना १, खरीदकर लेना २, आमंत्रित आहारादि ग्रहण करना ३, गृहादिसे लाया हुआ भोजनादि लेना ४, रात्रि भोजन करना ५, स्नान करना ६, सुगंधित पदार्थोंका सेवन करना ७, पुष्पमालादिका धारण करना ८, और वीजनादि करना ९ ये सब मुनिकेलिये अनाचीर्ण हैं ॥ २ ॥

भाष्य—इस गाथामें साधुके अनाचीर्ण पदार्थोंका वर्णन किया गया है अर्थात् जो जो पदार्थ मुनिवृत्तिके सेवन करनेके योग्य नहीं हैं, उन पदार्थोंका वर्णन किया गया है। और जिन पदार्थोंका नाम लिया गया है, वे दिग्दर्शनमात्र हैं। उपलक्षणसे तत्सदृश अन्य पदार्थ भी ग्रहण किये जा सकते हैं।

१ औद्देशिक—कोई भी काम बिना आरंभ, आरम्भ, संरम्भ और समारम्भके बिना नहीं हो सकता। आरम्भ, संरम्भ और समारम्भ जहां होता है, वहां हिंसा होना स्वाभाविक है।

साधुको निमित्त रखकर यदि भोजन तैयार कराया जाय और उसका पता उस साधुको लग जाय, और फिर उस आहारको वह साधु ग्रहण करले तो उस भोजनके बननेमें आरम्भादिजन्य जो हिंसा हुई थी, उसका वह भागी अवश्य होगा। क्योंकि साधुकी उसमें अनुमोदना हो गई। न मालूम हो और वह उस आहारको ले ले तो उसमें वह पापका भागी नहीं है।

२. क्रीतकृत—साधु स्वयं कहींसे भी कोई चीज़ खरीदे नहीं, खरीदवावे नहीं और बाज़ार से खरीदी हुई मिठाई आदि यदि कोई आहारमें दे तो उसे भी ले न। क्योंकि बाज़ारमें बनाये गये खाद्य पदार्थ पवित्र और प्रासुक नहीं कहे जा सकते।

३. नियाग—कोई गृहस्थ यदि किसी साधुको न्यौता दे दे कि 'आप मेरे गृहसे नित्य आहार ले जाया कीजिये।' तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा करनेसे साधुके चित्तमें अन्य लोगोंके प्रति जिनके यहांसे उसे निमन्त्रण नहीं मिला है, घृणाका भाव पैदा हो सकता है। उनकी निन्दा करनेका भी विचार साधुके चित्तमें आ सकता है। और राग और द्वेषका अविनाभावी सम्बन्ध भी है। अर्थात् जब एकके प्रति द्वेष हो गया तो दूसरेके प्रति राग हो आना स्वाभाविक है। इसलिये निमन्त्रण देनेवाले लोगोंसे उसका राग भाव भी हो सकता है और उनकी प्रशंसा करनेका भी उसका विचार हो सकता है।

'नियाग' का एक अर्थ यह भी है कि जो आहार ब्राह्मण आदि किसीकेलिये अलग निकाल कर रख दिया हो तो उसे भी साधु ग्रहण न करे। क्योंकि वह दूसरेके हिस्सेकी चीज़ होगई।

४. अभ्याहृत—यदि कोई किसी दूसरेके घरसे या किसी दूसरे ग्रामसे आहारको लाकर साधुको दे तो उसे भी साधु ग्रहण न करे।

'अभ्याहृत' केलिये गाथामें जो 'अभिहडाणि' बहुवचन पद दिया है, वह गाँव, नगर, पत्तन, देश, प्रान्त आदि अनेक भेदोंको प्रदर्शन करनेकेलिये दिया है।

५. रात्रिभोजन—इसमें जो दोषबाहुल्य है, वह तो संसारभरमें प्रसिद्ध है। इसमें इतनी दोषबहुलता है कि यह श्रावकों तकको निषिद्ध है, तो फिर साधुओंका कहना ही क्या? वह तो एकदम सर्वथा त्याज्य है। जैनेतर शास्त्रों तकमें उसका पर्याप्त निषेध है। यहां तक लिखा है कि—'रात्रिके समय भोजन गोमांसके बराबर और जल रुधिरके बराबर है।"

६ स्नान—शुचिमात्र स्नानको छोड़कर और सब प्रकारके स्नान—देशस्नान व सर्वस्नान त्याज्य हैं। स्नान शरीरसंस्कार है और कामरागका वर्धक है। साधुकेलिये रागवर्धक पदार्थ व क्रियाएं सब हेय हैं।

७ गन्ध—इत्र-फुलेलादिका लगाना भी साधुकेलिये अयोग्य है। ये भी रागवर्धक हैं।

८. माला—पुष्प व माला भी वर्ज्य हैं। सचित्त और रागवर्धक होनेके कारण।

९. वीजना—पंखा आदिसे हवा करनेमें वायुकायिक जीवोंका विघात होता है। अतः ये भी साधुकेलिये त्याज्य हैं॥ २॥

उत्थानिका—उसी विषयमें फिर भी कहते हैं,—

सनिही गिहिपत्ते य रायपिंडे किमिच्छए ।
सवाहणा दतपहोयणा य, सपुच्छणा देहपलोयणा य ॥ ३ ॥

सनिधि गृहिपात्र च, राजपिण्डः किमिच्छकः ।
सवाधन दन्तप्रधावन च, सप्रश्नः देहप्रलोकन च ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(**सनिही**) वस्तुओंका सचय करना (**य**) और (**गिहिपत्ते**) गृहस्थीके पात्रमें भोजन करना (**रायपिंडे**) राजपिण्डका ग्रहण करना (**किमिच्छए**) दान देनेवाली शालासे दान लेना (**सवाहणा**) सवाधन—मर्दन करना (**य**) और (**दतपहोयणा**) दन्त प्रधावन करना तथा (**सपुच्छणा**) गृहस्थसे सावधादि प्रश्न पूछने तथा मैं कैसा लगता हू, इत्यादि पूछना (**य**) और आदर्शादिमें अपने देहका अवलोकन करना ॥ ३ ॥

मूलार्थ—घृत गुडादिका सचय करना १०, गृहस्थीके पात्रमें भोजन करना ११, राजाका आहार लेना १२, दानशालासे दान लेना १३, मर्दन करना-कराना १४, दात माजना १५, गृहस्थसे क्षेम कुशल पूछना १६, अपने शरीरके प्रतिबिम्बको आदर्शादिमें देखना १७, ये सब साधुकेलिये अनाचरित हैं ॥ ३ ॥

४. अभ्याहृत—यदि कोई किसी दूसरेके घरसे या किसी दूसरे ग्रामसे आहारको लाकर साधुको दे तो उसे भी साधु ग्रहण न करे।

'अभ्याहृत' केलिये गाथामें जो 'अभिहडाणि' बहुवचन पद दिया है, वह गाँव, नगर, पत्तन, देश, प्रान्त आदि अनेक भेदोंको प्रदर्शन करनेकेलिये दिया है।

५. रात्रिभोजन—इसमें जो दोषबाहुल्य है, वह तो संसारभरमें प्रसिद्ध है। इसमें इतनी दोषबहुलता है कि यह श्रावकों तकको निषिद्ध है, तो फिर साधुओंका कहना ही क्या ? यह तो एकदम सर्वथा त्याज्य है। जैनेतर शास्त्रों तकमें उसका पर्याप्त निषेध है। यहां तक लिखा है कि—'रात्रिके समय भोजन गोमांसके बराबर और जल रुधिरके बराबर है।"

६ स्नान—शुचिमात्र स्नानको छोड़कर और सब प्रकारके स्नान—देशस्नान व सर्वस्नान त्याज्य हैं। स्नान शरीरासत्कार है और कामरागका वर्धक है। साधुकेलिये रागवर्धक पदार्थ व क्रियाएं सब हेय हैं।

७ गन्ध –इत्र-फुलेलादिका लगाना भी साधुकेलिये अयोग्य है। ये भी रागवर्धक हैं।

८. माला—पुष्प व माला भी वर्ज्य हैं। सचित्त और रागवर्धक होनेके कारण।

९. वीजना –पंखा आदिसे हवा करनेमें वायुकायिक जीवोंका विघात होता है। अतः वे भी साधुकेलिये त्याज्य हैं॥ २॥

उत्थानिका—उसी विषयमें फिर भी कहते हैं,—

सन्निही गिहिमत्ते य रायपिंडे किमिच्छए ।

संवाहणा दंतपहोयणा य, संपुच्छणा देहपलोयणा य ॥ ३ ॥

सन्निधि गृहिपात्र च, राजपिण्डः किमिच्छकः ।

संबाधनं दन्तप्रधावनं च, संप्रश्नः देहप्रलोकनं च ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(**सन्निही**) वस्तुओंका संचय करना (**य**) और (**गिहिमत्ते**) गृहस्थीके पात्रमें भोजन करना (**रायपिंडे**) राजपिण्डका ग्रहण करना (**किमिच्छए**) दान देनेवाली शालासे दान लेना (**संवाहणा**) संबाधन—मर्दन करना (**य**) और (**दंतपहोयणा**) दन्त प्रधावन करना तथा (**संपुच्छणा**) गृहस्थसे सावद्यादि प्रश्न पूछने तथा मैं कैसा लगता हूं, इत्यादि पूछना (**य**) और आदर्शादिमें अपने देहका अवलोकन करना ॥ ३ ॥

मूलार्थ—घृत गुडादिका संचय करना १०, गृहस्थीके पात्रमें भोजन करना ११, राजाका आहार लेना १२, दानशालासे दान लेना १३, मर्दन करना-कराना १४, दांत मांजना १५, गृहस्थसे क्षेम कुशल पूछना १६, अपने शरीरके प्रतिबिम्बको आदर्शादिमें देखना १७, ये सब साधुकेलिये अनाचरित हैं ॥ ३ ॥

भाष्य १० संनिधि—घृत गुड़ादिका संग्रह रखना, मुनिकी अतिगृद्धता और परिग्रहके प्रति ममत्वकी सूचक है।

११ गृहिपात्र—गृहस्थीके यहां पात्र प्रायः धातुके होते हैं। मुनिको धातुमात्रका स्पर्श वर्जित है।

१२. राजपिण्ड—अनेक राजा अव्रती भी होते हैं। उनके यहां भक्ष्याभक्ष्यका विवेक प्रायः नहीं होता। दूसरे, राजाओंके यहां प्रायः बलयुक्त भोजन बना करता है। मुनि संयममार्गके पथिक हैं। अतः उन्हें ऐसा आहार लेना उनके पथभ्रष्ट होनेका कारण है।

१३. किमिच्छक—जिन शालाओंमें 'तुम कौन हो?, क्या चाहते हो?' इत्यादि प्रश्न पूछे जाते हैं, वह किमिच्छक दानशाला कहलाती है। ऐसी शालाओंसे कोई भी चीज़ मुनिको नहीं लेना चाहिये। क्योंकि एक तो 'वह उनके निमित्त तैयार की गई,' मानी जाती है। दूसरे, मुनिको दान लेते समय जिन २ अन्तरायोंके टालनेकी शास्त्रमें आज्ञा है, उनके टलनेकी यहां संभावना नहीं है।

१४ संबाधन—शरीरका दाबना या दबवाना, ये दोनों ही काम, कामरागवर्धक हैं।

१५. दन्तप्रधावन—दांत मांजना या दन्तमञ्जन लगाना, यह मुनिकी सौन्दर्यभावनाका द्योतक है।

१६. संप्रश्न—गृहस्थी गृहस्थीसे जैसे कुशल क्षेमके प्रश्न पूछा करते हैं वैसे साधुको नहीं

पूछना चाहिये। क्योंकि उत्तरमें गृहस्थीसे जो कुछ कहा जायगा, उसमें सत्यासत्यके सूक्ष्म विवेचन के अनुसार कुछ-न-कुछ असत्यांश भी हुए बिना न रहेगा। इस तरह मुनिका वाक्य असत्यो-त्तेजक हो जाता है। मुनिके असत्यका त्याग कृत-कारित अनुमोदनासे अर्थात् महाव्रतरूपसे होता है। अणुव्रतरूपसे नहीं। दूसरे, उनका पूछना निरर्थक भी है। क्योंकि जो कुछ तकलीफ़ या आराम गृहस्थको प्राप्त है, वह मुनिके पूछनेसे कुछ बदल नहीं सकता। और न वे दुःख-निवारणका कुछ उपाय ही बतला सकते हैं। क्योंकि जो वे बाह्य उपाय बतलायेंगे, वह सब सावद्यजन्य होगा। रहा, धर्मोपदेश; सो इसे तो वे देते ही हैं।

१७ देह-अवलोकन—शरीर-सौन्दर्यका अभिलाषी ही प्रायः शरीरको दर्पणमें देखेगा। मुनि शरीर-सौन्दर्यके त्यागी होते हैं। वे तो आत्म-निर्मलताके योगी होते हैं ॥ ३ ॥

उत्थानिका—उसी विषयमें और भी कहते हैं—

अट्ठावए य नालीए, छत्तस्स य धारणट्ठाए।
तेगिच्छं पाहणापाए, समारंभ च जोइणो ॥ ४ ॥

अष्टापदं च नालिकया, छत्रस्य च धारणार्थाय।
चैकित्स्यमुपानहौ पादयोः, समारम्भं च ज्योतिषम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(अट्ठावए) जुआ खेलना (य) पुनः (नालीए) नालिकासे जुआ खेलना (य) तथा (छत्तस्स) छत्रका (धारणट्ठाए) अनर्थकेलिये धारण करना (तेगिच्छं) चिकित्सा करना (पाए) पैरोंमें (पाहणा) जूतादि पहिरना (च) और (जोइणो) अग्निका (समारम्भ) समारम्भ करना ॥ ४ ॥

मूलार्थ—जुआ खेलना १८, नालिकासे जुआ खेलना १९, सिरपर छत्र धारण करना २०, व्याधि आदिकी चिकित्सा करना २१, पैरोंमें जूतादि पहिरना २२, और अग्निका समारम्भ करना २३, ये सब साधुकेलिये अनाचरित हैं ॥ ४ ॥

भाष्य—१८, १९—प्राकृत भाषाके 'अट्ठावए' शब्दके दो अर्थ हैं। एक जुआ खेलना और दूसरा धनकेलिये निमित्तशास्त्रादिका सीखना। यहां ये दोनों ही अर्थ ग्राह्य हैं-दोनों ही साधुकेलिये अनाचीर्ण हैं।

यहां यह शङ्का हो सकती है कि 'अट्ठावए' शब्दका अर्थ भी जुआ खेलना है और 'नालीए' शब्दका भी वही अर्थ है। तो गाथामें एकार्थक दो शब्द क्यों दिये ? इसका समाधान यह है कि 'अट्ठावए' सामान्य जुएका बोधक है और 'नालीए' पाशोंके द्वारा जुआ खेलने तथा राग-शतरंज

मात्रिका योधक है। इस तरह 'अट्ठावए' सामान्य-द्यूत-योधक और 'नालीए' विशेष-द्यूत-योधक है।

२० छत्रधारण—छाता साधु न स्वयके लगाये और न दूसरेके। यह कार्य साधुवृत्तिके लिये अयोग्य है।

यहां एक यात ध्यानमें रखने योग्य है कि ये सय अनाचीर्ण यहां उत्सर्ग मार्गसे यतलाये गये हैं। अपवाद मार्गसे वृद्ध व ग्लान साधुको छत्र लगानेकेलिये आज्ञा है।

प्राकृतभाषाके नियमानुसार 'धारणाए' में अनुस्वार, नकार और अकारका लोप मानकर उसकी छाया धारणानर्थाय' भी की जा सकती है। वृद्धपरम्परासे ऐसा सुनते चले आते हैं।

२१ चैकित्स्य—मुनि दो तरहके होते हैं। एक स्थविरकल्पी और दूसरे जिनकल्पी। उनमें से स्थविरकल्पीकेलिये सिर्फ सावद्य औषधिका निषध है। जिनकल्पीकेलिये क्या सावद्य और क्या निरवद्य सभी प्रकारकी औषधियोंका निषेध है। लेकिन यलकारक औषधियोंका निषेध स्थविरकल्पी मुनिकेलिये भी है।

२२, २३ जूतोंका पहिरना और अग्निका जलाना—सावद्य कर्म होनेके कारण मुनिकेलिये ये कर्म सर्वथा निषिद्ध हैं ॥ ४ ॥

उत्थानिका—फिर भी पूर्वोक्त विषयमें ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अट्ठावए) जुआ खेलना (य) पुनः (नालीए) नालिकासे जुआ खेलना (य) तथा (छत्तस्स) छत्रका (धारणट्ठाए) अनर्थकेलिये धारण करना (तेगिच्छ) चिकित्सा करना (पाए) पैरोंमें (पाहणा) जूतादि पहिरना (च) और (जोइणो) अग्निका (समारम्भ) समारम्भ करना ॥ ४ ॥

मूलार्थ—जुआ खेलना १८, नालिकासे जुआ खेलना १९, सिरपर छत्र धारण करना २०, व्याधि आदिकी चिकित्सा करना २१, पैरोंमें जूतादि पहिरना २२, और अग्निका समारम्भ करना २३, ये सब साधुकेलिये अनाचरित हैं ॥ ४ ॥

भाष्य—१८, १९—प्राकृत भाषाके 'अट्ठावए' शब्दके दो अर्थ हैं। एक जुआ खेलना और दूसरा धनकेलिये निमित्तआदिका सीखना। यहां ये दोनों ही अर्थ ग्राह्य हैं-दोनों ही साधुकेलिये अनाचीर्ण हैं।

यहां यह शङ्का हो सकती है कि 'अट्ठावए' शब्दका अर्थ भी जुआ खेलना है और 'नालीए' शब्दका भी यही अर्थ है। तो गाथामें एकार्थक दो शब्द क्यों दिये ? इसका समाधान यह है कि 'अट्ठावए' सामान्य जुएका बोधक है और 'नालीए' पाशोंके द्वारा जुआ खेलने तथा ताश-शतरंज

भादिका पोषक है। इस तरह 'भद्दावए' सामान्य-घूत-पोषक और 'नालीय' विशेष-घूत-पोषक है।

२० छत्रधारण—छाता साधु न स्वयके लगावे और न दूसरेके। यह कार्य साधुवृत्तिके लिये अयोग्य है।

यहां एक बात ध्यानमें रखने योग्य है कि ये सब अनाचीर्ण यहां उत्सर्ग मार्गसे बतलाये गये हैं। अपवाद मार्गसे वृद्ध व ग्लान साधुको छत्र लगानेकेलिये आज्ञा है।

प्राकृतभाषाके नियमानुसार 'धारणाए' में अनुस्वार, नकार और अकारका लोप मानकर उसकी छाया धारणामर्थाय' भी की जा सकती है। वृद्धपरम्परासे ऐसा सुनते चले आते हैं।

२१ चैकित्स्य—मुनि दो तरहके होते हैं। एक स्थविरकल्पी और दूसरे जिनकल्पी। उनमें से स्थविरकल्पीकेलिये सिर्फ सावद्य औषधिका निषध है। जिनकल्पीके लिये क्या सावद्य और क्या निरवद्य सभी प्रकारकी औषधियोंका निषेध है। लेकिन बलकारक औषधियोंका निषेध स्थविरकल्पी मुनिकेलिये भी है।

२२, २३. जूतोंका पहिरना और अग्निका जलाना—सावद्य कर्म होनेके कारण मुनिकेलिये ये कर्म सर्वथा निषिद्ध हैं ॥४॥

उत्थानिका—फिर भी पूर्वोक्त विषयमें ही कहते हैं—

सिज्जायरपिंडं च, आसंदीपलियंकए।
गिहंतरनिसिज्जा य, गायस्सुव्वट्टणाणि य ॥ ५ ॥

शय्यातरपिण्डं च, आसन्दकपर्यंकौ।
गृहान्तरनिषद्या च, गात्रस्योद्वर्तनानि च ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(सिज्जायरपिंड) शय्यातरके घरसे आहार लेना (च) और (आसंदी-पलियंकए) आसंदी और पर्यंकपर बैठना (य) तथा (गिहंतरनिसिज्जा) गृहस्थके घर जाकर बैठना (च) च शब्दसे पाटकादिपर बैठना (गायस्सुव्वट्टणाणि) शरीरका मल दूर करनेकेलिये उबटना आदि करना (य) च शब्दसे यहां देहके अन्य संस्कारोंका भी ग्रहण करना चाहिये ॥ ५ ॥

मूलार्थ—शय्यातरके घरसे आहार लेना २४, आसंदीपर बैठना २५, पर्यंकपर बैठना २६, गृहस्थके घर जाकर बैठना २७, और गात्रकी उद्वर्तन क्रियाएं करना आदि २८, ये सब साधुकेलिये अनाचरित हैं ॥ ५ ॥

भाष्य--२४ शय्यातरपिण्ड—'शय्या-वसतिम्, तया तरति संसारमिति शय्यातरः।' अर्थात् साधुको ठहरनेकेलिये स्थान देकर जो गृहस्थ संसारसे पार उतरनेका साधन करता है, उसका नाम शय्यातर है। उसके घरसे उस साधुको आहार लेना निषिद्ध है। उस गृहस्थके चित्तसे साधुके प्रति श्रद्धा, भक्ति आदिका व्यवच्छेद न होजाय, इसलिये श्रीतीर्थंकर भगवान्ने ऐसी आज्ञा दी है।

२५, २६ आसन्दकपर्यङ्कनिषद्या—पीढ़ी और खाट आदिपर बैठना। इन जगहोंपर बैठनेसे अप्रमार्जितादि अनेक दोष साधुको लगते हैं।

२७ गृहान्तरनिषद्या—घरोंमें जाकर बैठना अथवा घरोंके बीचमें आकर बैठना। ऐसा करना साधुको अनेक लाञ्छन लगनेका कारण है। इसलिये यह अनाचीर्ण है।

२८. गात्रोद्वर्तन—शरीरके मलको हटानेकेलिये जो उबटना आदि किया जाता है, वह कामरागोत्तेजक है। इसलिये साधुकेलिये यह अनाचरित है ॥ ५ ॥

उत्थानिका—अब फिर पूर्वोक्त विषयमें ही कहते हैं—

गिहिणो वेयावडियं, जा य आजीववत्तिया ।
तत्तानिव्वुडभोइत्तं, आउरस्सरणाणि य ॥ ६ ॥

गृहस्थस्य वैयावृत्य, या च आजीववृत्तिता ।
तप्तानिर्वृतभोजित्वम्, आतुरस्मरणानि च ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(गिहिणो) गृहस्थकी (वेयावडिय) वैयावृत्त्य करना (य) और (जा) जो (आजीववत्तिया) अपनी जाति आदि बतलाकर आहारादि लेना (तत्तानिव्वुड-भोइत्तं) मिश्रित जलादिका पान करना अर्थात् जो सर्व प्रकारसे प्रासुक नहीं हुए ऐसे पदार्थोंका भोजन करना (य) तथा (आउरस्सरणाणि) क्षुधादि पीडाओंसे पीडित होकर पूर्वोक्त भुक्त-पदार्थों का स्मरण करना तथा रोगी आदिको आश्रय देना ॥ ६ ॥

मूलार्थ—गृहस्थकी वैयावृत्य करना २९, जाति-कुल-गणादि बतलाकर अपनी आजीविका करना ३०, जो पदार्थ सब प्रकारसे प्रासुक नहीं हुए उनका भोजन करना ३१, भूखादिसे पीडित होकर फिर पूर्वभुक्त पदार्थों का स्मरण करना ३२, ये सब साधुकेलिये अनाचरित हैं ॥ ६ ॥

भाष्य—२९ गृहि-वैय्यावृत्य—साधु पूर्णरूपसे निश्चय रत्नत्रयके आराधक, महाव्रतके पालक, साक्षात् मोक्षमार्गके पथिक और अहर्निश धर्मध्यानी आत्मसाधकोंकी होते हैं। उन्हें सांसा

रिक कर्मोंके करनेकी बिल्कुल फुरसत नहीं है। रुचि भी नहीं है। क्योंकि वे उसको त्याग चुके हैं। भगवान्‌की आज्ञा भी नहीं है।

दूसरा कोई साधु यदि बीमारी आदिसे पीड़ित होजाय तो दूसरे साधुको उसकी वैयावृत्य करनी चाहिये। क्योंकि वह स्वस्थ होकर पुनः साक्षात् मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होगा। गृहस्थ स्वस्थ होकर भी संसारके ही काममें फँसेगा। इसलिये मुनिको गृहस्थकी वैय्यावृत्य नहीं करनी चाहिये। जैसे कि गृहस्थको दूसरेके यहांसे आहार आदि लाकर देना। ऐसा करनेसे समाचारीका विरोध होता है। और समाचारीका विरोध होनेसे असंयमरूप प्रवृत्ति होती है।

३० आजीववृत्तिता –अपनी जाति, कुल, गण, शैल्पादि दिखलाकर आजीविका करना मुनिकेलिये निषिद्ध है। ऐसा करनेसे उसका जीवन संयम-जीवन–धर्म जीवन न रहकर गृहस्थ जीवन बन जाता है।

३१ तप्तानिर्वृतभोजित्व—सचित्त–अचित्त मिश्रित आहार पानीका ग्रहण करना, तथा अन्य वस्तुएं भी, जब तक कि वे पूर्णरूपसे प्रासुक नहीं हुई हैं, ग्रहण करना, मुनिकेलिये निषिद्ध है। क्योंकि वे सचित्तके त्यागी हैं।

३२ आतुरस्मरण—क्षुधादिसे पीड़ित होजानेपर पूर्वमें भोगे हुए भोज्य पदार्थोंका स्मरण करना। ऐसा करनेसे शान्तस्वभावी मुनिके चित्तमें खेद ही पैदा होगा। इसलिये यह भी साधुके

लिये अनाचरित है। 'आतुरस्मरण' शब्दका दूसरा अर्थ, रोगाश्रित पुरुषको आश्रय देना भी किया जाता है ॥ ६ ॥

उत्थानिका—आगे और भी अनाचरितोंका वर्णन करते हैं,—

मूलए सिंगबेरे य, उच्छुखंडे अनिव्वुडे ।
कन्दे मूले य सच्चित्ते, फले बीए य आमए ॥ ७ ॥

मूलक शृङ्गवेर च, इक्षुखण्ड चानिर्वृत्तम् ।
कन्दो मूल च सचित्त, फल बीजमामक ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(अनिव्वुडे) बिना बनारा हुआ- सचित्त (मूलए) मूलक (य) और (सिंगबेरे) आद्रक (उच्छुखंडे) इक्षुखण्ड—गणोलियां और (सचित्ते) सचित्त (कंदे) वज्र कन्दादि (मूले च) और मूलसहादि तथा (आमए) सचित्त (फले) फल (बीए) बीज ॥ ७ ॥

मूलार्थ—जो जीवोंसे निवृत्त नहीं हुए ऐसे मूलक २३, आर्द्रक २४, इक्षुखण्ड २५, कन्द २६, मूल २७ और सचित्त फल २८, तथा कच्चे बीज २९, ये सब अनाचरित हैं ॥ ७ ॥

भाष्य— ३३-३६ सचित्त मूलक, आर्द्रक, इक्षुखण्ड, पद्मकन्द, मूलसह, फल और बीज, इन सचित्त† पदार्थोंके सेवनसे मुनिका अहिंसा महाव्रत सुरक्षित नहीं रह सकता। मुनि उसी पदार्थ को ग्रहण करे जिसे यह निश्चित रूपसे अचित्त समझता हो। जिसमें अचित्तका थोड़ा संदेह भी हो जाय तो उसे यह ग्रहण न करे ॥ ७ ॥

उत्थानिका—मुनिके अनाचीर्णोंका और भी वर्णन करते हैं,—

सोवच्चले सिंधवे लोणे, रोमालोणे य आमए।
सामुद्दे पंसुखारे य, कालालोणे य आमए ॥ ८ ॥

सौवर्चलं सैन्धवं लवणं, रुमालवणं च आमकम्।
सामुद्रं पांशुक्षारं च, कृष्णलवणं च आमकम् ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(आमए) सचित्त (सोवच्चले) सौवर्चल (सिंधवे लोणे) सैन्धव लवण (रोमालोणे) रोमकक्षार (य) और (आमए) सचित्त (सामुद्दे) सामुद्रिक लवण (य) तथा (पंसुखारे) पांशुक्षार जातिका लवण (य) पुनः (कालालोणे) कृष्ण लवण ॥ ८ ॥

† चित्तेन सह वर्तते सचित्तः—समीक्षा।—प्रकाशक।

मूलार्थ-- सचित्त सौवर्चल ४०, सैन्धवलवण ४१, रोमकक्षार ४२, सामुद्रिकलवण ४३, ऊसरलवण ४४, और कालालवण ४५, इनका सेवन करना मुनिकोलिये अनाचीर्ण है ॥ ८ ॥

भाष्य—४०-४५—सौवर्चल, सैन्धव, रोमक क्षार, सामुद्रिक क्षार, ओपर क्षार और कृष्ण लवण—ये सब नमककी जातियां हैं। सचित्त दशामें‡ इनका सेवन करना, अहिंसा महाव्रतका विघातक है। ये सब पृथ्वीकाय हैं।

यहां एक शङ्का यह हो सकती है कि गाथामें 'सोवच्चल'—'सौवर्चल' और 'कालालोणे'-'कृष्णलवण' ये दोनों ही शब्द दिये हैं। 'कृष्णलवण' का तो 'काला नमक' अर्थ स्पष्ट ही है। लेकिन 'सौवर्चल' शब्दका भी 'काला नमक' ही अर्थ होता है। इस तरह वैद्यक मतानुसार दोनों ही शब्दोंका एक 'काला नमक' ही अर्थ होता है। यथा—"सौवर्चलं स्याद्रुचकं, मन्थपाक च तन्मतम्" अर्थात् सौवर्चल, रुचक और मन्थपाक, ये तीनों ही काले नमकके वाचक हैं।—भावप्रकाश, हरीतक्यादि वर्ग।

इसका उत्तर यह है कि यद्यपि वैद्यकमतानुसार 'सौवर्चल' शब्दका अर्थ काला नमक ही होता है। लेकिन संस्कृतभाषामें एक २ शब्दके कई २ अर्थ होते हैं। तदनुसार 'सौवर्चल' शब्दका अर्थ 'सज्जी' भी होता है। यथा—"पाक्योऽथ स्वर्जिकाक्षारः, कापोतः सुवर्चकः। सौवर्चलं

‡ जनिरिसा नमक सचित्त रहता है। पिस जाने पर वह अचित्त हो जाता है।—प्रकाशक।

स्यात्सुवर्चक, स्यक्षवीरी पशरोचना ॥"—अमरकोष। 'स्वर्जिकाक्षार', कापोतः सुखवर्चकः, सौवर्च्चलम् रुचकमिति पञ्च क्षार भेदस्य—'साजीक्षार, इतिख्यातस्य' अर्थात् स्वर्जिकाक्षार, कापोत, सुखवर्च्चक, सौवर्चल और रुचक, ये पाच नाम क्षारभेदके जो कि 'साजा'—'सज्जी' के नामसे प्रसिद्ध है, उसके हैं। इति तत्सुधाख्याव्याख्या। अन्यच्च—"अथ सौवर्च्चल सर्जक्षारे च लवणान्तरे" अर्थात् 'सौवर्चल' शब्द सज्जी और लवणभेद में है।—मेदिनीकोष। यहांपर यह बात ध्यान में रखने की है कि आजकल बाज़ारमें जो काला नमक बिकता है, उसका निषेध नहीं है। वह तो कृत्रिम है-निर्मित है-बनाया हुआ है। अत एव अचित है। मुनि उसे ग्रहण करते हैं। अकृत्रिम काला नमक दूसरा होता है। वह स्वभावत -प्राकृतिक ही काला होता है। उसका यहा सचित्त होनेकी वजहसे निषेध है। रिस जाने पर-अचित्त हो जानेपर उसे भी मुनि ग्रहण कर सकते हैं ॥ ८ ॥

तथा च,—

धूवणे त्ति वमणे य, वत्थीकम्म विरेयणे ।
अजणे दतवणे य, गायाब्भगविभूसणे ॥ ९ ॥

धूपनमिति वमन च, वस्तिकर्म विरेचनम् ।
अञ्जन दन्तकाष्ट च, गात्राभ्यग विभूषणम् ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(**धूवणेत्ति**) वस्त्रादिको धूप देना (**य**) पुनः (**वमणे**) वमन करना (**वत्थीकम्म**) अधोमागसे स्नेहगुटकादि द्वारा मल उतारना (**विरेयणे**) जुलाब लेना (**अजणे**) आंखोंमें अजन डालना (**य**) फिर (**दतवणे**) दांतुन करना (**गायाब्भंग**) शरीरको तैलादि लगाना और (**विभूसणे**) शरीरको विभूषित करना ॥ ९ ॥

मूलार्थ—वस्त्रादिको धूप देना ४६, वमन करना ४७, वस्तिकर्म करना ४८, विरेचन लेना ४९, आंखोंमें अजन डालना ५०, दांतुन करना ५१, गात्राभ्यङ्ग करना ५२ और शरीरको विभूषित करना ५३, ये सब मुनिकेलिये अनाचीर्ण हैं ॥ ९ ॥

—भाष्य—४६ धूपन—अपने शरीरको तथा वस्त्रादिको किसी प्रकारकी धूपके द्वारा सुगन्धित करना। तथा कोई २ इस पदका यह भी अर्थ करते हैं कि अनागत कालीन व्याधिकी निवृत्तिकेलिये धूम्रपान—हुक्का पीना आदि। आरम्भजन्य हिंसाके दोषसे बचनेकेलिये मुनि ऐसे काम न करे। वह शरीरसे ममत्व छोड़ चुका है। इसलिये भी मुनिकेलिये ये कार्य अकर्तव्य हैं।

४७ वमन—शरीरको बलयुक्त बनानेकेलिये वैद्यकमतानुसार किसी २ औषधिके सेवनके

पहिले वमन करानेकी आवश्यकता होती है। मुनि ब्रह्मचर्य्ये महाव्रतके प्रतापसे स्वतः ही अतुल बलशाली होते हैं। उन्हें बल्य उपचारकी क़तई ज़रूरत नहीं है।

४८ वस्तिकर्म—'पुटकेनाधःस्थाने स्नेहदानम्' अर्थात् अधोमार्गसे पिचकारी आदि द्वारा मल निकालना। योगी लोग ऐसा अभ्यास प्रायः किया करते हैं कि शरीरसे मला-आलको बाहर निकाल लेना आदि। जिसे कि न्योलीकर्म कहते हैं। यह सब जैन साधुकेलिये अनाचीर्ण है।

४९-५२ विरेचन, अञ्जन, दन्तकाष्ठ, गात्राभ्यङ्ग और विभूषण—आरम्भजन्य हिंसा और सौन्दर्य-लालसाके त्यागी होनेसे साधुकेलिये ये सब अनाचरित हैं।

इन सब कामोंको अनाचारके अन्दर गिनते हुए पाठकोंको यह बात भूल न जाना चाहिये कि वर्णन सर्वत्र उत्सर्गमार्गका ही किया जाता है। अपवादमार्गका नहीं। लेकिन उसमें अपवाद मार्गका निषेध नहीं होता। इसलिये, किसी मुनिको आंखोंमें जब कोई व्यथा उत्पन्न हो जाय तो वह उस समय रसाञ्जन ग्रहण कर सकता है। क्योंकि वह अञ्जनका त्यागी सौन्दर्यकी दृष्टिसे है, न कि सर्वथा। इस प्रकारसे कारण उपस्थित हो जानेपर वह विरेचन भी ले सकता है। इसी प्रकारके अपवाद मार्गके अन्य भी कार्य स्वय कल्पित किये जा सकते हैं ॥ ९ ॥

उत्थानिका—सूत्रकार अब साधुके अनाचीर्णोंका उपसंहार करते हुए कहते हैं कि;—

सव्वमेयमणाइन्नं, निग्गंथाण महेसिणं ।
संजमम्मि अ जुत्ताणं, लहुभूयविहारिणं ॥ १० ॥

सर्वमेतदनाचीर्णम्, निर्ग्रन्थानां महर्षीणाम् ।
संयमे च युक्तानाम्, लघुभूतविहारिणाम् ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(संजमम्मि) संयममें (य) चकार शब्दसे तपमें (जुत्ताण) युक्तोंके (लहुभूयविहारिण) लघुभूत होकर विहार करनेवाले (निग्गंथाण) निर्ग्रन्थ (महेसिण) महर्षियोंके (एय) यह (सव्व) सर्व (अणाइन्न) अनाचीर्ण हैं ॥ १० ॥

मूलार्थ—संयम और तपमें युक्त तथा वायुवत् लघुभूत होकर विचरने वाले निर्ग्रन्थ महर्षियों के ये सब अनाचीर्ण हैं—आचरने योग्य कृत्य नहीं हैं ॥ १० ॥

भाष्य—जो वायुकी भांति अप्रतिबद्ध गति हैं द्रव्य और भावसे सदैव लघुभूत हैं और

संयम तथा तपमें तल्लीन हैं, ऐसे निर्ग्रन्थ महर्षियोंकेलिये, उपरोक्त औद्देशिकादि क्रियाएं आच-रण करने योग्य नहीं हैं † ।

गाथामें 'निर्ग्रन्थ' के बाद 'महर्षि' शब्दके रखनेका तात्पर्य यह है कि जो वास्तवमें निर्ग्रन्थ होगा वही महर्षि' हो सकता है । अन्य नहीं ॥ १० ॥

उत्थानिका – इस प्रकार मुनिके अनाचीर्णोंका वर्णन करके सूत्रकार अब वास्तविक साधुओंका स्वरूप प्रतिपादन करना चाहते हैं । उनमेंसे सबसे प्रथम 'निर्ग्रन्थ' का स्वरूप कहते हैं--

पंचासवपरिण्णाया, तिगुत्ता छसु संजया ।
पंचनिग्गहणा धीरा, निग्गंथा उज्जुदंसिणो ॥ ११ ॥

† यद्यपि उपरोक्त अनाचीर्णोंमेंसे अनेक ऐसे हैं कि जिन्हें सब साधारण गृहस्थ बिना किसी दोषापत्ति समझे पालते हैं । लेकिन मुनियोंकेलिये, ' ही, अनाचीर्ण हो जाते हैं । इसका कारण यही है कि मुनिका चारित्र बहुत स्वच्छ एवं उज्ज्वल होता है । उनकेलिये थोड़ासा भी दोष अनाचीर्ण हो जाता है । बिलकुल सफेद चद्दरपर थोड़ासा भी मैल, मैल मालूम देता है । और जो कपड़ा बहुत मैला हो रहा है, उसपर भले ही उससे अधिक मैल चढ़ जाय, लेकिन वह मैला नहीं मालूम देता ।—प्रकाशक ।

पञ्चाश्रवपरिज्ञाता, त्रिगुप्ता षट्सु संयता ।
पञ्चनिग्रहणा धीरा, निर्ग्रन्थाः ऋजुदर्शिन ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(**पचासव**) पांच आश्रवोंको (**परिण्णाया**) जाननेवाले (**तिगुत्ता**) तीन गुप्तियोंके धारक (**छसु संजया**) षट्कायके जीवोंकी रक्षा करनेवाले (**पचनिग्गहणा**) पांच इन्द्रियोंके निग्रह करनेवाले (**धीरा**) निर्भय—सात भयोंसे रहित (**उज्जुदंसिणो**) मोक्ष या संयमके देखनेवाले (**निग्गंथा**) निर्ग्रन्थ होते हैं ॥ ११ ॥

मूलार्थ—जो पांचों आश्रवके त्यागनेवाले, त्रिगुप्त, षट्कायके जीवोंकी रक्षा करनेवाले, पांच इन्द्रियोंके निग्रह करनेवाले, निर्भय एवं मोक्ष तथा मोक्षके कारणभूत संयमके देखनेवाले हैं, वे निर्ग्रन्थ होते हैं ॥ ११ ॥

भाष्य—पञ्चास्रवपरिज्ञाता—कर्मोंके आगमनद्वारको 'आस्रव' कहते हैं । जब आत्मा पापकर्मोंको करने लगता है, तभी उसके अशुभ कर्मास्रव होता है । पाप पांच हैं, १ हिंसा, २ झूठ, ३. चोरी, ४. कुशील और ५ परिग्रह । जो इनको छोड़ देगा, उसीके, इनके निमित्तसे होनेवाला

आस्रव नहीं होगा। इन्हें छोड़ेगा वही, जो इनके असली स्वरूपसे परिचित होजायगा। इनका असली स्वरूप शास्त्रकारों ने 'दुःखके कारण और दुःख स्वरूप' बतलाया है।

यहांपर शङ्का यह होती है कि अशुभ आस्रव तो उनके नहीं होगा जो उक्त पाचों पापों को करेगा नहीं। 'नहीं करनेका' वाचक शब्द गाथामें नहीं है। गाथामें तो 'परिज्ञाता' शब्द है, जिसका कि अर्थ जाननेवाला होता है। और यही अर्थ ऊपर किया भी गया है? इसका उत्तर यह है कि परिज्ञा—जानकारी दो तरहकी होती है। एक ज्ञ-परिज्ञा, और दूसरी प्रत्याख्यान-परिज्ञा। प्रत्याख्यानपरिज्ञाका अर्थ है उनका अशुभ स्वरूप जानकर उनको सर्वथा त्याग देना। यहांपर यही प्रत्याख्यानपरिज्ञा ग्रहण करनी चाहिये।

त्रिगुप्त— मनोगुप्ति १, वाग्गुप्ति २ और कायगुप्ति ३, ये तीन गुप्तियां हैं। इनको पालना।

षट्संयत—१ पृथ्वीकाय, २ अप्काय, ३ तेजस्काय, ४ वायुकाय, ५. वनस्पतिकाय, और ६ त्रसकाय, इनका संयम पालना।

पञ्चनिग्राहक—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, ये पाञ्च इन्द्रियां हैं। इनके निग्रह करने में समर्थ।

धीर—परीषहोपसर्ग सहनेमें स्थिर चित्त।

ऋजुदर्शी—जीव जब एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है, तब उसकी विग्रहगति होती है। 'विग्रहगति' में विग्रह' शब्दका अर्थ 'मोड़ा लेना' किया गया है। इसलिये सारांश यह निकला कि संसारकी जितनी गतियां हैं, वे सब मोड़ेवाली हैं। मोक्षकी गति सीधी होती है। संसारको छोड़कर जीव जब मोक्ष जाता है, तब उसको मार्गमें मोड़ा नहीं लेना पड़ता। इसलिये मोक्षका नाम ऋजुगति है।

दूसरे, वास्तवमें देखा जाय तो असंयमका मार्ग टेढ़ा और कण्टकाकीर्ण है। और संयमका मार्ग सीधा तथा निरापद है। संसारी जीवोंको अनादिकालकी आदतकी वजहसे असंयम मार्ग ही रुचिकर होता है, यह दूसरी बात है। लेकिन संयमका मार्ग है सीधा। इसमें परिणामोंकी वक्रता या कुटिलताकी आवश्यकता नहीं है। इसलिये 'ऋजुदर्शी' शब्दके दो अर्थ हैं—एक संयमको देखने वाले, दूसरा, मोक्षके देखनेवाले। दोनों ही अर्थ यहांपर ग्राह्य हैं।

इन उपरोक्त विशेषणोंका निर्ग्रन्थके साथ अविनाभाव संबन्ध है। अर्थात् इतने विशेषण जिसमें हों, वही व्यक्ति निर्ग्रन्थ है। अन्य नहीं ॥ ११ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार इस विषयका वर्णन करते हैं कि वे ऋजुदर्शी आत्माएं काल को अधिकृत्य करके यथाशक्ति ये भी क्रियाएं करते हैं। जैसे कि—

आयावयाति गिम्हेसु, हेमतेसु अवाउडा ।
वासासु पडिसलीणा, सजया सुसमाहिया ॥ १२ ॥

आतापयन्ति ग्रीष्मेषु, हेमन्तेषु अप्रावृता ।
वर्षासु प्रतिसंलीना, संयता सुसमाहिता ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(**सजया**) संयमी साधु (**गिम्हेसु**) ग्रीष्मकालमें (**आयावयति**) सूर्यकी आतापना लेते हैं (**हेमतेसु**) शीतकालमें (**अवाउडा**) वस्त्ररहित हो जाते हैं (**वासासु**) वर्षाकालमें (**पडिसलीना**) एक स्थानमें इन्द्रिय वश करके बैठते हैं (**सुसमाहिया**) ज्ञानादिमें सदा तत्पर रहते हैं ॥ १२ ॥

मूलार्थ—साधु वही है जो ग्रीष्मकालमें आतापना लेते हैं, शीतकालमें वस्त्र नहीं पहिरते, वर्षाकालमें एक स्थानपर इन्द्रिय वश करके बैठते हैं और ज्ञान-ध्यानमें सदा तत्पर रहते हैं ॥१२॥

भाष्य— एक सालमें तीन प्रधान ऋतु और उनकी तीन उपऋतु होती हैं। यहांपर तीन प्रधान ऋतुओंकी अपेक्षासे वर्णन है। अर्थात् साधुकेलिये तीनों ऋतुओंके पृथक्-पृथक् कृत्य वर्णन किये गए हैं।

गाथामें जो सब शब्द बहुवचनान्त दिये गये हैं, उसका तात्पर्य यह है कि प्रतिवर्ष, ऐसा करना चाहिये ॥ १२ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार इस विषयमें कहते हैं कि—उक्त क्रियाएं साधु किसलिये करते हैं—

परीसहरिऊदंता, धूअमोहा जिइंदिया ।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ॥ १३ ॥

परीषहरिपुदान्ताः, धूतमोहाः जितेन्द्रियाः ।
सर्वदुःखप्रहीणार्थं, प्रक्रामन्ति महर्षयः ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(**परीसह**) परीषह रूपी (**रिऊ**) वैरीको (**दंता**) दमन करनेवाले (**धूअमोहा**) मोहकर्मको दूर करनेवाले (**जिइंदिया**) इन्द्रियोंको जीतनेवाले (**महेसिणो**) महर्षि (**सव्वदुक्ख**) सब दुःखोंके (**पहीणट्ठा**) नाश करनेकेलिये (**पक्कमंति**) पराक्रम करते हैं ॥ १३ ॥

मूलार्थ –परीषह रूपी वैरियोंके जीतनेवाले, अज्ञानको दूर करनेवाले, तथा इन्द्रियोंके जीतनेवाले महर्षि सब प्रकारके दुःखोंके नाश करनेके वास्ते पराक्रम करते हैं ॥ १३ ॥

भाष्य—इन सब क्रियाओंको महर्षि एक निर्वाणपदकी प्राप्तिकेलिये ही करते हैं। जिसमें कि शारीरिक और मानसिक एक भी प्रकारका दुःख नहीं है।

परीषहको जो वैरीकी उपमा दी गई है, वह इसलिये कि शत्रु जिस तरह अपने इष्टकार्यमें विघ्न डालनेवाले और दुःख देनेवाले होते हैं, उसी प्रकार ये परीषह भी महर्षिके निर्वाणपदकी प्राप्तिमें विघ्नरूप हैं तथा आत्माको दुःख देनेवाले होते हैं ॥ १३ ॥

उत्थानिका– अब सूत्रकर्ता परीषहोंके सहन करनेका फल वर्णन करते हुए कहते हैं—

दुक्कराइ करित्ताणं, दुस्सहाइ सहित्तु य ।
केइ त्थ देवलोएसु, केइ सिज्झंति नीरया ॥ १४ ॥

दुष्कराणि कृत्वा, दुःसहानि सहित्वा च ।
केचिदत्र देवलोकेषु, केचित् सिद्ध्यन्ति नीरजस्काः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(दुक्कराइ) दुष्कर क्रियाओंको (करित्ताण) करके (य) फिर (दुस्सहाइ) असहनीय क्रियाओंको (सहित्तु) सहकरके (केइ) कितनेक (त्थ) यहांसे (देवलोएसु) देवलोकोंमें जाते हैं, (केइ) कितनेक (नीरया) कर्मरजसे रहित होकर (सिज्झति) सिद्ध हो जाते हैं ॥ १४ ॥

मूलार्थ—दुष्कर क्रियाओंको करके और दुःसह कष्टोंको सहकर कइएक यहांसे मरकर देव लोकोंमें उत्पन्न होते हैं और कितनेक कर्मरजसे सर्वथा विमुक्त होकर सिद्ध हो जाते हैं ॥ १४ ॥

भाष्य—दुष्कर क्रियाएं-जैसे औद्देशिक आहारत्याग आदि । दुस्सह क्रियाएं-जैसे आतापनादि योग । इन क्रियाओंको पालन करते हुए जो अपनी आत्माको प्रसन्न करते हैं, वे साधु यहांसे शरीर छोड़कर स्वर्ग जाते हैं । और कितने ही मोक्ष भी जाते हैं । मोक्ष वही जाते हैं, जिनके कर्मरज बिल्कुल नष्ट हो गये हैं ।

उक्त दुष्कर क्रियाओंके द्वारा जिन्होंने स्वर्ग पाया है, वे भी स्वर्गकी आयुको पूर्णकर फिर मनुष्यभव धारणकर कर्मोंका नाशकर मोक्ष जायंगे ।

लेकिन ये फल साधुको तभी प्राप्त होंगे, जब उनकी उपरोक्त क्रियाएं ज्ञानपूर्वक होंगी ।

अज्ञानपूर्वक की गई दुष्कर क्रियाए और सही गई दुस्सह परीषहें, सातावेदनीय कर्मकी बाँधने वाली भले ही हो जायं, मोक्षदायिनी नहीं हो सकतीं।

गाथामें 'सिज्झति' जो वर्तमानकालकी क्रिया दी है, वह त्रिकालवर्ती भाव को द्योतित करती है। अर्थात् ऐसा हमेशा होता है ॥ १४ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार इसी विषयमें कहते हुए इस अध्ययनका उपसंहार करते हैं—

खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता, ताइणो परिणिव्वुडे ॥ १५ ॥ त्ति बेमि।

क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि, संयमेन तपसा च।
सिद्धिमार्गमनुप्राप्ता, त्रातारः परिनिर्वान्ति ॥ १५ ॥ इति ब्रवीमि।

अन्वयार्थ—(संजमेण) संयमसे (य) और (तवेण) तपसे (पुव्वकम्माइं) पूर्व कर्मों को (खवित्ता) क्षय करके (सिद्धिमग्ग) मोक्षके मार्गको (अणुप्पत्ता) प्राप्त हुए (ताइणो) षट्कायके रक्षक साधु (परिणिव्वुडे) निर्वाण प्राप्त करते हैं ॥ १५ ॥

(त्ति बेमि) इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—संयम और तपके द्वारा पूर्व कर्मोंका क्षय करके षट्कायके पालक मुनि मोक्षको प्राप्त करते हैं ॥ १५ ॥

भाष्य—जिस जीवके एक बारके तपश्चरणसे संपूर्ण कर्म निर्जीर्ण नहीं हो सके हों, वह यहांसे शरीर छोड़कर स्वर्ग जायगा। वहां वह अपनी संपूर्ण आयुको भोगकर पुनः मनुष्यभव धारण करेगा। ऐसा जीव आर्यदेश और सुकुलमें उत्पन्न होकर जब दीक्षा धारण करेगा और संयम तथा तप द्वारा शेष पूर्व कर्मों को खपाता हुआ सिद्धिके मार्ग को प्राप्त करेगा तथा षट्कायके जीवों की जब दया पालेगा, तभी वह निर्वाणको प्राप्त करेगा।

गाथामें संयम और तपसे पूर्वकर्मोंको क्षय करनेकी बात जो शास्त्रकारने लिखी है, उसका तात्पर्य चारित्रधर्मकी प्रधानता बतलाना है, और सिद्धिके मार्गको प्राप्त हुए जो लिखा है, उसका तात्पर्य्य सम्यग्दर्शनादि जो मोक्षका मार्ग प्रतिपादन किया गया है, उससे है। इस तरह तीनों सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका वर्णन यहां किया गया समझना चाहिये। उक्त आचारके पालन करनेसे ही आत्मा स्व तथा परका उपकार कर सकता है ॥ १५ ॥

"श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीसे कहते हैं कि हे शिष्य! श्रमण भगवान् श्रीमहावीरस्वामीके

मुखारविन्दसे मैंने जैसा अर्थ इस अध्ययनका सुना है, वैसा ही मैंने तुमसे कहा है। अपनी, बुद्धिसे कुछभी नहीं कहा।"

इय खुड्डयारकहा तइयमज्झयणं।

इति 'क्षुल्लकाचारकथा' तृतीयमध्ययनम्।

इति श्रीदशवैकालिकसूत्रके क्षुल्लकाचारकथा नामक तृतीयाध्ययनकी "आत्मज्ञानप्रकाशिका" नामकी हिन्दी भाषाटीका समाप्त हुई।

छज्जीवणिया चउत्थमज्झयणं ।

षड्जीवनिकाय नामक चतुर्थ अध्ययन ।

उत्थानिका—गत अध्ययनमें साधुका संक्षेपसे जो आचार कहा गया है, उसका संबंध मुख्यतया छह कायके जीवोंसे है। उनके प्रति दयारूप प्रवृत्ति-निवृत्ति करना ही चारित्र है। इसलिये प्रसङ्गोपात्त उन्हीं छह कायके जीवोंका वर्णन सूत्रकार इस अध्ययनमें करते हैं, —

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं, इह खलु छज्जीवणिया नामज्झयणा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपन्नता, सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपण्णत्ती ॥ १ सूत्र ॥

श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातं, इह खलु षड्जीवनिका नामाध्ययन

श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता, स्वाख्याता, सुप्रज्ञप्ता, श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(**आउसं**) हे आयुष्मन्-शिष्य ! (**मे**) मैंने (**सुअं**) सुना है, (**तेणं**) उस (**भगवया**) भगवान्‌ने (**एवं**) इस प्रकार (**अक्खायं**) कहा है—(**इह**) इस जिनशासनमें (**खलु**) निश्चयसे (**छज्जीवणिया**) षट्कायके जीवोंका कथन करनेवाला (**नाम**) नामक (**अज्झयणं**) अध्ययन (**समणेणं**) श्रमण तपस्वी (**कासवेणं**) काश्यप गोत्रीने (**भगवया**) भगवान् (**महावीरेणं**) महावीरने (**पवेइया**) अलौकिक प्रकारसे जानकर (**सुअक्खाया**) भली प्रकारसे कथन किया (**सुपन्नत्ता**) भली प्रकारसे प्रज्ञप्त किया (**अहिज्जिउं**) अध्ययन करना (**मे**) मुझे (**सेयं**) योग्य है (**धम्मपण्णत्ती**) जिसमें धर्मकी प्ररूपणा है ॥ १ ॥

मूलार्थ—हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है, उस भगवान्‌ने इस प्रकार कथन किया है—इस जैनमतमें निश्चय ही षट्जीवनिकायका नामवाला अध्ययन जो श्रमण भगवान्, महावीर काश्यप गोत्रीने प्रवेदित किया—भली प्रकारसे प्रतिपादन किया—भली प्रकारसे प्रज्ञप्त किया, मुझे उस अध्ययनका अध्ययन करना योग्य है, क्योंकि वह धर्मप्रज्ञप्तिरूप है—उसमें धर्मकी प्ररूपणा की गई है ॥ १ ॥

भाष्य—उक्त अध्ययनके विषयको श्रमण भगवान् श्रीमहावीरस्वामीने स्वयं जाना है। इतना ही नहीं, किन्तु उस विषयका उन्होंने स्वयं आचरण भी भले प्रकार किया है। प्रत्येक व्यक्तिको इस अध्ययनका पाठ करना चाहिये। क्योंकि इसमें सर्वविरतिरूप चारित्र अर्थात् महाव्रतादिके पालनेकी विधि युक्तिपूर्वक वर्णन की गई है।

यहां यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि—जब श्रीभगवान्ने जीवोंके रहनेके षट्स्थान वर्णन किये हैं जिससे कि इस अध्ययनका नाम भी 'षड्जीवनिकाय अध्ययन' रक्खा गया है तो पहले यह तो सिद्ध होना चाहिये कि—जीव की सत्ता भी है या नहीं? इसका समाधान यह है कि—जीव विद्यमान होनेपर ही चारित्रधर्मका प्रतिपादन किया जा सकता है। क्योंकि जब जीव ही न होगा तब फिर चारित्रधर्मकी प्रतिपादना किसलिये की जाती? अतएव आत्मा है, और वह अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध है।

वीर्य और उपयोग, आत्माके आत्मभूत लक्षण वर्णन किये गये हैं। ये लक्षण आत्मद्रव्यके व्यतिरिक्त अन्य किसी भी द्रव्यमें नहीं पाये जाते। मृतादि शरीरोंके सर्व अवयव विद्यमान होने पर भी उक्त लक्षणोंके न होनेसे ही उन्हें मृतक शरीर कहा जाता है। अनुमानसे अनुमेय—पदार्थों की सिद्धि की जाती है। सो जब यह विचार किया जाता है कि—'मेरा सिर दुख रहा है।' इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि-यह प्रत्यय कहनेवाला कोई अन्य पदार्थ अवश्य है और उससे सम्बन्ध करनेवाला शरीर पदार्थ अन्य है। इससे जीवकी सत्ता शरीरसे पृथक् सिद्ध होती है।

तथा उपमानसे भी जीव सत्ता स्व अनुभवसे स्वतः सिद्ध है। क्योंकि-जब कोई अपने अन्तःकरणमें इस प्रकारके भाव उत्पन्न करता है कि – "मेरा आत्मा है ही नहीं" तो इस कथनसे यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि—यह चैतन्य सत्ता किसकी है। क्योंकि चेतन सत्तावाला ही जीव पदार्थ कहा जाता है। आप्तवाक्यरूप जो आगम हैं, वे तो जीवसत्ता स्वीकार करते ही हैं, इसलिये आत्म द्रव्य सद् रूप है।

तथा आत्माके सत् मानने पर पांचों इन्द्रियोंके पांचों विषयोंका ग्राह्य और ग्राहक भाव माना जा सकता है। जब आत्माकी ही नास्ति कर दी जायगी तब ग्राह्य और ग्राहक भाव का भी अभाव मानना पड़ेगा। अतएव आत्मा है और वह अतीन्द्रिय होनेसे आगम प्रमाणसे भी मानना पड़ेगा। तथा प्रत्येक व्यक्ति आत्माका अस्तित्व माननेसे ही आस्तिक माना जाता है। वह आत्मद्रव्य षट्कायमें विद्यमान है।

तथा जब इस प्रकारकी शङ्का उत्पन्न की जाय कि—असंख्यात परिमाणवाले लोकमें अनन्त आत्मा किस प्रकार समाये हुए हैं? तो इसका उत्तर यह है कि, आत्मा द्रव्य अरूपी-सूक्ष्म है, जिस प्रकार एक दीपक की प्रभामें सहस्र दीपकों का प्रकाश समा जाता है ठीक उसी प्रकार इस लोकमें अनन्त जीव द्रव्य समाये हुए हैं। तथा जिस प्रकार किसी एक व्यक्तिके हृदयमें बीस पचीस भाषाएं ठहर सकती हैं, ठीक उसी प्रकार असंख्यात लोकमें अनन्त आत्माएं समाई हुई हैं। और इसीलिये एक शरीरमें भी अनन्त आत्माएं विद्यमान होकर रहती हैं।

श्रमण भगवान् श्रीमहावीरस्वामीने उस आत्म द्रव्यको अनादि अनन्त प्रतिपादन किया है। यह आत्मद्रव्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र द्वारा कर्मोंसे विमुक्त हो सकता है इन्हीं तीन बातोंपर उसका निर्वाणपद निर्भर है। इस अध्ययनमें इसी बातको स्पष्टरूपसे प्रतिपादन किया गया है।

सूत्रमें 'भंते !'–'भगवान्' शब्द भी है। संस्कृतमें 'भग' शब्द छह अर्थोंमें व्यवहृत होता है। उन अर्थोंके धारण करनेसे ही श्रीमहावीरस्वामी 'भगवान्' कहलाते हैं। 'भग' शब्दके छह अर्थ ये हैं—

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशस श्रियः। धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीरणा ॥ १ ॥"

अर्थात् संपूर्ण ऐश्वर्य, रूप, यश, श्री, धर्म और प्रयत्नका नाम 'भग' है।

सूत्रकर्ताने मूलमें जो 'सुयक्खायं'—'स्वाख्यात' पद रक्खा है, उसका तात्पर्य यह है कि—उन्होंने उक्त प्रकरणको स्वयं केवलज्ञानद्वारा जानकर ही जनताके आगे प्रतिपादन किया है, न कि किसीसे सुनकर।

सूत्रके "इह" शब्दसे इस लोकमें या प्रवचनमें इस विषयका अस्तित्व सिद्ध किया गया है।

"खलु" शब्दसे इस बातको सिद्ध किया है कि अन्यतीर्थिकृत प्रवचनमें भी इस विषयका कहीं २ पर अस्तित्व पाया जाता है।

सूत्रमें जो 'सुअं मे'—'श्रुतं मया' पाठ रक्खा है, उससे एकान्तक्षणिकवादका निषेध किया गया है। क्योंकि एकान्तक्षणिकवादमें सम्पूर्ण विषयको एक आत्मा सुन ही नहीं सकता।

सूत्रमें 'मे'–'मया' जो आत्म निर्देश पद दिया गया है, इसका यह तात्पर्य्य है कि—मैंने स्वयं सुना है, परम्परासे नहीं।

'आउस !'–'आयुष्मन् ! पदका इसलिये निर्देश किया गया है कि आयुष्कर्मके होनेपरही श्रुत ज्ञानकी सार्थकता है, अन्यथा नहीं।

'आउस !'–'आयुष्मन् !' शब्दसे यह सिद्ध होता है कि गुणवान् शिष्यको ही आगमका रहस्य बतलाना चाहिये। अयोग्य शिष्यको नहीं। क्योंकि यदि अपरिपक्व—कच्चे घड़ेमें जल रक्खा जाय, तो जलद्रव्य या घटद्रव्य, दोनोंकी ही हानि होती है। ठीक उसी प्रकार अयोग्य शिष्यको सूत्रदान करनेसे श्रुतका उपहास और उसकी आत्माका अधःपतन हो जानेसे अत्यन्त हानि होनेकी संभावना की जा सकती है।

यदि 'आउस तेण' को एक पद मानकर श्रीभगवान्‌का विशेषण माना जाय, तब उक्त सूत्रकी व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिये कि—'आयुष्मता भगवता चिरजीवेनेत्यर्थः" अर्थात् आयुष्य वाले श्रीभगवान्‌ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है। इस कथनसे अपौरुषेय वाक्यका निषेध हो जाता है। क्योंकि आयुष् वाला देहधारी होता है। और वही भाषण कर सकता है। वर्णोंके स्थान शरीरके होनेपर ही सिद्ध हो सकते हैं। इसीलिये अकाय परमात्मा सिद्ध भगवान् भाषण

नहीं कर सकते । तथा आप्तवाक्य पौरुषेय ही होता है। यह शास्त्र आप्तवाक्य है। अतः पुरुषकृत है ।

यदि 'आउसतेणं' के स्थानपर 'आवसंतेणं'—'आवसता' पाठ मान लिया जाय, तब इसका यह अर्थ हो जाता है कि-"गुरुमूलमावसता" अर्थात् 'गुरुके पास रहते हुए'। इससे सिद्ध होता है कि गुरुके पास शिष्यको सदैव रहना चाहिये। गुरुके पास रहनेसे ही ज्ञानादिकी वृद्धि हो सकती है, गुरुकुलवासको छोड़कर नहीं।

यदि 'आउसतेणं' के स्थानपर 'आमुसतेणं'-'आमृशता' पाठ पढ़ा जाय तो उसका अर्थ होता है—'आमृशता भगवत्पादारविन्दयुगलमुत्तमाङ्गेन' इससे गुरुकी विनय सिद्ध होती है। जो व्यक्ति भक्तिपूर्वक गुरुके चरणकमलोंका स्पर्श करते हैं, वे ही मोक्षमार्ग वा ज्ञानादिके सर्वथा आराधक बनते हैं। विनयधर्म सब कार्योंका साधक माना गया है।

श्रमण तपस्वी भगवान् श्रीमहावीरस्वामीने ही उक्त विषयका प्रकाश किया है और अपना वीर पद सार्थक किया है। जैसे कि—

"विदारयति यत्कर्म तपसा च विराजते। तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृतः ॥ १ ॥"

अर्थात् कर्मोंके विदारण करनेसे, तप सहित विराजमान होनेसे और तप तथा वीर्ययुक्त होनेसे श्रीमहावीरस्वामी वीर कहलाते हैं।

सूत्रमें जो 'सेय मे अहिज्जिय' पद है, वह न सिर्फ़ अध्ययन अर्थको कहता है, बल्कि इस अध्ययनका पढ़ना, सुनना, मनन करना अन्तःकरणमें भावना उत्पन्न करना आदि सभी अर्थको कहता है।

सूत्रमें 'अज्झयण धम्मपण्णत्ती' जो दोनों पद प्रथमान्त दिये गये हैं, उनमेंसे 'धम्मपण्णत्ती' में प्रथमा हेतुवाचक है। इसका अर्थ यह होता है कि इसके अध्ययनसे धर्मकी प्राप्ति होती है—आत्माकी विशुद्धि होती है। इसलिये इस अध्ययनका अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है † ॥ १ ॥

उत्थानिका—इस प्रकार गुरुके कहे जानेपर शिष्यने प्रश्न किया कि वह अध्याय कौनसा है ?

कयरा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपण्णत्ता सेय मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपण्णत्ती ॥ २ ॥

---

†तथा च—"धर्मप्रज्ञप्तिः, प्रज्ञपनं–प्रज्ञप्तिः, धर्मस्य प्रज्ञप्तिः धर्मप्रज्ञप्तिः। ततो धर्मप्रज्ञप्तेः कारणाच्चेतसो विशुद्धयणारनम्। चेतसो विशुद्धयणारनाच्च श्रेय आत्मनोऽध्येतुरिति"—टीकाकारः।

कतरा खलु सा षड्जीवनिकाय नामाध्ययन श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता श्रेयो मे अध्येतुमध्ययन धर्मप्रज्ञप्ति ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(**कयरा**) कौनसा (**खलु**) निश्चय (**छज्जीवणिया**) षट् जीवनिकाय (**नाम**) नामक (**अज्झयण**) अध्ययन है जो (**समणेण**) श्रमण (**भगवया**) भगवान् (**महावीरेण**) महावीरस्वामी (**कासवेण**) काश्यपगोत्रीने (**पवेइया**) ज्ञानसे जानकर (**सुअक्खाया**) भली प्रकारसे वर्णन किया (**सुपण्णत्ता**) भली प्रकारसे प्रज्ञप्त किया (**मे**) मुझे (**अहिज्जिउ**) अध्ययन करना उस (**अज्झयण**) अध्ययनका (**सेय**) योग्य है। क्योंकि (**धम्मपण्णत्ती**) यह धर्म प्रज्ञप्तिरूप है ॥ २ ॥

मूलार्थ—षट्जीवनिकाय नामका, वह कौनसा अध्ययन है जो श्रमण भगवान् श्रीमहावीर काश्यपने ज्ञानसे जानकर परिषद्में वर्णन किया है, जिसमें कि धर्मकी प्रज्ञप्ति है, जिसका कि अध्ययन करना मुझे योग्य है ॥ २ ॥

भाष्य—उक्त सूत्रमें गुरु-शिष्यके प्रश्नोत्तररूपसे इस अध्ययनका प्रारम्भ किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि जनताने परमात्माकी स्तुति करनेकेलिये अनेक मन्त्रादि कल्पित कर रक्खे

है। लेकिन महाव्रतोंको धारण करनेकेलिये एक भी विधानयुक्त शास्त्र जनताके सामने नहीं है। जनताका भी उधर लक्ष्य नहीं है। यह अध्ययन उसी सर्वविरतिरूप चारित्रका—महाव्रतोंका वर्णन करनेवाला है ॥ २ ॥

उत्थानिका—अब शिष्यके प्रश्नको सुनकर गुरु कहने लगे कि—

इमा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपण्णत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपण्णत्ती ॥ ३ ॥

इमा खलु सा षड्जीवनिकाय नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता श्रेयो मे अधीतुमध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(**इमा**) यह वक्ष्यमाण (**खलु**) निश्चयसे (**सा**) वह (**छज्जीवणिया**) षड्जीवनिकाय (**नामज्झयणं**) नामक अध्ययन (**समणेणं**) श्रमण तपस्वी (**भगवया**) भगवान् (**महावीरेणं**) महावीरस्वामी (**कासवेणं**) काश्यपगोत्रीने (**पवेइया**) स्वयं ज्ञानमें

जानकर (सुअक्खाया) वर्णन किया (सुपण्णत्ता) भली प्रकार बतलाया जिसका (अहिज्जिउ) अध्ययन करना (मे) मुझे (सेय) कल्याणकारी है और जो (अज्झयण) अध्ययन (धम्मपण्णत्ती) धर्मप्रज्ञप्तिरूप है ॥ २ ॥

मूलार्थ—यह वक्ष्यमाण षड्जीवनिकाय नामक अध्ययन श्रमण भगवान् श्रीमहावीरस्वामी काश्यपगोत्रीने स्वय ज्ञानसे जानकर जनताके सामने द्वादश प्रकारकी परिषद्में प्रकट किया, फिर भली प्रकारसे बतलाया। उस अध्ययनका अध्ययन करना मुझे कल्याणकारी है क्योंकि वह धर्मप्रज्ञप्तिरूप है ॥ ३ ॥

भाष्य—उक्त गुरु शिष्योंके प्रश्नोत्तरसे यह बात भली भांति सिद्ध हो जाती है कि शिष्य अपनी अहंवृत्तिको छोड़कर विनयपूर्वक गुरुके निकट अपनी शङ्काओंको कहे और गुरुको भी उचित है कि वे विनीत शिष्यकी शङ्काओंका समाधान भली प्रकार कर दें। इतना ही नहीं, बल्कि गुरुको उचित है कि वे विनीत शिष्यको और सब प्रकारसे योग्य बनानेकेलिये सदैव लक्ष्य देते रहें ॥ ३ ॥

उत्थानिका—गुरु फिर इस प्रकार कहने लगे कि—

त जहा—पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणस्सइ-

काइया तसकाइया । पुढवि चित्तमतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएण । आऊ चित्तमतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएण । तेऊ चित्तमतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएण । वाऊ चित्तमतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएण । वणस्सई चित्तमतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं । त जहा—अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खधबीया बीयरुहा समुच्छिमा तणलया वणस्सइकाइया सबीया चित्तमतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ॥ ४ ॥

तद्यथा पृथिवीकायिका अप्कायिकाः तेज कायिका वायुकायिका वनस्पतिकायिका त्रस कायिकाः पृथिवी चित्तमात्राख्याता अनेकजीवा पृथक्सत्त्वा अन्यत्र शस्त्र-परिणतायाः । अप चित्तमात्राख्याता अनेकजीवा पृथक्सत्त्वा अन्यत्र शास्त्रपरिणताया तेजः चित्तमात्राख्याता अनेकजीवा पृथक्सत्त्वा अन्यत्र शस्त्रपरिणताया । वायु चित्तमात्रा-

स्याता अनेकजीवा पृथक्सत्त्वा अन्यत्र शस्त्रपरिणताया । वनस्पति चित्तमात्राख्याता अनेकजीवाः पृथक्सत्त्वाः अन्यत्र शस्त्रपरिणताया । तद्यथा-अग्रबीजा मूलबीजाः पर्वबीजाः स्कन्धबीजाः बीजरुहा समूर्छिमाः तृणलता वनस्पतिकायिका सबीजा चित्तमात्राख्याता अनेकजीवा पृथक्सत्त्वा अन्यत्र शस्त्रपरिणताया ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(**तंजहा**) जैसे कि-(**पुढविकाइया**) पृथ्वीकायके जीव (**आउकाइया**) अप्कायके जीव (**तेउकाइया**) तेजस्कायके जीव (**वाउकाइया**) वायुकायके जीव (**वणस्सइकाइया**) वनस्पतिकायके जीव (**तसकाइया**) त्रसकायके जीव । (**पुढवी, चित्तमंतमक्खाया**) पृथिवी, सचित्त कही गई है (**अणेगजीवा**) अनेक जीववाली है (**पुढोसत्ता**) पृथक् २ सत्त्ववाली हैं (**सत्थपरिणएण**) शस्त्र परिणतके (**अन्नत्थ**) बिना (**आऊ**) अप्कायिक (**चित्तमंतमक्खाया**) चेतना लक्षणवाले कथन किये गए हैं (**अणेगजीवा**) अनेक जीव हैं (**पुढोसत्ता**) पृथक् सत्त्व हैं, (**सत्थपरिणएण**) शस्त्र परिणतको (**अन्नत्थ**) छोड़कर । (**तेऊ**) तेज कायिक (**चित्तमंतमक्खाया**), चेतना लक्षणवाले कथन किये गए हैं (**अणेगजीवा**) अनेक जीव हैं (**पुढोसत्ता**) पृथक् सत्त्व हैं, (**सत्थपरिणएण**) शस्त्र परिणतको

(**अन्नत्थ**) छोड़कर (**वाऊ**) वायुकायके जीव (**चित्तमतमक्खाया**) चेतना लक्षणवाले कथन किये गए हैं (**अणेगजीवा**) अनेक जीव हैं किन्तु (**पुढोसत्ता**) पृथक् सत्त्व हैं, (**सत्थपरिणएण**) शस्त्र परिणतको (**अन्नत्थ**) छोड़कर (**वणस्सई**) वनस्पतिकायके जीव (**चितमतमक्खाया**) चेतना लक्षणवाले कथन किये गए हैं (**अणेगजीवा**) अनेक जीव हैं (**पुढोसत्ता**) किन्तु पृथक् २ सत्त्व हैं, (**सत्थपरिणएण**) शस्त्रपरिणत को (**अन्नत्थ**) छोड़कर (**त जहा**) जैसे कि—(**अग्गबीया**) अग्र भागपर बीज (**मूलबीया**) मूल भागमें बीज (**पोरबीया**) पर्वमें बीज (**खंधबीया**) स्कन्धमें बीज (**बीयरुहा**) बीज बोनेसे बीज उत्पन्न होते हैं (**सम्मुच्छिमा**) सम्मूर्च्छिम-अपने आप होनेवाले (**तण**) तृण (**लया**) लतादि (**वणस्सइकाइया**) वनस्पतिकायिक हैं (**सबीया**) बीजके साथ (**चितमतमक्खाया**) चेतना लक्षणवाले कथन किये गए हैं (**अणेगजीवा**) अनेक जीव हैं (**पुढोसत्ता**) किन्तु पृथक् २ सत्त्व हैं (**सत्थपरिणएण**) शस्त्र परिणतको (**अन्नत्थ**) छोड़कर ॥ ४ ॥

मूलार्थ—जैसे कि— पृथिवीकायिक १, अप्कायिक २, तेज कायिक ३, वायुकायिक ४, वनस्पतिकायिक ५, और त्रसकायिक ६ ।

पृथिवीकायिक जीव चेतनावाले कथन किये गये हैं, अनेक जीव पृथक्रूपसे उसमें आश्रित हैं, शस्त्रपरिणतको छोडकर।

अप्कायिक जीव चेतनावाले कथन किये गये हैं, अनेक जीव पृथक्रूपसे उसमें आश्रित हैं, शस्त्रपरिणतको छोडकर।

तेज कायके जीव चेतनावाले कथन किये गये हैं, अनेक जीव पृथक्रूपसे उसमें आश्रित हैं, शस्त्रपरिणतको छोडकर।

वायुकायके जीव चेतनावाले कथन किये गये हैं, अनेक जीव पृथक् रूपसे उसमें आश्रित हैं, शस्त्रपरिणतको छोडकर।

वनस्पतिकायके जीव चेतनावाले कहे गये हैं, अनेक जीव पृथक् २ रूपसे उसमें आश्रित हैं, शस्त्र परिणतको छोडकर। जैसे कि—अग्रबीज १, मूलबीज २, पर्व बीज ३, स्कन्ध बीज ४, बीज रुह ५, सम्मूर्च्छिम ६, तृण ७, लता ८। वनस्पतिकायिक जीव बीजके साथ वनस्पति चेतनावाली कथन की गई हैं, अनेक जीव पृथक्रूपसे उसमें आश्रित हैं शस्त्र-परिणतको छोडकर।

भाष्य—सूत्रमें 'चित्तमत्तमक्खाया'—शब्दकी संस्कृतछाया 'चित्तमात्राख्याता' की गई है। यहांपर 'मात्र' शब्दके रखनेका सूत्रकारका अभिप्राय, पाचों स्थावरोंमें चेतना अल्प मात्रामें बतलानेका है। क्योंकि 'मात्र' शब्द अल्पवाचक है। तथा च टीकाकारः—

"अत्र मात्रशब्दः स्तोकवाची। यथा—सर्षपत्रिभागमात्रामिति। ततश्च चित्तमात्रा-स्तोकचित्तेत्यर्थः।" अर्थात् यहांपर 'मात्र' शब्द स्तोक—अल्पका वाचक है। जैसे कि 'सरसोंका तिहाई हिस्सामात्र' यहांपर 'मात्र' शब्द अल्पवाचक है। इसलिये 'चित्तमात्र'का अर्थ 'अल्प-चेतनावाले' है। मोहनीयकर्मके प्रबलोदयसे एकेन्द्रिय जीव अत्यन्त अल्प चेतनावाले होते हैं। उससे कुछ अधिक विकसितचेतनक द्वीन्द्रिय जीव होते हैं। इसी तरह अगाड़ी भी उत्तरोत्तर जीवों को विकसितचेतनक समझना चाहिये।

यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि सूत्रमें षट्कायके जीवोंमेंसे सबसे पहिले पृथ्वीकायका वर्णन क्यों किया? तथा उसके बादमें अप्काय आदिका वर्णन क्यों किया? इसका समाधान यह है कि पृथ्वी सर्व भूतोंका आधार और सबसे अधिक है। इसलिये सबसे पहले पृथ्वीकाय वर्णन है।

पृथ्वीपर आश्रयरूपसे ठहरा हुआ और उससे कम जल है। इसलिये उसके बाद अप्काय का वर्णन है।

जलका प्रतिपक्षी तेजा—अग्नि है। इसलिये उसके बाद तेजस्कायका वर्णन है।

तेजस्कायके जीवनका साधनभूत वायु है। वायु, अग्निका सखा माना जाता है। क्योंकि वायुकी वजहसे अग्नि वृद्धिगत और प्रज्वलित होती है। इसलिये उसके बाद वायुकायका वर्णन है।

वायुके कारणसे प्रकम्पित होनेवाली वनस्पति है, वायुका प्रबल प्रभाव वनस्पतिपर ही होता है। इसलिये उसके बाद वनस्पतिकायका वर्णन है।

वनस्पतिकायका ग्राहक त्रसकाय है। इसलिये उसके बाद त्रसकायका वर्णन है।

काठिन्य लक्षणवाली पृथिवी है। द्रवीभूत लक्षणवाला जल है। उष्ण लक्षणवाली अग्नि है। चलन लक्षणवाली वायु है। लतादिरूप वनस्पति है। चलनशील त्रस हैं।

'अणेयजीवा' शब्दका अर्थ है कि ये काय, जीवोंका समूहरूप हैं।'

"पुढोसत्ता"—'पृथक्सत्त्वा' का अर्थ है कि ये जीव परस्परमें भिन्न शरीर धारण करनेवाले

---

†"पृथक् भूत सत्त्वा–आत्मानो यस्यां सा पृथक्सत्त्वा। अङ्गुलासंख्येयभागमात्रावगाहनया पारमार्थिक्येन [illegible]—

है। जैसे कि एक तिल पापड़ीमें जो अनेक तिल होते हैं, वे परस्परमें भिन्न होते हैं। उसी तरह एक सर्षप प्रमाण मिट्टीमें असंख्यात जीव पृथक् २ शरीर धारण करनेवाले होते हैं।

यहांपर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि पृथ्वी जब जीवोंका पिण्डरूप ही है, तब संयम क्रिया किस तरह पालन की जा सकती है। क्योंकि सर्व क्रियाएं पृथ्वीपर ही तो की जाती हैं? इसका समाधान यह है कि सूत्रमें सूत्रकर्ताने इसीलिये 'शस्त्रपरिणत' शब्द रक्खा है। जो काय शस्त्रके द्वारा चलित-विचारित हो जायगी, वह अचित्त-जीवरहित हो जायगी। द्रव्यशस्त्र तीन प्रकारसे वर्णन किया गया है। जैसे कि—

१ किञ्चित्स्वकायशस्त्र—काली मिट्टीका संयोग यदि नीलादि मिट्टियोंसे हो जाय तो वे दोनों मिट्टियां परस्पर मर्दन करनेसे अचित्त हो जाती हैं। यह उदाहरण मिट्टीके वर्ण गुणकी अपेक्षासे है। ठीक इसी प्रकार गन्ध, रस और स्पर्शके भेदोंकी अपेक्षासे भी शस्त्रकी योजना कर लेनी चाहिये।

२ किञ्चित्परकायशस्त्र—मिट्टीको यदि अप्काय, तेजस्काय आदिका भी स्पर्श हो जाय तो फिर यह भी अचित्त हो जाती है। और इस तरहसे अचित्त हुए कायको परकायद्वारा अचित्त हुआ कहा जाता है।

३. किञ्चित्तदुभयशस्त्र—कभी-कभी उपरोक्त दोनों स्वकाय और परकायके शस्त्रसे पृथिवी अचित्त हो जाती है। और उसे तदुभयशस्त्रद्वारा अचित्त हुआ कहा जाता है। इस प्रकार अनेक शस्त्रोंकी योजना कर लेनी चाहिये। कारण कि परस्पर गन्ध, रस और स्पर्शादिद्वारा अनेक प्रकारके स्पर्श स्पर्शित होनेसे पृथिवीकायके जीव च्युत हो जाते हैं। फिर यत्नपूर्वक संयमक्रियाएं उस अचित्त पृथिवीपर भले प्रकारसे पालन की जा सकती हैं। और अहिंसादि व्रत भी सुखपूर्वक पालन किये जा सकते हैं।

जिस प्रकार पृथिवीकायका वर्णन किया गया है, ठीक उसी प्रकार अप्कायिक, तेजःकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवोंके विषयमें भी जानना चाहिये *।

---

* कुछ विद्वानोंने इनको अनुमानसे सचेतन सिद्ध किया है। यथा—सात्मकं अम्बु, भूमिखातस्वाभाविकसंभवात्, दर्दुरवत्। सात्मको अग्निः, आहारेण तद्वृद्ध्युपलम्भात्, बालकवत्। सात्मकः पवनः, अपरप्रेरिततिर्यग्गतिमत्त्वात्, गोवत्। सचेतनास्तरवः सर्वत्वगपहरणे मरणात्, खरवत्। अर्थात्— जल सचेतन है, क्योंकि वह भूमिसे स्वयमेव पैदा होता है, मेंढककी भांति। अग्नि सचेतन है, क्योंकि वह आहार करनेसे बढ़ती है, बालककी भांति। वायु सचेतन है, क्योंकि वह बिना किसी दूसरेकी प्रेरणासे तिरछी दिशामें गमन करती है, गौकी भांति। वृक्ष सचेतन हैं, क्योंकि उनकी संपूर्ण छाल उतार देनेसे वे मर जाते हैं, गधेकी भांति।

वनस्पतिकायमें अन्य पांचों कायोंकी अपेक्षा कुछ विशेष वक्तव्य है। इसलिये सूत्रकारने उसका दुबारा विशेष वर्णन भी किया है। जैसे कि—कोरण्टकादि वृक्षोंके अग्रभागमें बीज होता है, उत्पल कन्दादिके मूलमें बीज होता है, इक्षु आदिके पर्वमें बीज होता है, शल्लकी आदिके स्कन्धमें बीज होता है, शाली आदिके बीजके बोनेसे बीज उत्पन्न होते हैं। वर्षादिके हो जानेसे बीजके अभाव होनेपर भी तृणादि सम्मूर्च्छिम उत्पन्न हो जाते हैं। क्योंकि-दग्धभूमिपर भी वर्षाके कारण तृणादि उत्पन्न होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार वनस्पतिके ग्रहण करनेसे सूक्ष्म बादरादि अशेष वनस्पतिका ग्रहण किया गया है। यह उपर्युक्त सब प्रकारकी वनस्पतिकाय सचित्त वर्णन की गई है। यद्यपि यह वनस्पति, एक जीवसे लेकर संख्यात, असंख्यात वा अनन्त जीवोंकी राशि है। किन्तु स्वकाय वा परकाय तथा दोनों कायोंके प्रतिकूल स्पर्श होनेसे वह अचित्त हो जाती है।

यदि यहां यह शङ्का की जाय कि—सूत्रकारको जब वनस्पतिकायका पूर्ण विवरण करना था तो फिर साधारण वनस्पतिकायका वर्णन क्यों नहीं किया, सूत्रमें "अग्गेबीया पुढोसत्ता" जो पद दिया है, उससे साधारण वनस्पतिकायका ग्रहण नहीं होता ? इसका समाधान यह है कि यह पाठ सामान्यरूपसे वर्णन किया है। यदि सामान्यरूपसे उक्त पाठको वर्णन किया हुआ न माना

जाय तो सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्तादि भेदोंका वर्णन न होनेसे यह पाठ अपूर्ण मानना पड़ेगा। अथवा ऐसा मानना चाहिये कि अविशेष नामके नियमानुसार इन सूत्रोंकी रचना की गई है। अविशेष नामके ग्रहणसे विशेष नामका ग्रहण भी किया जाता है। इसलिये सामान्य रूपसे यहां उसका भी ग्रहण किया हुआ समझना चाहिये ॥ ४ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार क्रमागत त्रसकायका वर्णन करते हैं,—

से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा, त जहा—अंडया पोयया जराउया रसया संसेइमा समुच्छिमा उब्भिया उववाइया। जेसिं केसिंचि पाणाणं अभिक्कंत पडिक्कंत संकुचिय पसारिय रुय भंत तासिय पलाइय आगइगइविन्नाया, जे य कीडपयंगा जाय कुंथुपिपीलिया सव्वे बेइंदिया सव्वे तेइंदिया सव्वे चउरिंदिया सव्वे पंचिंदिया सव्वे तिरिक्खजोणिया सव्वे नेरइया सव्वे मणुया सव्वे देवा सव्वे पाणा परमाहम्मिया। एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ तसकाउत्ति पवुच्चइ ॥ ५ ॥

अथ ये पुनरमी अनेके बहव त्रसाः प्राणिनः, तद्यथा-अण्डजाः पोतजाः जरायुजा रसजा सस्वेदजा सम्मूर्च्छनजा उद्भिज्जा औपपातिका, येषा केषाश्चित् प्राणिनां अभिक्रान्त प्रतिक्रान्त सकुचित प्रसारित रुत भ्रान्त त्रस्त पलायित आगतिगतिविज्ञाता, ये च कीटपतगा ये च कुंथुपिपीलिका सर्वे द्वीन्द्रिया सर्वे त्रीन्द्रिया सर्वे चतुरिन्द्रिया सर्वे पञ्चेन्द्रिया सर्वे तिर्यग्योनय सर्वे नारका सर्वे मनुजा सर्वे देवाः सर्वे प्राणिन परमधर्मा । एषः खलु षष्ठो जीवनिकायः त्रसकाय इति प्रोच्यते ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(से) अथ **(जे)** जो **(इमे)** यह- वक्ष्यमाण **(त्रसा पाणा)** त्रस प्राणी हैं ये **(पुण)** फिर **(अणेगे)** अनेक तथा **(बहवे)** बहुत हैं, **(त जहा-)** जैसे कि-**(अडया)** अंडेसे उत्पन्न होनेवाले **(पोयया)** पोतसे उत्पन्न होनेवाले **(जराउया)** जरायुसे उत्पन्न होनेवाले **(रसया)** रससे उत्पन्न होनेवाले **(ससेइमा)** प्रस्वेदसे उत्पन्न होनेवाले **(समुच्छिमा)** स्त्री पुरुषके सयोग विना उत्पन्न होनेवाले **(उब्भिया)** भूमिको भेदकर उत्पन्न होनेवाले **(उववाइया)** 'उपपाद शैय्या' से पैदा होनेवाले, **(जेसिं केसिंच)** कोई-कोई **(पाणाण)** प्राणी **(अभिक्कत)** सन्मुख आने **(पडिक्कत)** पीछे हट जाने **(सकुचिय)** शरीरके सको-

चने (पसारिय) पसार देने (रुय) शब्द करने (भंत) भ्रमण करने (तासिय) दुःखसे उद्वेग प्राप्त करने (पलाइय) भागने (आगइगइ) आने जानेको (विन्नाया) जाननेवाले हैं, (य) पुन (जे) जो (कीड) कीट (पयगा) पतंगिया (य) और (जा) जो (कुंथुपिपीलिया) कुंथु और पिपीलिका (सव्वे) सर्व (बेइंदिया) दो इन्द्रिय जीव (सव्वे) सर्व (तेइंदिया) तीन इन्द्रिय जीव (सव्वे) सर्व (चउरिंदिया) चार इन्द्रिय जीव (सव्वे) सर्व (पचिंदिया) पांच इन्द्रिय जीव (सव्वे) सर्व (तिरिक्खजोणिया) तिर्यञ्च (सव्वे) सर्व (नेरइया) नारक जीव (सव्वे) सर्व (मणुया) मनुष्य (सव्वे) सर्व (देवा) देव (सव्वे) सर्व (पाणा) प्राणी (परमाहम्मिया) परम सुखके चाहनेवाले हैं (एसो) यह (खलु) निश्चय (छट्ठो) छठवां (जीवनिकाओ) जीवोंका समूह (तसकाउ) 'त्रसकाय' (त्ति) इस प्रकार (पवुच्चए) कहा जाता है ॥ ५ ॥

मूलार्थ—इनके [स्थावरकायके] अतिरिक्त अनेक प्रकारके बहुतसे त्रस प्राणी हैं। जैसे कि— अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, सम्मूर्च्छिम, उद्भिज्ज, औपपातिक। इनमेंसे कोई-कोई प्राणी सन्मुख आता है, कोई-कोई प्रतिक्रान्त होता है, कोई-कोई संकुचित होता है, कोई-कोई पसर जाता है, कोई-कोई शब्द करता है, कोई-कोई भ्रमण करता है कोई-कोई त्रास पाता है

कोई-कोई भागता है, कोई—आने जानेके ज्ञानको जानने वाले हैं, जो कीट पतङ्ग, और जो कुन्थु, पिपीलिका, सब द्वीन्द्रिय, सब त्रीन्द्रिय, सब चतुरिन्द्रिय, सब पञ्चेन्द्रिय, सब तिर्यञ्च, सब नारकीय, सब मनुष्य, और सब देव हैं, ये सब प्राणी परम सुखके चाहनेवाले हैं। सो यह छठा जीवोंको समूह 'त्रसकाय' नामसे कहा जाता है ॥ ५ ॥

भाष्य—मागधी भाषाके व्याकरणानुसार यहांपर 'अथ' शब्दको 'से' आदेश हो गया है। यद्यपि 'अथ' शब्दके अनेकों† अर्थ होते हैं, लेकिन फिर भी यह 'अनन्तर' अर्थमें अधिक प्रसिद्ध है। यहांपर भी उसी अर्थमें आया हुआ है। अर्थात् सूत्रकार कहते हैं कि स्थावरकायके अनन्तर अब त्रसकायका वर्णन करते हैं।

त्रसकायके जीव उत्पत्तिस्थानकी अपेक्षा आठ प्रकारके होते हैं। जैसे कि—

१—अण्डेसे पैदा होनेवाले जीव 'अण्डज' कहलाते हैं, जैसे—पक्षी, मछली आदि।

२—गर्भसे पोत—गुथली सहित पैदा होनेवाले जीव 'पोतज' कहलाते हैं। जैसे मनुष्य आदि।

३—गर्भसे जरायु सहित निकलनेवाले जीव 'जरायुज' कहलाते हैं। जैसे—गौ, भैंस, मृग

† "अथ प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्यमंगलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेषु।"

आदि। ये जीव जब गर्भसे बाहिर आते हैं, तब इनके शरीरके ऊपर माके पेटमेंसे एक झिल्ली आती है, उसीको 'जरायु' कहते हैं। ये जीव उसमेंसे निकलते ही खेलने-कूदने, दौड़ने-धूपने लगते हैं।

४—दूध, दही, मठा, घी, आदि तरल पदार्थ 'रस' कहलाते हैं। उनके विकृत होजानेपर इनमें जो जीव पड़ जाते हैं, वे 'रसज' कहलाते हैं।

५—पसीने-देहमलके निमित्तसे पैदा होनेवाले जीव 'संस्वेदज' कहलाते हैं। जैसे—जू, खटमल आदि।

६—शीत, उष्ण आदिके निमित्त मिलनेपर इधर-उधरके—आस-पासके परमाणुओंसे जो जीव पैदा हो जाते हैं, वे 'संमूर्छिम' कहलाते हैं। जैसे—शलभ पिपीलिका, पतङ्ग आदि।

७—भूमिको फाड़कर जो जीव पैदा होते हैं, वे 'उद्भिज' कहलाते हैं। जैसे—वनस्पति।

८—उपपाद शैय्यासे उत्पन्न होनेवाले जीव 'औपपातिक' कहलाते हैं। जैसे—देव और नारकी।

यदि यहांपर यह शङ्का की जाय कि यह तो त्रसकायके जीवोंके उनके उत्पत्तिस्थानकी अपेक्षा से भेद हैं। वास्तवमें उनका सामान्य लक्षण-स्वरूप क्या है? तो उसके उत्तरमें सूत्रकारने 'अभिक्कत' इत्यादि पाठ पढ़ा है। अर्थात् उनमेंसे किसी जीवको आगत सन्मुख आनेकी है तो किसी

जीवकी आदत पीछे हट जानेकी है। किसी जीवकी आदत अपने शरीरको सकोच लेनेकी है तो किसी जीवकी आदत अपने शरीरको पसार देनेकी—फैला देनेकी है। कोई जीव शब्द करता है तो कोई जीव भयभीत होकर इधर-उधर चक्कर लगाता है। कोई जीव दुःखसे त्रास पाता रहता है तो कोई जीव दुःखको देखकर भाग जाता है। तथा कितने ही जीव गमनागमनका ज्ञान भले प्रकार रखते हैं।

यदि यहापर यह शङ्का की जाय कि सूत्रमें जब 'अभिक्कत-पडिक्कत'—'अभिक्रान्त-प्रतिक्रान्त' पद दे दिये गये हैं तब फिर 'आगइगइ'—'आगतिगति' देनेकी क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर यह है कि जैसे घोड़े हैं, वे भूलकर कहीं चले गये हों तो लौटकर अपने घरपर वापिस भी आजाते हैं। तथा यदि उन्हें पीछे हटाया जाय या अगाड़ी चलाया जाय तो वे यह भी जानते हैं कि हमें पीछे हटाया जारहा है या अगाड़ी बढ़ाया जा रहा है। इसके अतिरिक्त त्रस जीवोंमें जो 'ओघ' सज्ञा होती है, उससे वे धूपसे अरुचि होनेपर छायामें और छायासे अरुचि होनेपर धूपमें चले आते हैं। इस तरहपर त्रस जीवोंका विशिष्ट विज्ञान बतलानेकेलिये 'आगइगइविन्नाया' पद सूत्रकारने दिया है।

यहां यदि यह शङ्का की जाय कि सूत्रकारको अगाड़ी जब द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि जीव

ग्रहण करने ही थे तो फिर उससे पहिले 'कीडपयंगा' और 'कुथु पिपीलिया'—'कीटपतङ्गाः,' और कुन्थुपिपीलिकाः' क्यों दिये ? इसका समाधान यह है कि सूत्रकी गति विचित्र होती है—वह क्रमसे अतन्त्र भी रहती है।

सूत्रमें जो 'परमाहम्मिआ' पद दिया गया है, उसका अर्थ है "परमधर्माणः—परमसुखाभिलाषिण इत्यर्थः" अर्थात् 'उत्कृष्ट सुखके अभिलाषी'। यहांपर 'परमा' में मकारको दीर्घ "मास्समृस्स्यादौ" सूत्रसे हुआ है ॥ ५ ॥

उत्थानिका—ऊपरके सूत्रमें कहा गया है कि पाचों ही स्थावर और छठे त्रस, ये सब प्राणी अपने अपने सुखोंके इच्छुक हैं। कोई भी प्राणी दुःखकी मात्राको नहीं चाहता। अत एव सब प्राणी रक्षाके योग्य हैं। इसलिये किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनी चाहिये। सो अब सूत्रकार इसी विषयमें कहते हैं—

इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारंभिज्जा, नेवन्नेहिं दंडं समारंभाविज्जा, दंडं समारंभतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि, जाव-ज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं, वायाए, काएणं न करेमि, न कारवेमि,

करतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥ ६ ॥

एतेषु षट्सु जीवनिकायेषु नैव स्वयं दण्डं समारभेत्, नैवान्यैः दण्डं समारम्भयेत्, समारम्भमाणानप्यन्यान् न समनुजानीयात्, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन–मनसा, वाचा कायेन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि, तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि, निन्दामि, गर्हामि, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(इच्चेसिं) इन (छण्हं) षट् (**जीवनिकायाणं**) जीवोंकी कायके विषयमें (दण्डं) हिंसारूप दण्डको (**सयं**) आप–अथवा खुद (**नेव समारभिज्जा,**) समारम्भ न करे, (अन्नेहिं) औरोंसे (दण्डं) हिंसारूप दण्ड (**नेव समारम्भाविज्जा,**) समारम्भ न करावे, (दण्डं) हिंसारूप दण्डको (**समारम्भंतेऽवि**) समारम्भ करते हुए (**अन्ने**) अन्य जीवोंको (**न समणुजाणामि**) भला नहीं समझूंगा—भला न समझे, (**जावज्जीवाए**) जबतक मेरा जीव इस शरीरमें है, तबतक (तिविहं) त्रिविध–कृत, कारित और अनुमोदनासे, (**तिविहेणं**) तीन

ग्रहण करने ही थे तो फिर उससे पहिले 'कीडपयंगा' और 'कुंथु पिपीलिया'—'कीटपतङ्गा,' और 'कुन्थुपिपीलिका' क्यों दिये ? इसका समाधान यह है कि सूत्रकी गति विचित्र होती है—यह क्रमसे भतलब भी रखती है।

सूत्रमें जो 'परमाहम्मिआ' पद दिया गया है, उसका अर्थ है "परमधर्माण'—परमसुखाभिलाषिण इत्यर्थः' अर्थात् 'उत्कृष्ट सुखके अभिलाषी'। यहांपर 'परमा' में मकारको दीर्घ "आत्सद्रस्यादौ" सूत्रसे हुआ है ॥ ५ ॥

उत्थानिका—ऊपरके सूत्रमें कहा गया है कि पांचों ही स्थावर और छठे त्रस, ये सब प्राणी अपने अपने सुखोंके इच्छुक हैं। कोई भी प्राणी दुःखकी मात्राको नहीं चाहता। अत एव सब प्राणी रक्षाके योग्य हैं। इसलिये किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनी चाहिये। सो अब सूत्रकार इसी विषयमें कहते हैं—

इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारंभिज्जा, नेवन्नेहिं दंडं समारंभाविज्जा, दंडं समारंभतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं, वायाए, काएणं न करेमि, न कारवेमि,

जीवोंकी हिंसा करते हैं, उनकी अनुमोदना भी न करे। हिंसा मनसे, वचनसे और कायसे कदापि न करे। इस प्रकार श्रीभगवान्की शिक्षा है। सो जब श्रीभगवान्की शिक्षाको शिष्यने श्रवण किया, तब उसने कहा कि-हे भगवन्! मैं जीवन पर्यन्त तीन करण और तीन योगसे हिंसादि दण्ड स्वयं न करू और न औरोंसे कराऊ तथा जो हिंसादि कार्य करते हैं उनकी अनुमोदना भी नहीं करू। हे भगवन्! मैं उक्त दण्डसे प्रतिक्रमण करता हू आत्मसाक्षीसे उसकी निन्दा करता हू, गुरुकी साक्षीसे उस पापकी गर्हणा करता हू और अपनी आत्माको उस पापसे पृथक् करता हूं। अर्थात् पापरूप आत्माका परित्याग करता हू।

सूत्रमें सूत्रकारने जो पडिक्कमामि"—"प्रतिक्रमामि" क्रिया पद दिया है, उसका तात्पर्य भूतकालसम्बन्धी पापोंका प्रायश्चित्त करना है। क्योंकि वर्तमानकालके पापोंका प्रायश्चित्त करनेको 'संवर' और भविष्यत्कालके पापोंके प्रायश्चित्त करनेको 'प्रत्याख्यान' कहते हैं।

तब फिर यहां यह शङ्का पैदा होती है कि भविष्यत्कालीन और वर्तमानकालीन पापोंके प्रायश्चित्तका बोधक सूत्रमें कौनसा शब्द है? इसका समाधान यह है कि 'अप्पाणं वोसिरामि'— 'आत्मानं व्युत्सृजामि', यह पद तो भविष्यत्कालीन पापोंके प्रायश्चित्तकेलिये है और 'न करेमि'— 'न करोमि' पद वर्तमानकालीन पापोंके प्रायश्चित्तकेलिये है।

योगसे (मणेणं,) मनसे, (वायाए,) वचनसे, और (काएणं,) कायसे, (न करेमि,) न करू (न कारवेमि,) न कराऊ, (अन्नं) अन्य (करंतंपि) करते हुए को भी (न समणुजाणामि,) भला न समझू, (तस्स) उस दण्डको (भंते !) हे भदन्त ! (पडिक्कमामि,) प्रतिक्रमण करता हू, (निंदामि,) निन्दा करता हू (गरिहामि,) गर्हणा करता हू, (अप्पाणं) आत्माको (वोसिरामि) छोड़ता हू ॥ ६ ॥

मूलार्थ—इन छह कायके जीवोंको जीव स्वयं दण्ड समारम्भ न करें, न औरोंसे दण्ड समारम्भ करावे, दण्ड समारम्भ करते हुए अन्य जीवको भला भी न समझे । जब तक इस शरीरमें जीव है तब तक तीन करण—कृत, कारित और अनुमोदनासे तथा तीन योग—मन, वचन और कायसे, हिंसादि क्रियाए न करू, न औरोंसे कराऊ, और न करते हुए अन्यकी अनुमोदना करूं । हे भगवन् ! मैं उस पक्ष्यमाण दण्डसे प्रतिक्रमण करता हू, आत्मसाक्षीपूर्वक निन्दा करता हू, गुरु की साक्षीपूर्वक गर्हणा करता हू, और अपने आत्माको उस पापसे पृथक् करता हू ॥ ६ ॥

भाष्य—इस सूत्रमें षट्कायका 'दण्ड' विषय कथन किया गया है । जैसे कि जीव, उक्त षट् कायको स्वयमेव दण्डित न करे और न औरोंसे दण्डित करावे । इतना ही नहीं किन्तु जो षट्कायके

जीवोंकी हिंसा करते हैं, उनकी अनुमोदना भी न करे। हिंसा मनसे, वचनसे और कायसे कदापि न करे। इस प्रकार श्रीभगवान्‌की शिक्षा है। सो जब श्रीभगवान्‌की शिक्षाको शिष्यने श्रवण किया, तब उसने कहा कि-हे भगवन्! मैं जीवन पर्यन्त तीन करण और तीन योगसे हिंसादि दण्ड स्वयं न करूं और न औरोंसे कराऊं तथा जो हिंसादि कार्य करते हैं उनकी अनुमोदना भी नहीं करूं। हे भगवन्! मैं उक्त दण्डसे प्रतिक्रमण करता हूं आत्मसाक्षीसे उसकी निन्दा करता हूं, गुरुकी साक्षीसे उस पापकी गर्हणा करता हूं और अपनी आत्माको उस पापसे पृथक् करता हूं। अर्थात् पापरूप आत्माका परित्याग करता हूं।

सूत्रमें सूत्रकारने जो पडिक्कमामि"—"प्रतिक्रमामि" क्रिया पद दिया है, उसका तात्पर्य भूतकालसम्बन्धी पापोंका प्रायश्चित्त करना है। क्योंकि वर्तमानकालके पापोंका प्रायश्चित्त करने को 'संवर' और भविष्यत्कालके पापोंके प्रायश्चित्त करनेको 'प्रत्याख्यान' कहते हैं।

तब फिर यहां यह शङ्का पैदा होती है कि भविष्यत्कालीन और वर्तमानकालीन पापोंके प्रायश्चित्तका बोधक सूत्रमें कौनसा शब्द है? इसका समाधान यह है कि 'अप्पाणं वोसिरामि'—'आत्मानं व्युत्सृजामि' यह पद तो भविष्यत्कालीन पापोंके प्रायश्चित्तकेलिये है और 'न करेमि'—'न करोमि' पद वर्तमानकालीन पापोंके प्रायश्चित्तकेलिये है।

योगसे (**मणेणं,**) मनसे, (**वायाए,**) वचनसे, और (**काएणं,**) कायसे, (**न करेमि,**) न करूं (**न कारवेमि,**) न कराऊं, (**अन्नं**) अन्य (**करंतंपि**) करते हुए को भी (**न समणुजाणामि,**) भला न समझूं, (**तस्स**) उस दण्डको (**भंते !**) हे भदन्त ! (**पडिक्कमामि,**) प्रतिक्रमण करता हूं, (**निंदामि,**) निन्दा करता हूं (**गरिहामि,**) गर्हणा करता हूं, (**अप्पाणं**) आत्माको (**वोसिरामि**) छोड़ता हूं ॥ ६ ॥

मूलार्थ—इन छह कायके जीवोंको जीव स्वयं दण्ड समारम्भ न करें, न औरोंसे दण्ड समारम्भ करावे, दण्ड समारम्भ करते हुए अन्य जीवको भला भी न समझे। जब तक इस शरीरमें जीव है तब तक तीन करण-कृत, कारित और अनुमोदनासे तथा तीन योग-मन, वचन और कायसे, हिंसादि क्रियाएं न करूं, न औरोंसे कराऊं, और न करते हुए अन्यकी अनुमोदना करूं। हे भगवन् ! मैं उस वक्ष्यमाण दण्डसे प्रतिक्रमण करता हूं, आत्मसाक्षीपूर्वक निन्दा करता हूं, गुरु की साक्षीपूर्वक गर्हणा करता हूं, और अपने आत्माको उस पापसे पृथक् करता हूं ॥ ६ ॥

भाष्य—इस सूत्रमें षट्कायका 'दण्ड' विषय कथन किया गया है। जैसे कि जीव, उक्त षट् कायको स्वयमेव दण्डित न करे और न औरोंसे दण्डित करावे। इतना ही नहीं, किन्तु जो षट्कायके

जीवोंकी हिंसा करते हैं, उनकी अनुमोदना भी न करे। हिंसा मनसे, वचनसे और कायसे कदापि न करे। इस प्रकार श्रीभगवान्‌की शिक्षा है। सो जब श्रीभगवान्‌की शिक्षाको शिष्यने श्रवण किया, तब उसने कहा कि-हे भगवन् ! मैं जीवन पर्यन्त तीन करण और तीन योगसे हिंसादि दण्ड स्वयं न करूं और न औरोंसे कराऊं तथा जो हिंसादि कार्य करते हैं उनकी अनुमोदना भी नहीं करूं। हे भगवन् ! मैं उक्त दण्डसे प्रतिक्रमण करता हूं आत्मसाक्षीसे उसकी निन्दा करता हूं, गुरुकी साक्षीसे उस पापकी गर्हणा करता हूं और अपनी आत्माको उस पापसे पृथक् करता हूं। अर्थात् पापरूप आत्माका परित्याग करता हूं।

सूत्रमें सूत्रकारने जो "पडिक्कमामि"—"प्रतिक्रमामि" क्रिया पद दिया है, उसका तात्पर्य भूतकालसम्बन्धी पापोंका प्रायश्चित्त करना है। क्योंकि वर्तमानकालके पापोंका प्रायश्चित्त करनेको 'संवर' और भविष्यत्कालके पापोंके प्रायश्चित्त करनेको 'प्रत्याख्यान' कहते हैं।

तब फिर यहां यह शङ्का पैदा होती है कि भविष्यत्कालीन और वर्तमानकालीन पापोंके प्रायश्चित्तका बोधक सूत्रमें कौनसा शब्द है ? इसका समाधान यह है कि 'अप्पाणं वोसिरामि'—'आत्मानं व्युत्सृजामि' यह पद तो भविष्यत्कालीन पापोंके प्रायश्चित्तकेलिये है और 'न करेमि'—'न करोमि' पद वर्तमानकालीन पापोंके प्रायश्चित्तकेलिये है।

सूत्रमें आये हुए 'भंते !' शब्दकी तीन छाया होती हैं—'भवन्त ! भयान्त ! और भयान्त !'। इनमेंसे यहांपर चाहे कोई भी छाया ग्रहण की जा सकती है, क्योंकि ये तीनों गुरुके निमन्त्रण करनेवाले हैं। जो कि गुरुकी विनय करनेके सूचक हैं।

'इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं' शब्दमें जो षष्ठी विभक्ति दी गई है, उस जगह 'सुपां सुपो भवति' सूत्रसे सप्तमी भी मानी जा सकती है।

कुछ लोग केवल मनसे ही कर्मका बन्ध होना मानते हैं†। उसके खण्डनकेलिये सूत्रकारने 'तिविहं तिविहेणं मणेणं, वायाए, काएणं',–'त्रिविधं त्रिविधेन मनसा, वाचा, कायेन' पद दिये हैं। अर्थात् कर्मका बन्ध सिर्फ मनसे ही नहीं होता, बल्कि मन, वचन और काय, तीनोंसे होता है ॥ १ ॥

उत्थानिका—त्रिकरण और त्रियोगसे पांचों पापोंके त्याग करनेसे पांच महाव्रत हो जाते हैं। इसलिये अब उन्हींका स्वरूप कहते हैं। उनमेंसे सबसे पहिला जो 'अहिंसा महाव्रत' है, सूत्रकार उसीका वर्णन करते हैं—

† मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

पढमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं। सव्वं भंते ! पाणाइवायं पच्चक्खामि। से सुहुमं वा, बायरं वा, तसं वा, थावरं वा, नेव सयं पाणे अइवाइज्जा, नेवऽन्नेहिं पाणे अइवायाविज्जा, पाणे अइवायंतेवि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं, तिविहेणं मणेणं, वायाए, काएणं, न करोमि न कारवेमि करंतपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि। पढमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं ॥ १ ॥ [सूत्र ॥ ७ ॥]

प्रथमे भदन्त ! महाव्रते प्राणातिपाताद्विरमणम्। सर्वं भदन्त ! प्राणातिपातं प्रत्याख्यामि। यथा सूक्ष्मं वा, बादरं वा, त्रसं वा, स्थावरं वा, नैव स्वयं प्राणिनोऽतिपातयामि, नैवान्यैः प्राणिनोऽतिपातयामि, प्राणिनोऽतिपातयतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि। तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि,

निन्दामि, गर्हामि, आत्मानं व्युत्सृजामि । प्रथमे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात् प्राणातिपाताद्विरमणम् ॥ १ ॥ [सूत्र ॥ ७ ॥]

अन्वयार्थ—(**भंते !**) हे भदन्त ! (**पढमे**) पहले (**महव्वए**) महाव्रतमें (**पाणाइवायाओ**) प्राणातिपातसे (**वेरमणं**) निवृत्ति करना है, (**भंते !**) हे भदन्त ! (**सव्वं**) सर्व प्रकार (**पाणाइवायं**) प्राणातिपातका (**पच्चक्खामि**) मैं प्रत्याख्यान करता हूं (**से**) जैसे कि (**सुहुमं वा**) सूक्ष्म शरीरवाले जीवके, अथवा (**तसं वा**) त्रसजीवके, अथवा (**थावरं वा**) स्थावर जीवके (**पाणे**) प्राणों को (**नेव सयं अइवाइज्जा,**) स्वयं अतिपात–हनन नहीं करूं (**अन्नेहिं**) औरोंसे (**पाणे**) प्राणोंका (**नेव अइवायाविज्जा,**) हनन नहीं कराऊं, तथा (**पाणे**) प्राणोंके (**अइवायंतेवि अन्ने**) हनन करते हुए औरोंको भी (**न समणुजाणामि,**) भला नहीं समझूं, (**तस्स**) उससे (**भंते !**) हे गुरो ! मैं (**पडिक्कमामि,**) प्रतिक्रमण करता हूं, (**निंदामि,**) निन्दा करता हूं, (**गरिहामि,**) गर्हणा करता हूं, (**जावज्जीवाए**) जीवन पर्यन्त (**तिविहं**) त्रिविध और (**तिविहेणं**) त्रिविधसे (**मणेणं**) मनसे, (**वायाए,**) वचनसे, (**काएणं,**) कायसे, (**न करेमि,**) नहीं करूं, (**न कारवेमि,**) औरोंसे नहीं कराऊं, (**करंतंपि अन्नं**) करते हुए औरोंको (**न समणु-**

जाणामि) भला भी नहीं समझू, अत (**अप्पाणं**) अपनी आत्माको (**वोसिरामि**) छोडता हू— हटाता हू (**भंते**!) हे गुरो ! (**पढमे**) प्रथम (**महव्वए**) महाव्रतमें, जो कि (**सव्वाओ पाणाइवायाओ**) सब प्रकारके प्राणातिपातसे (**विरमणं**) निवृत्ति रूप है, (**उवट्ठिओमि**) उपस्थित होता हू ॥ १ ॥ [सूत्र ॥ ७ ॥]

मूलार्थ—हे भगवन् ! प्रथम महाव्रत प्राणातिपातसे विरमणरूप है। अत हे भगवन् ! मैं सब प्रकारसे प्राणातिपातका प्रत्याख्यान करता हू। जैसे कि—सूक्ष्म, बादर, त्रस और स्थावर प्राणियोंकी मैं स्वय हिंसा न करू, न औरोंसे उनकी हिंसा कराऊ, और जो प्राणियोंकी हिंसा करते हैं, उन्हें भला भी नहीं समझू। तीन करण—कृत, कारित और अनुमोदनासे और तीन योग—मन-वचन-कायसे, न करू, न कराऊ और करते हुएकी अनुमोदना भी नहीं करू। मैं उस हिंसारूप दण्डसे पीछे हटता हू, आत्मसाक्षीपूर्वक उसकी निन्दा करता हू और गुरुकी साक्षीपूर्वक गर्हणा करता हू तथा अपने आत्माको पापसे पृथक् करता हू। इस तरहसे हे भगवन् ! अब मैं प्रथम महाव्रत अर्थात् प्राणातिपात विरमणके विषयमें उपस्थित होता हू ॥ १ ॥ [सूत्र ॥ ७ ॥]

निन्दामि, गर्हामि, आत्मानं व्युत्सृजामि । प्रथमे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात् प्राणातिपाताद्विरमणम् ॥ १ ॥ [सूत्र ॥ ७ ॥]

अन्वयार्थ—(**भंते !**) हे भदन्त ! (**पढमे**) पहले (**महव्वए**) महाव्रतमें (**पाणाइवायाओ**) प्राणातिपातसे (**वेरमणं**) निवृत्ति करना है, (**भंते !**) हे भदन्त ! (**सव्वं**) सर्व प्रकार (**पाणाइवायं**) प्राणातिपातका (**पच्चक्खामि**) मैं प्रत्याख्यान करता हूं (**से**) जैसे कि (**सुहुमं वा**) सूक्ष्म शरीरवाले जीवके, अथवा (**तसं वा**) त्रसजीवके, अथवा (**थावरं वा**) स्थावर जीवके (**पाणे**) प्राणों को (**नेव सयं अइवाइज्जा,**) स्वयं अतिपात—हनन नहीं करूं, (**अन्नेहिं**) औरोंसे (**पाणे**) प्राणोंका (**नेव अइवायाविज्जा,**) हनन नहीं कराऊं, तथा (**पाणे**) प्राणोंके (**आइवायंतेवि अन्ने**) हनन करते हुए औरोंको भी (**न समणुजाणामि,**) भला नहीं समझूं, (**तस्स**) उससे (**भंते !**) हे गुरो ! मैं (**पडिक्कमामि,**) प्रतिक्रमण करता हूं, (**निंदामि,**) निन्दा करता हूं, (**गरिहामि,**) गर्हणा करता हूं, (**जावज्जीवाए**) जीवन पर्यन्त (**तिविहं**) त्रिविध और (**तिविहेणं**) त्रिविधसे (**मणेणं**) मनसे, (**वायाए,**) वचनसे, (**काएणं,**) कायसे, (**न करेमि,**) नहीं करूं, (**न कारवेमि,**) औरोंसे नहीं कराऊं, (**करंतंपि अन्नं**) करते हुए औरोंको (**न समणु-**

पांच पापोंका जो त्याग किया जाता है, वह सम्पूर्ण द्रव्योंकी अपेक्षासे, सम्पूर्ण क्षेत्रोंकी अपेक्षासे, सम्पूर्ण कालोंकी अपेक्षासे और सम्पूर्ण भावोंकी अपेक्षासे किया जाता है। इन व्रतोंकी समस्त सूक्ष्मताओंका वर्णन शास्त्रकार स्वयं अगाड़ी करनेवाले हैं।

एक शङ्का यहां यह और हो सकती है कि पांचों महाव्रतोंमेंसे पहिले 'अहिंसा महाव्रत' ही क्यों कहा जाता है? इसका समाधान यह है कि सब पापोंमेंसे मुख्य पाप एक हिंसा ही है। इसलिये उसकी निवृत्ति करनेवाला 'अहिंसा महाव्रत' भी सबसे मुख्य है। शेष चार महाव्रत 'अहिंसा महाव्रत' की रक्षाकेलिये धारण किये जाते हैं।

सूत्रके आरम्भमें जो "पढमे भन्ते! पाणाइवायाओ वेरमणं" इतना पाठ है, वह गुरुकी ओरका वचन है। शेष सब शिष्यकी ओरके वचन हैं। क्योंकि अगाड़ी उसे जो-जो कुछ करना है, उसकी श्रीभगवान्की साक्षीपूर्वक वह प्रतिज्ञा कर रहा है।

सूत्रमें जो 'पच्चक्खामि' पद आया है, उसकी एक तो संस्कृत छाया होती है-'प्रत्याख्यामि'। इसमें 'ख्या प्रकथने' धातुसे प्रति और आङ् उपसर्ग लगाया गया है। 'ख्या' का अर्थ है-'कहना',

भाष्य— पूर्वके सूत्रमें भी अहिंसाका ही वर्णन है—हिंसाका निषेध है। लेकिन वह सामान्य है। इस सूत्रमें उसका विशेष वर्णन है। उस अहिंसाकी रक्षाकेलिये जीवको पांच महाव्रत धारण करना चाहिये।

यदि यहां यह शङ्का की जाय कि इन व्रतोंको 'महाव्रत' क्यों कहा जाता है? तो उसका उत्तर यह है कि १–इन व्रतोंको धारण करनेवाला आत्मा अति उच्च हो जाता है। यहां तक कि इन्द्र और चक्रवर्ती तक उसको मस्तक झुकाते हैं, इसलिये ये 'महाव्रत' कहलाते हैं। २–अथवा संसारका सर्वोच्च ध्येय जो मोक्ष है, उसके ये अति निकट साधक हैं, इसलिये ये 'महाव्रत' कहलाते हैं। ३–अथवा बड़े २ राजा, महाराजा, चक्रवर्ती, वीर ही इनको धारण कर सकते हैं—पाल सकते हैं, इसलिये ये 'महाव्रत' कहलाते हैं। ४–अथवा श्रावकोंकेलिये जो व्रत कहे गये हैं, वे 'अणु' हैं। उनको धारण करते हुए श्रावक अपनी गृहस्थीके काम भी साध सकता है, शरीरके भोगोपभोग भी भोग सकता है। लेकिन इनमें उसकी रत्ती भर भी गुंजाइश नहीं है, पापके आनेका एक भी छिद्र कहींसे बाकी नहीं रह जाता है, सकलरूपसे ये धारण किये जाते हैं, इसलिये भी इनको 'महाव्रत' कहा है। अर्थात् इनमें हिंसा झूंठ चोरी कुशील और परिग्रह, इन

होता ही नहीं। वह तो सदा नित्य है। अतिपात—वियोग केवल प्राणोंका होता है। किन्तु प्राणोंके वियोगसे ही जीवको अत्यन्त दुःख उत्पन्न होता है। इसीलिये उसका निषेध किया गया है और सूत्रमें 'प्राणातिपात' शब्द रक्खा गया है।

यदि यहां यह शङ्का की जाय कि सूत्रमें 'नेव सयं पाणे अइवाइज्जा' वाक्यमें क्रियापद लेट् लकारका दिया गया है और वह भी अन्य पुरुषका। सो इसका अर्थ यहां घटित नहीं होता? इसका समाधान यह है कि यह प्राकृत भाषा है। इस भाषामें 'व्यत्ययश्च' सूत्रके अनुसार कई जगह लिङ्, प्रत्ययों, पुरुषों एवं वचनोंका भी व्यतिक्रम हो जाता है। इसलिये 'अइवाइज्जा' पदको लट् लकारके उत्तम पुरुषका एक वचन समझना चाहिये।

सूत्रमें 'भन्ते' शब्द जो अनेक वार आया है, वह यह सूचित करता है कि शिष्यको प्रत्येक कार्यकेलिये गुरुसे वार-वार विनयपूर्वक आज्ञा लेनी चाहिये।

हिंसा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे तथा द्रव्य हिंसा और भावहिंसाके भेदसे एवं इनके एकानेक मिश्रितामिश्रित भेदसे अनेक प्रकारकी होती है।

सम्पूर्ण पाठका सारांश इतना ही है कि हे भगवन्! मैं सर्व प्रकारसे प्राणातिपातसे निवृत्त होता हूं और इस महाव्रतमें उपस्थित होता हूं ॥ १ ॥ [सूत्र ॥ ७ ॥]

'प्रति' का अर्थ है—'प्रतिषेध-निषेध', और 'आङ्' का अर्थ है-'अभिविधि'। कुल मिलाकर अर्थ हुआ-'हिंसाको सर्वथा छोड़ना।'

'पच्चक्खामि' की दूसरी संस्कृत छाया 'प्रत्याचक्षे' भी हो सकती है। इसका अर्थ होता है—'संवृतात्मा साम्प्रतमनागतप्रतिषेधस्यादरेणाभिधानं करोमि'। अर्थात् संवृतात्मा-सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित अब मैं आदरपूर्वक आगामी त्यागको-हिंसादि पापोंके निषेधको उद्यत होता हूं।

इससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो गई कि जिस तरह काले कपड़ेपर कोई रँग नहीं चढ़ सकता, उसी तरह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे रहित आत्मा सम्यक्चारित्रको धारण नहीं कर सकता। प्रथम महाव्रतको पालनेकेलिये जीवको सूक्ष्म और बादर तथा त्रस और स्थावर जीवोंके स्वरूपको भलीभांति जान लेना चाहिये। सूक्ष्म त्रस-कुन्थ्वादि जानने चाहिये, न तु सूक्ष्म नाम कर्मोदयसे सूक्ष्म जीव।

यहां यदि यह कहा जाय कि सूत्रमें जहां 'प्राणातिपात' शब्द ग्रहण किया गया है वहां 'जीवातिपात' क्यों नहीं ग्रहण किया गया? इसका समाधान यह है कि जीवका तो अतिपात—नाश

कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि, तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि, निन्दामि, गर्हामि, आत्मानं व्युत्सृजामि, द्वितीये भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात् मृषावादात् विरमणम् । ॥ २ ॥ [सूत्र ॥ ८ ॥]

अन्वयार्थ—(**अह**) अब (**भंते !**) हे भदन्त ! (**अवरे**) अन्य (**दुच्चे**) द्वितीय (**महव्वए**) महाव्रतके विषयमें (**मुसावाआओ**) मृषावादसे अर्थात् असत्यसे (**वेरमण**) निवर्तना, श्रीभगवान्‌ने कथन किया है, अत. (**भंते !**) हे गुरो ! (**सव्वं**) सब (**मुसावायं**) मृषा-वादका (**पच्चक्खामि**) मैं प्रत्याख्यान करता हू (**से**) जैसे कि—(**कोहा वा**) क्रोधसे, अथवा (**लोहा वा**) लोभसे, अथवा (**भया वा**) भयसे, अथवा (**हासा वा**) हास्यसे, (**सयं**) स्वयं मैं (**मुसं**) मृषावाद (**नेव वइज्जा**) नहीं बोलू, (**अन्नेहिं**) औरोंसे (**मुसं**) मृषावाद (**नेव वायाविज्जा**) नहीं बुलाऊ, (**मुसं वयंतेवि अन्ने**) असत्य बोलते हुए औरोंको (**न समणुजाणामि**) भला नहीं समझू, (**जावज्जीवाए,**) जीवन पर्यन्त, (**तिविहं,**) त्रिविध और (**तिविहेणं**) त्रिविधसे (**मणेणं,**) मनसे, (**वायाए,**) वचनसे, (**काएणं,**) कायसे, (**न करेमि,**) न करू, (**न कारवेमि,**) न कराऊ, (**करंतंपि अन्नं**) करते हुए औरोंको (**न समणुजाणामि**) न भला समझू,

उत्थानिका- अब सूत्रकार प्रथम महाव्रतके पश्चात् द्वितीय महाव्रतके विषयमें कहते हैं—

अहावरे दुच्चे भंते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं । सव्वं भंते ! मुसावायं पच्चक्खामि से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा, नेव सयं मुसं वइज्जा, नेवऽन्नेहिं मुसं वायाविज्जा, मुसं वयंतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं, वायाए, काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि । दुच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं ॥ २ ॥ [सूत्र ॥ ८ ॥]

अथापरस्मिन् द्वितीये भदन्त ! महाव्रते मृषावादाद्विरमणम्, सर्वं भदन्त ! मृषावादं प्रत्याख्यामि, अथ क्रोधाद्वा लोभाद्वा भयाद्वा हास्याद्वा, नैव स्वयं मृषा वदामि, नैवाऽन्यैर्मृषा वादयामि, मृषा वदतोऽप्यन्यान् न समनुजानामि, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा, कायेन न करोमि

भाष्य—गुरु-शिष्यके संवादपूर्वक जैसे पहिले महाव्रतका वर्णन सूत्रकारने किया है, उसी प्रकार इस दूसरे महाव्रतका भी वर्णन उन्होंने किया है। और इसी प्रकार शेष तीनों महाव्रतोंका वर्णन अगाड़ी करेंगे।

क्रोध, मान, माया और लोभ, इस तरह कषायें चार हैं। उनमेंसे उक्त सूत्रमें आदिको क्रोध और अन्तका लोभ, ये दो कषायें ग्रहण की गई हैं। ये आदि और अन्तकी कषायें हैं, इसलिये प्रत्याहार परिपाटीसे बीचकी मान और मायाको भी यहां ग्रहण की हुई समझना चाहिये। और उपलक्षणसे प्रेम, द्वेष और कलहका भी ग्रहण कर लेना चाहिये।

मृषावादके—असत्यके चार भेद हैं। १ सद्भाव प्रतिषेध, २ असद्भावोद्भावन ३. अर्थान्तर और ४ गर्हा।

१—सद्भावप्रतिषेध-असत्य उसे कहते हैं, जिसमें विद्यमान वस्तुका निषेध किया जाय। जैसे कि 'आत्माका अस्तित्व है ही नहीं,' 'पुण्य-पापादि हैं ही नहीं।' इत्यादि।

२—असद्भावोद्भावन-असत्य उसे कहते हैं, जिसमें अविद्यमान वस्तुका अस्तित्व सिद्ध किया जाय। जैसे कि 'ईश्वर जगत्का कर्ता है', 'आत्मा सर्वत्र व्यापक है।' इत्यादि।

(**भंते!**) हे भगवन्! (**तस्स**) उसका—असत्यरूप दण्डका (**पडिक्कमामि,**) मैं प्रतिक्रमण करता हूं, (**निंदामि,**) निन्दा करता हूं, (**गरिहामि,**) गर्हणा करता हूं, (**अप्पाणं**) अपने पापरूप आत्मा का (**वोसिरामि,**) परित्याग करता हूं, (**भंते!**) हे भगवन्! (**दुच्चे**) द्वितीय (**महव्वए**) महाव्रत के विषयमें जो कि (**सव्वाओ**) सर्व प्रकारसे (**मुसावाओ**) मृषावादसे (**वेरमणं**) निवर्तनरूप है, (**उवट्ठिओमि**) मैं उपस्थित होता हूं ॥ २ ॥ [सूत्र ॥ ८ ॥]

मूलार्थ—अब हे भगवन्! मृषावादसे विरमणरूप जो द्वितीय महाव्रत है, उसे श्रीभगवान्ने प्रतिपादन किया है। इसलिये हे भगवन्! उस मृषावादका मैं प्रत्याख्यान करता हूं। अर्थात् क्रोध से, लोभसे, भयसे और हास्यसे, न तो स्वयं मैं असत्य बोलूंगा, न औरोंसे बुलवाऊंगा और न औरोंके असत्य बोलनेकी अनुमोदना ही करूंगा। अर्थात् मैं जीवन पर्यन्त तीन करण—कृत-कारित-अनुमोदनासे और तीन योग—मन-वचन-कायसे असत्य बोलनेका पाप न करूं, न औरोंसे कराऊं और औरोंके करनेकी अनुमोदना भी न करूं। उस पापरूप दण्डसे हे भगवन्! मैं प्रतिक्रमण करता हूं, आत्मसाक्षीपूर्वक निन्दा करता हूं, गुरुसाक्षीपूर्वक गर्हणा करता हूं और पापरूप आत्माका परित्याग करता हूं। इस तरह हे भगवन्! द्वितीय महाव्रत, जो कि सर्व प्रकारके मृषावादसे विरमणरूप है, उसमें मैं उपस्थित होता हूं ॥ २ ॥ [सूत्र ॥ ८ ॥]

भाष्य—गुरु-शिष्यके संवादपूर्वक जैसे पहिले महाव्रतका वर्णन सूत्रकारने किया है, उसी प्रकार इस दूसरे महाव्रतका भी वर्णन उन्होंने किया है। और इसी प्रकार शेष तीनों महाव्रतोंका वर्णन अगाड़ी करेंगे।

क्रोध, मान, माया और लोभ, इस तरह कषायें चार हैं। उनमेंसे उक्त सूत्रमें आदिको क्रोध और अन्तका लोभ, ये दो कषायें ग्रहण की गई हैं। ये आदि और अन्तकी कषायें हैं, इसलिये प्रत्याहार परिपाटीसे बीचकी मान और मायाको भी यहां ग्रहण की हुई समझना चाहिये। और उपलक्षणसे प्रेम, द्वेष और कलहका भी ग्रहण कर लेना चाहिये।

मृषावादके—असत्यके चार भेद हैं। १ सद्भाव प्रतिषेध, २. असद्भावोद्भावन ३. अर्थान्तर और ४ गर्हा।

१—सद्भावप्रतिषेध-असत्य उसे कहते हैं, जिसमें विद्यमान वस्तुका निषेध किया जाय। जैसे कि 'आत्माका अस्तित्व है ही नहीं,' 'पुण्य-पापादि हैं ही नहीं।' इत्यादि।

२—असद्भावोद्भावन-असत्य उसे कहते हैं, जिसमें अविद्यमान वस्तुका अस्तित्व सिद्ध किया जाय। जैसे कि 'ईश्वर जगत्का कर्ता है', 'आत्मा सर्वत्र व्यापक है।' इत्यादि।

३—अर्थान्तर-असत्य उसको कहते हैं, जिसमें कि पदार्थका सरूप विपरीत प्रतिपादन किया जाय। जैसे कि-'अश्वको गो और गौको हस्ति कहना,' इत्यादि।

४—गर्हा-असत्य उसे कहते हैं, जिसके बोलनेसे दूसरोंको कष्ट हो। जैसे कि 'कानेको काना कहना', 'रोगीको रोगी कहकर संबोधन करना', इत्यादि।

एक दूसरी तरहसे चार भेद असत्यके और भी होते हैं—१ द्रव्य-असत्य, २. क्षेत्र-असत्य, ३. काल-असत्य, और ४. भाव-असत्य। ये चारों ही प्रकारके असत्य महाव्रतीको त्यागने चाहिये। अतिरिक्त इनके परस्पर संयोगसे भी असत्यके अनेक भेद होते हैं। वे भी उसे त्यागने चाहिये।

असत्य महाव्रतको धारण करनेवाले अर्थात् सर्वथा सत्यवादी पुरुषको प्रत्येक समय बड़ी सावधानीसे बोलना चाहिये। बोलते समय सदैव उपयोगको सावधान रखना चाहिये। तभी वह अपने व्रतकी रक्षा कर सकता है। अन्यथा व्रतकी रक्षा असाध्य नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य है॥२॥ [सूत्र॥८॥]

उत्थानिका—अब सूत्रकार तृतीय महाव्रतके विषयमें कहते हैं,—

अहावरे तच्चे भंते ! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं । सव्वं भंते ! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि । से गामे वा, नगरे वा, रण्णे वा अप्पं वा, बहुं वा अणुं वा, थूलं वा चित्तमंतं वा, अचित्तमंतं वा, नेव सयं अदिन्नं गिण्हिज्जा, नेवऽन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा, अदिन्नं गिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं, तिविहेणं, मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि । तच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं ॥ ३ ॥
[सूत्र ॥ ६ ॥]

अथापरस्मिंस्तृतीये भदन्त ! महाव्रतेऽदत्तादानाद्विरमणं, सर्वं भदन्त ! अदत्तादानं प्रत्याख्यामि, यथा ग्रामे वा नगरे वा, अरण्ये वा, अल्पं वा, बहु वा, अणु वा, स्थूलं वा, चित्तवद्वा,

३—अर्थान्तर-असत्य उसको कहते हैं, जिसमें कि पदार्थका स्वरूप विपरीत प्रतिपादन किया जाय। जैसे कि-'अश्वको गौ और गौको हस्ति कहना,' इत्यादि।

४—गर्हा-असत्य उसे कहते हैं, जिसके बोलनेसे दूसरोंको कष्ट हो। जैसे कि 'कानेको काना कहना', 'रोगीको रोगी कहकर संबोधन करना', इत्यादि।

एक दूसरी तरहसे चार भेद असत्यके और भी होते हैं—१ द्रव्य-असत्य, २ क्षेत्र-असत्य, ३ काल-असत्य, और ४. भाव-असत्य। ये चारों ही प्रकारके असत्य महाव्रतीको त्यागने चाहिये। इसके अतिरिक्त इनके परस्पर संयोगसे भी असत्यके अनेक भेद होते हैं। वे भी उसे त्यागने चाहिये।

असत्य महाव्रतको धारण करनेवाले अर्थात् सर्वथा सत्यवादी पुरुषको प्रत्येक समय बड़ी सावधानीसे बोलना चाहिये। बोलते समय सदैव उपयोगको सावधान रखना चाहिये। तभी वह अपने व्रतकी रक्षा कर सकता है। अन्यथा व्रतकी रक्षा असाध्य नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य है ॥ २ ॥ [सूत्र ॥ ८ ॥]

उत्थानिका—अब सूत्रकार तृतीय महाव्रतके विषयमें कहते हैं—

अदत्तादानको (**गिण्हतोवि**) ग्रहण करते हुए (**अन्ने**) औरोंको (**न समणुजाणामि,**) भला भी नहीं समझूं, (**जावज्जीवाए,**) जीवन पर्यन्त, (**तिविहं,**) त्रिविध, (**तिविहेण**) त्रिविधसे (**मणेण,**) मनसे, (**वायाए,**) वचनसे, (**काएण,**) कायसे, (**न करेमि,**) न करूं, (**न कारवेमि,**) न कराऊं, (**करतंपि**) करते हुए (**अन्न**) औरों को (**न समणुजाणामि,**) भला भी न समझूं, (**तस्स**) उस पापरूप दण्डसे (**भंते!**) हे भगवन्! (**पडिक्कमामि,**) मैं प्रति-क्रमण करता हूं, (**निंदामि,**) निन्दा करता हूं, (**गरिहामि,**) गर्हणा करता हूं, (**अप्पाणं**) आत्मा को (**वोसिरामि**) अलग करता हूं (**भंते!**) हे भगवन्! (**सव्वाओ**) सर्व प्रकार (**अदिन्नादाणाओ**) अदत्तादानसे (**विरमणं**) विरमणरूप (**तच्चे**) तृतीय (**महव्वए**) महाव्रतमें (**उवट्ठिओमि**) मैं उपस्थित होता हूं ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ ९ ॥]

मूलार्थ—अब हे भगवन्! तृतीय महाव्रत, जो कि अदत्तादानसे निवर्तना रूप है, उसे श्रीभगवान् ने प्रतिपादन किया है। हे भगवन्! मैं सब प्रकारके अदत्तादानका प्रत्याख्यान करता हूं। अर्थात् मैं ग्राममें, नगरमें, अरण्यमें, बिना दिये हुए अल्प, बहुत, सूक्ष्म, स्थूल, चेतन, अचेतन पदार्थ ग्रहण नहीं करूंगा, औरोंसे ग्रहण नहीं कराऊंगा, और ग्रहण करते हुओंका अनुमोदन भी नहीं करूंगा। शेष वर्णन प्राग्वत् जानना चाहिये। हे भगवन्! मैं अब तृतीय महाव्रतमें उपस्थित होता हूं ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ ९ ॥]

सचित्तवद्वा, नैव स्वयमदत्त गृह्णामि, नैवान्यैर दत्त ग्राहयाम्यदत्त गृह्णतोऽप्यन्यान् न समनु जानामि, यावज्जीव त्रिविध, त्रिविधेन, मनसा, वाचा, कायेन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वतोप्यन्यान् न समनुजानामि, तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि, नि न्दामि, गर्हाम्यात्मान व्युत्सृजामि, तृतीये भदन्त ! महाव्रत उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात् अदत्तादानात् विरमणम् ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ ६ ॥]

अन्वयार्थ—(अहावरे) अब (भते !) हे भदन्त ! (तच्चे) तृतीय (महव्वए) महाव्रतके विषयमें (अदिन्नादाणाओ) अदत्तादानसे (विरमण) निवर्त्तना है । (भते !) हे भदन्त ! (सव्व) सब (अदिन्नादाण) अदत्तादानका (पच्चक्खामि) प्रत्याख्यान करता हू (से) जैसे कि—(गामे वा) ग्रामके विषय, अथवा (नगरे वा) नगरके विषय, अथवा (रण्णे वा) अटवीके विषय, अथवा (अप्प वा) अल्प मूल्यवाला पदार्थ, अथवा (बहु वा) बहुमूल्य वाला पदार्थ, अथवा (अणु वा) सूक्ष्म पदार्थ, अथवा (थूल वा) स्थूल पदार्थ, अथवा (सचित्तमत वा) सचित्त पदार्थ, अथवा (अचित्तमत वा) अचित्त पदार्थ (अदिन्न) जो कि बिना किसीका दिया हुआ हो, (नेव सय गिण्हिज्जा,) मैं स्वय ग्रहण नहीं करू, (अन्नेहिं) औरोंसे (अदिन्न) अदत्तादानको (नेव गिण्हाविज्जा,) ग्रहण न कराऊं, और (अदिन्न)

भते ! पडिक्कमामि, निंदामि गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि । चउत्थे भते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ॥४॥ [सूत्र ॥१०॥]

अथापरस्मिंश्चतुर्थे भदन्त ! महाव्रते मैथुनाद्विरमणं । सर्वं भदन्त ! मैथुनं प्रत्याख्यामि । तद्यथा-दैवं वा, मानुषं वा, तैर्यग्योनं वा, नैव स्वयं मैथुनं सेवे, नैवान्यैर्मैथुनं सेवयामि, मैथुनं सेवमानानप्यन्यान्न समनुजानामि, यावज्जीवं, त्रिविधं, त्रिविधेन मनसा, वाचा, कायेन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वतोप्यन्यान् न समनुजानामि, तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि, निन्दामि, गर्हामि, आत्मानं व्युत्सृजामि, चतुर्थे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि, सर्वस्मात् मैथुनात् विरमणम् ॥४॥ [सूत्र ॥१०॥]

अन्वयार्थ—(**भंते !**) हे भगवन् ! (**अहावरे**) अब (**चउत्थे**) चतुर्थ (**महव्वए**) महाव्रतमें (**मेहुणाओ**) मैथुनसे (**वेरमणं**) निवर्तन होना है । (**भंते !**) हे भगवन् ! (**सव्वं**) सर्व प्रकारके (**मेहुणं**) मैथुनका (**पच्चक्खामि**) मैं प्रत्याख्यान करता हू । (**से**) जैसे कि—(**देवं वा**) देव सम्बन्धी, अथवा (**माणुसं वा**) मानुष सम्बन्धी, अथवा (**तिरिक्खजोणियं वा**) तिर्यग् योनि सम्बन्धी (**मेहुणं**) मैथुनका (**नेव सेविज्जा,**) मैं सेवन नहीं करूं,

भाष्य—ग्राम, नगर, जंगल, जलाशय, पर्वत, आकाश, पाताल आदि किसी जगह, दिन, रात, सुबह, शाम आदि किसी भी समय, चेतन या अचेतन, थोड़ी या बहुत, छोटी या बड़ी बिना दी हुई किसी भी चीज़को मनसे, वचनसे और कायसे न ग्रहण करना, न ग्रहण कराना और न ग्रहण करते हुएको भला मानना, इसका नाम 'अदत्तादान' तीसरा महाव्रत है।

पूर्वकी तरह इसके भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, तथा मिश्रामिश्रके विकल्पसे अनेक भेद होजाते हैं ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ ६ ॥]

उत्थानिका—अब चौथे महाव्रतका वर्णन करते हैं—

अहावरे चउत्थे भंते ! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं । सव्वं भंते ! मेहुणं पच्चक्खामि । से दिव्वं वा, माणुसं वा, तिरिक्खजोणियं वा, नेव सयं मेहुणं सेविज्जा, नेवऽन्नेहिं मेहुणं सेवाविज्जा, मेहुणं सेवंतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए, तिविहं, तिविहेणं मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स

नहीं कराऊ और सेवन करते हुए अन्य जीवोंकी अनुमोदना भी नहीं करू । जीवन पर्यन्त तीन करण–कृत कारित-अनुमोदनासे और तीन योग—मन, वचन और कायसे न करू, न कराऊ और न करते हुओंकी अनुमोदना ही करू । हे भगवन् ! मैं उस पापरूप दण्डसे प्रतिक्रमण करता हू, आत्मसाक्षीपूर्वक निन्दा करता हू, गुरुसाक्षीपूर्वक गर्हणा करता हू और पापरूप आत्माका परित्याग करता हू । हे भगवन् ! चतुर्थ महाव्रत, जो कि सर्व प्रकारसे मैथुनसे विरतिरूप है, उसमें मैं उपस्थित होता हू ॥ ४ ॥ [सूत्र ॥ १० ॥]

भाष्य—चार गतियोंमेंसे स्त्री जाति तीन ही गतियोंमें होती है, देव, मनुष्य और तिर्यञ्च में । नरकगतिमें स्त्री जाति नहीं होती । इन तीनों स्त्री सम्बन्धी मैथुनका साधुको परित्याग करदेनेसे स्त्रीमात्रका परित्याग हो जाता है ।

केवल रतिकर्मका ही नाम मैथुन नहीं है । बल्कि रतिभाव—रागभावविशेषपूर्वक जीवकी जितनी भर चेष्टाए हैं, वे सभी मैथुन हैं । इसीलिये शास्त्रकारोंने मैथुनके अनेक भेद किये हैं ।

यद्यपि चित्तमें इसके उत्पन्न करनेवाले अनेक कारण हैं, फिर भी उनमेंसे 'रूप' एक मुख्य कारण है । उस रूपके दो भेद हैं—एक रूप और दूसरा रूपसहगत द्रव्य । रूप अचित्त कारण है

(अन्नेहिं) औरोंसे (मेहुण) मैथुनका (नेव सेवाविज्जा) सेवन नहीं कराऊं, (मेहुण) मैथुनका (सेवतेऽपि अन्ने) सेवन करते हुए औरोंको (न समणुजाणामि) भला भी नहीं समझू, (जावज्जीवाए,) जीवन पर्यन्त, (तिविहं,) त्रिविध, (तिविहेण) त्रिविधसे (मणेण,) मनसे, (वायाए,) वचनसे, (काएण,) कायसे, (न करेमि,) न करूं, (न कारवेमि,) न कराऊं, (करतपि) करते हुए (अन्न) अन्य की (न समणुजाणामि,) अनुमोदना भी नहीं करूं, (भंते !) हे भगवन् ! (तस्स) उसकी (पडिक्कमामि,) मैं प्रतिक्रमण करता हूं, (निंदामि,) निन्दा करता हूं, (गरिहामि,) गर्हणा करता हूं, और (अप्पाणं) आत्माका (वोसिरामि) परित्याग करता हूं। (भंते !) हे भगवन् ! (चउत्थे) चतुर्थ (महव्वए) महाव्रतके विषयमें (सव्वाओ) जो कि सर्व प्रकारसे (मेहुणाओ) मैथुनसे (वेरमणं) निवृत्तिरूप है, (उवट्ठिओमि) मैं उपस्थित होता हूं ॥ ४ ॥ [सूत्र ॥ १० ॥]

मूलार्थ—हे भगवन् ! मैथुनसे विरमण करनेका चतुर्थ महाव्रत श्रीभगवान्ने प्रतिपादन किया है। इसलिये हे भगवन् ! मैं सर्व मैथुनका प्रत्याख्यान करता हूं। तथा च-देव सम्बन्धी मनुष्य सम्बन्धी और तिर्यक् योनि सम्बन्धी मैथुन कर्म मैं स्वयं सेवन नहीं करूं, औरोंसे सेवन

अहावरे पचमे भते ! महव्वए परिग्गहाओ वेरमण । सव्व भते ! परिग्गह पच्चक्खामि । से अप्प वा, बहु वा, अणु वा, थूल वा, चित्तमत वा, अचित्तमत वा, नेव सय परिग्गह परिगिण्हिज्जा, नेवऽन्नेहिं परिग्गह परिगिण्हाविज्जा, परिग्गह परिगिण्हते वि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविह, तिविहेण, मणेण वायाए, काएण, न करेमि, न कारवेमि, करतपि अन्न न समणुजाणामि । तस्स भते ! पडिक्कमामि निंदामि, गरिहामि, अप्पाण वोसिरामि । पचमे भते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमण ॥ ५ ॥ [सूत्र ॥११॥]

अथापरस्मिन् पञ्चमे भदन्त ! महाव्रत परिग्रहाद्विरमण। सर्व भदन्त ! परिग्रह प्रत्याख्यामि, तद्यथा—अल्प वा, बहु वा, अणु वा, स्थूल वा, चित्तवन्त वा, अचित्तवन्त वा, नैव स्वय परिग्रह परिगृह्णामि, नैवान्य परिग्रह परिग्राहयामि, परिग्रह परिगृह्णतोऽप्यन्यान् न समनुजानामि,

और रूपसहगत द्रव्य सचित्त कारण है। अथवा भूषणविकल सौन्दर्य्यको 'रूप' और भूषण सहित सौन्दर्य्यको 'रूपसहगत' कहते हैं।

शेष वर्णन पूर्ववत् यहां भी समझ लेना चाहिये। जैसे कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव तथा इनके मिश्रामिश्र भेदसे इसके भी अनेक भेद होते हैं।

यों तो चारित्रधर्मकी प्रत्येक क्रियाएं अपना-अपना विशिष्ट महत्त्व रखती हैं, क्योंकि चारित्रधर्मकी महिमा ही अपरम्पार है। मोक्षके सम्यग्दर्शन और सम्यग् ज्ञान तो साधक हैं, लेकिन चारित्र साधकतम है। अस्तु। चारित्रधर्मके समस्त भेदोंमेंसे मैथुनपरित्याग नामका महाव्रत अत्यन्त अद्भुत शक्ति रखता है। इसके प्रतापसे अनेक अकल्पित कार्य सुतरां सिद्ध हो जाते हैं। इसके बिना समस्त जप, तप अकार्यकारी हो जाते हैं। इसके पालनेमें भी मुनियोंको भारी कठिनता का सामना करना पड़ता है, जैसा कि द्वितीयाध्ययनमें वर्णन किया जा चुका है। इसमें सन्देह नहीं कि इसके पूर्ण-विशुद्धरूपसे पालन करनेसे मुनि परम पूज्य और मोक्षाधिकारके सर्वथा योग्य बन जाता है ॥ ४ ॥ [सूत्र ॥ १०]

उत्थानिका—अब सूत्रकार पञ्चम महाव्रतके विषयमें कहते हैं —

वचनसे, (काएण,) कायसे, (न करेमि,) न करू, (न कारयेमि,) न कराऊ, (अन्न) औरों की (करतपि) करते हुवों की (न समणुजाणामि,) अनुमोदना भी नहीं करू, (भंते!) हे भगवन्! (तस्स) उसका (पडिक्कमामि,) मैं प्रतिक्रमण करता हू, (निंदामि,) निन्दा करता हू, (गरिहामि,) गर्हणा करता हू, (अप्पाण) आत्माको (वोसिरामि) छोडता हू, (भंते!) हे भगवन्! (पचमे महव्वए) पाचवें महाव्रतमें जो कि (सव्वाओ) सर्व प्रकार (परिग्गहाओ) परिग्रहसे (विरमण) निवर्तनरूप है, उसमें (उवट्ठिओमि) मैं उपस्थित होता हू ॥ ५ ॥

[सूत्र ॥ ११ ॥]

मूलार्थ—अब हे भगवन्! परिग्रहसे निवृत्त होनेको पचम महाव्रत श्रीभगवान्ने प्रतिपादन किया है। इसलिये हे भगवन्! मैं सब प्रकारके परिग्रहका प्रत्याख्यान करता हू। जैसे कि अल्प वा बहुत, सूक्ष्म वा स्थूल, चेतनावाले पदार्थ वा चेतनारहित पदार्थ, इन सबको मैं स्वय ग्रहण नहीं करू, न औरोंसे ग्रहण कराऊ, और न ग्रहण करते हुए औरोंकी अनुमोदना करू। जीवन पर्यन्त तीन करण—कृत-कारित-अनुमोदनासे और तीन योग—मन-वचन-कायसे, न करू, न कराऊ, न करते हुए औरोंको भला समझू। हे भगवन्! इस पापरूप दण्डका

यावज्जीव त्रिविध, त्रिविधेन, मनसा, वाचा, कायेन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वंतोप्यन्यान् न समनुजानामि, तस्य भदन्त ' प्रतिक्रमामि, निन्दामि, गर्हाम्यात्मान व्युत्सृजामि, पञ्चमे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात् परिग्रहाद्विरमणम् ॥ ५ ॥ [सूत्र ॥ ११ ॥]

अन्वयार्थ—(अहावरे) अब (भंते !) हे भदन्त ! (**पचमे**) पांचवें (**महव्वए**) महाव्रतके विषयमें (**परिग्गहाओ**) परिग्रहसे (**विरमण**) निवृत्त होना है। (**भंते !**) हे भगवन् ! (**सव्व**) सर्व प्रकारके (**परिग्गह**) परिग्रहका (**पच्चक्खामि**) मैं प्रत्याख्यान करता हूं, (**से**) जैसे कि (**अप्प वा**) अल्प मूल्यवाले, अथवा (**बहु वा**) बहुमूल्यवाले, अथवा (**अणु वा**) सूक्ष्म आकारवाले, अथवा (**थूल वा**) स्थूल आकारवाले, अथवा (**चित्तमत वा**) चेतनावाले, अथवा (**अचित्तमत वा**) अचेतनावाले, (**परिग्गह**) परिग्रहको (**सय**) स्वय (**नेव परिगिण्हिज्जा,**) ग्रहण न करूं, (**अन्नेहिं**) औरोंसे (**परिग्गह**) परिग्रहको (**नेव परिगिण्हाविज्जा,**) ग्रहण न कराऊं, (**परिग्गह**) परिग्रहको (**परिगिण्हतेऽवि**) ग्रहण करते हुए (**अन्ने**) औरोंको (**न समणुजाणामि,**) भला भी नहीं समझूं (**जावज्जीवाए,**) जीवनपर्यन्त, (**तिविहं,**) त्रिविध, (**तिविहेण**) त्रिविधसे (**मणेण,**) मनसे, (**वायाए,**)

उत्थानिका--पांच महाव्रतोंके अनन्तर अब सूत्रकार छठे रात्रिभोजनविरमण व्रतके विषयमें वर्णन करते हैं —

अहावरे छट्ठे भंते ! वए राइभोयणाओ वेरमणं । सव्वं भंते ! राइभोयणं पच्चक्खामि । से असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा साइमं वा, नेव सयं राइं भुंजिज्जा, नेवऽन्नेहिं राइं भुंजाविज्जा, राइं भुंजतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए, तिविहं, तिविहेणं मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि । छट्ठे भंते ! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राइभोयणाओ वेरमणं ॥६॥ [सूत्र ॥१२॥]

अथापरस्मिन् षष्ठे भदन्त ! व्रते रात्रिभोजनाद्विरमणम् । सर्वं भदन्त ! रात्रिभोजनं प्रत्याख्यामि । तद्यथा-अशनं वा, पानं वा, खाद्यं वा, स्वाद्यं वा, नैव स्वयं रात्रौ भुञ्जे, नैवान्यैः रात्रौ

मैं प्रतिक्रमण करता हूं, आत्मसाक्षीपूर्वक निन्दा करता हूं, गुरुसाक्षीपूर्वक गर्हणा करता हूं, और पापरूप आत्माका परित्याग करता हूं। हे भगवन्! पांचवां महाव्रत, जो कि सब प्रकारके परिग्रहसे विरमणरूप है, उसमें मैं उपस्थित होता हूं॥ ५॥ [सूत्र॥ ११ ॥]

भाष्य—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, तथा इनके मिश्रामिश्रकी अपेक्षासे परिग्रहत्यागके अनेक भेद होते हैं। जैसे कि साधु जो परिग्रह रखते हैं, वह 'द्रव्य परिग्रहके धारी' कहला सकते हैं, भाव परिग्रहके नहीं। और कोई द्रव्यसे तो परिग्रह न रक्खे अर्थात् बाह्यमें परिग्रह उसके पास न होवे, किन्तु अन्तरङ्गमें परिग्रह रखनेके भाव हों—परिग्रहसे ममत्वपरिणाम हो तो वह व्यक्ति 'भाव परिग्रह का धारी' कहला सकता है, द्रव्य परिग्रहका नहीं। तथा किसीके पास द्रव्य परिग्रह भी विद्यमान है और भावोंमें भी परिग्रहके प्रति ममत्व परिणाम है, तो वह व्यक्ति 'उभय परिग्रहका धारी' कहलायेगा। और जिस महात्माके पास न तो किसी प्रकारका बाह्य परिग्रह है, और न किसी प्रकारका ममत्वपरिणाम अन्तरङ्गमें परिग्रहके प्रति है, वह 'उभयपरिग्रहरहित' कहलायगा। इस प्रकार उभयपरिग्रहरहित आत्मा निज-आत्मगुणोंको विकसित करके शीघ्र परमात्मपदको प्राप्त करता है। शेष वर्णन पूर्ववत्॥ ५॥ [॥ ११॥]

उत्थानिका -पाच महाव्रतोंके अनन्तर अब सूत्रकार छठे रात्रिभोजनाविरमण व्रतके विषयमें वर्णन करते हैं —

अहावरे छट्ठे भंते ! वए राइभोयणाओ वेरमणं । सव्वं भंते ! राइभोयणं पच्चक्खामि । से असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा साइमं वा, नेव सयं राइं भुंजिज्जा, नेवऽन्नेहिं राइं भुंजाविज्जा, राइं भुंजंतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए, तिविहं, तिविहेणं मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि । छट्ठे भंते ! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राइभोयणाओ वेरमणं ॥६॥ [सूत्र ॥१२॥]

अथापरस्मिन् षष्ठे भदन्त ! व्रते रात्रिभोजनाद्विरमणं । सर्वं भदन्त ! रात्रिभोजनं प्रत्याख्यामि । तद्यथा-अशनं वा, पानं वा, खाद्यं वा, स्वाद्यं वा, नैव स्वयं रात्रौ भुञ्जे, नैवान्यैः रात्रौ

मैं प्रतिक्रमण करता हूं, आत्मसाक्षीपूर्वक निंदा करता हूं, गुरुसाक्षीपूर्वक गर्हणा करता हूं, और पापरूप आत्माका परित्याग करता हूं। हे भगवन्! पांचवां महाव्रत, जो कि सब प्रकारके परिग्रहसे विरमणरूप है, उसमें मैं उपस्थित होता हूं॥ ५॥ [सूत्र॥ ११॥]

भाष्य—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, तथा इनके मिश्रामिश्रकी अपेक्षासे परिग्रहत्यागके अनेक भेद होते हैं। जैसे कि साधु जो परिग्रह रखते हैं, वह 'द्रव्य परिग्रहके धारी' कहला सकते हैं, भाव परिग्रहके नहीं। और कोई द्रव्यसे तो परिग्रह न रक्खे अर्थात् बाह्यमें परिग्रह उसके पास न होवे, किन्तु अन्तरङ्गमें परिग्रह रखनेके भाव हों—परिग्रहसे ममत्वपरिणाम हो तो वह व्यक्ति 'भाव परिग्रह का धारी' कहला सकता है, द्रव्य परिग्रहका नहीं। तथा किसीके पास द्रव्य परिग्रह भी विद्यमान है और भावोंमें भी परिग्रहके प्रति ममत्व परिणाम है, तो वह व्यक्ति 'उभय परिग्रहका धारी' कहलायेगा। और जिस महात्माके पास न तो किसी प्रकारका बाह्य परिग्रह है और न किसी प्रकारका ममत्वपरिणाम अन्तरङ्गमें परिग्रहके प्रति है, वह 'उभयपरिग्रहरहित' कहलायेगा। इस प्रकार उभयपरिग्रहरहित आत्मा निज-आत्मगुणोंको विकसित करके शीघ्र परमात्मपदको प्राप्त करता है। शेष वर्णन पूर्ववत्॥ ५॥ [॥ १२॥]

(**न करेमि,**) न करूं, (**न कारवेमि,**) न कराऊं, (**करतपि अ न**) करते हुए अन्यकी (**न समणुजाणामि,**) अनुमोदना भी नहीं करूं, (**तस्स**) उसका (**भंते !**) हे भगवन् ! (**पडिक्कमामि,**) मैं प्रतिक्रमण करता हूं, (**निंदामि,**) निन्दा करता हूं, (**गरिहामि,**) गर्हणा करता हूं, (**अप्पाण**) आत्माका (**वोसिरामि**) परित्याग करता हूं। (**भंते !**) हे भगवन् ! (**छट्ठे**) छठे (**वए**) व्रतके विषयमें जो कि (**सव्वाओ**) सर्व प्रकारसे (**राइभोयणाओ**) रात्रिभोजनसे (**वेरमण**) विरमणरूप है, उसमें (**उवट्ठिओमि**) मैं उपस्थित होता हूं ॥ ६ ॥

[सूत्र ॥ १२ ॥]

मूलार्थ—हे भगवन् ! पांच महाव्रतोंके बाद छठा व्रत जो कि रात्रिभोजनसे विरमणरूप है, श्रीभगवान्ने प्रतिपादन किया है। इसलिये हे भगवन् ! मैं सर्व प्रकारसे रात्रिभोजनका प्रत्याख्यान करता हूं। जैसे कि—अन्न १, पानी २, खाद्य ३ और स्वाद्य ४, इन पदार्थोंको स्वय मैं रात्रिमें भोजन नहीं करूं, न औरोंसे रात्रिमें भोजन कराऊं, और न रात्रिमें भोजन करनेवालोंकी अनुमोदना करूं। जीवन पर्यन्त, तीन करण—कृत-कारित-अनुमोदनासे और तीन योग—मन-वचन-कायसे न करूं, न कराऊं और न करते हुए अन्यकी अनुमोदना करूं। हे भगवन् ! उस पापरूप दण्डसे

भोजयामि, रात्रौ भुञ्जानानप्यन्यान्नैव समनुजानामि, यावज्जीव, त्रिविध, त्रिविधेन-मनसा, वाचा, कायेन, न करामि, न कारयामि, कुर्वतोप्यन्यान् न समनुजानामि, तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि, निन्दामि, गर्हामि, आत्मान व्युत्सृजामि, षष्ठे भदन्त ! व्रते उपस्थितोऽस्मि, सर्वस्मात् रात्रिभोजनात् विरमणम् ॥ ६ ॥ [सूत्र ॥ १२ ॥]

अन्वयार्थ—(**भते !**) हे भगवन् ! (**अहावरे**) अब (**छट्ठे**) छठे (**वए**) व्रतके विषयमें (**राइभोयणाओ**) रात्रिभोजनसे (**वेरमण**) निवृत्त होना है । (**भते !**) हे भगवन् ! (**राइभोयण**) रात्रिभोजनका (**सव्व**) सर्व प्रकारसे (**पच्चक्खामि**) मैं प्रत्याख्यान करता हू । (**से**) जैसे कि—(**असण वा**) अन्नादि, अथवा (**पाण वा**) पानी, अथवा (**खाइम वा**) खाद्य पदार्थ, अथवा (**साइम वा**) स्वाद्य पदार्थ, (**सय**) स्वय (**राइ**) रात्रिके विषय (**नेव भुजिज्जा,**) नही भोजन करू, (**अन्नेहिं**) औरोंसे (**राइ**) रात्रिमें (**नेव भुजाविज्जा,**) भोजन नही कराऊं, (**अन्ने**) औरोंको (**राइ भुजतेवि**) रात्रिभोजन करते हुओंकी (**न समणुजाणामि**) अनुमोदना भी नही करू, (**जावज्जीवाए,**) जीवन पर्यन्त, (**तिविह,**) त्रिविध, (**तिविहेण**) त्रिविधसे (**मणेण,**) मनसे, (**वायाए,**) वचनसे, (**काएण,**) कायसे,

चाहिये था ? इसका समाधान यह है कि प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकरके समय जो ऋजुजड़ और वक्रजड़ लोग पैदा हो जाते हैं, उनकेलिये इसका पाठ महाव्रतके पाठके पश्चात् ही रक्खा गया है। और इस पाठ्यक्रमसे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि यह रात्रिभोजनविरमण व्रत महाव्रत नहीं है, तो भी महाव्रतकी भांति ही इसका पालन करना चाहिये।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, तथा इनके मिश्रामिश्रकी दृष्टिसे इसके भी अनेक भेद हो जाते हैं। जैसे कि–द्रव्यसे अशनादि, क्षेत्रसे ढाई द्वीपोंमें, कालसे रात्रिमें, और भावसे रागद्वेष रहित होकर इसका पालन करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त इसके भेद और तरहसे भी हो सकते हैं। जैसे कि— १–रात्रिमें अशनादि ग्रहण करना और रात्रिमें खाना, २ रात्रिमें ग्रहण करना और दिनमें खाना, ३–दिनमें ग्रहण करना और रात्रिमें खाना, ४–दिनमें ग्रहण करना और दिनमें ही खाना। इन चारों भङ्गोंमेंसे प्रथमके तीन भङ्ग साधुकेलिये अशुद्ध–अग्राह्य हैं और अन्तका चौथा एक शुद्ध–ग्राह्य है।

द्रव्य और भावकी अपेक्षासे भी रात्रिभोजन चार भङ्ग होते हैं। जैसे कि १–केवल द्रव्यसे, २–केवल भावसे, ३–द्रव्य भाव उभयसे, ४–द्रव्य भाव उभय रहितसे। १–सूर्योदय या सूर्यास्तका

मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, आत्मसाक्षीपूर्वक निन्दा करता हूँ, गुरुसाक्षीपूर्वक गर्हणा करता हूँ और पापरूप आत्माका परित्याग करता हूँ। हे भगवन्! छठे व्रतके विषयमें जो कि सर्व प्रकारसे रात्रिभोजनमें विरमणरूप है, उसमें मैं उपस्थित होता हूँ ॥ ६ ॥ [सूत्र ॥ १२ ॥]

भाष्य- यह रात्रिभोजनविरमण नामका व्रत प्रथम अहिंसा महाव्रतकी रक्षाकेलिये प्रतिपादन किया गया है। इसमें अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य† इन चारों प्रकारके आहारका त्याग रात्रिकेलिये सर्वथा किया जाता है।

यदि यहां यह शङ्का की जाय कि इस रात्रिभोजनविरमण व्रतको 'व्रत' क्यों कहा जाता है, 'महाव्रत' क्यों नहीं कहा जाता? इसका समाधान यह है कि महाव्रतोंका पालना जितना कठिन है, इसका पालना उतना कठिन नहीं है। इसलिये यह व्रत 'व्रत' कहलाता है, 'महाव्रत' नहीं कहलाता। इसीलिये इसको मूलगुणोंमें भी नहीं गिना जाता, बल्कि उत्तरगुणोंमें गिना जाता है।

तो फिर इसका सूत्र महाव्रतोंके ही पश्चात् क्यों पढ़ा गया है? उत्तरगुणोंमें उसको पढ़ना

† 'अश्यत इत्यशनं ओदनादि, पीयत इति पानं मद्य-दुग्धादि, खाद्यत इति खाद्यं खर्जूरादि, स्वाद्यत इति स्वाद्यं ताम्बूलादि।

इत्येतानि पञ्चमहाव्रतानि रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि आत्महिताय उपसपद्य विहरामि ॥१३॥

अन्वयार्थ—(इच्चेयाइं) अहिंसादि (पंचमहव्वयाइं) पांच महाव्रत (राइभोयण-वेरमणछट्ठाइं) रात्रिभोजनविरमण छठा व्रत (अत्तहियट्ठियाए) आत्म-हितकेलिये (उवसपज्जिता णं†) अंगीकार करके (विहरामि) विचरता हूं ॥१३॥

मूलार्थ—हिंसादि पांच महाव्रत और रात्रिभोजनविरमण छठे व्रतको मैं आत्म-हितकेलिये अंगीकार करके विचरता हूं ॥ १३ ॥

उक्त रात्रिभोजनत्याग व्रत मनुष्यको तप तथा पांच महाव्रतकी रक्षाकेलिये करना चाहिये। इसीलिये सूत्रमें शिष्य कहता है कि 'हे भगवन्! पांच महाव्रत और छठा रात्रिभोजनत्याग व्रत मैं आत्महित अर्थात् मोक्षकी प्राप्तिकेलिये ग्रहण करके विचरता हूं ॥ १३ ॥

उत्थानिका—चारित्रधर्मकी रक्षाकेलिये षट्कायके जीवोंकी रक्षा सदैव यत्नसे करना चाहिये। इस विषयका वर्णन करते हुए सूत्रकार प्रथम पृथ्वीकायके यत्न करनेके विषयमें कहते हैं—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे,

† यहांपर यह 'णं' वाक्य अलंकार में है।

सन्देह रहते हुए जो भोजन किया जाता है, वह केवल द्रव्यसे रात्रिभोजन है, भावसे नहीं। २–"मैं रात्रिमें भोजन करू", ऐसा विचार तो हो जाय, लेकिन खाय नहीं, वह केवल भावसे रात्रिभोजन है, द्रव्यसे नहीं। ३–बुद्धिपूर्वक रात्रिमें भोजन कर लेना, द्रव्य और भाव उभयसे—दोनोंसे रात्रि भोजन है। ४–और न रात्रिमें भोजन करना और न करनेकी अभिलाषा रखना, यह द्रव्य और भाव उभयसे-दोनोंसे रहित भङ्ग है।

सूत्रमें 'असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा' पद देकर सूत्रकारने मद्य–मांसका सर्वथा निषेध सूचित कर दिया है॥ क्योंकि रात्रिमें भोजन करनेका निषेध उक्त चारों ही प्रकारके आहार का किया है। मद्य–मांस उक्त चारों प्रकारके आहारमें नहीं है। इसलिये इन दो महा अपवित्र पदार्थोंका त्याग तो मनुष्यको सर्वथा और सर्वदाकेलिये कर रखना चाहिये। क्योंकि ये मनुष्यके किसी भी प्रकारके आहारमें ही नहीं गिने जाते। ये मनुष्यजातिकेलिये सर्वथा अयोग्य वस्तु हैं॥ ॥६॥ [सूत्र॥१२॥]

इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं राइभोयणवेरमणछट्ठाइं अत्तहियट्ठियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरामि ॥ १२ ॥

एको वा, परिषद्गतो वा, सुप्तो वा, जागृद्वा, तद्यथा पृथिवीं वा, भित्तिं वा, शिलां वा, लोष्टं वा, सरजस्कं वा कायं, सरजस्कं वा वस्त्रं, हस्तेन वा, पादेन वा, काष्ठेन वा, कलिञ्जेन वा, अङ्गुल्या वा, शलाकया वा, शलाकाहस्तेन वा, नालिखेत्, न विलिखेत्, न घट्टयेत्, न भिन्द्यात्, अन्यमन्येन वा नालेखयेत्, न विलेखयेत्, न घट्टयेत्, न भेदयेत्, अन्यं आलिखन्तं वा, विलिखन्तं वा, घट्टयन्तं वा, भिन्दन्तं वा न समनुजानीयात्, यावज्जीवं, त्रिविधं, त्रिविधेन, मनसा, वाचा, कायेन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त! प्रतिक्रमामि, निन्दामि, गर्हामि, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ १ ॥ [सूत्र ॥ १४ ॥]

अन्वयार्थ—(**से**) वह पूर्वोक्त पाँच महाव्रतोंके धारण करनेवाला (**भिक्खू वा**) भिक्षु, अथवा (**भिक्खुणी वा**) भिक्षुणी-साध्वी, जो कि (**संजय**) निरन्तर यत्नशील, (**विरय**) नाना प्रकारके व्रतोंमें रत, (**पडिहय**) कर्मोंकी स्थितिको प्रतिहत करनेवाले, (**पच्चक्खायपावकम्मे**) तथा जिन्होंने पापकर्मके हेतुओंका प्रत्याख्यान कर दिया है, ऐसे, (**दिआ वा,**) दिनके विषय, अथवा (**राओ वा,**) रात्रिके विषय, अथवा (**एगओ वा,**) अकेले हों, अथवा (**परिसागओ वा,**) परिषत्में बैठे हुए हों, अथवा (**सुत्ते वा,**) सोते हुए हों, अथवा (**जागरमाणे वा,**) जागते हुए हों, (**पुढविं वा,**) पृथिवीको, अथवा (**भित्तिं वा,**) नदीके

दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से पुढविं वा, भित्तिं वा, सिलं वा, लेलुं वा, ससरक्खं वा कायं, ससरक्खं वा वत्थं,हत्थेण वा, पाएण वा कट्ठेण वा, किलिंचेण वा, अंगुलियाए वा, सिलागाए वा, सिलागहत्थेण वा, न आलिहिज्जा, न विलिहिज्जा, न घट्टिज्जा, न भिंदिज्जा, अन्न न आलिहाविज्जा, न विलिहाविज्जा, न घट्टाविज्जा, न भिंदाविज्जा, अन्नं आलिहंतं वा, विलिहंतं वा, घट्टंतं वा, भिंदंतं वा न समणुजाणेज्जा, जावज्जीवाए, तिविहं, तिविहेणं मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥ १ ॥ [सूत्र ॥ १४ ॥]

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ वा,

(काएण,) कायसे, (न करेमि,) न करू, (न कारयेमि,) न कराऊ, (करतपि) करते हुए (अन्न) औरोंको (न समणुजाणामि भला न समझू, (भते !) हे भगवन् ! (तस्स) उसकी (पडिक्कमामि,) मैं प्रतिक्रमणा करता हू, (निंदामि,) निन्दा करता हू, (गरिहामि,) गर्हणा करता हू, और (अप्पाण) आत्माको (वोसिरामि) हटाता हू॥ १ ॥ [सूत्र ॥ १४ ॥]

मूलार्थ—वे भिक्षु अथवा भिक्षुणी, जो कि सयत हैं, विरत हैं, प्रतिहत हैं और पापकर्मों का प्रत्याख्यान कर चुके हैं, दिन-रातमें, अकेले-दुकेले, सोते-जागते, पृथ्वीको, भीतको, शिलाको, पत्थरको, सरजस्क शरीरको सरजस्क वस्त्रको, हाथसे, पावसे, लकडीसे, लकडीके टुकडेसे अँगुलीसे, सलाइसे, सलाइकी नोंकसे, न थोडा लिखे, न बहुत लिखे, न डाले, न छेदे, न औरोंसे थोडा लिखावे, न औरोंसे बहुत लिखावे, न डलवावे न छिदवावे, और न औरोंकी थोडा लिखनेपर, न औरोंकी बहुत लिखनेपर, न औरोंकी डालनेपर, न औरोंकी छेदनेपर, अनुमोदना करे । हे भगवन् ! मैं जीवन पर्यन्त तीन करण– कृत-कारित-अनुमोदनासे और त्रिविध– मन-वचन-कायसे न करू, न कराऊ और न करते हुएकी अनुमोदना करू । हे भगवन् ! मैं उस पापकी प्रतिक्रमणा करता हू, आत्मसाक्षीपूर्वक निन्दा करता हू, गुरु साक्षीपूर्वक गर्हणा करता हू और उस पापसे अपनी आत्माको हटाता हू ॥ १ ॥ [सूत्र ॥ १४ ॥]

तटकी मिट्टीको, अथवा (सिलं वा,) शिलाको, अथवा (लेलुं वा,) शिलापुत्रको, अथवा (ससरक्खं वा कायं,) सचित्त रजसे भरे हुए शरीरको, अथवा (ससरक्खं वा वत्थं) सचित्तरजसे भरे हुए वस्त्रको, अथवा (हत्थेण वा,) हाथसे, अथवा (पाएण वा,) पगों से, अथवा (कट्ठेण वा,) काष्ठ से, अथवा (किलिंचेण वा,) काठके खडसे, अथवा (अंगुलियाए वा,) अंगुलिसे, अथवा (सिलागाए वा,) लोहेकी शलाकासे, अथवा (सिलागहत्थेण वा,) शलाकाके समुदायसे (न आलिहिज्जा,) सचित्त पृथिवीपर लिखे नहीं (न विलिहिज्जा,) विशेष लिखे नहीं, (न घट्टिज्जा,) एक स्थानसे द्वितीय स्थानपर सचित्त पृथिवीको गेरे नहीं, (न भिंदिज्जा,) सचित्त पृथिवीको भेदन करे नहीं, (अन्नं) औरोंसे (न आलिहाविज्जा,) सचित्त पृथिवीपर लिखावे नहीं, (न विलिहाविज्जा,) विशेष औरोंसे लिखावे नहीं, (न घट्टाविज्जा,) सचित्त पृथिवीको अन्यसे स्थानान्तर संक्रमण करावे नहीं, (न भिंदाविज्जा,) औरोंसे भेदन करावे नहीं, (अन्नं) औरोंको (आलिहंतं वा,) अथवा आलेखन करते हुएको, अथवा (विलिहंतं वा,) विशेष आलेखन करते हुएको, अथवा (घट्टंतं वा) स्थानान्तरसे संक्रमण करते हुएको, अथवा (भिंदंतं वा,) भेदन करते हुएको (न समणुजाणिज्जा) अनुमोदित करे नहीं, (जावज्जीवाए,) जीवन पर्यन्त, (तिविहं,) त्रिविध, (तिविहेण) त्रिविधसे (मणेणं,) मनसे, (वायाए,) वचनसे,

आदि करे नहीं। इतना ही नहीं, किन्तु ऐसा दूसरोंसे कभी कराये नहीं और ऐसा करनेवालेकी अनुमोदना भी करे नहीं। क्योंकि ऐसा करनेपर ही उसका चारित्रधर्म निर्दोष हो सकता है। और जिस स्थानपर अर्थात् मोक्षस्थानपर पहुँचनेकी तैयारी वह कर रहा है, वहां वह पहुँच सकता है।

यहां यह शङ्का की जा सकती है कि सूत्रकार पहिले भी पृथ्वीकायका वर्णन कर आये हैं और यहांपर फिर भी उन्होंने उसका वर्णन किया है। यह दुबारा उसी विषयका वर्णन 'पुनरुक्ति' नामका एक दूषण है। शास्त्रमें यह नहीं होना चाहिये। इसका समाधान यह है कि पहिले पृथ्वीका जो वर्णन किया गया है, वह उसका सामान्य कथन है। और यह सूत्र उसके भेदोंका वर्णन करनेवाला है। इसलिये उससे यह विशेष है। दोनों वर्णन एक नहीं हैं। पृथ्वीके उत्तरभेद, जो शास्त्रकारोंने सात लाख बतलाये हैं, उन सबका भी इन्हींमें समावेश हो जाता है। इन भेदोंका कथन करनेसे शास्त्रकारका यह अभिप्राय है कि जिन चीज़ोंसे मुनिको बचना है, उनका पूरा-पूरा ज्ञान उन्हें हो जाय। ताकि अपने क्रियाचरण पालनेमें उन्हें सुगमता हो जाय और कोई बाधा उपस्थित न हो।

सूत्र 'आलिहिज्जा-विलिहिज्जा'—'आलिखेत्-विलिखेत्' पद 'लिख' धातुके हैं, जिसका अर्थ-उकेरना, कुरेदना आदि होता है ॥ १ ॥ [सूत्र ॥ १४ ॥]

उत्थानिका—अब शास्त्रकार पृथिवीकायके अनन्तर अप्कायका वर्णन करते हैं—

भाष्य— पांच महाव्रत और छठे रात्रिभोजनत्याग व्रतका वर्णन करनेके बाद अब चारित्र धर्मका विशद वर्णन करना सूत्रकारको इष्ट है। लेकिन जब तक षट्कायके जीवोंकी यत्नपूर्वक रक्षा न की जायगी, तब तक चारित्रधर्म निर्दोषपूर्वक नहीं पाला जा सकता। अत एव सूत्रकारने षट् कायके जीवोंकी रक्षाका प्रकार बतलानेकेलिये आगाड़ी छह सूत्र कहे हैं। उनमेंसे पृथिवीकायकी रक्षाका पहिला सूत्र यह है।

साधु और साध्वी सकल परिग्रहका तो त्याग ही कर चुके हैं। केवल कायकी पालना करने कलिए वे भिक्षणशील—भिक्षु हैं।

सूत्रमें जो विशेषण भिक्षुकेलिये हैं, वे ही भिक्षुणीकेलिये भी हैं। लेकिन वे सब हैं पुंल्लिङ्ग, तथा 'भिक्खु' का पूर्व निपात भी है। इससे पुरुषकी प्रधानता सिद्ध होती है।

तप कर्ममें रत, कर्मोंकी दीर्घ स्थितिको जिसने ह्रस्व अर्थात् कम कर लिया हो, कर्मोंको बांधनेवाले एव बढानेवाले कारणोंका अभाव कर जिसने पापकर्मका प्रत्याख्यान कर लिया हो, इत्यादि विशेषणोंसे युक्त मुनि कभी भी सूत्रमें कही हुई अर्थात् सचित्त मिट्टीका स्पर्श न करे, अपना वस्त्रादि उपकरण उससे स्पर्शित न होने दे, उसपर कुछ लिखे नहीं, उसे इधरसे उधर

मणेणं, वायाए, काएणं, न करोमि, न कारवेमि करंतपि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥ २ ॥ [सूत्र ॥ १५ ॥]

स भिक्षुर्वा भिक्षुणी वा संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ वा, एको वा, परिषद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा; तद्यथा उदकं वा, अवश्याय वा, हिमं वा, महिकां वा, करकं वा, हरतनुं वा, शुद्धोदकं वा, उदकार्द्रं वा कायं, उदकार्द्रं वा वस्त्रं, सस्निग्धं वा कायं, सस्निग्धं वा वस्त्रं; नामृषेत्, न संस्पृशेत्, नापीडयेत्, न प्रपीडयेत्, नास्फोटयेत्, न प्रस्फोटयेत्, नातापयेत्, न प्रतापयेत्, अन्यं नामर्षयेत्, न संस्पर्शयेत्, नापीडयेत्, न प्रपीडयेत्, नास्फोटयेत्, न प्रस्फोटयेत्, नातापयेत्, न प्रतापयेत्, अन्यमामृषन्तं वा, संस्पृशन्तं वा, आपीडयन्तं वा, प्रपीडयन्तं वा, आस्फोटयन्तं वा, प्रस्फोटयन्तं वा, आतापयन्तं वा, प्रतापयन्तं वा न समनुजानीयाद्, यावज्जीवं, त्रिविधं, त्रिविधेन-मनसा, वाचा,

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे; दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से उदगं वा, ओसं वा, हिमं वा, महियं वा, करगं वा, हरतणुगं वा, सुद्धोदगं वा, उदउल्लं वा कायं, उदउल्लं वा वत्थं, ससिणिद्धं वा कायं, ससिणिद्धं वा वत्थं, न आमुसिज्जा, न संफुसिज्जा, न आवीलिज्जा न पवीलिज्जा, न अक्खोडिज्जा, न पक्खोडिज्जा, न आयाविज्जा, न पयाविज्जा, अन्नं न आमुसाविज्जा, न संफुसाविज्जा, न आवीलाविज्जा, न पवीलाविज्जा, न अक्खोडाविज्जा, न पक्खोडाविज्जा, न आयाविज्जा, न पयाविज्जा, अन्नं आमुसंतं वा, संफुसंतं वा, आवीलंतं वा, पवीलंतं वा, अक्खोडंतं वा, पक्खोडंतं वा, आयावंतं वा, पयावंतं वा न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए, तिविहं, तिविहेणं

फरे, (न आवीलिज्जा) थोडा भी दबावे नहीं, (न पवीलिज्जा,) वार वार दबावे नहीं, (न अवम्रोडिज्जा) एक वार भी झाडे नहीं, (न पवम्रोडिज्जा) वार वार झाडे नहीं (न आयाविज्जा,) एक वार भी सुखावे नहीं, (न पयाविज्जा) वार वार सुखावे नहीं, (अन्न) औरोंसे (न आमुसाविज्जा,) एक वार भी स्पर्श करावे नहीं, (न सफुसाविज्जा,) वार वार स्पर्श करावे नहीं, (न आवीलाविज्जा,) एक वार भी दबावे नहीं, (न पवीलाविज्जा,) वार वार दबावे नहीं, (न अवम्रोडाविज्जा,) एक वार झडकावे नहीं, (न पवम्रोडाविज्जा,) वार वार झडकावे नहीं, (न आयाविज्जा,) एक वार भी औरोंसे सुखवावे नहीं, (न पयाविज्जा,) वार वार औरोंसे सुखवावे नहीं, (अन्न आमुसत वा,) एक वार भी स्पर्श करनेपर औरकी, अथवा (सफुसत वा,) वार वार स्पर्श करनेपर औरकी, अथवा (आवीलत वा,) एक वार भी दबानेपर औरकी, अथवा (पवीलत वा,) वार वार दबानेपर औरकी, (अवम्रोडत वा,) एक वार भी झडकारनेपर औरकी, अथवा (पवम्रोडत वा,) वार वार झडकारनेपर औरकी, अथवा (आयावत वा,) एक वार सुखानेपर औरकी, अथवा (पयावत वा,) वार वार सुखानेपर औरकी (न समणुजाणिज्जा) अनुमोदना करे नहीं, (जावज्जीवाए) जीवन पर्यन्त (तिविहं) त्रिविध (तिविहेण) तीन प्रकारसे अर्थात् (मणेण,)

कायेन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वंतोप्यन्यान् न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि, निन्दामि, गर्हामि, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ २ ॥ [सूत्र ॥ १५ ॥]

अन्वयार्थ—(**से**) वह (**भिक्खू वा**) साधु, अथवा (**भिक्खुणी वा**) साध्वी, जो कि (**संजय**) निरन्तर यत्नशील हैं, (**विरय**) नाना प्रकारके तप कर्ममें रत हैं, (**पडिहय**) प्रतिहत हैं, (**पच्चक्खायपावकम्मे**) पाप कर्मको छोड चुके हैं, (**दिआ वा,**) दिनमें, अथवा (**राओ वा,**) रात्रिमें, अथवा (**एगओ वा,**) अकेले हों, अथवा (**परिसागओ वा,**) परिषद्में बैठे हुए हों, अथवा (**सुत्ते वा,**) सोए हुए हों, अथवा (**जागरमाणे वा,**) जागते हुए हों, (**से,** जैसे कि—(**उदग वा,**) कूपादि का पानी, अथवा (**हिम वा,**) बर्फका पानी, अथवा (**महिय वा,**) धुंधका पानी, अथवा (**करग वा,**) गड़ोंका पानी, अथवा (**हरतणुग वा,**) भूमिको उल्लंघन कर तृणादिपर स्थित हुआ पानी, अथवा (**सुद्धोदग वा**) वर्षाका पानी, इत्यादिसे (**उदउल्ल वा काय,**) गीले हुए शरीरको, अथवा (**उदउल्ल वा वत्थं,**) गीले हुए वस्त्रको, अथवा (**ससिणिद्ध वा कायं,**) स्निग्धकायको, अथवा (**ससणिद्ध वा वत्थं,**) स्निग्ध वस्त्रको, (**नामुसिज्जा,**) एक बार स्पर्श न करे, (**न संफुसिज्जा,**) बार बार स्पर्श न

भाष्य—सूत्रमें 'उद्उल्ल — उदकार्द्रम्' और 'ससिग्धि'—'सस्निग्धम्' जो दो पद दिये गये हैं, उनमें यह अन्तर है कि 'स्निग्ध' का अर्थ तो केवल गीला होना है' और 'उदकार्द्र' का अर्थ ऐसा गीला होना है कि जिसमेंसे जलकी बूंदें टपक रही हों।

सूत्रमें 'आपीलिज्जा, पपीलिज्जा'—'आपीडयेत्, प्रपीडयेत्' आदि पदोंमें जो 'आ' और 'प्र' उपसर्ग लगे हुए हैं, उनमें यह अन्तर है कि 'आ' उपसर्गका अर्थ तो 'एक बार तथा थोड़ा' होता है और 'प्र' उपसर्गका अर्थ 'बार-बार तथा बहुत' होता है।

यहां यह शङ्का हो सकती है कि 'प्र' उपसर्गका जो 'बार-बार तथा बहुत' अर्थ किया गया है, यह तो ठीक है। क्योंकि 'प्र' का अर्थ कोषकारोंने 'प्रकर्ष' किया है। 'बार-बार तथा बहुत' ये दोनों ही अर्थ प्रकर्षार्थके द्योतक ही हैं। लेकिन 'आ' उपसर्गका जो 'एक बार तथा थोड़ा' अर्थ किया गया है, वह यहां कैसे घटे? क्योंकि 'आ' उपसर्ग 'अभिविधि और मर्यादा' अर्थोंमें आता है। इसका समाधान यह है कि 'एक बार तथा थोड़ा' जो अर्थ हमने 'आ' उपसर्गका किया है, यह 'अभिविधि तथा मर्यादा' ही तो हुई।

यदि यहां यह शङ्का की जाय कि श्री भगवानने ऐसी आज्ञा क्यों दी? तो इसका समाधान

मनसे, (वायाए,) वचनसे, (काएण,) कायसे, (न करेमि,) न करूं, (न कारवेमि,) न कराऊ, (अन्न) औरोंके (करतंपि) करते हुवोंकी (न समणुजाणामि,) अनुमोदना भी न करूं। (भंते!) हे भगवन्! (तस्स) उसकी (पडिक्कमामि,) मैं प्रतिक्रमणा करता हूं, (निंदामि,) निन्दा करता हूं, (गरिहामि,) गर्हणा करता हूं, और (अप्पाण) आत्माको (वोसिरामि) पृथक् करता हूं, ॥ २॥ [सूत्र ॥ १५ ॥]

मूलार्थ—वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी, जो कि संयत हो, विरत हो, प्रतिहत हो, और पाप कर्मोंको जिसने छोड़ दिया हो, वह दिनमें, रात्रिमें, अकेले-दुकेले, सोते-जागते, कूपादिके, ओसके, वर्फके, धुंधके, गड़ोंके, सातेके, तृणादिके, और वर्षादिके पानीसे यदि शरीर भीग जाय, अथवा वस्त्र भीग जाय, अथवा शरीर गीला हो जाय अथवा वस्त्र गीला हो जाय तो उनको एक वार भी थोड़ा भी स्पर्श करे नहीं, अथवा बार-बार और अत्यधिक स्पर्श करे नहीं थोड़ासा भी और एक वार भी उसे मरोड़े नहीं, वार-वार और अत्यधिक मरोड़े नहीं, थोड़ा सा भी और एक वार भी झड़कावे नहीं, बार-बार और अत्यधिक झड़कावे नहीं। एक बार भी और थोड़ा सा भी धूपादिमें सुखावे नहीं, बार-बार और अत्यधिक सुखावे नहीं, सो उक्त क्रियाएं अन्यसे करावे नहीं और अन्य करनेवालोंकी अनुमोदना भी करे नहीं। शेष अर्थ पूर्ववत यहां भी लगा लेना ॥ २ ॥ [॥ सूत्र १५ ॥]

तिविहेण मणेण, वायाए, काएण, न करेमि, न कारवेमि, करतपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ १६ ॥]

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा, संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ वा, एको वा, परिषद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा, तद्यथा—अग्निं वा, अङ्गारं वा, मुर्मुरं वा, अर्चिर्वा, ज्वालां वा, अलातं वा, शुद्धाग्निं वा, उल्कां वा, नोत्सिञ्चेत्, न घट्टयेत्, न भिंद्यात्, न उज्ज्वालयेत्, न प्रज्वालयेत, न निर्वापयेत्, अन्यं नोत्सेचयेत्, न घट्टयेत्, न भेदयेत्, नोज्ज्वालयेत्, न प्रज्ज्वालयेत्, न निर्वापयेत्, अन्यमुत्सिञ्चयन्तं वा, घट्टयन्तं वा, भिन्दन्तं वा, उज्ज्वालयन्तं वा, प्रज्ज्वालयन्तं वा, निर्वापयन्तं वा न समनुजानीयात्, यावज्जीवम्, त्रिविधं, त्रिविधेन—मनसा, वाचा, कायेन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वतोऽप्यन्यान् न समनुजानामि। तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि, निन्दामि, गर्हामि, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ १६ ॥]

अन्वयार्थ—(से) वह (भिक्खू वा) साधु, अथवा (भिक्खुणी वा) साध्वी

यह है कि अप्कायके जीव अतिसूक्ष्म होते हैं। वे थोड़ेसे स्पर्शसे ही प्राणच्युत हो जाते हैं। अतः भीमगवन्‌ने उनकी रक्षाकेलिये यह यत्नारूप उपदेश दिया है। शेष वर्णन पूर्ववत् समझना चाहिये ॥ २ ॥ [सूत्र ॥ १५ ॥]

उत्थानिका –अब सूत्रकार अप्कायके अनन्तर तेजस्कायकी यत्नाके विषयमें कहते हैं—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खाय-पावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से अगणिं वा, इंगालं वा, मुम्मुरं वा, अच्चिं वा, जालं वा, अलायं वा, सुद्धागणिं वा, उक्कं वा, न उंजिज्जा, न घट्टिज्जा, न भिंदिज्जा, न उज्जालिज्जा, न पज्जालिज्जा, न निव्वाविज्जा, अन्नं न उंजाविज्जा, न घट्टाविज्जा, न भिंदाविज्जा, न उज्जालाविज्जा, न पज्जालाविज्जा, न निव्वाविज्जा, अन्नं उंजतं वा, घट्टंतं वा भिंदंतं वा, उज्जालंतं वा, पज्जालंतं वा, निव्वावंतं वा न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए, तिविहं,

तिविहेण मरोण, वायाए, काएण, न करोमि, न कारवेमि, करतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ १६ ॥]

स भिक्षुवा भिक्षुकी वा, सयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ वा, एको वा, परिषद्गतो वा, सुप्त वा, जाग्रद्वा, तद्यथा—अग्निं वा, अङ्गार वा, मुर्मुर वा, अर्चिर्वा, ज्वाला वा, अलात वा, शुद्धाग्निं वा, उल्कां वा, नोत्सिञ्चेत्, न घट्टयेत्, न भिंद्यात्, न उज्ज्वालयेत्, न प्रज्ज्वालयेत, न निर्वापयेत्, अन्य नोत्सेचयेत्, न घट्टयेत्, न भदयेत्, नोज्ज्वालयेत्, न प्रज्ज्वालयेत्, न निर्वापयेत्, अन्यमुत्सिञ्चयन्त वा, घट्टयन्त वा, भिन्दन्त वा, उज्ज्वालयन्त वा, प्रज्ज्वालयन्त वा, निर्वापयन्त वा न समनुजानीयात, यावज्जीवम्, त्रिविध, त्रिविधेन—मनसा, वाचा, कायेन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वतोप्यन्यान् न समनुजानामि। तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि, निन्दामि, गर्हामि, आत्मान व्युत्सृजामि ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ १६ ॥]

अन्वयार्थ—**(से)** वह **(भिक्खू वा)** साधु, अथवा **(भिक्खुणी वा)** साध्वी

जो कि (**संजय**) सयत, (**विरय**) विरत, (**पडिहय**) प्रतिहत और (**पच्चक्खायपावकम्मे,**) पापकर्म जिन्होंने छोड दिये हैं, (**दिआ वा,**) दिनमें, अथवा (**राओ वा,**) रात्रिमें, अथवा (**एगओ वा,**) अकेले, अथवा (**परिसागओ वा,**) परिषद्में स्थित, अथवा (**सुत्ते वा,**) सोते हुए, अथवा (**जागरमाणे वा,**) जागते हुए, (**से**) जैसे कि—(**अगणिं वा,**) अग्निको, अथवा (**इंगाल वा,**) ज्वालारहित-अङ्गारोंकी अग्निको, अथवा (**मुम्मुर वा,**) बकरी आदिके मैंगनोंकी अग्निको, अथवा (**अच्चिं वा,**) मूल अग्निसे टूटती हुई ज्वालाको, अथवा (**जाल वा,**) ज्वालाको, अथवा (**अलाय वा,**) भट्ठेकी अग्निको, अथवा (**सुद्धागणिं वा,**) काष्ठादिरहित शुद्ध अग्निको, अथवा (**उक्कं वा,**) उल्काको, (**सय**) स्वयमेव (**न उजिज्जा,**) सिंचन न करे, (**न घट्टिज्जा,**) संघट्टन न करे, (**न भिंदिज्जा,**) भेदन न करे, (**न उज्जालिज्जा,**) पखादि की थोडी सी भी हवासे प्रज्वलित न करे, (**न पज्जालिज्जा,**) पखादि द्वारा विशेष प्रज्वलित न करे, (**न निव्वाविज्जा,**) न बुझावे, (**अन्न**) अन्यके द्वारा (**न उंजाविज्जा,**) सिंचन करावे नहीं, (**न घट्टाविज्जा,**) संघट्टन करावे नहीं, (**न भिंदाविज्जा,**) भेदन करावे नहीं, (**न उज्जालाविज्जा,**) पखादि द्वारा थोडा सा भी प्रज्वलित करावे नहीं, (**न पज्जालाविज्जा,**) पवनके द्वारा विशेष प्रज्वलित करावे नहीं, (**न निव्वाविज्जा**) बुझावे नहीं,

(**उज्जत वा,**) उत्सिञ्चन करते हुए, अथवा (**घट्टत वा,**) संघट्टन करते हुए, अथवा (**भिंदत वा,**) भेदन करते हुए, अथवा (**उज्जालत वा,**) पंखादि द्वारा प्रचण्ड करते हुए, अथवा (**पज्जालत वा,**) पवनसे विशेष प्रचण्ड करते हुए, अथवा (**निव्वावत वा,**) बुझाते हुए, (**अन्न**) औरकी (**न समणुजाणिज्जा,**) अनुमोदना करे नहीं, (**जावज्जीवाए,**) जीवन पर्यन्त, (**तिविहं,**) त्रिविध, और (**तिविहेण–**) त्रिविधसे—(**मणेण,**) मनसे, (**वायाए,**) वचनसे, (**काएण,**) कायसे, (**न करेमि,**) करू नहीं, (**न कारवेमि,**) कराऊ नहीं, और (**करतंपि**) करते हुए (**अन्न**) अन्यकी (**न समणुजाणामि।** अनुमोदना करू नहीं। (**भंते!**) हे भगवन्! (**तस्स**) उसकी (**पडिक्कमामि,**) मैं प्रतिक्रमण करता हू, (**निंदामि,**) निन्दा करता हू, (**गरिहामि,**) गर्हणा करता हू, और (**अप्पाणं**) आत्माको (**वोसिरामि**) पृथक् करता हू ॥ २ ॥ [सूत्र ॥ १३ ॥]

मूलार्थ—यह पञ्चमहाव्रतधारी भिक्षु अथवा भिक्षुणी, जो कि संयत, विरत और प्रतिहत है, तथा जिसने पापकर्म छोड दिये हैं, दिनमें, रात्रिमें, अकेले-दुकेले, सोते-जागते, अग्निको, अङ्गारों को, मैंगनोंकी अग्निको, टूटी हुई ज्वालाको, ज्वालाको, कुँमारादिके मट्ठेकी अग्निको, शुद्धाग्निको,

जो कि (संजय) सयत, (विरय) विरत, (पडिहय) प्रतिहत और (पच्चक्खायपावकम्मे,) पापकर्म जिन्होंने छोड दिये हैं, (दिआ वा,) दिनमें, अथवा (राओ वा,) रात्रिमें, अथवा (एगओ वा,) अकेले, अथवा (परिसागओ वा,) परिषद्में स्थित, अथवा (सुत्ते वा,) सोते हुए, अथवा (जागरमाणे वा,) जागते हुए, (से) जैसे कि—(अगणिं वा,) अग्निको, अथवा (इंगाल वा,) ज्वालारहित-अङ्गारोंकी अग्निको, अथवा (मुम्मुर वा,) मकरी आदिके मैंगनोंकी आग्निको, अथवा (अर्चिं वा,) मूल अग्निसे टूटती हुई ज्वालाको, अथवा (जाल वा,) ज्वालाको, अथवा (अलाय वा,) मशालकी अग्निको, अथवा (सुद्धागणिं वा,) काष्ठादिरहित शुद्ध आग्निको, अथवा (उक्कं वा,) उल्काको, (सय) स्वयमेव (न उजिज्जा,) सिंचन न करे, (न घट्टिज्जा,) संघट्टन न करे, (न भिंदिज्जा,) मेदन न करे, (न उज्जालिज्जा,) पखादि की थोडी सी भी हवासे प्रज्वलित न करे, (न पज्जालिज्जा,) पखादि द्वारा विशेष प्रज्वलित न करे, (न निव्वाविज्जा,) न बुझावे; (अन्न) अन्यके द्वारा (न उजाविज्जा,) सिंचन करावे नहीं, (न घट्टाविज्जा,) संघट्टन करावे नहीं, (न भिंदाविज्जा,) भेदन करावे नहीं, (न उज्जालाविज्जा,) पखादि द्वारा थोडा सा भी प्रज्वलित करावे नहीं, (न पज्जा-लाविज्जा,) पवनके द्वारा विशेष प्रज्वलित करावे नहीं, (न निव्वाविज्जा) बुझावे नहीं,

(**उज्जत वा,**) उत्सिञ्चन करते हुए, अथवा (**घट्टत वा,**) सघट्टन करते हुए, अथवा (**भिंदत वा,**) भेदन करते हुए, अथवा (**उज्जालत वा,**) पखादि द्वारा प्रचण्ड करते हुए, अथवा (**पज्जालत वा,**) पवनमे विशेष प्रचण्ड करते हुए, अथवा (**निव्वावत वा,**) बुझाते हुए, (**अन्न**) औरकी (**न समणुजाणिज्जा,**) अनुमोदना करे नहीं, (**जावज्जीवाए,**) जीवन पर्यन्त, (**तिविह,**) त्रिविध, और (**तिविहेण–**) त्रिविधसे—(**मणेण,**) मनसे, (**वायाए,**) वचनसे, (**काएण,**) कायसे, (**न करेमि,**) करू नहीं, (**न कारवेमि,**) कराऊ नहीं, और (**करतपि**) करते हुए (**अन्न**) अन्यकी (**न समणुजाणामि।** अनुमोदना करू नहीं। (**भते!**) हे भगवन्! (**तस्स**) उसकी (**पडिक्कमामि,**) मैं प्रतिक्रमणा करता हू, (**निंदामि,**) निन्दा करता हू, (**गरिहामि,**) गर्हणा करता हू, और (**अप्पाण**) आत्माको (**वोसिरामि**) पृथक् करता हू ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ १६ ॥]

मूलार्थ—वह पञ्चमहाव्रतधारी भिक्षु अथवा भिक्षुणी, जो कि सयत, विरत और प्रतिहत है, तथा जिसने पापकर्म छोड दिये हैं, दिनमें, रात्रिमें, अकेले-दुकेले, सोते-जागते, अग्निको, अङ्गारों को, मैगनोंकी अग्निको, टूटी हुई ज्वालाको, ज्वालाको, कुँभारादिके भट्टेकी आगिको, शुद्धाग्निको,

और आकाशकी अग्निको लकडी आदि देकर उत्सिञ्चन न करे, संघट्टन न करे, भेदन न करे; प्रज्वलित न करे, विशेष प्रज्वलित न करे, और बुझावे भी नहीं, एवं दूसरेसे भी ईंधनादि द्वारा उत्सिञ्चन न करावे, संघट्टन न करावे, भेदन न करावे, प्रज्वलित न करावे, विशेष प्रज्वलित न करावे, और बुझवावे भी नहीं, किन्तु अन्य जो कोई उक्त क्रियाएं करते हों तो उनकी अनुमोदना भी न करे। [शिष्य प्रतिज्ञा करता है कि—] मैं जीवन पर्यन्त तीन करण—कृत-कारित-अनुमोदना और तीन योग—मन-वचन-कायसे अग्निका आरम्भ न करूं, न कराऊं, और न करते हुएकी अनुमोदना करूं। हे भगवन्! मैं उस पापसे प्रतिक्रमण करता हूं, आत्मसाक्षीपूर्वक उसकी निन्दा करता हूं, गुरुसाक्षीपूर्वक गर्हणा करता हूं और अपनी आत्माको उस पापसे पृथक् करता हूं ॥ ३ ॥ [सूत्र ॥ १६ ॥]

भाष्य—आगममें अग्निकायके सब मिलाकर जो सात लाख भेद वर्णन किये गये हैं, उक्त सूत्रमें उनका दिग्दर्शनमात्र है। सूत्रोक्त सब अग्नियां सचित्त हैं। इनका व्यवहार साधुकेलिये वर्जित है। अग्नियोंमें केवल 'तेजोलेश्या' ही अचित्त है।

हां! तेजोलेश्यावत् वनायटी विद्युत् आदिकी अग्नि भी अचित्त ही प्रतीत होती है। कारण

कि—अग्निके प्रकाशकत्व और उष्णत्व, ये दोनों ही लक्षण वर्णन किये गये हैं। यनायटी विद्युत्में प्रकाशकत्व गुण तो दृष्टिगोचर होता है, किन्तु उष्णत्व गुण उसमें नहीं प्रतीत होता है। इसीलिये विद्युत्की अग्नि अचित्त प्रतीत होती है।

जिस प्रकार विद्युत् प्रकाश करती है, ठीक उसी प्रकार मणि आदि पार्थिव पदार्थ भी प्रकाश करते हैं। इसीलिये शास्त्रकारोंने कहा है कि—पृथ्वी प्रकाशकत्व वा अप्रकाशत्व, दोनों गुणोंसे युक्त है॥ ३॥ [सूत्र ॥ १६ ॥]

उत्थानिका—सूत्रकर्ता अग्निकायकी यत्नाके पश्चात् अब वायुकायकी यत्नाके विषयमें कहते हैं—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयाविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से सिएण वा, विहुयणेण वा, तालिअटेण वा, पत्तेण वा, पत्तभगेण वा, साहाए वा, साहाभगेण वा, पिहुणेण वा, पिहुणहत्थेण वा, चेलेण

वा, चेलकण्णेण वा, हत्थेण वा, मुहेण वा, अप्पणो वा कायं, बाहिरं वा वि पुग्गलं, न फुमिज्जा, न वीएज्जा, अन्नं न फुमाविज्जा, न वीयाविज्जा, अन्नं फुमंतं वा, वीअंतं वा, न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए, तिविहं, तिविहेणं—मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि, न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥ ४ ॥ [सूत्र ॥ १७ ॥]

स भिक्षुर्वा भिक्षुणी वा संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ वा, एको वा, परिषद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा, तद्यथा—सितेन वा, विधुवनेन वा, तालवृन्तेन वा, पत्रेण वा, पत्रभङ्गेन वा, शाखया वा, शाखाभङ्गेन वा, पेहुणेन वा, पेहुणहस्तेन वा, चेलेन वा, चेलकर्णेन वा, हस्तेन वा, मुखेन वा, आत्मनो वा कायं, बाह्यं वापुद्गलं, न फूत्कुर्यात्, न व्यजेत्, अन्यं न फूत्कारयेत्, न व्याजयेत्, अन्यं फूत्कुर्वन्तं वा, व्यजन्तं वा न समनुजानीयात्, यावज्जीवं, त्रिविधं, त्रिविधेन—मनसा, वाचा, कायेन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न

समनुजानामि। तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि, निन्दामि, गर्हामि, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ ४ ॥
[सूत्र ॥ १७ ॥]

अन्वयार्थ—(**से**) वह (**भिक्खू वा**) साधु, अथवा (**भिक्खुणी वा**) साध्वी, जो कि (**संजय**) निरन्तर यत्नशील हैं, (**विरय**) नाना प्रकारके तप कर्मोंमें रत हैं, (**पडिहय**) प्रतिहत हैं, (**पच्चक्खायपावकम्मे,**) पापकर्मको छोड चुके हैं, (**दिआ वा,**) दिनमें, अथवा (**राओ वा,**) रात्रिमें, अथवा (**एगओ वा,**) अकेले हों, अथवा (**परिसागओ वा,**) परिषद्में बैठे हुए हों, अथवा (**सुत्ते वा,**) सोए हुए हों, अथवा (**जागरमाणे वा,**) जागते हुए हों, (**से**, जैसे कि—(**सिएण वा,**) श्वेत चमरसे, अथवा (**विहुयणेण वा,**) पखेसे, अथवा (**तालिअंटेण वा,**) ताड वृक्षके पखेसे, अथवा (**पत्तेण वा,**) पत्तोंसे, अथवा (**पत्तभंगेण वा,**) पत्तोंके टुकडोंसे, अथवा (**साहाए वा,**) शाखासे, अथवा (**साहाभंगेण वा,**) शाखाओंके टुकडोंसे, अथवा (**पिहुणेण वा,**) मयूरके पखोंसे, अथवा (**पिहुणहत्थेण वा,**) मयूरादिकी पिच्छीसे, अथवा (**चेलेण वा,**) वस्त्रसे, अथवा (**चेलकण्णेण वा,**) वस्त्रके टुकडेसे, अथवा (**हत्थेण वा,**) हाथसे, अथवा (**मुहेण वा,**) मुखसे, (**अप्पणो वा कायं,**)

अपने शरीरको, अथवा (बाहिर वा वि पुग्गल,) शरीरसे बाहिरके पुद्गलोंको, (न फुमिज्जा,) फूक मारे नहीं, (न वीएज्जा,) पसाविसे बयार करे नहीं, (अन्न) अन्यसे (न फुमाविज्जा,) फूंक लगवावे नहीं, (न वीयाविज्जा;) पसादिसे बयार करवावे नहीं, और (फुमंत वा,) फूक लगाते हुए, अथवा (वीअंत वा) पसाविसे बयार करते हुए (अन्ने) अन्य किसी व्यक्तिकी (न समणुजाणिज्जा,) अनुमोदना करे नहीं, (जावज्जीवाए,) जीवन पर्यन्त, (तिविहं,) त्रिविध, (तिविहेण) त्रिविधसे-(मणेण,) मनसे, (वायाए,) वचनसे, (काएण,) कायसे, (न करेमि,) न करूं, (न कारवेमि,) न कराऊं, (करंतंपि) करते हुए (अन्नं) औरोंकी (न समणुजाणामि।) अनुमोदना न करूं। (भंते!) हे भगवन्! (तस्स) उसकी (पडिक्कमामि,) मैं प्रतिक्रमणा करता हूं, (निंदामि,) निन्दा करता हूं, (गरिहामि,) गर्हणा करता हूं, (अप्पाणं) आत्माको (वोसिरामि) हटाता हूं, ॥ ४ ॥ [सूत्र ॥ १७ ॥]

मूलार्थ—पूर्वोक्त पांच महाव्रत सहित वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी, जो कि संयत है, विरत है, प्रतिहत है और पापकर्मसे रहित है, दिनमें, रात्रिमें, अकेले-दुकेले, सोते-जागते, श्वेत चमरसे, पंखेसे, ताडवृक्षके पत्तेसे, पत्तेसे, पत्तोंके टुकडोंसे, शाखासे, शाखाओंके टुकडोंसे, मयूरपिच्छीसे, मयूरपिच्छीकी

पूजनीसे, वस्त्रसे, वस्त्रके टुकडेसे, हाथसे, मुखसे, अपने शरीरका वा बाहिरके पुद्गलको, न फूक लगावे, न पंखा करे, अन्यसे न फूक लगावे, न पंखा करवावे, और न फूक लगाते हुए या पंखा करते हुए अन्य किसी व्यक्तिकी अनुमोदना करे। जीवन पर्यन्त त्रिविध–कृत-कारित-अनुमोदनासे तथा त्रियोग–मन-वचन-कायसे। [इसके अनन्तर शिष्य प्रतिज्ञा करता है कि] हे भगवन् ! अग्निकाय का आरम्भ न मैं स्वय करू, न कराऊ और न करते हुए अन्य किसी व्यक्तिकी अनुमोदना करू। और जो आज तक किया हो, उसका मैं प्रत्याख्यान करता हू, आत्माकी साक्षीपूर्वक उसकी मैं निन्दा करता हू, गुरुकी साक्षीपूर्वक उसकी मैं गर्हणा करता हू तथा उससे मैं अपने आपको हटाता हू ॥ ४ ॥ [सूत्र ॥ १७ ॥]

भाष्य—चार स्थावर तो सकाय और परकाय शस्त्रोंसे भी प्रतिहत होते हैं। लेकिन वायु कायका शस्त्र वायुकाय ही होता है। इसलिये वायुकायके जीवोंकी रक्षाकेलिये बड़ी सावधानीसे यतना चाहिये।

सूत्रसे सिद्ध होता है कि वायुकायके अधिष्ठायक देवोंकी यदि यत्नपूर्वक आराधना की जाय तो वे भी सिद्ध किये जा सकते हैं। शेष वर्णन प्राग्वत् समझना चाहिये ॥ ४ ॥ [सूत्र ॥ १७ ॥]

उत्थानिका —शास्त्रकार अब वायुकायके पश्चात् वनस्पतिकायकी यत्नाके विषयमें कहते हैं—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खाय-पावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से बीएसु वा, बीयपइट्ठेसु वा, रूढेसु वा, रूढपइट्ठेसु वा, जाएसु वा, जायपइट्ठेसु वा हरिएसु वा हरियपइट्ठेसु वा, छिन्नेसु वा, छिन्नपइट्ठेसु वा, सचित्तेसु वा, सचित्तकोलपडिनिस्सिएसु वा, न गच्छेज्जा, न चिट्ठेज्जा, न निसीइज्जा न तुअट्टिज्जा अन्नं न गच्छाविज्जा, न चिट्ठाविज्जा, न निसीयाविज्जा, न तुअट्टाविज्जा, अन्नं गच्छंत वा, चिट्ठंत वा, निसीयंत वा तुअट्टंत वा, न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए, तिविहं, तिविहेणं—मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि, न कारवेमि

करतपि अन्न न समणुजाणामि । तस्स भते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि अप्पाण वोसिरामि ॥ ५ ॥ [सूत्र ॥ १८ ॥]

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा सयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ वा, एको वा, परिपद्गतो वा, सुप्तो वा, जागृद्वा, तद्यथा—बीजेपु वा, बीजप्रतिष्ठितेपु वा, रूढेपु वा, रूढप्रतिष्ठितेपु वा, जातेपु वा, जातप्रतिष्ठितेपु वा, हरितेपु वा, हरितप्रतिष्ठितेपु वा, छिन्नेपु वा, छिन्नप्रतिष्ठितेपु वा, सचित्तेपु वा, सचित्तकोलप्रतिनिश्रितेपु वा, न गच्छेत्, न तिष्ठेत्, न निपादेत्, न त्वग्वर्तेत्, अन्य न गमयत्, न स्थापयेत्, न निपीदयेत, न त्वग्वर्तयत्, अन्य गच्छन्त वा, तिष्ठन्त वा, निपीदन्त वा, त्वग्वर्तन्त वा, न समनुजानीयाद्, यावज्जीव, त्रिविध, त्रिविधेन-मनसा, वाचा, कायन, न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्य न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि, निन्दामि, गर्हामि, आत्मान व्युत्सृजामि ॥ ५ ॥ [सूत्र ॥ १८ ॥]

अन्वयार्थ—(**से**) वह (**भिक्खू वा**) साधु, अथवा (**भिक्खुणी वा**) साध्वी, (**सजय**) जो कि सयत (**विरय**) विरत (**पडिहय**) प्रतिहत और (**पच्चक्खायपावकम्मे,**)

उत्थानिका—शास्त्रकार अब वायुकायके पश्चात् वनस्पतिकायकी यत्नाके विषयमें कहते हैं—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से बीएसु वा, बीयपइट्ठेसु वा, रूढेसु वा, रूढपइट्ठेसु वा, जाएसु वा, जायपइट्ठेसु वा हरिएसु वा हरियपइट्ठेसु वा, छिन्नेसु वा, छिन्नपइट्ठेसु वा, सचित्तेसु वा, सचित्तकोलपडिनिस्सिएसु वा; न गच्छेज्जा, न चिट्ठेज्जा, न निसीइज्जा न तुअट्टिज्जा अन्नं न गच्छाविज्जा, न चिट्ठाविज्जा, न निसीयाविज्जा, न तुअट्टाविज्जा, अन्नं गच्छंतं वा, चिट्ठंतं वा, निसीयंतं वा तुअट्टंतं वा, न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए, तिविहं, तिविहेणं—मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि न कारवेमि

(न निसीयाविज्जा,) बैठावे नहीं, (न तुअट्टाविज्जा,) शयन करावे नहीं, (गच्छत वा,) गमन करते हुए, अथवा (चिट्ठत वा,) खड़े होते हुए, अथवा (निसीयत वा,) बैठते हुए, अथवा (तुअट्टत वा,) शयन करते हुए (अन्न) अन्य किसीकी (न समणुजाणिज्जा,) अनुमोदना करे नहीं, (जावज्जीवाए,) जीवन पर्यन्त, (तिविहं,) त्रिविध, (तिविहेणं—) त्रिविधसे—(मणेण,) मनसे, (वायाए,) वचनसे, (काएण,) कायसे, (न करोमि,) मैं नहीं करूं, (न कारवेमि,) औरोंसे नहीं कराऊं, (करतपि) करते हुए (अन्न) अन्यकी (न समणुजाणामि ।) अनुमोदना नहीं करूं। (भंते !) हे भगवन् ! (तस्स) उसकी (पडिक्कमामि,) मैं प्रतिक्रमण करता हूं, (निंदामि,) निन्दा करता हूं, (गरिहामि,) गर्हणा करता हूं, और (अप्पाण) आत्माको (वोसिरामि) पृथक् करता हूं ॥ ५ ॥ [सूत्र ॥ १८ ॥]

मूलार्थ—पूर्वोक्त पांच महाव्रतयुक्त वह भिक्षु अथवा भिक्षुकी, जो कि संयत है, विरत है, प्रतिहत है, और पापकर्मोंका जिसने त्याग कर दिया है, दिनमें, रात्रिमें, अकेले-दुकेले, सोते-जागते, बीजोंपर, बीजोंपर रक्खे हुए पदार्थोंपर, अंकुरोंपर, अंकुरोंपर रक्खे हुए पदार्थोंपर, पत्रादि संयुक्त अंकुरोंपर, उनपर रक्खे हुए पदार्थोंपर, हरितोंपर, हरितप्रतिष्ठित पदार्थोंपर, वृक्षादिकी छेदन की

पापकर्मको जिसने छोड दिया हो, (दिआ वा,) दिनमें, अथवा (राओ वा,) रात्रिमें, अथवा (एगओ वा,) अकेले, अथवा (परिसागओ वा,) परिषद्में बैठे हुए, अथवा (सुत्ते वा,) सोते हुए, अथवा (जागरमाणे वा,) जागते हुए (से–) यथा–(बीएसु वा,) बीजोंपर, अथवा (बीयपइट्ठेसु वा,) बीजके ऊपर भक्षण करने योग्य अन्नादि पदार्थ जो रखे हुए हों उनपर, अथवा (रूढेसु वा,) बीज फूटकर जो अंकुरित हुए हों उनपर, अथवा (रूढपइट्ठेसु वा,) रूढप्रतिष्ठित पदार्थोंपर, अथवा (जाएसु वा,) जो उगकर पत्रादिसे युक्त होगये हों उनपर, अथवा (जायपइट्ठेसु वा,) जातप्रतिष्ठित पदार्थोंपर, अथवा (हरिएसु वा,) हरित दूर्वादिपर, अथवा (हरियपइट्ठेसु वा,) हरितप्रतिष्ठित पदार्थोंपर, अथवा (छिन्नेसु वा,) परशु आदि द्वारा छेदन की हुई वृक्षादिकी शाखाओंपर, अथवा (छिन्नपइट्ठेसु वा,) छिन्नप्रतिष्ठित अशनादि पदार्थोंपर, अथवा (सच्चित्तेसु वा,) सचित्त अण्डकादिपर, अथवा '(सच्चित्तकोलपडिनिस्सिएसु वा,) सचित्त घुणादिसे प्रतिष्ठित काष्ठादिपर अर्थात् जिन काठोंको घुण लगा हुआ हो, उनपर (न गच्छेज्जा,) न चले, (न चिट्ठेज्जा) न खडा हो, (न निसीइज्जा) न बैठे, (न तुअट्टिज्जा) न लेटे–न करवट बदले, (अन्न) अन्य व्यक्तिको (न गच्छावेज्जा) चलावे नहीं, (न चिट्ठावेज्जा) खडा करावे नहीं,

उत्थानिका—वनस्पतिकायकी यत्नाके पश्चात् शास्त्रकार अब त्रसकायकी यत्नाके विषयमें वर्णन करते हैं—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से कीडं वा, पयगं वा, कुन्थुं वा, पिपीलियं वा, हत्थंसि वा, पायंसि वा, बाहुंसि वा, उरुंसि वा, उदरंसि वा, सीसंसि वा, वत्थंसि वा, पडिग्गहंसि वा, कम्बलंसि वा पायपुच्छणंसि वा, रयहरणंसि वा गुच्छगंसि वा, उडगंसि वा, दंडगंसि वा, पीढगंसि वा, फलगंसि वा, सेज्जंसि वा, संथारगंसि वा, अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए तओ संजयामेव पडिलेहिअ पडिलेहिय पमज्जिअ पमज्जिअ एगंतमवणिज्जा, नो णं संघायमावज्जिज्जा ॥ ६ ॥ [सूत्र ॥ १६ ॥]

हुई शाखाओंपर, उनपर रक्खे हुए पदार्थोंपर, अण्डादि सचित्त पदार्थोंपर, सचित्तको लघुमादिसे प्रतिष्ठित पदार्थोंपर, न खाय, न खडा हो, न बैठे, न सोवे, अन्यको उक्त पदार्थोंपर न चलावे, न खडा करे, न बैठावे, न सुआवे, और जो उक्त क्रियाएं करते हों उनकी अनुमोदना भी न करे। शेष भाष्यवत् ॥ ५ ॥ [॥ १८ ॥]

भाष्य—यह बात शास्त्रसम्मत है कि मनुष्य जिस प्रकारके जीवकी हिंसा करता है, उसको उसी प्रकारका जन्म धारण करके उसी प्रकारसे मरना पड़ता है। अत एव वनस्पतिकाय आदिकी हिंसा अपनेसे न हो जाय, इस बातकी पूरी सावधानी मनुष्यको करना चाहिये। इस प्रकार सावधानीसे प्रवृत्ति करते हुए मनुष्य जब संपूर्ण जीवोंकापूर्ण रक्षक बन जायगा, तभी उसे निर्वाणपदकी प्राप्ति हो सकेगी।

कृत, कारित और अनुमोदन इन तीनों करणों-कारणोंसे जीवके कर्मबन्ध होता है। इस लिये इन तीनोंके निरोध करनेसे ही जीवके आते हुए कर्म रुकेंगे, इसीलिये यहांपर तथा पूर्वमें अनेक जगहपर इन तीनोंसे ही सावधान रहनेका आदेश शास्त्रकारने दिया है।

शेष वर्णन यहांपर भी भाष्यवत् ही समझना चाहिये ॥ ५ ॥ [सूत्र ॥ १८ ॥]

वा,) पांवपर, अथवा, (बाहुसि वा,) भुजापर, अथवा (उरूसि वा,) गोदपर, अथवा (उदरंसि वा,) पेटपर, अथवा (सीसंसि वा,) सिरपर, अथवा (वत्थंसि वा) वस्त्रपर, अथवा (पडिग्गहंसि वा,) पात्रपर, अथवा (कंबलंसि वा,) कम्बलपर, अथवा (पाय-पुंछणंसि वा,) पात्रप्रोञ्छण–आसनादिपर, अथवा (रयहरणंसि वा,) रजोहरणपर, अथवा (गोच्छगंसि वा,) †गोच्छगपर, अथवा (‡उंडगंसि वा,) मूत्रपात्रपर, अथवा (दंडगंसि वा) दंडपर, अथवा (पीढगंसि वा,) चौकीपर, अथवा (फलगंसि वा,) पट्टेपर, अथवा (सेज्जंसि वा,) शय्यापर, अथवा (संथारगंसि वा,) बिछौनेपर, अथवा (अन्नयरंसि वा) अन्य (तहप्पगारे) इसी प्रकारके (उवगरणजाए) किसी उपकरणपर चढ जानेके (तओ) बाद (संजयामेव) यत्नपूर्वक (पडिलेहिय पडिलेहिय) देख-देखकर (पमज्जिय पमज्जिय) पोंछ-पोंछकर (एगंतमवणिज्जा) एकान्त स्थानमें रख देवे (नो णं संघायमावज्जिज्जा) घात न करे–एकत्रित न करे-पीडा न पहुँचावे ॥ ६ ॥ [सूत्र ॥ १९ ॥]

---

† पात्रोंके पोंछनेका जो वस्त्र होता है, उसे "गोच्छग" कहते हैं।

‡ "उंडग'–'उण्डक' स्थण्डिलं शय्या संस्तारिका वसतियां' इति टीकायाम्।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ वा, एको वा, परिषद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा, तद्यथा—कीटं वा, पतङ्गं वा, कुन्थुं वा, पिपीलिकां वा, हस्ते वा, पादे वा, बाहौ वा, ऊरौ वा, उदरे वा, शीर्षे वा, वस्त्रे वा, प्रतिग्रहे वा, कम्बले वा, पादप्रोञ्छनके वा, रजोहरणे वा, गुच्छे वा, उन्दके वा, दण्डके वा, पीठे वा, फलके वा, शय्यायां वा संस्तारके वा, अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे उपकरणजाते, ततः संयतमेव प्रत्युपेक्ष्य प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य प्रमृज्य एकान्तमपनयेत्, नैनं संघातमापादयेत्॥१६॥ [सूत्र ॥ १६ ॥]

अन्वयार्थ—(से) वह (भिक्खू वा) साधु, अथवा (भिक्खुणी वा) साध्वी, जो कि (संजय) निरन्तर यत्नशील हैं, (विरय) नाना प्रकारके तप कर्मोंमें रत हैं, (पडिहय) प्रतिहत हैं, (पच्चक्खायपावकम्मे,) पापकर्मको छोड़ चुके हैं, (दिआ वा,) दिनमें, अथवा (राओ वा,) रात्रिमें, अथवा (एगओ वा,) अकेले हों, अथवा (परिसागओ वा,) परिषदमें बैठे हुए हों, अथवा (सुत्ते वा,) सोए हुए हों, अथवा (जागरमाणे वा,) जागते हुए हों, (से) यथा—(कीडं वा,) कीटकको, अथवा (पयंगं वा,) पतङ्गको, अथवा, (कुंथुं वा,) कुन्थुको, अथवा (पिपीलियं वा,) पिपीलिकाको, (हत्थंसि वा,) हाथपर, अथवा (पायंसि

जो पद दिया है उसका तात्पर्य्य यह है कि साधु को जिस जिस कालमें धर्मसाधनकेलिये जिस उपकरणकी आवश्यकता हो, वह उसे निस्पृह भावसे रख सकता है। जैसे कि--उक्त उपकरणोंमें पुस्तकोंका नामोल्लेख नहीं है, किन्तु आधुनिक समयमें साधु, धर्मसाधनकी आशासे पुस्तक अपने पास रखते अवश्य हैं। इसी प्रकार अन्य उपकरणोंके विषयमें भी जानना चाहिये। लेकिन यह याद रखना चाहिये कि उपकरण उसीका नाम है, जिसके द्वारा ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी पूर्णतया आराधना की जा सके।

हां! इसपर यह शङ्का अवश्य की जा सकती है कि यदि उक्त वक्तव्यका यह तात्पर्य निकाला जाय, जैसा कि ऊपर कहा गया है तो फिर मान लीजिये कि किसी समय किसी साधुको धर्म साधनेकेलिये द्रव्यादिके पास रखनेकी आवश्यकता पड़ गई तो क्या वह उसे ग्रहण करले ? इसका समाधान यह है कि द्रव्यादिका तो साधु पांचवें महाव्रतमें संपूर्णरूपसे त्याग कर चुका है। उसे वह ग्रहण कभी भी नहीं कर सकता। जिस प्रकार द्रव्यादिका सर्वथा त्याग सूत्रोंमें प्रतिपादन किया गया है, उस प्रकार उपकरणोंका सर्वथा त्याग कहीं भी नहीं बतलाया गया है। हां! उपकरणोंका परिमाण कर लेना अवश्य बतलाया गया है, जो कि युक्तियुक्त है।

इस तरहसे ज्ञान साधनकेलिये पुस्तकों का रखना साधुओंकेलिये सूत्रानुसार सिद्ध है।

मूलार्थ— पञ्चमहाव्रतयुक्त यह भिक्षु अथवा भिक्षुकी, जो कि संयत है, विरत है, प्रतिहत है, और पापकर्मोंको जिसने त्याग दिया है, दिनमें, रात्रिमें, अकेले-दुकेले, सोते-जागते, यदि कीट, पतंगे, कुन्थुए, पिपीलिका आदि जीव हाथपर, पांवपर, भुजापर, गोडपर पेटपर, सिरपर, वस्त्रपर, पात्रपर, कम्बलपर, आसनपर, रजोहरणपर, गोच्छगपर, पात्रोंके पोंछनेके वस्त्रपर, मूत्रके पात्रपर, दण्डेपर, चौकीपर, पट्टेपर, शय्यापर, बिछौनेपर तथा साधुके इसी प्रकारके किसी और उपकरणपर चढ़ आयँ तो उन्हें देख-भालकर, तथा झाड-पोंछकर अलग एकान्त स्थानमें पहुँचा दे, उनका घात न करे—पीडा न पहुँचावे ॥ ६ ॥ [सूत्र ॥ १९ ॥]

भाष्य—सूत्रका सारांश यह है कि साधुके किसी भी शरीरावयवपर अथवा उसके किसी भी उपकरणपर यदि कोई त्रस जीव चढ़ आवे तो वह उसे भलीभांति देख-भालकर पोंछकर किसी ऐसे एकान्त स्थानमें रख दे, जहांपर उसे किसी भी प्रकारकी तकलीफ न होने पावे। वह स्थान ऐसा भी न हो जहांपर कि और अनेक जीव मौजूद हों और वे उसकी विराधनाके कारण बन जावें। इसीलिये सूत्रमें 'एगंतमवणिज्जा'—'एकान्तमपनयेत्' पद दिया है।

, सूत्रमें 'सत्थरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए'—'संस्तारके वा तथाप्रकारे उपकरणजाते'

जो पद दिया है, उसका तात्पर्य्य यह है कि साधु को जिस जिस कालमें धर्मसाधनकेलिये जिस उपकरणकी आवश्यकता हो, वह उस निस्पृह भावसे रख सकता है। जैसे कि--उक्त उपकरणोंमें पुस्तकोंका नामोल्लेख नहीं है किन्तु आधुनिक समयमें साधु, धर्मसाधनकी आशासे पुस्तक अपने पास रखते अवश्य हैं। इसी प्रकार अन्य उपकरणोंके विषयमें भी जानना चाहिये। लेकिन यह याद रखना चाहिये कि उपकरण उसीका नाम है, जिसके द्वारा ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी पूर्णतया आराधना की जा सके।

हां! इसपर यह शङ्का अवश्य की जा सकती है कि यदि उक्त वक्तव्यका यह तात्पर्य निकाला जाय, जैसा कि ऊपर कहा गया है तो फिर मान लीजिये कि किसी समय किसी साधुको धर्म साधनेकेलिये द्रव्यादिके पास रखनेकी आवश्यकता पड़ गई तो क्या वह उसे ग्रहण करले? इसका समाधान यह है कि द्रव्यादिका तो साधु पांचवें महाव्रतमें संपूर्णरूपसे त्याग कर चुका है। उसे वह ग्रहण कभी भी नहीं कर सकता। जिसप्रकार द्रव्यादिका सर्वथा त्याग सूत्रोंमें प्रतिपादन किया गया है, उस प्रकार उपकरणोंका सर्वथा त्याग कहीं भी नहीं बतलाया गया है। हां! उपकरणोंका परिमाण कर लेना अवश्य बतलाया गया है जो कि युक्तियुक्त है।

इस तरहसे ज्ञान साधनकेलिये पुस्तकों का रखना साधुओंकेलिये सूत्रानुसार सिद्ध है।

और जिस तरह पुस्तकोंका रखना उनकेलिये सिद्ध है, उसी प्रकार तत्सम्बन्धी दवात–कलम रखना भी साधुकेलिये अयुक्त नहीं है।

श्रीदशवैकालिकसूत्रका एक संस्करण 'आगमोदय समिति' की ओरसे भी प्रकाशित हुआ है। उक्त सूत्रका यह संस्करण 'टीका' और 'दीपिका' सहित प्रकाशित हुआ है। उस संस्करणमें 'सीससि वा, वत्थंसि वा, पडिग्गहसि वा, कंबलंसि वा, पायपुञ्छणंसि वा', ये पद मूलमें तो दिये हैं, लेकिन टीकाकारने इन पदोंकी टीका नहीं की है। साथ ही दीपिकाकारने उन पदोंका अर्थ किया है। इससे टीकाकार और दीपिकाकारोंमें परस्पर पाठविषयक मतभेद प्रतीत होता है। उक्त संस्करणके संशोधक विद्वान्‌ने इसी आशयसे इसपर पादटिप्पणीमें एक यह टिप्पणी कि 'नैतानि व्याख्यातानि टीकाया, दीपिकायां तु व्याख्यातानि' जोड़कर टीकाकार और दीपिकाकारके मतभेद का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है।

उक्त संस्करणके अतिरिक्त श्रीदशवैकालिक सूत्रका एक संस्करण 'भीमसिंह माणिक' की ओरसे भी प्रकाशित हुआ है। इसमें उक्त पद सब दिये हैं और गुजराती भाषामें उन सबका अर्थ भी दिया है †।

† इसी प्रकारका, पाठभेद पहिले भी एक जगह हो चुका है। जैसे कि 'आगमोदयसमिति' द्वारा प्रकाशित

उक्त संस्करणोंके अतिरिक्त इस ग्रन्थका एक संस्करण स्वामी रत्नचन्द्रजीकृत हिन्दीअर्थ सहित भी हुआ है। उसमें 'सीससि वा' और 'वत्थसि वा' पदोंके बीचमें एक 'मुहे मुहप त्तसि वा' पद और छपा हुआ मिलता है। जिसका अर्थ होता है—'मुखपर बँधी हुई मुखपत्तिमें।'

श्रीसंघमें 'मुँहपत्ति' के 'मुखपर बँधी हुई' के अर्थपर थोड़ासा विवाद है। विवाद मुँहपत्ति की आवश्यकता पर नहीं है मुँहपत्तिकी आवश्यकता तो जीवरक्षाके उद्देश्यसे दोनोंको मान्य है। विवाद केवल 'मुखपर बांधने न बांधने' के विषयमें है। संवेगी साधु मुखपर मुँहपत्ति बांधते नहीं है, हाथमें लिये रहते हैं। केवल बोलते समय उसे मुँहके आगे लगा लेते हैं। और स्थानकवासी साधु उसे हर समय मुँहपर बांधे ही रहते हैं।

इसी दशवैकालिकसूत्रके तेजस्कायकी रक्षावाले सूत्रमें 'न भिंदिज्जा, न पज्जालिज्जा,' ये दो पद नहीं दिये हैं।

इस तरहके पाठभेदोंका होना अनुचित है। इधर श्रीसंघको अपना लक्ष्य अवश्य देना चाहिये। इसलिये एक 'सूत्रमाला' इस प्रकारकी प्रकाशित करनी चाहिये कि जिसमें समस्त प्रतियोंके विभिन्न पाठोंके संकलनके अतिरिक्त उन प्रतियोंके सम्वतोंका भी उसमें उल्लेख हो। तथा सूत्र और पदोंकी संख्या भी निश्चित कर देनी चाहिये, जिससे कि भविष्यमें उनमें कोई घट-बढ़ी न कर सके।

और जिस तरह पुस्तकोंका रखना उनकेलिये सिद्ध है, उसी प्रकार तत्संबंधी दवात–कलम रखना भी साधुकेलिये अयुक्त नहीं है।

श्रीदशवैकालिकसूत्रका एक संस्करण 'आगमोदय समिति' की ओरसे भी प्रकाशित हुआ है। उक्त सूत्रका यह संस्करण 'टीका' और 'दीपिका' सहित प्रकाशित हुआ है। उस संस्करणमें 'सीससि वा, वत्थसि वा, पडिग्गहसि वा, कंबलसि वा, पायपुञ्छणसि वा', ये पद मूलमें तो दिये हैं, लेकिन टीकाकारने इन पदोंकी टीका नहीं की है। साथ ही दीपिकाकारने उन पदोंका अर्थ किया है। इससे टीकाकार और दीपिकाकारोंमें परस्पर पाठविषयक मतभेद प्रतीत होता है। उक्त संस्करणके संशोधक विद्वान्ने इसी आशयसे इसपर पादटिप्पणीमें एक यह टिप्पणी कि 'नैतानि व्याख्यातानि टीकायां, दीपिकायां तु व्याख्यातानि' जोड़कर टीकाकार और दीपिकाकारके मतभेद का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है।

उक्त संस्करणके अतिरिक्त श्रीदशवैकालिक सूत्रका एक संस्करण 'भीमसिंह माणिक' की ओरसे भी प्रकाशित हुआ है। उसमें उक्त पद सब दिये हैं और गुजराती भाषामें उन सबका अर्थ भी दिया है †।

† इसी प्रकारका, पाठभेद पहिले भी एक जगह आ चुका है। जैसे कि 'आगमोदयसमिति' द्वारा प्रकाशित

८ उक्त संस्करणोंके अतिरिक्त इस ग्रन्थका एक संस्करण स्वामी रत्नचन्द्रजीकृत हिन्दीअर्थ सहित भी हुआ है। उसमें 'सीससि वा' और 'सव्वसि वा' पदोंके बीचमें एक 'मुहे मुहप त्तसि वा' पद और छपा हुआ मिलता है। जिसका अर्थ होता है—'मुखपर बँधी हुई मुखपत्तिमें।'

श्रीसंघमें 'मुँहपत्ति' के 'मुखपर बँधी हुई' के अर्थपर थोडासा विवाद है। विवाद मुँहपत्ति की आवश्यकता पर नहीं है मुँहपत्तिकी आवश्यकता तो जीवरक्षाके उद्देश्यसे दोनोंको मान्य है। विवाद केवल 'मुखपर बांधने न बांधने' के विषयमें है। संवेगी साधु मुखपर मुँहपत्ति बांधते नहीं है, हाथमें लिये रहते हैं। केवल बोलते समय उसे मुँहके आड़े लगा लेते हैं। और स्थानकवासी साधु उसे हर समय मुँहपर बांधे ही रहते हैं।

इसी दशवैकालिकसूत्रके तेजस्कायकी रक्षावाले सूत्रमें 'न भिंदिज्जा, न पज्जालिज्जा,' ये दो पद नहीं दिये हैं।

इस तरहके पाठभेदोंका होना अनुचित है। इधर श्रीसंघको अपना लक्ष्य अवश्य देना चाहिये। इसलिये एक 'सूत्रमाला' इस प्रकारकी प्रकाशित करनी चाहिये कि जिसमें समस्त प्रतियोंके विभिन्न पाठोंके संकलनके अतिरिक्त उन प्रतियोंके सम्वतोंका भी उसमें उल्लेख हो। तथा सूत्र और पदोंकी संख्या भी निश्चित कर देनी चाहिये, जिससे कि भविष्यमें उनमें कोई घटा-बढ़ी न कर सके।

शताबधानी पण्डित मुनि श्रीरत्नचन्द्रजी स्वामीके बनाये हुए 'जैनागमशब्दसंग्रह'—अर्द्ध-मागधीगुजरातीकोषमें लिखा है—

"मुहणंतक-न० (मुखानन्तक) मुखनु वस्त्र-मुहपत्ति—

मुहपत्ती-स्त्री०(मुखपत्री) मुहपत्ती, मुखवस्त्रिका—

मुहपोत्ति-स्त्री० मुखपोत्ति) मुखे बांधवानु कपडु मुहपत्ति—

मुहपोत्तिया-स्त्री० (मुखपोत्तिका) मुखवस्त्रिका, मुखे बांधवानु एक वेंतने चार आंगुलनु वस्त्र मुहपत्ति"।

उक्त कथनसे यही सिद्ध होता है कि—मुहपत्तिका अर्थ ही यह है कि—जो मुखपर बांधी जाय।

मूल पाठमें 'मुहे मुहपत्तिसि वा' पाठ यदि न भी होता, जैसा कि कई प्रतियोंमें नहीं भी मिलता है, तो भी काम चल जाता। क्योंकि 'अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए' पाठसे मुँहपत्ति का ग्रहण किया ही जाता। अस्तु।

इस स्थानपर तो केवल इसी बातका प्रकरण है कि—त्रसकायके जीवोंकी सावधानता पूर्वक रक्षा करनी चाहिये। जिससे प्रथम अहिंसाव्रत सुखपूर्वक पालन किया जा सके ॥ १ ॥

[सूत्र ॥ १६ ॥]

उत्थानिका—सूत्रकार यत्नाधिकारके पश्चात् अत्र उपदेश देते हैं—

अजय चरमाणो अ (उ), पाणभूयाइ हिंसइ ।
बधइ पावय कम्म, त से होइ कडुअ फल ॥ १ ॥

अयत चरन् च (तु), प्राणिभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापक कर्म, तदस्य भवति कटुक फल ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(अजय) अयत्नसे (चरमाणो) चलता हुआ जीव (पाणभूयाइ) प्राणी–द्वीन्द्रियादि जीवों और भूत एकेन्द्रिय जीवोंकी (हिंसइ) हिंसा करता है, (पावय) ज्ञानावरणादि पाप (कम्म) कर्मको (बधइ) बांधता है (त से) जिससे फिर (कडुय फल) कटुक फल (होइ) होता है ॥ १ ॥

मूलार्थ—अयत्नसे चलता हुआ जीव प्राणिभूतोंकी हिंसा करता है और पापकर्मको बांधता है, जिससे फिर उसको कटुक फल प्राप्त होता है ॥ १ ॥

शतावधानी पण्डित मुनि श्रीरत्नचन्द्रजी स्वामीके बनाये हुए 'जैनागमशब्दसंग्रह'—अर्द्ध-मागधीगुजरातीकोषमें लिखा है—

"मुहणंतक-न० (मुखानन्तक) मुखनु वस्त्र-मुहपत्ति—

मुहपत्ती-स्त्री०(मुखपत्री) मुहपत्ती, मुखवस्त्रिका—

मुहपोत्ति-स्त्री० (मुखपोत्ति) मुखे बांधवानु कपडु मुहपत्ति—

मुहपोत्तिया-स्त्री० (मुखपोत्तिका) मुखवस्त्रिका, मुखे बांधवानु एक वेंतने चार आंगुलनु वस्त्र मुहपत्ति"।

उक्त कथनसे यही सिद्ध होता है कि—मुहपत्तिका अर्थ ही यह है कि—जो मुखपर बांधी जाय।

मूल पाठमें 'मुहे मुहपत्तिसि वा' पाठ यदि न भी होता, जैसा कि कई प्रतियोंमें नहीं भी मिलता है; तो भी काम चल जाता। क्योंकि 'अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए' पाठसे मुँहपत्ति का ग्रहण किया ही जाता। अस्तु।

इस स्थानपर तो केवल इसी बातका प्रकरण है कि—त्रसकायके जीवोंकी सावधानता पूर्वक रक्षा करनी चाहिये। जिससे प्रथम अहिंसाव्रत सुखपूर्वक पालन किया जा सके ॥ ६ ॥
[सूत्र ॥ १६ ॥]

शास्त्रप्रमाणानुसार की जायँगी तो न तो किसी प्रकारका बन्ध होगा और न किसी प्रकारकी शरीर सम्बन्धी बाधा ही उपस्थित होगी, अर्थात् यत्नपूर्वक क्रिया करनेवाले जीव, आत्म-विराधना और पर विराधना, दोनोंसे बच सकते हैं।

गाथाके प्रथम चरणमें जो 'अ' अव्यय है, व्याकरणानुसार उसकी संस्कृतछाया 'च' होती है, वह 'च' और-अर्थमें और पादपूर्तिमें आता है। यहांपर वह दोनों अर्थोंमें घटित हो सकता है। कहीं-कहीं 'अ' की जगह 'उ' भी पाठ सुना आता है। उसकी संस्कृत छाया तीन होती हैं। एक 'उत्', दूसरी 'उ' और तीसरी 'तु'। 'उत्' विपरीत, अभाव, और विशेष अर्थमें; 'उ' उपयोग रखनेके अर्थमें, और 'तु' निश्चय, वितर्क और परन्तु अर्थमें आता है। इनमेंसे यहांपर 'परन्तु', अर्थ अच्छा घटता है। इसलिये 'उ' की यहांपर 'तु' संस्कृत छाया की गई है।

गाथाके चतुर्थ चरणमें 'तं' अव्यय है। उसकी संस्कृतछाया 'तत्' होती है। 'तत्' वाक्यालङ्कार और हेतु-अर्थमें आता है। यहांपर उसे हेतु-अर्थमें मानकर ही उसका अर्थ किया गया है। वही अर्थ यहांपर सुघटित होता है।

गाथाके चतुर्थ चरणमें 'तं' के अतिरिक्त एक 'से' अव्यय भी है। अथके स्थानपर उसका

भाष्य— गमनक्रियामें अयत्न करनेका अर्थ–ईर्यासमितिसे नहीं चलनेका है। उपयोगपूर्वक देखभालकर गमन करनेको 'ईर्यासमिति' कहते हैं। बिना उपयोगके गमन करनेसे प्राणियोंकी हिंसा हो जाना सहज संभव है। इसलिये सारांश यह निकला कि ईर्यासमितिको छोड़कर जो जीव गमन करता है, वह द्वीन्द्रियादि जीवोंकी अथवा उनके प्राणोंकी हिंसा करता है। जिससे कि उसके ज्ञानावरणादि पापकर्मोंका बन्ध होता है। और फिर उस बन्धका कटुक फल उसको प्राप्त होता है।

गाथामें जो 'पाणभूयाइं' पद है, उसके दो अर्थ होते हैं। १– 'पाण'–'प्राणी'—द्वीन्द्रियादि जीव, और 'भूयाइं' स्थावर जीव। २—'पाण'–'प्राण'–इन्द्रिय, बल, आयु आदि प्राण और 'भूयाइं'–स्थावर जीव।

जिस प्रकार इस गाथामें गमनक्रियाके विषयमें उपदेश दिया गया है, उसी प्रकार आगेकी गाथाओंमें भी ठहरने, बैठने, सोने, खाने और बोलने रूप क्रियाओंके विषयमें भी उपदेश दिया गया है। इत्यादि क्रियाओंको अयत्नपूर्वक करनेसे न केवल पापकर्मका बन्ध ही होता है, किन्तु अपने शरीरको कभी कभी भारी हानि हो जाती है। प्रत्येक क्रियाका यत्न–विवेक भिन्न २ प्रकारका होता है। उसकी योजना यथास्थान स्वयं कर लेनी चाहिये। यदि सब क्रियाएं विवेकपूर्वक

मूलार्थ—अयत्नसे खड़ा हुआ जीव प्राणी और भूतोंकी हिंसा करता है और पापकर्मको बांधता है, जिसको बन्धहसे पीछे उसे कटुक फल प्राप्त होता है ॥ २ ॥

भाष्य—जिस प्रकार गमनक्रियां विना यत्नसे पापकर्मके उपार्जन करनेका एक हेतु बन जाती है, ठीक उसी प्रकार स्थितिक्रियां भी विना यत्नसे की हुई पापकर्मके उपार्जन करनेका कारण बन जाती है । शेष पूर्ववत् ॥ २ ॥

उत्थानिका—सूत्रकार अब बैठनेरूप क्रियाके विषयमें कहते हैं—

अजयं आसमाणो अ, पाणभूयाइं हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥ ३ ॥

अयतमासमानश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म, तदस्य भवति कटुकं फलम् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(अजयं) अयत्नसे (आसमाणो) बैठता हुआ (पाणभूयाइं) प्राणी-द्वीन्द्रियादि जीवों और भूत एकेन्द्रिय जीवोंकी (हिंसइ) हिंसा करता है, (पावयं)

निपात होता है। यह 'अथ' किसी प्रकरणके प्रारम्भमें मंगल-अर्थमें, अनन्तर-अर्थमें, प्रश्न-अर्थमें और अधिकार-अर्थमें आता है। प्रकरणानुसार यहाँपर 'से' का अर्थ 'अनन्तर' अर्थको घटता है। इसलिये यही अर्थ किया गया है ॥ १ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार गमनक्रियाके प्रतिकूल स्थितिक्रियाके विषयमें कहते हैं—

अजयं चिट्ठमाणो अ, पाणभूयाइं हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥ २ ॥

अयतं तिष्ठमानश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म, तदस्य भवति कटुकफलम् ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(अजयं) अयत्नसे (चिट्ठमाणो) स्थित होता हुआ (पाणभूयाइं) प्राणी-द्वीन्द्रियादि जीवों और भूत-एकेन्द्रिय जीवोंकी (हिंसइ) हिंसा करता है, (पावयं) ज्ञानावरणादि पाप (कम्मं) कर्मको (बंधइ) बांधता है (तं से) अतएव पीछे (कडुयं फलं) कटुक फल (होइ) होता है ॥ २ ॥

प्राणी-द्वीन्द्रियादि जीवों और भूत-एकेन्द्रिय जीवोंकी (हिंसइ) हिंसा करता है, (पावय) ज्ञाना-वरणादि पाप (कम्म) कर्मको (बंधइ) बांधता है (त से) अतएव पीछे (कडुय फल) कटुक फल (होइ) होता है ॥ ४ ॥

मूलार्थ – अयत्नसे शयन करता हुआ जीव प्राणी और भूतोंकी हिंसा करता है और पापकर्मको बांधता है, जिसकी वजहसे पीछे उसे कटुक फल प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

भाष्य—सुगम ॥ ४ ॥

उत्थानिका--उसी प्रकार सूत्रकार अब खानेरूप क्रियाके विषयमें कहते हैं—

अजयं भुंजमाणो अ, पाणभूयाइं हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥ ५ ॥

अयतं भुञ्जानश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म, तदस्य भवति कटुकं फलम् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(अजयं) अयत्नपूर्वक (भुंजमाणो) भोजन करता हुआ

ज्ञानावरणादि पाप (कम्म) कर्मको (बंधइ) बांधता है (त से) अतएव पीछे (कडुयं फल), कटुक फल (होइ) होता है ॥ २ ॥

मूलार्थ—अयत्नसे बैठता हुआ जीव प्राणी और भूतोंकी हिंसा करता है और पापकर्मको बांधता है, जिसकी वजहसे पीछे उसे कटुक फल प्राप्त होता है ॥ २ ॥

भाष्य—सुगम ॥ ३ ॥

उत्थानिका—उसी तरह सूत्रकार अब शयनक्रियाके विषयमें कहते हैं —

अजयं सुयमाणो अ, पाणभूयाइं हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥ ४ ॥

अयतं शयमानश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म, तदस्य भवति कटुकं फलम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(अजयं) अयत्नसे (सयमाणो) शयन करता हुआ (पाणभूयाइं)

प्राणी-द्वीन्द्रियादि जीवों और भूत-एकेन्द्रिय जीवोंकी (हिंसइ) हिंसा करता है, (पावय) ज्ञाना-वरणादि पाप (कम्म) कर्मको (बंधइ) बांधता है (त से) अतएव पीछे (कडुय फल) कटुक फल (होइ) होता है ॥ ४ ॥

मूलार्थ – अयत्नसे शयन करता हुआ जीव प्राणी और भूतोंकी हिंसा करता है और पापकर्मको बांधता है, जिसकी वजहसे पीछे उसे कटुक फल प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

भाष्य—सुगम ॥ ४ ॥

उत्थानिका—उसी प्रकार सूत्रकार अब खानेरूप क्रियाके विषयमें कहते हैं—

अजयं भुंजमाणो अ, पाणभूयाइं हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥ ५ ॥

अयतं भुञ्जानश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म, तदस्य भवति कटुकं फलम् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(अजयं) अयत्नपूर्वक (भुंजमाणो) भोजन करता हुआ

(पाणभूयाइ) प्राणी-द्वीन्द्रियादि जीवों और भूत-एकेन्द्रिय जीवोंकी (हिंसइ) हिंसा करता है, (बन्धय) ज्ञानावरणादि पाप (कम्मं) कर्मको (बन्धइ) बांधता है (तं से) अतएव पीछे (कडुयं फलं) कटुक फल (होइ) होता है ॥ ५ ॥

मूलार्थ—अयत्नसे आहार पानी करता हुआ जीव प्राणी और भूतोंकी हिंसा करता है और पापकर्मको बांधता है, जिसकी वजहसे पीछे उसे कटुक फल प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

भाष्य—यों तो पांचों ही इन्द्रियां जीवको अपने-अपने विषयमें घसीट ले जाती हैं—वशीभूत करती रहती हैं। और इन पांचों ही इन्द्रियोंके वशीभूत हुआ जीव अनेक दुःख इस भवके तथा परभवके प्राप्त करता है। इनमेंसे जिह्वा इन्द्रिय एक बहुत ही प्रबल इन्द्रिय है। इस इन्द्रियके वशीभूत होजानेसे जीव बड़ी भारी गलती कर बैठता है। इसलिये इसका विषय जो भोजन है, उसमें जीवको बड़ी सावधानीसे प्रवृत्ति करनी चाहिये।

भोजन करते समय जीवको यह ख्याल रखना चाहिये कि भोजन शुद्ध और प्रमाणपूर्वक हो। भोजन करते समय साधुको केवल उदरपूर्तिका ध्यान रखना चाहिये स्वादका नहीं। और भोजनको साधु इस तरहसे ग्रहण करे, जिससे कि बादमें उसे झूठे गेरनेकी आवश्यकता न पड़े।

इस तरहसे यत्नपूर्वक आहार ग्रहण करनेवाला साधु कर्मका बन्ध नहीं करता और किसी प्रकारकी शारीरिक बाधाको भी नहीं प्राप्त करता ॥ ५ ॥

उत्थानिका - शास्त्रकार अब भाषाविषयक यत्नाचारका उपदेश करते हैं—

अजयं भासमाणो य, पाणभूयाइ हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥ ६ ॥

अयतं भाषमाणस्च, प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म, तदस्य भवति कटुकं फलम् ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(**अजयं**) अयत्नपूर्वक (**भासमाणो**) बोलता हुआ (**पाणभूयाइ**) प्राणी-द्वीन्द्रियादि जीवों और भूत-एकेन्द्रिय जीवोंकी (**हिंसइ**) हिंसा करता है, (**पावयं**) ज्ञानावरणादि पाप (**कम्मं**) कर्मको (**बंधइ**) बांधता है (**तं से**) अतएव पीछे (**कडुअं फलं**) कटुक फल (**होइ**) होता है ॥ ६ ॥

मूलार्थ—अयत्नपूर्वक बोलता हुआ जीव प्राणी और भूतोंकी हिंसा करता है और पापकर्मको बांधता है, जिसकी वजहसे पीछे उसे कटुक फल प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

भाष्य—इस गाथामें भाषाविषयक उल्लेख किया गया है। जो साधु गृहस्थके समान कठिन और आक्रोशयुक्त वचनका प्रयोग करता है, वह पापकर्मको अवश्यमेव बांधता है, जिसका के परिणाम उसकेलिये अवश्यमेव दुःखमय होता है। वाणीके घावसे व्यथित हुए प्राणी कभी-कभी अपने पवित्र जीवनसे भी हाथ धो बैठते हैं। अतः वचन बोलते समय अवश्य सावधानी रखनी चाहिये। ताकि कोई वचन ऐसा न निकल जाय जो परपीडाकारक हो। असावधानीसे बोले गये वचनोंसे सत्यकी रक्षा होना कठिन है। तथा वचन-समाधारणासे दर्शनकी विशेष शुद्धि होती है, जिससे आत्मा अध्यात्ममें प्रविष्ट हो जाता है। अतः वचनका प्रयोग बिना यत्नके कदापि न होना चाहिये। जीवोंको जितने कष्ट होते हैं, उनमें अधिकांश कष्ट असावधानी-अयत्नसे बोले गये वचनोंके द्वारा होते हैं॥ ६॥

उत्थानिका—इस प्रकार गुरुके उपदेशको सुनकर शिष्यने प्रश्न किया कि—जब पाप-कर्मका बन्ध इस प्रकारसे होता है तो फिर क्या करना चाहिये और कैसे वर्तना चाहिये, ताकि पापकर्मका बन्ध न हो—

कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सए।
कहं भुंजतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ ॥ ७ ॥

कथ चरेत् कथ तिष्ठेत्, कथमासीत् कथ स्वपेत् ।
कथ भुञ्जानो भाषमाणः, पापकर्म न बध्नाति ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(कह) किस प्रकारसे (**चरे**) चले ; (कह) किस प्रकारसे (**चिट्ठे**) खड़ा हो ; (कह) किस प्रकारसे (**आसे**) बैठे ; (कह) किस प्रकारसे (**सए**) सोवे ; (कह) किस प्रकारसे (**भुंजंतो**) भोजन करता हुआ और (**भासंतो**) भाषण करता हुआ (**पाव-कम्म**) पापकर्मको (**न बंधइ**) नहीं बांधता है ॥ ७ ॥

मूलार्थ—हे भगवन् ! जीव किस प्रकारसे चले ; किस प्रकारसे खड़ा हो ; किस प्रकारसे बैठे ; किस प्रकारसे सोवे ; किस प्रकारसे भोजन करे ; और किस प्रकारसे बोले ; जिससे कि उसे पापकर्मका बंध न हो ॥ ७ ॥

भाष्य—चलना-फिरना, उठना-बैठना, सोना-जागना, खाना-पीना आदि क्रियाएं ऐसी हैं कि यदि इन्हें जीव न करे तो मृत्युको प्राप्त हो जाय और यदि करता है तो कर्मका बन्ध होता है। तो फिर क्या किया जाय ? यह बड़ा विकट प्रश्न है। जिसका उत्तर होना अत्यन्त आवश्यक

है। शास्त्रकार इसका उत्तर आगाड़ी स्वयं ही करनेवाले हैं और एक विधि ऐसी बतलानेवाले हैं, जिससे ये क्रियाएं भी होती रहें—जीव मोक्षका पात्र भी न बने और पापकर्मका बन्ध भी उसको न हो।

इन उपरोक्त गाथाओंमें 'चरे, चिट्ठे' आदि केवल क्रियापद ही दिये गये हैं, उनके कर्ताका वाचक कोई पद नहीं दिया गया है। व्याकरणका एक नियम है कि जिस क्रियाका कर्ता उपलब्ध न हो उसका कर्ता क्रियाके पुरुषवचनानुरूप ऊपरसे अध्याहृत कर लेना चाहिये। इस नियमके अनुसार गाथाओंके अर्थमें यहांपर प्रथम पुरुषका एक वचनरूप कोई कर्ता अध्याहृत किया जा सकता है। तदनुसार उनका कर्ता 'जीव' मानकर ऊपर गाथाओंका अर्थ लिखा गया है। यद्यपि प्रकरण साधुका है, इसलिये 'साधु' पद ही यहां अध्याहृत होना चाहिये। लेकिन उपदेशका पात्र-अधिकारी जीवमात्र होता है। इसीलिये यहांपर 'जीव' ही उक्त क्रियाओंका कर्ता मानकर उक्त गाथाओं का अर्थ किया गया है॥ ७॥

उत्थानिका—अब शास्त्रकार उक्त प्रश्नोंके उत्तर देते हैं—

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ॥ ८॥

यत चरेत् यत तिष्ठेत्, यतमासीत् यत स्वपेत्।
यतं भुञ्जान भाषमाणः, पापकर्म न बध्नाति ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(जय) यत्नपूर्वक (चरे) चले (जय) यत्नपूर्वक (चिट्ठे) खड़ा होवे (जय) यत्नपूर्वक (आसे) बैठे (जय) यत्नपूर्वक (सए) सोवे (जय) यत्नपूर्वक (भुजतो) भोजन करता हुआ और (भासतो) भाषण करता हुआ (पावकम्म) पापकर्मको (न बधइ) नहीं बांधता है ॥ ८ ॥

मूलार्थ—जीव यत्नपूर्वक चले, यत्नपूर्वक खड़ा होवे, यत्नपूर्वक बैठे, यत्नपूर्वक सोवे, यत्नपूर्वक भोजन करे और यत्नपूर्वक भाषण करे तो वह पापकर्मको नहीं बांधता है ॥ ८ ॥

भाष्य— पूर्व गाथाओंमें शिष्यने जिस क्रमसे प्रश्न किये हैं, शास्त्रकारने इन गाथाओंमें उसी क्रमसे उनका उत्तर दिया है। उनका आशय यह है—

प्रश्न—हे भगवन्! चलना किस प्रकार चाहिये?

उत्तर-हे शिष्य! सूत्रोक्त विधिसे-ईर्यासमिति यत्नसे-पूर्वक चलना चाहिये।

प्रश्न—हे भगवन्! खड़ा किस प्रकार होना चाहिये?

उत्तर-हे शिष्य ! यत्नपूर्वक—समाहितप्रसपादादि—अविक्षेपताके साथ खड़ा होना चाहिये।

प्रश्न—हे भगवन् ! बैठना किस प्रकार चाहिये ?

उत्तर-हे शिष्य ! यत्नपूर्वक—आकुञ्चनादिसे रहित होकर बैठना चाहिये।

प्रश्न—हे भगवन् ! शयन किस प्रकार करना चाहिये ?

उत्तर-हे शिष्य ! समाधिमान होकर प्रकाम शय्यादिका परित्याग कर फिर रात्रिकी प्रथम पौरुषीमें स्वाध्यायादि करके पश्चात् यत्नपूर्वक शयन करना चाहिये।

प्रश्न—हे भगवन् ! भोजन किसप्रकार करना चाहिये ?

उत्तर-हे शिष्य ! प्रयोजनके उपस्थित होजानेपर प्रासुक आहार यत्नपूर्वक खाना चाहिये, किन्तु प्रतरसिंह भक्षितादि भोजन बलवृद्धि करनेवाला न करना चाहिये।

प्रश्न—हे भगवन् ! भाषण किस प्रकार करना चाहिये ?

उत्तर-हे शिष्य ! साधु भाषासे मृदु और काल मास जानकर यत्नपूर्वक भाषण करना चाहिये। अर्थात् समयको जानकर मृदुभाषी बनना चाहिये।

प्रश्न—हे भगवन् ! पापकर्मका बन्ध किस प्रकारसे प्रवृत्ति करनेपर नहीं होता ?

उत्तर-हे शिष्य ! यत्नपूर्वक क्रियाओंके करनेसे आत्मा पापकर्मका बन्ध नहीं करता।

सारांश यह कि यत्नपूर्वक यदि क्रियाएं की जायँ तब आत्मा पापकर्मका बन्ध नहीं करता। और अयत्नपूर्वक क्रियाएँ यदि की जायँ तो पापकर्मका बन्ध अवश्यमेव होता है ॥ ८ ॥

उत्थानिका—अब शास्त्रकार पूर्वोक्त विषयको ही दृढ करते हैं—

सव्वभूयप्पभूअस्स, सम्म भूयाइ पासओ ।
पिहियासवस्स दंतस्स, पावकम्मं न बंधइ ॥ ९ ॥

सर्वभूतात्मभूतस्य, सम्यक् भूतानि पश्यतः ।
पिहिताश्रवस्य दान्तस्य, पापकर्म न बध्यते ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(**सव्वभूयप्पभूयस्स**) सब जीवोंको अपने समान जाननेवालेके (**सम्म भूयाइ पासओ**) सम्यग् प्रकारसे सब जीवोंको देखनेवालेके (**पिहियासवस्स**) सब प्रकारके आश्रवोंका निरोध करनेवालेके और (**दंतस्स**) पाचों इन्द्रियोंके दमन करनेवालेके (**पावकम्म**) पापकर्म (**न बंधइ**) नहीं बँधता ॥ ९ ॥

मूलार्थ—जो जगत्‌के जीवोंको अपने समान समझता हो, जो जगत्‌के जीवोंको भले प्रकार

देखता हो, कर्मोंके आनेके मार्गको जिसने रोक दिया हो, और जो इन्द्रियोंका दमन करनेवाला हो, ऐसे साधुको पापकर्मका बन्ध नहीं होता ॥ ९ ॥

भाष्य—जो मुनि अपनी आत्माके समान अनन्तशक्तिशाली, दुःखभीरु और सुखाभिलाषी संपूर्ण जीवोंकी आत्माको समझता है, जो मुनि जीवोंके स्वरूपको उसी प्रकार देखता है जिस प्रकार कि श्रीसर्वज्ञ भगवान्‌ने कहा है; जिस मुनिने पाँचों इन्द्रियों और मनको अपने वशमें कर लिया है और जिस मुनिने क्रोध मान-माया-लोभ रूप कषायोंको एवं प्राणातिपातादि रूप आस्रव को—कर्मोंके आनेके मार्गको शुभ भावनाओं द्वारा रोक दिया है, उसके पापकर्मोंका बन्ध नहीं होता। अतः उसको मोक्ष प्राप्त कर लेना स्वाभाविक है।

यहांपर यह शङ्का की जा सकती है कि मोक्ष तो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र, इन तीनोंकी एकतासे मिलती है। जैसा कि शास्त्रोंमें वर्णन है कि 'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।' तो फिर उपरोक्तसे—केवल चारित्रसे मोक्ष कैसे मिल सकती है? इसका

भूतस्य' पदसे सम्यग्ज्ञानका, 'सम्म भूयाइ पासओ'– 'सम्यग्भूतानि पश्यतः' पदसे सम्यग्दर्शनका और 'पिहियासवस्स दंतस्स'—'पिहिताश्रवस्य दान्तस्य' पदसे सम्यक्चारित्रका यहांपर निरूपण किया गया है।

शास्त्रकारने जिस प्रकार उपरोक्त गाथाके तीन चरणोंसे तीनों उपायोंको बतलाया है, उसी प्रकार चौथे चरणसे उक्त तीनों उपायोंका फल जो मोक्षप्राप्ति है, उसका भी वर्णन कर दिया है। यथा 'पावकम्म न बंधइ'—'पापकर्म न बध्नाति'।

यहांपर यह शङ्का की जा सकती है कि चौथे चरणमें तो यह बतलाया है कि उसके केवल पापकर्मका बन्ध नहीं होता। लेकिन इससे पुण्यकर्मके बन्धका निषेध नहीं होता। जब तक आत्माके पुण्यकर्मका बन्ध होता है तबतक उसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। स्वर्गादिकी प्राप्ति भले ही हो जाय। इसलिये गाथाके चौथे चरणमें मोक्षकी प्राप्तिका वर्णन कहां हुआ ? इसका समाधान यह है कि शुद्ध-आत्माकेलिये पाप जितना हानिकर है, पुण्य भी उतना ही हानिकर है। पाप लोहेकी बेड़ियां हैं तो पुण्य सुवर्णकी बेड़िया हैं। बेड़िया दोनों हैं। शुद्ध आत्माकी दृष्टिसे-शुद्ध निश्चयनयसे-अमल आत्माकी अपेक्षा पाप तो पाप है ही, पुण्य भी पाप ही है। क्योंकि आत्माको सिवाय अपने स्वरूपके

देखता हो, कर्मोंके आनेके मार्गको जिसने रोक लिया हो, और जो इन्द्रियोंका दमन करनेवाला हो, ऐसे साधुको पापकर्मका बन्ध नहीं होता ॥ ९ ॥

भाष्य—जो मुनि अपनी आत्माके समान अनन्तशक्तिशाली, दुःखभीरु और सुखाभिलाषी संपूर्ण जीवोंकी आत्माको समझता है, जो मुनि जीवोंके स्वरूपको उसी प्रकार देखता है जिस प्रकार कि श्रीसर्वज्ञ भगवान्‌ने कहा है, जिस मुनिने पांचों इन्द्रियों और मनको अपने वशमें कर लिया है और जिस मुनिने क्रोध मान-माया-लोभ रूप कषायोंको एवं प्राणातिपातादि रूप आश्रव की—कर्मोंके आनेके मार्गको शुभ भावनाओं द्वारा रोक दिया है, उसके पापकर्मोंका बन्ध नहीं होता। अतः उसको मोक्ष प्राप्त कर लेना स्वाभाविक है।

यहांपर यह शङ्का की जा सकती है कि मोक्ष तो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र, इन तीनोंकी एकतासे मिलती है। जैसा कि शास्त्रोंमें वर्णन है कि 'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।' तो फिर उपरोक्तसे—केवल चारित्रसे मोक्ष कैसे मिल सकती है? इसका समाधान यह है कि—ठीक है, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे ही मोक्ष प्राप्त होती है। उपरोक्त गाथामें भी तो इन्हीं तीनोंका वर्णन है। देखिए 'सव्वभूयप्पभूयस्स'—'सर्वभूतात्म

अन्वयार्थ—(पढम) प्रथम (नाण) ज्ञान (तओ) तब (दया) दया है, (एव) इस प्रकार—ज्ञानपूर्वक दया करनेसे (सव्वसजए) सब संयत (चिट्ठइ) ठहरा हुआ है, (अन्नाणी) अज्ञानी (किं काही ?) क्या करेगा ? (किं वा) और क्या (सेयपावग) पुण्य और पापको (नाही ?) जानेगा ? ॥ १० ॥

मूलार्थ—पहिले ज्ञान है, पीछे दया है। इसी प्रकारसे सब संयतवर्ग स्थित है अर्थात् मानता है। अज्ञानी क्या करेगा ? और पुण्य और पापके मार्गको वह क्या जानेगा ? ॥ १० ॥

भाष्य—इस गाथामें ज्ञानका माहात्म्य दिखलाया गया है। और क्रियाको अंगरूप कहा गया है। ठीक भी है। क्योंकि जीव जब जीवाजीवके स्वरूपको जानेगा ही नहीं तो फिर दया करेगा किसकी ? अज्ञानी आत्मा जब साध्यके उपायको जानेगा ही नहीं तो फिर उसको सिद्ध किस प्रकार कर सकेगा ? नहीं कर सकेगा। वह सर्वथा अन्धतुल्य होनेसे प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप मार्गमें तत्पर ही नहीं हो सकता। अज्ञानी जीव न मोक्षके मार्गको जान सकता है, न पापके मार्ग को। जब वह इन बातोंसे अनभिज्ञता रखता है तो भला फिर उनमें वह प्रवृत्ति वा निवृत्ति किस प्रकारसे कर सकेगा ? अतएव वह अन्धप्रदीपपलायनघुणाक्षरकरणवत् कुछ भी नहीं कर सकता।

और सब 'हेय' है। यहांपर 'हेय' अर्थमें ही 'पाप' शब्द आया हुआ है। 'पापकर्म' में 'पाप' शब्दको 'कर्म' का विशेषण न समझना चाहिये। बल्कि यहांपर ये दोनों एक अर्थके ही बोधक हैं। और उनका समास 'पाप एव कर्म इति पापकर्म' करना चाहिये। अथवा उपलक्षणसे यहांपर पापके साथ पुण्यका भी ग्रहण कर लेना चाहिये। जैसा कि 'वीतराग' शब्दमें 'राग' शब्दसे 'द्वेष' भी ग्रहण कर लिया जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि उक्त गाथाका चौथा चरण मोक्षप्राप्तिका वर्णन करनेवाला है।

इस तरहसे उक्त गाथामें त्रयात्मक मोक्ष पथका प्रतिपादन किया गया है। आत्माको उसे प्राप्त करनेकेलिये पुरुषार्थ करना चाहिये ॥ ९ ॥

उत्थानिका—प्रायः लोग शका किया करते हैं कि दया ही केवल पापकर्मके बन्धको रोक देती है। तब दया ही करना चाहिये। ज्ञानाभ्यासके झंझटमें भविको क्यों पढना चाहिये ? इसके लिये शास्त्रकार कहते हैं—

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही ?, किं वा नाही सेयपावगं ? ॥ १० ॥

प्रथमं ज्ञानं ततो दया, एवं तिष्ठति सर्वसंयतः।
अज्ञानी किं करिष्यति ? किं वा ज्ञास्यति श्रेयःपापकम् ? ॥ १० ॥

उत्थानिका—सूत्रकार फिर भी उसी विषयको दृढ करते हैं—

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं त समायरे ॥ ११ ॥

श्रुत्वा जानाति कल्याणं, श्रुत्वा जानाति पापकम् ।
उभयमपि जानाति श्रुत्वा, यत् श्रेयस्तत् समाचरेत् ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(**सोच्चा**) सुनकर ही (**कल्लाण**) कल्याणको (**जाणइ**) जानता है, (**सोच्चा**) सुनकर ही (**पावग**) पापको (**जाणइ**) जानता है और (**सोच्चा**) सुनकर ही (**उभय पि**) दोनोंको (**जाणइ**) जानता है, (**ज**) जो (**सेय**) हितकारी हो (**त**) उसे (**समायरे**) ग्रहण करे ॥ ११ ॥

मूलार्थ—मनुष्य सिद्धान्तको सुनकर ही कल्याणकारी कर्मको जानता है, सुनकर ही पापकारी कर्मको जानता है और सुनकर ही पुण्य-पापको पहचानता है । और तभी उसमेंसे जो आत्माका हितकारी भाग है, उसे वह ग्रहण करता है ॥ ११ ॥

अतः सिद्ध हुआ कि—ज्ञानका अभ्यास अवश्यमेव करना चाहिये। तभी सम्यक्चारित्र हो सकता है।

ज्ञान स्व और परका प्रकाशक है। क्रिया—दयारूप क्रिया कर्मोंके नष्ट करनेमें समर्थ है। अतः यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानपूर्वक की गई क्रिया ही मोक्षकी साधक है। और यही क्रिया चारित्र कहलाती है। क्योंकि सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रका कारण बतलाया गया है।

गाथाके दूसरे चरणमें जो 'चिट्ठइ' पद है। वह 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' से बना है। और वह वर्तमानकालके प्रथम पुरुषका एक वचन है। उसका अर्थ वास्तवमें 'ठहरता है ठहरा है, ठहरा हुआ है,' यही होता है। और जब, 'समस्त संयतवर्ग इसी सिद्धान्तपर ठहरा हुआ है,' यह अर्थ हुआ तो उसका तात्पर्य यही तो हुआ कि 'इस प्रकार सब संयतवर्ग मानता है' इसीलिये मूलार्थमें वैसा लिखा गया है।

गाथाके 'सेयपावगं' की जगह 'छेयपावगं' पाठ भी कहीं-कहीं मिलता है। 'छेय'—'छेक' शब्दके तीन अर्थ हैं—'छेकं-निपुण हितं कालोचितम्' निपुण, हित और समयोचित। प्रकरणानुसार यहांपर उसका 'हित' अर्थ ग्रहण करना चाहिये ॥ १० ॥

उत्थानिका—शास्त्रकार फिर भी उसी विषयमें कहते हैं—

जो जीवे वि न याणेइ, अजीवे वि न याणइ ।
जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहीइ संजमं ? ॥ १२ ॥

यो जीवानपि न जानाति, अजीवानपि न जानाति ।
जीवाजीवानजानन्, कथमसौ ज्ञास्यति संयमम् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(जो) जो (जीवे वि) जीवको (न याणेइ) नहीं जानता और (अजीवे वि) अजीवको भी (न याणइ) नहीं जानता (जीवाजीवे) जीव और अजीवको (अयाणंतो) न जानता हुआ (सो) वह (संजमं) संयमको (कहं) किस प्रकार (नाहीइ) जानेगा ? ॥ १२ ॥

मूलार्थ—जो न तो जीव पदार्थको जानता है और न अजीव पदार्थको । जो जीव अजीवको नहीं जानता, वह संयमको किस प्रकार जान सकेगा ? ॥ १२ ॥

भाष्य—इस गाथामें इस बातका प्रकाश किया गया है कि—श्रुतज्ञान ही परमोपकारी है। क्योंकि सुनकर ही जीव मोक्षके स्वरूपको जानता है और सुनकर ही जीव पाप (संसार) के स्वरूपको जानता है तथा संयमासंयमरूप श्रावकधर्मको भी जीव सुनकर ही जानता है। फिर जो उसको हितकारी प्रतीत होता है, उसे वह ग्रहण कर लेता है। तात्पर्य यह कि—श्रुतधर्म सर्वोत्कृष्ट है। अतएव श्रवण करना प्रत्येक व्यक्तिका मुख्य कर्तव्य होना चाहिये।

इस गाथासे यह भी ध्वनि निकलती है कि—जो पढ़ नहीं सकता, उसे शास्त्रश्रवण अवश्य करना चाहिये।

गाथाके चतुर्थ चरणसे धर्मादि क्रियाओंमें जीवकी स्वतन्त्रता सिद्ध की गई है। इसीलिये शास्त्रकारने यह कथन किया है कि—जो उसे योग्य हो, उसीका वह समाचरण करे।

'कल्याण' अर्थात् दया[1] से संयमवृत्ति, 'पाप' से असंयमवृत्ति, उभयसे संयमासंयमरूप श्रावकवृत्ति, इस तरह इन तीनों वृत्तियोंका यहां निर्देश किया गया है। इनमेंसे अपनी शक्तिके अनुसार जिसको जो उपादेय प्रतीत हो, उसे वह ग्रहण करे ॥ ११ ॥

---

[1] कल्याण शब्दसे दयाका ग्रहण इसलिये किया गया है कि—दया कल्याण—मोक्ष पहुंचाती है। तथा चाहाम्नाय— 'कल्याणं'—कल्यो मोक्षमामयति प्रापयतीति कल्याणं दयाख्यसंयमस्वरूपम्।

यो जीवानपि विजानाति, अजीवानपि विजानाति ।
जीवाजीवान् विजानन्, स एव ज्ञास्यति संयमम् ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(**जो**) जो (**जीवे वि**) जीवको भी (**वियाणेइ**) जानता है, (**अजीवे वि**) अजीवको भी (**वियाणइ**) जानता है, (**जीवाजीवे**) जीव और अजीवको (**वियाणंतो**) जानता हुआ (**सो**) वह (**संजम**) संयमको (**हु**) निश्चयसे (**नाहीइ**) जानेगा ॥ १३ ॥

मूलार्थ—जो जीव जीवके, अजीवके और जीवाजीवके स्वरूपको जानता है, वही जीव वास्तवमें संयमके स्वरूपको जान सकेगा ॥ १३ ॥

भाष्य— 'संयम' शब्दका अर्थ आस्रवका निरोध है सो जब आस्रवका निरोध किया गया तब आत्मा निरास्रवी होकर मोक्षपदकी प्राप्ति कर लेता है परन्तु स्मृति रहे कि—यावत्काल पर्यन्त जीव जीवाजीवके स्वरूपको सम्यक्तया जान नहीं लेता, तावत्काल पर्य्यन्त सर्वथा आस्रवका निरोध भी नहीं किया जा सकता। अतएव ज्ञानाभ्यास अवश्यमेव करना चाहिये, जिससे फिर क्रमसे निर्वाणपद प्राप्त किया जा सके ॥ १३ ॥

भाष्य—यहां यदि यह कहा जाय कि उक्त गाथाके प्रथम चरणमें 'जीव' को ग्रहण है और दूसरे चरणमें 'अजीव' का ग्रहण है। इस तरह जब दोनोंका ग्रहण हो ही गया तो फिर तीसरे चरणमें 'जीवाजीव' क्यों ग्रहण किया है? इसका समाधान यह है कि पहिले चरणके 'जीवे' पदसे यहांपर केवल शुद्ध जीव अर्थात् मोक्षात्माका ग्रहण करना चाहिये। और दूसरे चरणके 'अजीवे' पदसे धर्मास्तिकायादिका ग्रहण करना चाहिये। ये दोनों शब्द शुद्ध जीव और शुद्ध अजीवके बोधक हैं, जो कि परद्रव्यसे सर्वथा अलिप्त हैं। तीसरे चरणके 'जीवाजीवे' पदसे संसारी जीवका, जो कि पुद्गल द्रव्यकी वर्गणाओंसे लिप्त-मिश्रित हो रहा है, ग्रहण करना चाहिये † ॥ १२ ॥

उत्थानिका—तब फिर संयमको कौन जान सकता है? इसका उत्तर शास्त्रकार अगाडीकी गाथासे करते हैं—

जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणइ।
जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं ॥ १३ ॥

† 'जीवशब्देन सिद्धा ग्रहाः, अजीवशब्देन धर्मास्तिकायादयः पञ्चोक्ताः जीवाजीवशब्देन संसारवासिनः सर्वे चतुरशीतिलक्षयोनिस्था ग्रहाः।' —अवचूरिप्रकरणम्।

यो जीवानपि विजानाति, अजीवानपि विजानाति ।
जीवाजीवान् विजानन्, स एव ज्ञास्यति संयमम् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(जो) जो (जीवे वि) जीवको भी (वियाणेइ) जानता है, (अजीवे वि) अजीवको भी (वियाणइ) जानता है, (जीवाजीवे) जीव और अजीवको (वियाणतो) जानता हुआ (सो) वह (संजम) संयमको (हु) निश्चयसे (नाहीइ) जानेगा ॥ १२ ॥

मूलार्थ—जो जीव जीवके, अजीवके और जीवाजीवके स्वरूपको जानता है, वही जीव वास्तवमें संयमके स्वरूपको जान सकेगा ॥ १२ ॥

भाष्य— 'संयम' शब्दका अर्थ आश्रवका निरोध है सो जब आश्रवका निरोध किया गया तब आत्मा निराश्रवी होकर मोक्षपदकी प्राप्ति कर लेता है परन्तु स्मृति रहे कि—यावत्काल पर्यन्त जीव जीवाजीवके स्वरूपको सम्यक्तया जान नहीं लेता, तावत्काल पर्य्यन्त सर्वथा आश्रवका निरोध भी नहीं किया जा सकता। अतएव ज्ञानाभ्यास अवश्यमेव करना चाहिये, जिससे फिर क्रमसे निर्वाणपद प्राप्त किया जा सके ॥ १३ ॥

उत्थानिका—ज्ञानका माहात्म्य बतलाकर शास्त्रकार अब ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाली फल-परम्पराका वर्णन करते हैं—

जया जीवमजीवे अ, दोऽवि एए वियाणइ ।
तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ॥ १४ ॥

यदा जीवानजीवांश्च, द्वावप्येतौ विजानाति ।
तदा गतिं बहुविधां, सर्वजीवानां जानाति ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(जया) जिस समय (जीवमजीवे अ) जीव और अजीव (एए) इन (दोऽवि) दोनोंको (वियाणइ) जान लेता है (तया) उस समय (सव्वजीवाण) सब जीवोंकी (बहुविहं) बहु भेदवाली (गइं) गतिको (जाणइ) जान लेता है ॥ १४ ॥

मूलार्थ—जिस समय जीव, जीव और अजीव, इन दोनोंको जान लेता है, उस समय वह सब जीवोंकी बहु भेदवाली गतिको भी जान लेता है ॥ १४ ॥

भाष्य यहां यह शङ्का की जा सकती है कि नारक, तिर्यञ्च, मानुष और देव, गतियां तो ये ही चार शास्त्रोंमें वर्णन की गई हैं। तो यहांपर गइ बहुविह' अर्थात् 'बहुत प्रकारकी गतियां' ऐसा क्यों कहा? इसका समाधान यह है कि वास्तवमें मूल गतियां तो चार ही हैं, लेकिन तिर्यग्गतिमें रहनेवाले पांच स्थावरोंके उत्पत्तिस्थान असंख्यात हैं तथा इनकी उत्पत्ति असंख्यात लोकमें होती है। इस अपेक्षासे इस जगह गतिको बहुभेदवाली लिखा है। अर्थात् उत्तरभेदोंके सम्मिलित कर लेनेपर गतियां असंख्यात मानी जा सकती हैं ॥ १४ ॥

उत्थानिका—जीवाजीवके स्वरूपको जान लेनेका फल गतियोंका जान लेना है। तो फिर गति जान लेनेका क्या फल है? सो शास्त्रकार कहते हैं—

जया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ।
तया पुण्णं च पावं च, बंधं मुक्खं च जाणइ ॥ १५ ॥

यदा गतिं बहुविधां, सर्वजीवानां जानाति।
तदा पुण्यं च पापं च, बन्धं मोक्षं च जानाति ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(जया सव्वजीवाण बहुविह गइ जाणइ) जिस समय सर्व जीवोंकी बहुभेदवाली गतिको जान लेता है, (तया) उस समय (पुण्ण च पाव च) पुण्य और पापको तथा (बंध च मुक्खं च बंध और मोक्षको भी (जाणइ) जान लेता है ॥ १५ ॥

मूलार्थ—जिस समय जीव, सब जीवोंकी बहु भेदवाली गतिको जान लेता है, उस समय वह पुण्य और पाप तथा बंध और मोक्षके स्वरूपको भी जान लेता है ॥ १५ ॥

भाष्य—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप, जैनशासनमें ये नव तत्त्व हैं। इनमेंसे जीव और अजीव, ये दो मूल तत्त्व हैं, शेष सात तत्त्व इन दोनोंकी संयोग वियोगरूप अवस्था, उसके तारतम्य तथा कारणकी अपेक्षासे निष्पन्न होते हैं। तथा च—

जिस प्रकार लोहपिण्डमें अग्नि प्रविष्ट हो जाती है, अथवा गर्म लोहपिण्डमें, यदि वह जलमें पटक दिया जाय तो जिस प्रकार उसके अन्दर पानी समा जाता है, अथवा जिस प्रकार दूधमें पानी एकमेक हो जाता है; अथवा जिस प्रकार गर्म जुफ्तीको चासनीमें डाल देनेपर उसके अन्दर चासनी प्रविष्ट हो जाती है, उसी प्रकार कषायसहित हो जानेपर आत्मामें कर्म प्रविष्ट हो जाते हैं। यही 'बन्ध तत्त्व' कहलाता है।

कर्म जिस मार्गसे—जिस कारणसे आत्मामें आते हैं, उस कर्मागम द्वारको शास्त्रमें 'आस्रव तत्त्व' कहा गया है।

जब जीव अपने मन-वचन-कायके निरोधसे कर्मोंके आगमनको रोकने लगता है, तब वही 'संवर तत्त्व' कहलाता है।

जितने समयकेलिये कर्म आत्मासे बँधते हैं, उतने समयके बीत आनेपर जब वे कर्म आत्मासे अलग होने लगते हैं, कर्मोंकी उस अवस्थाको 'निर्जरा तत्त्व' कहते हैं।

संवर और निर्जरा होते होते आत्मा जब बिल्कुल अलिप्त—नीरजस्क—परिशुद्ध हो जाता है, आत्माकी यह अवस्थाविशेष 'मोक्ष तत्त्व' कहलाती है।

आत्माकी यह मोक्षदशा बन्धदशासे सर्वथा प्रतिकूल है। आत्माका जब बन्ध होता है, तब उसकी मोक्ष अवश्य ही होगी। 'संयुक्तानां वियोगश्च भविता हि नियोगतः' अर्थात् जिन दो पदार्थोंका संयोग हुआ है, उनका वियोग होना अवश्यभावी है ॥ १५ ॥

उत्थानिका--पुण्य और पाप तथा बंध और मोक्षके जान लेनेसे जीवको फिर क्या फल प्राप्त होता है? सो कहते हैं—

जया पुण्णं च पावं च, बंधं मुक्खं च जाणइ ।
तया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे अ माणुसे ॥ १६ ॥

यदा पुण्यं च पापं च, बन्धं मोक्षं च जानाति ।
तदा निर्विन्दते भोगान्, यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(जया पुण्णं च पावं च बंधं मुक्खं च जाणइ) जिस समय पुण्य और पाप तथा बन्ध और मोक्षको जान लेता है, (तया) उस समय (जे) जो (दिव्वे) देवोंके (जे अ) और जो (माणुसे) मनुष्योंके (भोए) भोग हैं, उनको (निव्विदए) जान लेता है— उनसे विरक्त हो जाता है ॥ १६ ॥

मूलार्थ—जिस समय जीव, पुण्य और पापको तथा बन्ध और मोक्षको जान लेता है, उस समय वह देव और मनुष्योंके भोगने योग्य भोगोंको जान लेता है अर्थात् उनसे विरक्त हो जाता है ॥ १६ ॥

भाष्य— इस गाथामें ज्ञानका सार चारित्र बतलाया गया है। जैसे कि—जिस समय

आत्मा पुण्य और पाप तथा बन्ध और मोक्ष, इनके स्वरूपको जान लेता है, तब वह आत्मा जो देवोंके कामभोग हैं या जो मनुष्योंके कामभोग हैं, उनसे विरक्त हो जाता है। कारण कि—फिर वह आत्मा ज्ञानद्वारा उन भोगोंको पापकर्मके बन्ध करनेवाले मानने लग जाता है। और फिर उनसे वह छूट जानेकी बुद्धि करता है। जैसे कि—कोई सम्यग् विचारवाला व्यक्ति मृत्युके लिये विषभक्षण नहीं करता तथा बालू आदि असार पदार्थोंका संग्रह नहीं करता। ठीक उसी प्रकार ज्ञानी आत्मा विषयविकारोंसे अपने आत्माको पृथक् कर लेता है। क्योंकि फिर वह उन भोगोंको दुःखप्रद समझने लग जाता है ॥ १६ ॥

उत्थानिका—दिव्य और मानवीय भोगोंसे विरक्त हो जानेके अनन्तर जीव क्या करता है ? सो कहते हैं—

जया निव्विंदए भोए, जे दिव्वे जे अ माणुसे।
तया चयइ संजोगं, सब्भिंतरबाहिरं ॥ १७ ॥

यदा निर्विन्दते भोगान्, यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान्।
तदा त्यजति संयोगं, साभ्यन्तरबाह्यम् ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(जया जे दिव्वे अ माणुसे भोए निर्व्विदए) जिस समय दिव्य और मानवीय भोगोंसे विरक्त हो जाता है, (तया) उस समय (सब्भिंतरबाहिर) अभ्यन्तर और बाहिरके (सजोग) संयोगको (चयइ) छोड़ देता है ॥ १७ ॥

मूलार्थ—जिस समय जीव, दिव्य और मानवीय भोगोंसे विरक्त हो जाता है, उस समय वह आन्तरिक और बाह्य संयोगका परित्याग कर देता है ॥ १७ ॥

भाष्य—यहांपर अन्तरङ्ग संयोग क्रोध-मान माया-लोभ और बाह्य संयोग माता-पिता आदिका संबन्ध ग्रहण करना चाहिये। ये संयोग ही वास्तवमें जीवको बन्धनमें डाले हुए हैं। और उसकेलिये अनेक दुःखोंके कारण बने हुए हैं।

हां! यहांपर इस बातका ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि संयोग दो तरहके होते हैं। एक प्रशस्त और दूसरा अप्रशस्त। इनमेंसे अप्रशस्त संयोगोंको छोड़कर जीवको प्रशस्त संयोग ग्रहण करना चाहिये ॥ १७ ॥

उत्थानिका—बाह्याभ्यन्तर संयोगोंको त्याग देनेके बाद जीव फिर क्या करता है? सो कहते हैं—

जया चयइ सजोग, सब्भिंतरबाहिर ।
तया मुंडे भवित्ताण, पव्वइए अणगारिय ॥ १८ ॥

यदा त्यजति संयोगं, साभ्यन्तरबाह्यम् ।
तदा मुण्डो भूत्वा, प्रव्रजति अनगारम् ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(जया सब्भिंतरबाहिर संजोग चयइ) जिस समय बाह्य और अन्तरङ्ग संयोगको छोड देता है, (तया) उस समय (मुंडे भवित्ताण) मुण्डित होकर (अणगारिय) अनगारवृत्तिको (पव्वइए) ग्रहण करता है ॥ १८ ॥

मूलार्थ—जिस समय जीव बाह्य और अन्तरङ्ग संयोगको छोड देता है, उस समय वह द्रव्य और भावसे मुण्डित होकर अनगार वृत्तिको प्राप्त करता है ॥ १८ ॥

भाष्य—मुण्डन दो प्रकारका होता है। एक द्रव्यमुण्डन और दूसरा भावमुण्डन। केश लुञ्चनादि द्रव्यमुण्डन है और इन्द्रियनिग्रहादि भावमुण्डन है।

अन्वयार्थ—(जया जे दिव्वे जे अ माणुसे भोए निव्विंदए) जिस समय दिव्य और मानवीय भोगोंसे विरक्त हो जाता है, (तया) उस समय (सब्भिंतरबाहिर) अभ्यन्तर और बाहिरके (संजोग) संयोगको (चयइ) छोड़ देता है ॥ १७ ॥

मूलार्थ—जिस समय जीव, दिव्य और मानवीय भोगोंसे विरक्त हो जाता है, उस समय वह आन्तरिक और बाह्य संयोगका परित्याग कर देता है ॥ १७ ॥

भाष्य—यहांपर अभ्यन्तर संयोग क्रोध-मान माया-लोभ और बाह्य संयोग माता-पिता आदिका संबन्ध ग्रहण करना चाहिये। ये संयोग ही वास्तवमें जीवको बन्धनमें डाले हुए हैं। और उसकेलिये अनेक दुःखोंके कारण बने हुए हैं।

हां! यहांपर इस बातका ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि संयोग दो तरहके होते हैं। एक प्रशस्त और दूसरा अप्रशस्त। इनमेंसे अप्रशस्त संयोगोंको छोड़कर जीवको प्रशस्त संयोग ग्रहण करना चाहिये ॥ १७ ॥

उत्थानिका—बाह्याभ्यन्तर संयोगोंको त्याग देनेके बाद जीव फिर क्या करता है? सो कहते हैं—

मुण्डित होकर अनगार भावको प्राप्त हो जाता है, (तया) उस समय (उक्किट्ठ सवर) उत्कृष्ट सवर (अणुत्तर) सबसे श्रेष्ठ (धम्म) धर्मको (फासे) स्पर्शित करता है ॥ १९ ॥

मूलार्थ – जिस समय जीव, मुण्डित होकर साधुवृत्तिको ग्रहण कर लेता है, उस समय वह उत्कृष्ट सयम और अनुपम धर्मको स्पर्शित करता है ॥ १९ ॥

भाष्य—गाथाके उत्तरार्द्धमें आये हुए 'उक्किट्ठ' को 'संवर' का और 'अणुत्तर' को 'धम्म' का विशेषण मानकर ऊपर अर्थ किया गया है। लेकिन 'उक्किट्ठं और 'अणुत्तर', इन दोनों पदोंको 'सवर' का विशेषण करके उसे फिर 'धम्म' का विशेषण भी किया जा सकता है। उस समय उत्तरार्द्धका अर्थ होगा—'सबसे श्रेष्ठ और उत्कृष्ट संवररूप धर्मको जीव उस समय स्पर्शित करता है।'

होनेको तो गृहस्थावस्थामें भी संवर हो सकता है, लेकिन वास्तवमें उत्कृष्टरूपसे वह साधु अवस्थामें ही होता है। उस अवस्थामें कर्मोंके आगमनका द्वार भलीभांति रुक जाता है और उसीका नाम सवर है। संवर धर्म है।

'अगार' अर्थात् घर, अनगार अर्थात् घररहित वृत्ति अर्थात् साधुवृत्ति। जब तक जीवको बाह्याभ्यन्तर संयोग बना रहता है, तब तक वह मोक्ष पदकी साक्षात्साधिका साधुवृत्ति ग्रहण नहीं करता। वह उसकी विरोधक है। और ज्यों ही जीव उन संयोगोंसे रहित हुआ नहीं कि त्यों ही वह उस साधुवृत्तिको धारण कर लेता है ॥ १८ ॥

उत्थानिका—मुण्डित होकर और अनगारवृत्तिको प्राप्त कर जीव फिर क्या करता है? सो कहते हैं—

जया मुंडे भवित्ताणं, पव्वइए अणगारियं ।
तया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं ॥ १९ ॥

यदा मुण्डो भूत्वा, प्रव्रजत्यनगारम् ।
तदा संवरमुत्कृष्टं, धर्मं स्पृशत्यनुत्तरम् ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(जया मुंडे भवित्ताण अणगारियं पव्वइए) जिस समय

रहता है। आकुलता आदि कारणोंसे यह सिर्फ ...

यह ज्ञान आत्मामें ज्योंका त्यों प्रगट हो जाता है।

ठीक इसी भांति यहां यह बात कही गई है कि मिथ्यादर्शन आदि कारणोंसे जो कर्मरज आत्मासे लग गया था, संवरकेद्वारा वह ज्यों ही हटा नहीं कि त्यों ही झट केवलज्ञान और केवल दर्शन जो कि आत्मामें स्वभावसे ही सदासे मौजूद रहते हैं, प्रगट हो जाते हैं। बादलोंके हट जानेसे जैसे देदीप्यमान सूर्य प्रगट हो जाता है। ॥ २१ ॥

उत्थानिका—सर्वत्र व्यापकस्वरूप केवलज्ञान और केवलदर्शनके प्राप्त हो जानेपर जीवको फिर क्या फल प्राप्त होता है ' सो कहते हैं--

जया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ।
तया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ॥ २२ ॥

यदा सर्वत्रगं ज्ञानं, दर्शनं चाधिगच्छति ।
तदा लोकमलोकं च, जिनो जानाति केवली ॥ २२ ॥

यदा धुनोति कर्मरजं, अबोधिकलुषकृतम् ।
तदा सर्वत्रगं ज्ञानं, दर्शनं चाभिगच्छति ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(जया अबोहिकलुसकडं कम्मरयं धुणइ) जिस समय मिथ्यादृष्टि भावसे सञ्चय किया हुआ कर्मरज आत्मासे पृथक् करदेता है, (तया) उस समय (सव्वत्तगं) सर्व लोकमें व्याप्त होनेवाला (नाणं) ज्ञान (च) और (दंसणं) दर्शनको (अभिगच्छइ) प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

मूलार्थ—जिस समय जीव, मिथ्यादृष्टि भावसे सञ्चित किये हुए कर्मरजको आत्मासे पृथक् कर देता है, उस समय वह लोकालोकके प्रकाश करनेवाले केवलज्ञान और केवलदर्शनको प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

भाष्य—जिस समय जीव किसी कारणवश आकुलित हो जाता है, उस समय उसकी बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। स्मरणशक्ति निर्बल पड़ जाती है। और हेयोपादेयका विशेष ज्ञान उसे नहीं रहता। निराकुलतामें मनुष्यका दिमाग सही रहता है। स्मरणशक्ति अपना काम बराबर करती है और कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान उस समय जीवको विशेषरूपसे रहता है। यह बात अनुभव

यहां यदि यह शङ्का की जाय कि—रज्जु किसे कहते हैं ? तो इसका समाधान यह है कि—मान लीजिये कि यदि सौधम देवलोकसे हजार मनका लोहका गोला नीचे गेरा जाय, तो वह गोला षट्मास षट्दिन और षट् मुहूर्तमें मध्यलोककी भूमिपर आकर गिरेगा। इतने कालमें यावन्मात्र क्षेत्र उस गोलेने अतिक्रम किया है, वह क्षेत्र एक रज्जुप्रमाण होता है।

इसी प्रकार ऊर्ध्वरज्जु तिर्यग्रज्जु और अधोरज्जुका प्रमाण किया जाता है। जैसे कि—मध्य (मृत्यु) लोककी भूमिसे सौधम देवलोक एक रज्जुप्रमाण है। द्वितीय रज्जु माहेन्द्रनामक चतुर्थ देवलोक तक है। तृतीय रज्जु छठे देवलोक तक है। चतुर्थ रज्जु आठवें देवलोक तक है। पञ्चम रज्जु बारहवें देवलोक तक है। छठा रज्जु इक्कीसवें देवलोक तक है। सातवा रज्जु सिद्ध शिला पर्यन्त है। इस प्रकार ऊर्ध्वलोक सात रज्जुप्रमाण कहा जाता है।

इसी प्रकार अधोलोक भी सात रज्जु प्रमाण है। क्योंकि नरक सात ही हैं। प्रत्येक नरक एक रज्जुप्रमाण कथन किया गया है।

तिर्यग् लोक एक रज्जुप्रमाण कथन किया गया है। जैसे कि—भरतक्षेत्रसे लेकर स्वयम्भू रमण समुद्रकी सीमा पर्यन्त एक रज्जुप्रमाण तिर्यग्लोकका क्षेत्र वर्णन किया गया है। सो केवली भगवान् लोकालोकको हस्तामलकवत् अपने ज्ञानमें देखते हैं ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(जया सव्वत्तगं नाणं च दंसणं अभिगच्छइ) जिस समय सर्व व्यापी ज्ञान और दर्शनको प्राप्त हो जाता है, (तया) उस समय (केवली) केवलज्ञानका धारी (जिणो) रागद्वेषके जीतनेवाला व्यक्ति (लोगं) लोक (च) और (अलोगं) अलोकको (जाणइ) जान लेता है ॥ २२ ॥

मूलार्थ—जिस समय जीव सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाता है, उस समय वह रागद्वेषके जीतनेवाला केवली लोक और अलोकको जान लेता है ॥ २२ ॥

भाष्य—आत्माका यह केवलज्ञान तीनों लोकोंकी बातोंको इस तरह जानता है जैसे हाथपर रक्खे हुए आँवलेको हम और आप जानते हैं।

केवली जिन 'लोकालोक' को जानते हैं, यह बात इस गाथामें कही गयी है। इसलिये 'लोकालोक' का संक्षिप्त स्वरूप यहां कह देना उचित है—

'लोक' असंख्यात योजन आयाम और विष्कम्भवाला प्रतिपादन किया गया है। अर्थात् लोक चतुर्दशरज्ज्वात्मक प्रमाण माना जाता है। अर्थात् स्वर्गलोक, मध्यलोक और पाताललोक, इस प्रकार तीनों लोक चतुर्दशरज्जुप्रमाण सिद्ध होते हैं।

यहां यदि यह शङ्का की जाय कि—रज्जु किसे कहते हैं ? तो इसका समाधान यह है कि—मान लीजिये कि यदि सौधर्म देवलोकसे हजार मनका लोहका गोला नीचे गेरा जाय, तो वह गोला षट्मास षट्दिन और षट् मुहूर्तमें मध्यलोककी भूमिपर आकर गिरेगा। इतने कालमें यावन्मात्र क्षेत्र उस गोलेने अतिक्रम किया है, वह क्षेत्र एक रज्जुप्रमाण होता है।

इसी प्रकार ऊर्ध्वरज्जु तिर्यग्रज्जु और अधोरज्जुका प्रमाण किया जाता है। जैसे कि—मध्य (मृत्यु) लोककी भूमिसे सौधर्म देवलोक एक रज्जुप्रमाण है। द्वितीय रज्जु माहेन्द्रनामक चतुर्थ देवलोक तक है। तृतीय रज्जु छठे देवलोक तक है। चतुर्थ रज्जु आठवें देवलोक तक है। पञ्चम रज्जु बारहवें देवलोक तक है। छठा रज्जु इक्कीसवें देवलोक तक है। सातवां रज्जु सिद्ध शिला पर्यन्त है। इस प्रकार ऊर्ध्वलोक सात रज्जुप्रमाण कहा जाता है।

इसी प्रकार अधोलोक भी सात रज्जु प्रमाण है। क्योंकि नरक सात ही हैं। प्रत्येक नरक एक रज्जुप्रमाण कथन किया गया है।

तिर्यग् लोक एक रज्जुप्रमाण कथन किया गया है। जैसे कि—भरतक्षेत्रसे लेकर स्वयम्भू रमण समुद्रकी सीमा पर्यन्त एक रज्जुप्रमाण तिर्यग्लोकका क्षेत्र वर्णन किया गया है। सो केवली भगवान् लोकालोकको हस्तामलकवत् अपने ज्ञानमें देखते हैं ॥ २२ ॥

उत्थानिका—लोकालोकको जान लेनेके बाद केवली जिन फिर क्या करते हैं ? सो कहते हैं—

जया लोगमलोग च, जिणो जाणइ केवली ।
तया जोगे निरुभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ॥ २३ ॥

यदा लोकमलोकं च, जिनो जानाति केवली ।
तदा योगान्निरुद्ध्य, शैलेशीं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—(**जया लोगमलोग च केवली जिणो जाणइ**) जिस समय लोक और अलोकको केवलज्ञानी जिन जान लेते हैं, (**तया**) उस समय (**जोगे**) योगको (**निरुभित्ता**) निरोध कर (**सेलेसिं**) पर्वतराजको—निश्चयभावको (**पडिवज्जइ**) प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

मूलार्थ—जिस समय केवलज्ञानी जिन लोक और अलोकको जान लेते हैं, उस समय वे मन, वचन और कायरूप योगोंका निरोधकर पर्वतकी तरह स्थिर परिणामवाले बन जाते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ—मन, वचन और कायके द्वारा आत्माके प्रदेशोंका जो परिस्पन्दन होता है, उसे 'योग' कहते हैं। यह योग जब शुभ कार्यमें प्रवृत्त होता है तब वह शुभकर्मोंका आस्रव करता है और जब वह अशुभ कार्यमें प्रवृत्त होता है तब वह अशुभ कर्मोंका आस्रव करता है। लेकिन केवली जिन ऐसा नहीं करते, वे योगोंका निरोध करते हैं। निरोध वे इसलिये करते हैं कि चार अघातिया-वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र रूप जो कर्म नष्ट करनेसे अभीतक बाकी बचे हुए हैं, उनको भी नष्ट कर दें। योगोंसे जब कर्मोंका आस्रव होता है, तब उसके निरोधसे कर्मोंका अभाव होना स्वाभाविक है। वे 'भवोपग्राहिकर्मांशक्षयाय' अर्थात् अनेक भवोंका संचित जो कर्मांश है, उसके क्षय करनेकेलिये योगका निरोध करते हैं।

योगोंकी चपलता ही आकुलता है, आकुलता ही वास्तवमें दुःख है। दुःखको कोई जीव पसंद नहीं करता। सब सुखके अभिलाषी हैं। दुःख दूर निराकुलतासे होता है निराकुलता योगनिरोधसे होती है। निराकुलता ही वास्तवमें पूर्ण सुख है।

संसार परिभ्रमणसे संतप्त हुए और अनन्तकालीन स्थायीस्वरूप अपनी आत्मिक संपत्तिको चाहनेवालोंको धर्म और शुक्ल ध्यान तथा व्युत्सर्ग, तप आदि द्वारा अपने शुभाशुभ कर्मोंके क्षय करनेका पुरुषार्थ करना चाहिये ॥ २३ ॥

उत्थानिका—योगनिरोधजन्य स्थिरता प्राप्त हो जानेपर केवली जिनको फिर क्या फल प्राप्त होता है? सो कहते हैं—

जया जोगे निरुम्भित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ।
तया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥ २४ ॥

यदा योगान्निरुध्य, शैलेशीं प्रतिपद्यते ।
तदा कर्म क्षपयित्वा, सिद्धिं गच्छति नीरजाः ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—(जया जोगे निरुम्भित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ) जिस समय योगों को निरोधकर पर्वतराजवत् स्थिर हो जाता है, (तया) उस समय (नीरओ) रज रहित (कम्मं) कर्मको (खवित्ताणं) क्षय करके (सिद्धिं) सिद्ध गतिको (गच्छइ) चला जाता है ॥ २४ ॥

मूलार्थ—जिस समय केवली जिन योगोंका निरोधकर सुमेरु पर्वतकी भांति निश्चल हो जाता है, उस समय वह भवोपग्राही कर्मोंका क्षय करके कर्मरजसे रहित होता हुआ सिद्ध गतिको प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥

भाष्य—कषायोंका अभाव तो मुनिके पहिले ही—बारहवें गुणस्थानमें हो गया। कषायोंके और ज्ञानावरण आदि चार घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेसे तो उन्हें केवलज्ञान ही प्राप्त हुआ है। अब जैन मुनिको योगोंका भी अभाव करना पड़ता है। तभी उनके पूर्वसंचित कर्म नष्ट हो सकते हैं और तभी उन्हें सिद्धि अर्थात् सिद्ध गतिकी प्राप्ति हो सकती है। इससे यह बात सिद्ध हो गई कि बिल्कुल अक्रिय बननेसे ही जीवको सिद्धगति प्राप्त होती है। क्योंकि जीवसे क्रिया करानेवाली दो ही चीज़ें हैं। एक मन-वचन-काय रूप योग और दूसरी क्रोध-मान माया-लोभ रूप कषाय। जब देवाधिदेव श्रीजिनेन्द्र भगवान्ने इन दोनों कारणोंका अभाव कर दिया तो क्रिया कैसे हो सकती है? कारणके नष्ट हो जानेपर कार्यकी उत्पत्ति किसी भी तरह सिद्ध नहीं होती। यह बात सर्वसम्मत है। और इसीलिये सिद्धावस्थामें भी जीव अक्रिय ही रहता है। बल्कि यों कहना चाहिये कि सर्वथा अक्रिय दशाका नाम ही 'सिद्धि' या 'मोक्ष' है।

इससे जो लोग 'क्रियावान् रहते हुए भी मोक्ष हो जाती है' या 'सिद्ध जीव क्रिया करते हैं' यह मानते हैं, उनके निषेध करनेका शास्त्रकारका आशय है॥ २४॥

उत्थानिका—योगनिरोधजन्य स्थिरता प्राप्त हो जानेपर केवली जिनको फिर क्या फल प्राप्त होता है? सो कहते हैं—

जया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ।
तया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥ २४ ॥

यदा योगान्निरुद्ध्य, शैलेशीं प्रतिपद्यते ।
तदा कर्म क्षपयित्वा, सिद्धिं गच्छति नीरजाः ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—(**जया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ**) जिस समय योगोंको निरोधकर पर्वतराजवत् स्थिर हो जाता है, (**तया**) उस समय (**नीरओ**) रज रहित होकर (**कम्मं**) कर्मको (**खवित्ताणं**) क्षय करके (**सिद्धिं**) सिद्ध गतिको (**गच्छइ**) चला जाता है ॥ २४ ॥

मूलार्थ—जिस समय केवली जिन योगोंका निरोधकर सुमेरु पर्वतकी भांति निश्चल हो जाता है, उस समय वह भवोपग्राही कर्मोंका क्षय करके कर्मरजसे रहित होता हुआ सिद्ध गतिको प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥

भाष्य—यहांपर सिद्धको 'शाश्वत' का विशेषण दिया है। उसका अभिप्राय यह है कि कुछ लोग सिद्धावस्थासे जीवको लौटता हुआ मानते हैं, यह ठीक नहीं है। जब संसारपरिभ्रमणके कारणीभूत कर्म आत्मासे सर्वथा अलग होगये, तब उस शुद्ध बुद्ध मुक्त निर्लेप निष्कलङ्क अलिप्त परमेश्वरको संसारमें फिरसे लानेवाला पदार्थ कौन है? कोई नहीं। बीजकी सत्ता रहनेपर ही अंकुरके प्रादुर्भूत होनेकी आशङ्का रहती है। बीज नष्ट हो जानेपर अंकुरका प्रादुर्भाव कोई नहीं कर सकता। वैसा हो ही नहीं सकता। अतः उनके खण्डनार्थ यहां सिद्धकेलिये 'शाश्वत' विशेषण शास्त्रकारने दिया है।

दूसरी बात एक और है। और वह यह है कि न्यायशास्त्रका यह नियम है कि जो पदार्थ सादि अनन्त होता है, उसका पुनः प्रादुर्भाव नहीं होता। जैसे कि प्रध्वंसाभाव। प्रध्वंसाभाव सादि और अनन्त है, उसका प्रादुर्भाव नहीं होता। अतः उक्त न्यायशास्त्रके नियमानुसार सिद्ध भगवान् पुनर्जन्म-मरणके संकट कभी नहीं उठाते। इसलिये शास्त्रकारने उनकेलिये 'शाश्वत' विशेषण प्रदान किया है।

यहां यदि यह शङ्का की जाय कि सिद्ध भगवान् जब लोकके अग्रभाग तक पहुँच गये, तब फिर अलोकमें भी क्यों न चले गये? वहीं क्यों स्थिर होगये? इसका समाधान यह है कि मिट्टी

उत्थानिका—कर्मोंका नाशकर सिद्धगतिको प्राप्त कर लेनेपर निष्कर्म जीवको फिर क्या फल प्राप्त होता है ? सो कहते हैं—

जया कम्म खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।
तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ ॥ २५ ॥

यदा कर्म क्षपयित्वा, सिद्धिं गच्छति नीरजाः ।
तदा लोकमस्तकस्थः, सिद्धो भवति शाश्वतः ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—(जया कम्म खवित्ताण नीरओ सिद्धिं गच्छइ) जिस समय कर्म क्षय करके और निरज होकर सिद्धगतिको जाता है, (तया) उस समय (लोगमत्थयत्थो) लोकके मस्तकपर स्थित होता हुआ (सासओ) शाश्वत पदवाला (सिद्धो) सिद्ध (हवइ) हो जाता है ॥ २५ ॥

मूलार्थ—जिस समय जीव, कर्म क्षय कर—कर्मरजसे रहित होकर सिद्धगतिको प्राप्त करता है, उस समय वह लोकके मस्तकपर जाकर विराजता है और शाश्वत रूपसे सिद्ध हो जाता है ॥ २५ ॥

रूप परणमानेमें नहीं है। इसलिये धर्मास्तिकायके अभावसे अलोकाकाशमें न आकर सिद्ध भगवान् लोकके ही अग्रभागमें विराजमान होते हैं ॥ २५ ॥

उत्थानिका—पूर्वोक्त धर्मफल जिसको दुर्लभ है, शास्त्रकार अब उसका वर्णन करते हैं—

सुहसायगस्स समणस्स, सायाउलगस्स निगामसाइस्स ।
उच्छोलणापहोअस्स, दुल्लहा सुगई तारिसगस्स ॥ २६ ॥

सुखास्वादकस्य श्रमणस्य, साताकुलस्य निकामशायिनः ।
उत्क्षालनाप्रधौतस्य, दुर्लभा सुगतिः तादृशस्य ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—(सुहसायगस्स) सुखके स्वादको चाहनेवाले (सायाउलगस्स) साताकेलिये आकुलित (निगामसाइस्स) अत्यन्त शयन करनेवाले (†उच्छोलणापहोयस्स) विना यत्नके हाथ-पैर धोनेवाले (तारिसगस्स) ऐसे (समणस्स) साधुको (सुगई) उत्तम गति (दुल्लहा) दुर्लभ है ॥ २६ ॥

† "उच्छोलन—न० (उत्क्षालन) अयतनासे हाथ पैर धोना तेम"—अर्धमागधी-गुजराती कोष।

लगा पानीमें डूबा हुआ तूंबा मिट्टीके हट जानेपर-निर्लेप हो जानेपर जिस तरह ऊपर आकर ठहर जाता है और स्थलपर या आकाशमें अधर वह नहीं पहुँचता, क्योंकि उसकी गति जलके आश्रित है। ठीक उसी प्रकार सिद्ध जीवोंकी गति 'धर्मास्तिकाय' के आश्रित है। जहां धर्मास्तिकाय थी, वहां तक वे पहुँचे। अलोकाकाशमें धर्मास्तिकाय नहीं थी। इसलिये वे आगाड़ी गमन न कर सके और वहींपर स्थिर हो गये।

यहां यदि यह शङ्का की जाय कि, सिद्ध भगवान् अनन्त शक्तिशाली, अचिंत्य प्रभाववान् और पूर्ण वीर्यवान् हैं। इतनेपर भी क्या वे धर्मास्तिकायके अधीन ही बने रहे, जो कि उसके अभावमें आगाड़ी गमन न कर सके ? इसका समाधान यह है कि अवश्य ही वे अनन्त शक्तिशाली, अचिन्त्य प्रभाववान् और पूर्ण वीर्यवान् हैं, लेकिन वस्तु-स्वरूपको अन्यथा कोई भी नहीं कर सकता। वस्तुके स्वभावको पलटनेकी सामर्थ्य किसीमें नहीं है। वस्तुका स्वभाव परस्परसे पलटता नहीं है। यदि वस्तुस्वभाव पलट जाया करे तो सर्वसाङ्कर्य्य हो जाय। सब वस्तु एकमेक हो जायं। भिन्न भिन्न पदार्थोंकी व्यवस्था—सत्ता जो सर्व मतावलम्बियोंको स्वीकृत है वह न रहे। सिद्ध भगवान्‌को जो अनन्तशक्ति प्राप्त हुई है वह अपने स्वरूपमें है। पर पदार्थोंको अपने

है। सो इस स्थानपर शारीरिक सुखकी इच्छासे उक्त क्रियाओंको करनेवाले साधुको सुगतिका अनधिकारी कहा गया है ॥ २६ ॥

उत्थानिका—तो अब सुगति किसको प्राप्त हो सकती है, सो कहते हैं—

तवोगुणपहाणस्स, उज्जुमइ खंतिसंजमरयस्स ।
परीसहे जिणंतस्स, सुलहा सुगई तारिसगस्स ॥ २७ ॥

तपोगुणप्रधानस्य, ऋजुमतेः क्षान्तिसंयमरतस्य ।
परीषहान् जयतः, सुलभा सुगतिः तादृशस्य ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—(तवोगुणपहाणस्स) तपरूपी गुणसे प्रधान (उज्जुमइ) जिसकी मोक्षमार्गमें मति है (खंतिसंजमरयस्स) क्षमा और संयममें रक्त (परीसहे) परिषहोंके (जिणंतस्स) जीतनेवाले, (तारिसगस्स) ऐसेकी (सुगई) सुगति—मोक्ष (सुलहा) सुलभ है ॥ २७ ॥

मूलार्थ—जो तप गुणमें प्रधान हैं, मोक्षमार्गमें जिनकी बुद्धि प्रवृत्त हो रही है, क्षमा और

मूलार्थ—सुखके स्वादको चाहनेवाले, आगामी कालकी साताकेलिये चित्तमें अत्यन्त व्याकुलता धारण करनेवाले, सूत्रोक्त विधिको छोड़कर शयन करनेवाले, एवं बिना यत्नके हाथ पैर आदि अवयवोंको धोनेवाले मुनिको मोक्षगति प्राप्त होनी दुर्लभ है ॥ २६ ॥

भाष्य—जो स्वाद और इन्द्रिय सुखकी लालसा रखता है, उसकेलिये आकुलित रहता है, सोनेका प्रेमी है, हाथ, पैर, मुंह आदि अवयवोंको धोनेमें यत्नायत्नका भी जो विवेक नहीं रखता है, वह द्रव्यलिङ्गी साधु है, भावलिङ्गी नहीं।

सो इस प्रकारके द्रव्यसाधुको मोक्षगतिका प्राप्त होना दुर्लभ है। क्योंकि—जो श्रीभगवान्‌की आज्ञाका उल्लंघन करनेवाला है, वह उक्त सुगतिको प्राप्त नहीं कर सकता। कारण कि—

ज्ञान और क्रिया द्वारा जीवको मोक्षरूपी सुगतिकी प्राप्ति हो सकती है। सो अब किसी साधुने सूत्रोक्त क्रियाओंका परित्याग कर दिया हो, और वह केवल शारीरिक सुखमें ही निमग्न हो गया हो तो भला फिर वह सुगति किस प्रकार प्राप्त कर सकता है?

भोजन, शयन, हस्तपाद-प्रक्षालन आदि क्रियाएं तो सभी मुनिको करनी पड़ती हैं। लेकिन एक शारीरिक सुखकेलिये क्रियाएं की जाती हैं और एक शरीरके निर्वाहकेलिये क्रियाएँ की जाती

उत्थानिका—सूत्रकार अब इस विषयमें कहते हैं कि-यदि किसी जीवको मोक्ष प्राप्त न हो सके तो फिर क्या हो—

पच्छावि ते पयाया, खिप्प गच्छति अमरभवणाइ ।
जेसिं पिओ तवो सजमो अ खती अ बभचेरं च ॥ २८ ॥

पश्चादपि ते प्रयाता, क्षिप्र गच्छन्ति अमरभवनानि ।
येषां प्रियं तप सयमश्च क्षान्तिश्च ब्रह्मचर्यश्च ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—(**जेसिं**) जिनको (**तवो**) तप (**अ**) और (**सजमो**) सयम (**अ**) तथा (**खती**) क्षमा (**अ**) और (**बभचेर च**) ब्रह्मचर्य (**पिओ**) प्रिय हैं, (**ते**) वे (**पच्छावि**) पिछली अवस्थामें भी—वृद्ध हो जानेपर (**पयाया**) सयममार्गमें चलते हुए (**खिप्प**) शीघ्र (**अमरभवणाइ**) देवोंके आवासोंके प्रति (**गच्छति**) जाते हैं ॥ २८ ॥

मूलार्थ—जिन पुरुषोंके तप, सयम, क्षमा, और ब्रह्मचर्य प्रिय हैं, वे पुरुष पिछली अवस्थामें भी दीक्षित हो जानेपर तथा सयममार्गमें न्यायपूर्वक चलनेसे शीघ्र ही देवलोकमें चले जाते हैं ॥ २८ ॥

संयमके पालनेमें जो तत्पर हैं और जो परिषहोंके जीतनेवाले हैं, ऐसे मुनिको मोक्षरूपी सुगति प्राप्त होनी सुलभ है ॥ २७ ॥

भाष्य—'उज्जुमइ'—'ऋजुमतेः' के दो अर्थ हैं। एक 'मोक्षमें बुद्धि रखनेवाले' और दूसरा 'सरलाशयवाले'। यहांपर दोनों ही अर्थ ग्रहण किये जा सकते हैं।

'खंतिसंजमरयस्स'—'क्षान्तिसंयमरतस्य' के भी दो अर्थ हैं। एक 'क्षमा और संयममें रत' और दूसरा 'क्षमाप्रधान संयममें रत'। क्योंकि क्षमा संयमका मूल है। ये दोनों ही अर्थ यहांपर ग्रहण किये जा सकते हैं।

मोक्षरूपी सुगति आत्मिक गुणोंके आश्रित है, न तु शारीरिक सुखके आश्रित। अतः शारीरिक सुखको छोड़कर सुगतिकी प्राप्तिकेलिये उक्त गुणोंका आश्रय अवश्य लेना चाहिये।

तथा सूत्रकर्त्ताने उक्त गुणोंका जो वर्णन किया है, उसमें तप और संयम शब्दों द्वारा चारित्रका निर्देश कर दिया है। यद्यपि चारित्रमें ज्ञान ही कारण है। लेकिन मोक्षप्राप्तिका साक्षात्कारण चारित्र ही है। इसलिये सूत्रकर्त्ताने सुगतिका मुख्य कारण चारित्र ही प्रतिपादन किया है। अतएव ! इसी क्रमसे प्रत्येक व्यक्तिको ज्ञानपूर्वक चारित्रसे मोक्ष प्राप्त करना चाहिये ॥ ७ ॥

उत्थानिका—सूत्रकार अब इस विषयमें कहते हैं कि-यदि किसी जीवको मोक्ष प्राप्त न हो सके तो फिर क्या हो—

पच्छावि ते पयाया, खिप्प गच्छति अमरभवणाइ ।
जेसिं पिओ तवो सजमो अ खती अ बमचेरं च ॥ २८ ॥

पश्चादपि ते प्रयाता, क्षिप्र गच्छन्ति अमरभवनानि ।
येषा प्रिय तप सयमश्च क्षान्तिश्च ब्रह्मचर्यश्च ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—(**जेसिं**) जिनको (**तवो**) तप (**अ**) और (**सजमो**) सयम (**अ**) तथा (**खती**) क्षमा (**अ**) और (**बमचेर च**) ब्रह्मचर्य (**पिओ**) प्रिय हैं, (**ते**) वे (**पच्छावि**) पिछली अवस्थामें भी—वृद्ध हो जानेपर (**पयाया**) सयममार्गमें चलते हुए (**खिप्प**) शीघ्र (**अमरभवणाइ**) देवोंके आवासोंके प्रति (**गच्छति**) जाते हैं ॥ २८ ॥

मूलार्थ—जिन पुरुषोंके तप, सयम, क्षमा, और ब्रह्मचर्य प्रिय हैं, वे पुरुष पिछली अवस्थामें भी दीक्षित हो जानेपर तथा सयममार्गमें न्यायपूर्वक चलनेसे शीघ्र ही देवलोकमें चले जाते हैं ॥ २८ ॥

संयमके पालनेमें जो तत्पर हैं और जो परिषहोंके जीतनेवाले हैं, ऐसे मुनिको मोक्षरूपी सुगति प्राप्त होनी सुलभ है ॥ २७ ॥

भाष्य—'उज्जुमइ'—'ऋजुमतेः' के दो अर्थ हैं। एक 'मोक्षमें बुद्धि रखनेवाले' और दूसरा 'सरलाशयवाले'। यहांपर दोनों ही अर्थ ग्रहण किये जा सकते हैं।

'खंतिसंजमरयस्स'—'क्षान्तिसंयमरतस्य' के भी दो अर्थ हैं। एक 'क्षमा और संयममें रत' और दूसरा 'क्षमाप्रधान संयममें रत'। क्योंकि क्षमा संयमका मूल है। ये दोनों ही अर्थ यहांपर ग्रहण किये जा सकते हैं।

मोक्षरूपी सुगति आत्मिक गुणोंके आश्रित है, न तु शारीरिक सुखके आश्रित। अतः शारीरिक सुखको छोड़कर सुगतिकी प्राप्तिकेलिये उक्त गुणोंका आश्रय अवश्य लेना चाहिये।

तथा सूत्रकर्त्ताने उक्त गुणोंका जो वर्णन किया है, उसमें तप और संयम शब्दों द्वारा चारित्रका निर्देश कर दिया है। यद्यपि चारित्रमें ज्ञान ही कारण है। लेकिन मोक्षप्राप्तिका साक्षात्कारण चारित्र ही है। इसलिये सूत्रकर्त्ताने सुगतिका मुख्य कारण चारित्र ही प्रतिपादन किया है। अतएव ! इसी क्रमसे प्रत्येक व्यक्तिको ज्ञानपूर्वक चारित्रसे मोक्ष प्राप्त करना चाहिये ॥ २७ ॥

उत्थानिका—सूत्रकार अब इस विषयमें कहते हैं कि–यदि किसी जीवको मोक्ष प्राप्त न हो सके तो फिर क्या हो—

पच्छावि ते पयाया, खिप्प गच्छति अमरभवणाइ ।
जेसिं पिओ तवो संजमो अ खती अ बंभचेर च ॥ २८ ॥

पश्चादपि ते प्रयाता, क्षिप्र गच्छन्ति अमरभवनानि ।
येषां प्रिय तप संयमश्च क्षान्तिश्च ब्रह्मचर्यश्च ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—(**जेसिं**) जिनको (**तवो**) तप (**अ**) और (**संजमो**) संयम (**अ**) तथा (**खती**) क्षमा (**अ**) और (**बंभचेर च**) ब्रह्मचर्य (**पिओ**) प्रिय है, (**ते**) वे (**पच्छावि**) पिछली अवस्थामें भी–वृद्ध हो जानेपर (**पयाया**) संयममार्गमें चलते हुए (**खिप्प**) शीघ्र (**अमरभवणाइ**) देवोंके आवासोंके प्रति (**गच्छति**) जाते हैं ॥ २८ ॥

मूलार्थ—जिन पुरुषोंके तप, संयम, क्षमा, और ब्रह्मचर्य प्रिय हैं, वे पुरुष पिछली अवस्थामें भी दीक्षित हो जानेपर तथा संयममार्गमें न्यायपूर्वक चलनेसे शीघ्र ही देवलोकमें चले जाते हैं ॥ २८ ॥

भाष्य—इस गाथाके कथन करनेका यह भाव प्रतीत होता है कि—यदि कोई ऐसे कहे कि—अब तो मेरी वृद्धावस्था आगई है। इसलिये मैं अब संयमके योग्य नहीं रहा हूं। इस प्रकारसे कहनेवालोंके प्रति सूत्रकारका यह उपदेश है कि—यदि तप, संयम तथा क्षमा और ब्रह्मचर्यसे प्रेम है तो वृद्धावस्थामें भी संयम धारण कर लेनेपर बहुत ही शीघ्र देवलोकके विमानोंकी प्राप्ति होजाती है। जिससे फिर यह आत्मा दुर्गतिके दुःखोंके भोगनेसे छूट जाता है। अतएव ! जीवको तप और संयम तथा क्षमा और ब्रह्मचर्य्यसे प्रेम प्रत्येक अवस्थामें होना चाहिये। जो आत्मा उक्त वृत्तिको धारण करता है, वह अवश्यमेव सुखोंके अनुभव करनेवाला हो जाता है ॥ २८ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार इस अध्ययनका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

इच्चेयं छज्जीवणियं, सम्मद्दिट्ठी सया जए ।
दुल्लहं लहित्तु सामण्णं, कम्मुणा न विराहिज्जासि ॥२९॥ त्ति बेमि ॥

इत्येतां षड्जीवनिकायिकां, सम्यग्दृष्टिः सदा यतः ।
दुर्लभं लब्ध्वा श्रामण्यं, कर्मणा न विराधयेत् ॥ २९ ॥ इति ब्रवीमि ॥

अन्वयार्थ—(सया) सदा (जए) यत्न करनेवाला (**सम्मद्दिट्ठी**) सम्यग्दृष्टि जीव (दुल्लहं) दुर्लभ (सामण्ण) मुनिपनेको (लहित्तु) प्राप्त करके (इमेय) इस प्रकार (छज्जीवणिय) षट्कायकी (कम्मुणा) मन, वचन और कायकी क्रियासे (**न विराहिज्जासि**) विराधना न करे ॥ २९ ॥

(त्ति बेमि) इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—सदा यत्नसे प्रवृत्ति करनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव दुर्लभतासे प्राप्त होनेवाले श्रामण्यभावको प्राप्त करके इन षड्जीवनिकायके जीवोंकी मन, वचन और कायसे विराधना कदापि न करे ॥ २९ ॥

भाष्य इस गाथामें जो 'दुल्लहं लहित्तु सामण्णं' पद दिया है, इसका भाव यह है कि-संसारी प्रत्येक पदार्थ सुलभतापूर्वक प्राप्त हो सकता है, किन्तु ज्ञानदर्शनपूर्वक चारित्रकी प्राप्ति दुर्लभतासे होती है। सो यदि किसी आत्माको पूर्व क्षयोपशम भावके कारण अत्यन्त दुर्लभ श्रामण्यभाव प्राप्त हो गया हो तो फिर वह प्रमादादि द्वारा वा मन, वचन और कायसे कदापि उस दुर्लभ चारित्रकी विराधना न करे।

साथ ही इस गाथामें इस बातका भी प्रकाश किया गया है कि सम्यग्दृष्टि आत्मा सदैव यत्न करनेवाला होता है तथा यत्न करनेवाला सम्यग्दृष्टि बन जाता है। मेघकुमारवत्। अतः षट्कायके जीवोंकी विराधना कदापि न करनी चाहिये।

यदि यहां ऐसे कहा जाय कि—यहांपर 'षट्काय' ही शब्द क्यों दिया गया है? इसका समाधान यह है कि—संसारी जीवोंके रहनेके षट् ही स्थान हैं। यद्यपि सिद्धात्मा भी जीव हैं, परन्तु उनकी संज्ञा अकायिक है। इसलिये वे षट्कायके जीवोंकी गणनामें नहीं लिये गये।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययनमें जीवाजीवाभिगम १, आचार २, धर्मप्रज्ञप्ति ३, चारित्रधर्म ४, यत्न (चरण) विषय ५, और उपदेशाधिकार (धर्माधिकार) ६, इन छह विषयोंका वर्णन अधिकार रूपसे किया गया है।

जबतक जीवको जीव और अजीवका सम्यक्तया अवबोध नहीं होता, तबतक आत्मा आचार—धर्मविषयमें प्रविष्ट हो ही नहीं सकता। जबतक जीव आचारधर्मसे अपरिचित है, तबतक वह धर्मप्रज्ञप्ति किस प्रकार कर सकता है? जबतक जीव धर्मप्रज्ञप्तिसे अपरिचित है, तबतक वह चारित्रधर्मका अधिकारी किस प्रकार माना जायगा? जबतक जीव चारित्रधर्मका अधिकारी नहीं

है, तबतक वह पद्मविषयमें उद्यत किस प्रकार हो सकेगा? और जबतक वह पद्मविषयमें उद्यत ही नहीं है तबतक वह उपदेश करने या सुननेका अधिकारी किस प्रकार माना जा सकता है?

इसलिये जीवको सबसे पहिले जीवाजीवका अवबोध सम्यक्तया प्राप्त करना चाहिये। तत्पश्चात् उपरोक्त सकल फलपरम्पराएं उसे अनायास ही प्राप्त होती जायँगी ॥ २९ ॥

"इस प्रकार श्रीसुधर्मास्वामी श्रीजम्बूस्वामीजी प्रति कहते हैं कि—हे जम्बूस्वामिन्! जिस प्रकार मैंने श्रमण भगवान् श्रीमहावीरस्वामीजीसे षड्जीवनिकाय नामक अध्ययनका अर्थ श्रवण किया है, उसी प्रकार मैंने तुम्हारे प्रति कहा है, अपनी बुद्धिसे मैंने इसमें कुछ भी नहीं कहा है।"

इअ छज्जीवणिया णाम चउत्थं अज्झयणं सम्मत्तं।

इति षड्जीवनिकायनाम चतुर्थमध्ययनं समाप्तम्।

इति श्रीदशवैकालिकसूत्रके षट्जीवनिकाय नामक चतुर्थाध्ययनको "आत्मज्ञानप्रकाशिका" नामक हिन्दी भाषा टीका समाप्त हुई।

—o—

अह पिंडेसणा णाम पंचमज्झयणं ।

अथ पिण्डैषणा नामक पञ्चम अध्ययन ।

उपोद्घात—चतुर्थ अध्ययनमें साधुके मूलगुणोंके विषयमें कुछ वर्णन किया गया था। महाव्रत मूलगुणोंके अन्दर गर्भित हैं। अब इस पञ्चम अध्ययनमें उत्तरगुणोंके विषयमें कुछ कहा जायगा।

चतुर्थ अध्ययनमें षड्जीवनिकायकी रक्षारूप धर्माचार साधुकेलिये कहा गया है। लेकिन साधु, धर्माचार स्वशरीरकी रक्षा करते हुए ही पाल सकता है। शरीरकी रक्षामें आहार एक मुख्य कारण है। इस पञ्चम अध्ययनमें उसीका वर्णन है। अर्थात् साधु अपने महाव्रत व्रतोंकी रक्षा करता हुआ किस प्रकारसे आहार ग्रहण करे, इस बातका वर्णन इस अध्ययनमें है।

जिसके ग्रहण करनेसे साधुके व्रतोंमें रत्तीमात्र भी दोष न लगने पावे, ऐसे आहारको निरवद्य

आहार, और जिसके ग्रहण करनेमें उनके व्रतोंमें दोष लगे, उसे सावद्य आहार कहते हैं। साधुको सावद्य आहार ग्रहण नहीं करना चाहिये। आहारके ग्रहण करनेमें किस किस तरहसे दोष आते हैं और किस-किस तरहसे उनका निराकरण होता है। इत्यादि बातोंका वर्णन इस अध्ययनमें है। इसीलिये इसका नाम 'पिण्डैषणा अध्ययन' है। क्योंकि 'पिंडेसणा'—'पिण्डैषणा' शब्दका अर्थ है—'पिण्ड' अर्थात् आहार और 'एषणा' अर्थात् दोषादोषनिरीक्षण।

उत्थानिका—उसकी प्रथम गाथा इस प्रकार है—

सपत्ते भिक्खकालमि, असंभत्तो अमुच्छिओ।
इमेण कमजोगेण, भत्तपाणं गवेसए॥ १॥

संप्राप्ते भिक्षाकाले, असम्भ्रान्तः अमूर्छितः।
अनेन क्रमयोगेन, भक्तपानं गवेषयेद्॥ १॥

अन्वयार्थ—(**भिक्खकालमि**) भिक्षाका समय (**सपत्ते**) हो जानेपर (**असंभत्तो**) चित्तकी व्याकुलताको छोडकर (**अमुच्छिओ**) आहारादिमें मूर्छित न होता हुआ (**इमेण कमजोगेण**) इस विधिसे (**भत्तपाणं**) अन्न-पानीको (**गवेसए**) खोजे—ढूंढे॥ १॥

अह पिंडेसणा णाम पंचमज्झयणं ।

अथ पिण्डैषणा नामक पञ्चम अध्ययन ।

उपोद्घात—चतुर्थ अध्ययनमें साधुके मूलगुणोंके विषयमें कुछ वर्णन किया गया था। महाव्रत मूलगुणोंके अन्दर गर्भित हैं। अब इस पञ्चम अध्ययनमें उत्तरगुणोंके विषयमें कुछ कहा जायगा।

चतुर्थ अध्ययनमें षड्जीवनिकायकी रक्षारूप धर्माचार साधुकेलिये कहा गया है। लेकिन साधु, धर्माचार स्वशरीरकी रक्षा करते हुए ही पाल सकता है। शरीरकी रक्षामें आहार एक मुख्य कारण है। इस पञ्चम अध्ययनमें उसीका वर्णन है। अर्थात् साधु अपने महाव्रतोंकी रक्षा करता हुआ किस प्रकारसे आहार ग्रहण करे, इस बातका वर्णन इस अध्ययनमें है।

जिसके ग्रहण करनेसे साधुके व्रतोंमें रञ्चमात्र भी दोष न लगने पावे ऐसे आहारको निरवद्य

लेकिन जबतक इसकी शक्तियां और-और कामोंमें—भोगोपभोगोंके भोगनेमें लगी रहती हैं—फँसी रहती हैं, तबतक इसके स्वभावका—स्वरूपका पूर्ण विकाश नहीं हो पाता। और-और कामोंमें फँसा यह अपनी मूर्खतासे रहता है। और यह मूर्खता इसकी सिर्फ इतनीसी ही है कि इसे अपने स्वरूपका बोध नहीं है—ज्ञान नहीं है। यह नहीं पहचानता कि मैं कैसी अद्भुत—अचिन्त्यशक्ति वाली चीज़ हूं। यही इसका मिथ्यात्व है। यही इसकी ज़बरदस्त गलती है।

और जब इसको अपने स्वरूपका ज्ञान हो जाता है, अपनी अद्भुत, परमोत्कृष्ट आनन्दघन, त्रिजगद्वन्द्य चेतनशक्तिका पता लगजाता है, तब यह बड़ा प्रसन्न होता है। अबतक जो यह गलतीमें फँस रहा था, उसका उसे बड़ा पछितावा रहता है। फिर तो बस यह उसीमें मग्न रहना चाहता है, अपना स्वरूप उसे इतना रुचिर और प्रिय प्रतीत होता है कि उससे यह क्षण भर भी अलग नहीं रहना चाहता। उसीमें यह हमेशा—अनन्तकालकेलिये तन्मय हो जाना चाहता है, उसीमें विलीन हो जाना चाहता है। उसको फिर भोगोपभोगोंमें एवं संसारके और-और कामोंमें थोड़ा भी समय बिताना और अपनी शक्ति उधर लगाना अच्छा नहीं लगता। संसारके समस्त विषय उसे विषतुल्य मालूम होते हैं। इस समय यह अनुभव करता है कि यह मुझे एक ऐसे उत्तम एवं समीचीन पदार्थका दिग्दर्शन हुआ है, जिसका पता तक मुझे अबतक न था। यही जीवका सम्यग्दर्शन कहलाता है।

मूलार्थ—भिक्षाका समय हो जानेपर साधु चित्तकी व्याकुलताको छोड़कर आहारादिमें मूर्च्छित न होता हुआ इस क्रमसे—अगाडी कहे जानेवाले तरीकेसे अन्न-पानीकी गवेषणा—खोज करे ॥ १ ॥

भाष्य—साधुकी दिनचर्या सब विभाजित की हुई है। जैसे कि सूर्योदयके पश्चात् विधिपूर्वक प्रतिलेखनादि करलेनेके बाद साधु दिनके प्रथम प्रहरमें स्वाध्याय करें। तदनु ध्यान करें। तृतीय प्रहरमें उपयोगपूर्वक भिक्षाका समय जानकर किसी भी जीवकी अन्तराय न देते हुए और अपने चित्तकी वृत्तिको ठीक करते हुए अर्थात् अलाभादिके भयसे चित्तवृत्तिको व्याकुल न करते हुए तथा आहार या गन्धादि विषयोंमें मूर्च्छित न होते हुए साधु इस वक्ष्यमाण क्रमसे अन्न और पानीकी गवेषणा करें।

शास्त्रमें जो जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, काल और आकाश, ये छह द्रव्य कहे गये हैं, उनमेंसे जीव द्रव्य सबसे श्रेष्ठ है। यह चेतन है, और सब अचेतन हैं। यह सबको जाननेवाला है, और इसे कोई नहीं जान सकता। यह जीव द्रव्य सबका पथप्रदर्शक है, मार्गभ्रष्टको सन्मार्ग सुझानेवाला है, सबका कल्याणकारी है, सबका शासक है, त्रिजगद्वन्द्य है, सर्वोच्च गुणोंका केन्द्र है।

साधुवृत्तिको चाहनेवाले सम्यग्दृष्टि जीवके इतने प्रकर्ष वैराग्यमय परिणाम होते हैं कि वह भोगोपभोगोंकी तो क्या बात है उनका आश्रयीभूत जो अपना शरीर है उसे भी एकदम त्याग देता, यदि शास्त्रने वैसा करनेका निषेध न किया होता † । क्योंकि ऐसा करनेसे कर्मका बन्ध नहीं कटता। जो कि पुनर्भव धारण कराता है। जब यह बात है, तब आप जान सकते हैं कि मुनि आहार-पानीके ग्रहण करनेमें कितनी अरुचि रखते हैं। वे सिर्फ शासनाज्ञाको शिरोधार्य करके ही उसकी गवेषणाकेलिये नगरमें आते हैं, और इसीलिये उसके लाभालाभमें उन्हें समभाव रहता है।

इसीलिये साधुकेलिये शास्त्रमें जैसे ध्यान-स्वाध्याय-प्रतिलेखन आदि करनेकेलिये आदेश दिया गया है, और उसकेलिये भिन्न-भिन्न समय निश्चित किया गया है, वैसे ही आहार-पानीके लिये गवेषणा करनेकेलिये भी आदेश दिया गया है और उसकेलिये समय निश्चित किया गया है। अन्यान्य कर्तव्योंके अतिरिक्त आहार-पानीकी गवेषणा करना भी शासनमें साधुका एक कर्तव्य बतलाया गया है।

यदि साधु, गवेषणाका जो समय निश्चित है, उसमें न जाकर पहिले या बादमें उसकेलिये जाय तो उसे अनेक दोष लगेंगे, जिनका कि वर्णन अगाड़ी शास्त्रकार स्वय करेंगे। अतएव! भिक्षाके कालमें ही भिक्षाकेलिये साधुको प्रवृत्ति करनी चाहिये।

---

† "यदि प्रकोष्मार य न स्याद्रोपो निरोधकः"—आत्मानुशासन।

जीवकी यह सम्यग्दृष्टि हालत अन्तरङ्ग कारण मोहनीयकर्मसे एकदेश दर्शनमोहनीयके क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशमके हो जानेसे होती है। और बहिरङ्ग कारण शास्त्रश्रवण, सत्समागम, तीर्थङ्करदर्शन, देवविभूतिदर्शन आदि अनेक हैं। ये बहिरङ्ग कारण कभी-कभी किसी जीवके सम्यग्दर्शन होनेकेलिये नहीं भी होते। लेकिन अन्तरङ्ग कारण, जो मोहनीयका क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम है, उसका होना आवश्यक है।

जीवकी परणति जब ऐसी वैराग्यमय हो जाती है, तभी वह साधुवृत्तिको धारण करता है। इस सम्यग्दर्शनकी अवस्थामें तो जीवको सिर्फ़ अपने स्वरूपका भान हुआ है, विश्वास हुआ है। अब उसे प्राप्त करनेकी कोशिशमें वह लगता है। इसीलिये वह साधु अवस्था धारण करता है। साधु-अवस्था चारित्रकी अवस्था है। चारित्र क्रियाप्रधान होता है और क्रिया ही किसी कार्यकी सिद्धि करती है। इसीलिये शास्त्रमें लिखा है कि पहिले सम्यग्दर्शन होता है, बादमें सम्यक्चारित्र। ठीक ही है, पहिले किसी कार्यकी रुचि हो जानेके बाद ही जीवको उसके प्राप्त करनेकी अपेक्षा पैदा होती है।

साधुवृत्तिके धारण करनेके पहिले यदि जीवकी ऐसी वैराग्यमय परणति न हुई होती तो भला वह राजा, महाराजा, एवं चक्रवर्तीके भोगोंको या संसारमें कहे जानेवाले सुखोंको छोड़कर यह साधुवृत्ति क्यों ग्रहण करता, जिसमें अनेक परीषहें और उपसर्ग हमेशा आते रहते हैं।

मूलार्थ— गोचराग्रमें गया हुवा वह असम्भ्रान्त मुनि ग्राममें, नगरमें या अन्य खेटकादिमें उद्वेगरहित और अव्याक्षिप्त चित्तसे शनै शनै गमन करे ॥ २ ॥

भाष्य—गाथाके प्रथम चरणसे शास्त्रकारने गोचरीके योग्य स्थानका और शेष तीन चरणसे गोचरीकेलिये किये गये गमनका प्रकार बतलाया है।

'गोचरीकेलिये साधु अव्याक्षिप्त चित्तसे तथा अनुद्विग्नमना होकर गमन करे,' यह इसलिये कहा गया है कि गमनमें उसे किसी प्रकारका दोष न लगे। उद्विग्नमना और व्याक्षिप्त चित्तसे गमन करनेसे दोषोंकी शुद्धि नहीं की जा सकती।

'गोचरी' शब्द 'गो' और 'चर' शब्दसे बना है, इसका तात्पर्य यह है कि—साधु गोवत् भिक्षाचरीमें जाये अर्थात् जैसे गौ जहांपर तृणादिका योग होता है, उसी स्थानपर चली जाती है। ठीक उसी तरह साधु भी उत्तम, मध्यम और अधम कुलोंका विचार न करता हुआ तथा सरस या नीरस आहारका विचार न करता हुआ समभावसे गोचरीमें जावे।

गाथामें 'गोचर' शब्द लेकर भी एक 'अग्र' शब्द और दिया है। यथा 'गोअरग्गगओ'—

साधु जबतक पिण्डैषणामें अर्थात् आहार-पानीकी गवेषणामें असम्भ्रान्त और अमूर्छित न होंगे, तबतक वे उसमें लगनेवाले दोषोंका परिहार—बचाव नहीं कर सकते। इसीलिये शास्त्रकारने गाथामें 'असंभंतो, अमुच्छिओ' ये दो पद दिये हैं ॥ १ ॥

उत्थानिका—साधु भिक्षाकी किस स्थानपर गवेषणा करे। और उसकेलिये किस प्रकारसे गमन करे? सूत्रकार अब इसी विषयमें कहते हैं—

से गामे वा नगरे वा, गोअरग्गगओ मुणी।
चरे मंदमणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेयसा ॥ २ ॥

स ग्रामे वा नगरे वा, गोचराग्रगतः मुनिः।
चरेत् मन्दमनुद्विग्न, अव्याक्षिप्तेन चेतसा ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(मुणी) साधु (गामे वा) ग्राममें अथवा (नगरे वा) नगरमें अथवा अन्य खेटकादिमें (गोअरग्गगओ) गोचराग्रमें गया हुआ (से) वह (अणुव्विग्गो) उद्वेगरहित (अविक्खित्तेण) अविक्षिप्त (चेयसा) मनसे (मंद) शनैः शनैः (चरे) जावे ॥ २ ॥

मूलार्थ— गोचराग्रमें गया हुवा वह असम्भ्रान्त मुनि ग्राममें, नगरमें या अन्य खेटकादिमें उद्वेगरहित और अव्याक्षिप्त चित्तसे शनैः शनैः गमन करे ॥ २ ॥

भाष्य—गाथाके प्रथम चरणसे शास्त्रकारने गोचरीके योग्य स्थानका और शेष तीन चरणसे गोचरीकेलिये किये गये गमनका प्रकार बतलाया है।

'गोचरीकेलिये साधु अव्याक्षिप्त चित्तसे तथा अनुद्विग्नमना होकर गमन करे,' यह इसलिये कहा गया है कि गमनमें उसे किसी प्रकारका दोष न लगे। उद्विग्नमना और व्याक्षिप्त चित्तसे गमन करनेसे दोषोंकी शुद्धि नहीं की जा सकती।

'गोचरी' शब्द 'गो' और 'चर' शब्दसे बना है, इसका तात्पर्य यह है कि—साधु गोवत् भिक्षाचरीमें जावे अर्थात् जैसे गौ जहांपर तृणादिका योग होता है, उसी स्थानपर चली जाती है। ठीक उसी तरह साधु भी उत्तम, मध्यम और अधम कुलोंका विचार न करता हुआ तथा सरस वा नीरस आहारका विचार न करता हुआ समभावसे गोचरीमें जावे।

गाथामें 'गोचर' शब्द देकर भी एक 'अग्र' शब्द और दिया है। यथा 'गोअरग्गगओ'—

साधु जबतक पिण्डैषणामें अर्थात् आहार-पानीकी गवेषणामें असंभ्रान्त और अमूर्छित न होंगे, तबतक वे उसमें लगनेवाले दोषोंका परिहार—बचाव नहीं कर सकते। इसीलिये शास्त्रकारने गाथामें 'असंभंतो, अमुच्छिओ' ये दो पद दिये हैं॥ १॥

उत्थानिका—साधु भिक्षाकी किस स्थानपर गवेषणा करे। और उसकेलिये किस प्रकारसे गमन करे? सूत्रकार अब इसी विषयमें कहते हैं—

से गामे वा नगरे वा, गोअरग्गगओ मुणी।
चरे मंदमणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेयसा॥ २॥

स ग्रामे वा नगरे वा, गोचराग्रगत मुनिः।
चरेत् मन्दमनुद्विग्न, अव्याक्षिप्तेन चेतसा॥ २॥

अन्वयार्थ—(मुणी) साधु (गामे वा) ग्राममें अथवा (नगरे वा) नगरमें अथवा अन्य खेटकादिमें (गोअरग्गगओ) गोचराग्रमें गया हुआ (से) वह (अणुव्विग्गो) उद्वेगरहित (अव्वक्खित्तेण) अविक्षिप्त (चेयसा) मनसे (मंद) शनै शनैः (चरे) जावे॥ २॥

पुरत युगमात्रया, प्रेक्षमाणः मही चरेत् ।
वर्जयन् बीजहरितानि, प्राणिनश्च उदकमृत्तिकाम् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(**पुरओ**) आगे (**जुगमायाए**) युगमात्रा अर्थात् शरीर प्रमाणसे (**पेहमाणो**) देखता हुआ (**बीयहरियाइं**) बीज और हरितकायके (**पाणे**) प्राणियोंको (**दगमट्टियं**) सचित्त पानी और मृत्तिकाको (**वज्जंतो**) छोडता हुआ (**महिं**) पृथिवीपर (**चरे**) गमन करे (**च**) च शब्दसे तेजस्कायादिको वर्जता हुआ भी पृथिवीपर गमन करे ॥ ३ ॥

मूलार्थ—साधु, शरीरप्रमाण अर्थात् अपने हाथसे साढे तीन हाथ प्रमाण आगे देखता हुआ और बीज, हरितकाय, प्राणी, उदक और मृत्तिकाको छोडता हुआ—बचाता हुआ पृथिवी पर चले ॥ ३ ॥

भाष्य—हर एक कालमें प्रत्येक मनुष्यका शरीर अपने हाथसे साढे तीन हाथ प्रमाण हुआ करता है। यह एक मानी हुई बात है। इसीलिये शरीरप्रमाणका मूलार्थमें 'अपने हाथसे साढे तीन हाथ प्रमाण' अर्थ लिखा गया है। इसीको 'शकटका जूआ प्रमाण' भी कहते हैं।

'गोचराग्रगतः'। इसका तात्पर्य यह है कि—गाकी चर्या सावद्य है, किन्तु मुनिकी चर्या आधा-कर्मादि दोषोंसे सर्वथा रहित है †।

उत्तम, मध्यम और अधम कुलोंके विषयमें कतिपय आचार्योंका मन्तव्य धनादिकी अपेक्षासे है और कतिपय आचार्योंका मन्तव्य जातिकी अपेक्षासे है। साधु, लोकव्यवहारकी शुद्धि रखता हुआ गोचराग्रमें प्रवेश करे।

मन्द-मन्द चले' ऐसा जो कथन किया गया है, इसका सारांश यह है कि--शीघ्र गतिसे गमन करनेमें ईर्यासमितिकी तथा आत्माकी विराधना होनेकी भी सम्भावना है ॥ २ ॥

उत्थानिका- सूत्रकार गोचरीके लिये किये गये गमनके विषयमें कुछ और भी विशेष प्रतिपादन करते हैं—

पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महिं चरे।
वज्जंतो बीयहरियाइं, पाणे अ दगमट्टियं ॥ ३ ॥

---

† यथा—"गोचराग्रगतः" इति गोरिव चरणं गोचरः —उत्तमाधममध्यमकुलेषु अरक्तद्विष्टस्य भिक्षाटनम्। अग्रः—प्रधानोऽभ्याहृताधाकर्मादिपरित्यागेन। तद्गतः—तद्वर्ती मुनिः—भावसाधुः। चरेत्—गच्छेत्।

पुरठ युगमात्रया, प्रेक्षमाणः महीं चरेत्।
वर्जयन् बीजहरितानि, प्राणिनश्च उदकमृत्तिकाम् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(**पुरओ**) आगे (**जुगमायाए**) युगमात्रा अर्थात् शरीर प्रमाणसे (**पेहमाणो**) देखता हुआ (**बीयहरियाइ**) बीज और हरितकायके (**पाणे**) प्राणियोंको (**दगमट्टिय**) सचित्त पानी और मृत्तिकाको (**वज्जतो**) छोड़ता हुआ (**महिं**) पृथिवीपर (**चरे**) गमन करे (**च**) च शब्दसे तेजस्कायादिको वर्जता हुआ भी पृथिवीपर गमन करे ॥ ३ ॥

मूलार्थ—साधु, शरीरप्रमाण अर्थात् अपने हाथसे साढे तीन हाथ प्रमाण आगे देखता हुआ और बीज, हरितकाय, प्राणी, उदक और मृत्तिकाको छोड़ता हुआ—बचाता हुआ पृथिवी पर चले ॥ ३ ॥

भाष्य—हर एक कालमें प्रत्येक मनुष्यका शरीर अपने हाथसे साढ़े तीन हाथ प्रमाण हुआ करता है। यह एक मानी हुई बात है। इसीलिये शरीरप्रमाणका मूलार्थमें 'अपने हाथसे साढ़े तीन हाथ प्रमाण' अर्थ लिखा गया है। इसीको 'शकटका उद्धा प्रमाण' भी कहते हैं।

साधु साढ़े तीन हस्त प्रमाण या शकटके जुड़े प्रमाण आगे पृथिवीको सिर्फ देखता हुआ ही गमन न करे, किन्तु बीज, हरित, प्राणी द्वीन्द्रियादि जीव, उदक और पृथिवीकाय तथा 'च' शब्दसे तेजस्कायादिकी रक्षा करता हुआ भी गमन करे।

'पृथिवीको देखता हुआ चले' इसका सारांश यह है कि—चलते समय प्रमाणपूर्वक भूमिको देखता हुआ ही चले किन्तु अन्य दिशादिका अवलोकन करता हुआ न चले। क्योंकि ईर्यासमितिमें फिर उपयोग नहीं रहेगा। उपयोगपूर्वक गमन करनेसे ही ईर्यासमितिका पालन भले प्रकारसे किया जा सकेगा ॥ ३ ॥

उत्थानिका—गमन करते हुए साधुको संयमविराधनाके परिहारार्थ कहे जानेके पश्चात् शास्त्रकार अब आत्मविराधनाके परिहारार्थ कहते हैं—

ओवाय विसम खाणु, विज्जलं परिवज्जए।
संकमेण न गच्छिज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥ ४ ॥

अवपात विषम स्थाणु, विजलं परिवर्जयेत्।
संक्रमेण न गच्छेत्, विद्यमाने पराक्रमेत ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ— ओवाय) गर्तादि (**विसम**) विषम स्थान (**स्थाणु**) ठूठ (**विज्जल**) कीचड (**परिवज्जए**) छोड देवे (**परक्कमे**) पराक्रम करे (**विज्जमाणे**) विद्यमान होनेपर अन्य मार्गके (**संकमेण**) जलादिमें काष्ठादि रखकर संक्रमण करके (**न गच्छेज्जा**) न जावे ॥ ४ ॥

मूलार्थ—साधु खड्डादि स्थान, विषमस्थान वा खीलादिके ऊपर होकर न जाय तथा कीचडके मार्गको छोड देवे तथा अन्य मार्गके विद्यमान होनेपर, नदी आदिको संक्रमण करके न जावे ॥ ४ ॥

भाष्य—इस गाथामें मुख्यतया आत्मविराधनाके परिहारार्थ कथन किया गया है। जैसे कि—जिस मार्गमें विशेष खड्डादि हों तथा वह विशेष ऊंचा या नीचा हो तथा उस मार्गमें कीलें विशेष हों या काष्ठादि रखे हुए हों तो उनपर होकर न जावे। क्योंकि—इस प्रकार करनेसे आत्म विराधना या संयम विराधना होनेकी सम्भावना की जा सकती है।

तथा सूत्रमें जो 'विद्यमाने" पद दिया है इसके कथन करनेका यह आशय है कि—यदि अन्य मार्ग विद्यमान न होवे तो साधु यत्न द्वारा उक्त कथन किये हुए मार्गोंसे भी गमन कर सकता है। यद्यपि उत्सर्ग मार्गसे तो उक्त मार्गोंका उल्लंघन न करना चाहिये। किन्तु अपवाद

मार्गके आश्रित होकर यत्न पूर्वक उक्त मार्गोंसे भी आ सकते हैं। विषम स्थानके कथन करनेसे सब प्रकारके विषम मार्गोंका ग्रहण किया गया है ॥ ४ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार इस बातका उपदेश करते हैं कि अवपातादि मार्गोंमें जानेसे क्या दोष उत्पन्न होते हैं—

पवडते व से तत्थ, पक्खलते व सजए ।
हिंसेज्ज पाणभूयाइं, तसे अदुव थावरे ॥ ५ ॥

प्रपतन् वाऽसौ तत्र, प्रस्खलन्वा संयत ।
हिंस्यात्प्राणिभूतानि, त्रसानथवा स्थावरान् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(**से**) वह (**सजए**) भावसाधु (**तत्थ**) उनमें (**पवडते**) गिरता हुआ (**व**) अथवा (**पक्खलते**) स्खलित होता हुआ (**पाणभूयाइ**) प्राणि और भूतोंकी (**तसे**) त्रसों (**अदुव**) अथवा (**थावरे**) स्थावरोंकी (**हिंसेज्ज**) हिंसा करता है ॥ ५ ॥

मूलार्थ—वह भावसाधु उन गर्तादि स्थानोंमें गिरता हुआ तथा स्खलित होता हुआ द्वीन्द्रियादि जीवोंकी तथा एकेन्द्रियादि जीवोंकी अथवा त्रसोंकी वा स्थावरोंको हिंसा करता है ॥ ५ ॥

भाष्य—इस गाथामें आत्म विराधना और संयम विराधना, दोनोंका दिग्दर्शन कराया गया है।

प्राणि-भूत और त्रस-स्थावर, ये दोनों परस्पर पर्यायवाची नाम जानने चाहिये।

अपने शरीरको क्लेश पहुँचाना द्रव्य विराधना है और श्रीभगवान्‌की आज्ञाका उल्लङ्घन करना तथा त्रस-स्थावर जीवोंको क्लेश पहुँचाना भावविराधना कहलाती है ॥ ५ ॥

उत्थानिका—यदि इस प्रकारकी विराधना होती है तो फिर साधुको क्या करना चाहिये? अब इसी विषयमें कहते हैं—

तम्हा तेण न गच्छिज्जा, सजए सुसमाहिए ।
सइ अन्नेण मग्गेण, जयमेव परक्कमे ॥ ६ ॥

तस्मात्तेन न गच्छेत्, सयतः सुसमाहित ।
सत्यन्ये मार्गे, यतमेव पराक्रमेत् ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(**तम्हा**) इसलिये (**सजए**) साधु (**सुसमाहिए**) भले प्रकारसे समाधि रखनेवाला (**अन्नेण मग्गेण**) अन्य मार्गके (**सइ**) होनेपर (**तेण**) पूर्वोक्त मार्गसे (**न गच्छिज्जा**) न जावे । यदि अन्य मार्ग न होवे तो (**जयमेव**) यत्न पूर्वक उक्त मार्गोंमें ही (**परक्कमे**) गमन करे ॥ ६ ॥

मूलार्थ—इसलिये श्रीभगवान्की आज्ञा पालन करनेवाला साधु अन्य मार्गोंके होनेपर उक्त मार्गोंसे न जावे । यदि अन्य मार्ग न हो तो यत्नपूर्वक उक्त मार्गमें गमन करे । ६ ॥

भाष्य—इस गाथामें उत्सर्ग और अपवाद मार्गपूर्वक गमनका वर्णन किया गया है। कि—पूर्वोक्त दोषोंको जानता हुआ मुनि उक्त मार्गोंमें गमन न करे परन्तु यदि अन्य मार्ग और कोई विद्यमान होवे तो । यदि अन्य मार्ग कोई दृष्टिगोचर नहीं हो तो यत्नपूर्वक और विशेष उपयोग रखता हुआ पूर्वोक्त मार्गोंसे गमन करे। कारण कि—यदि बिना यत्नसे उक्त मार्गोंमें गमन करेगा तो आत्म विराधना और सयम-विराधना दोनोंके होनेकी सम्भावना की जा सकेगी।' अतएव । यदि अन्य मार्ग कोई न होवे तो यत्नपूर्वक पूर्वोक्त मार्गोंसे गमन करे।

गाथाके दूसरे चरणमें जो 'सुसमाहिए'-'सुसमाहित' पद दिया है, उसका अर्थ वास्तवमें 'भले प्रकारसे समाधि रखनेवाला' होता है। लेकिन भले प्रकार समाधि वही रख सकता है, जो कि श्रीभगवान्‌की आज्ञा भले प्रकारसे पालता हो। इसलिये मूलार्थमें 'सुसमाहिए' पदका अर्थ 'श्रीभगवान्‌की भले प्रकार आज्ञा पालनवाला' किया गया है।

गाथाके तीसरे चरणमें 'अन्नेण मग्गेण' जो दो पद दिये हैं वे देखनेमें तृतीयान्त दीखते हैं, लेकिन हैं असलमें ये सप्तम्यन्त पद। छान्दस होनेसे प्राकृतभाषामें इस तरहका विभक्तिव्यत्यय हो जाया करता है। इसलिये उनका अर्थ 'अन्यस्मिन् मार्गे' करना चाहिये ॥ ६ ॥

उत्थानिका—सूत्रकार अब पृथिवीकायकी यत्नाके विषयमें विशेष उल्लेख करते हैं—

इंगालं छारियं रासिं, तुसरासिं च गोमयं।
ससरक्खेहिं पाएहिं, संजओ तं न इक्कमे ॥ ७ ॥

आङ्गार क्षारराशिं, तुषराशिं च गोमयम्।
सरजस्काभ्यां पद्भ्यां, संयतः तं नाक्रमेत् ॥ ७ ॥

तस्मात्तेन न गच्छेत्, सयतः सुसमाहित ।
सत्यन्ये मार्गे, यतमेव पराक्रमेत् ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(**तम्हा**) इसलिये (**सजए**) साधु (**सुसमाहिए**) भले प्रकारसे समाधि रखनेवाला (**अन्नेण मग्गेण**) अन्य मार्गके (**सइ**) होनेपर (**तेण**) पूर्वोक्त मार्गसे (**न गच्छिज्जा**) न जावे। यदि अन्य मार्ग न होवे तो (**जयमेव**) यत्न पूर्वक उक्त मार्गोंमें ही (**परक्कमे**) गमन करे ॥ ६ ॥

मूलार्थ—इसलिये श्रीभगवान्की आज्ञा पालन करनेवाला साधु अन्य मार्गोंके होनेपर उक्त मार्गोंसे न जावे। यदि अन्य मार्ग न हो तो यत्नपूर्वक उक्त मार्गमें गमन करे।' ६ ॥

भाष्य—इस गाथामें उत्सर्ग और अपवाद मार्गपूर्वक गमनका वर्णन किया गया है। जैसे कि—पूर्वोक्त दोषोंको जानता हुआ मुनि उक्त मार्गोंमें गमन न करे परन्तु यदि अन्य मार्ग और कोई विद्यमान होवे तो। यदि अन्य मार्ग कोई दृष्टिगोचर नहीं हो तो यत्नपूर्वक और विशेष उपयोग रखता हुआ पूर्वोक्त मार्गोंसे गमन करे। कारण कि—यदि बिना यत्नसे उक्त मार्गोंमें गमन करेगा तो आत्म-विराधना और संयम-विराधना दोनोंके होनेकी सम्भावना की जा सकेगी।' अतएव ! यदि अन्य मार्ग कोई न होवे तो यत्नपूर्वक पूर्वोक्त मार्गोंसे गमन करे।

कारण कि—साधुवृत्तिमें अत्यन्त विवेककी आवश्यकता है। तभी यह वृत्ति सुखपूर्वक पालन की जा सकती है, अन्यथा नहीं ॥ ७ ॥

उत्थानिका—इसके अनन्तर शास्त्रकार अब अप्कायादिके विषयमें यत्न करनेकेलिये कहते हैं—

न चरेज्ज वासे वासते, महियाए वा पडतिए ।
महावाए व वायते, तिरिच्छसपाइमेसु वा ॥ ८ ॥

न चरेद्वर्षे वर्षति, महिकायां वा पतन्त्याम् ।
महावाते वा वाति, तिर्यक्संपातेषु वा ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(**वासे**) वर्षाके (**वासते**) वर्षनेपर (**वा**) अथवा (**महियाए**) धुंधके (**पडतिए**) पड़नेपर (**वा**) अथवा (**महावाए**) महावायुके (**वायते**) वहने—चलनेपर (**वा**) अथवा (**तिरिच्छसंपाइमेसु**) तिर्यक् गतिवाले अर्थात् पतंग आदिके उड़नेपर (**न चरेज्ज**) न जावे ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(संजओ) संयत-मुनि (इंगाल) कोयलोंकी राशि (छारिय रासिं) क्षारकी राशि (तुसरासिं) तुषकी राशि (च) तथा (गोमय) गोवरकी राशि (त) उसको (ससरक्खेहिं) रजसे भरे हुए (पाएहिं) पगोंसे (न इक्कमे) अतिक्रम न करे ॥ ७ ॥

मूलार्थ—कोयलोंकी राशि, क्षारकी राशि, तुषकी राशि और गोवरकी राशिको सचित्त रजसे भरे हुए पगोंसे साधु अतिक्रम न करे ॥ ७ ॥

भाष्य—यहांपर कोयलोंकी राशि आदि तो साधारणरूपसे नाम गिना दिये हैं, दरअसल यहांपर सभी प्रकारकी वस्तुओंसे—राशियोंसे आचार्यका अभिप्राय है। और उपलक्षणसे उन सबका यहाँ ग्रहण भी किया जा सकता है। अथवा गाथाके दूसरे चरणमें जो 'च' शब्द दिया है, उससे अन्य समस्त राशियोंका ग्रहण किया जा सकता है। तब इस गाथाका अर्थ हुआ।—मुनि, सचित्त रजसे भरे हुए पगोंसे उक्त किसी भी राशिको उल्लङ्घन करके आगे न जाय। कारण कि—उन पदार्थोंके स्पर्शसे जो पगोंको सचित्त रज लगी हुई है उन जीवोंकी विराधना हो जाती सम्भव है। अतः मुनि किसी भी राशिको यदि उसके पगादि सचित्त रज आदिसे भरे हुए हों तो अतिक्रम न करे।

न चरेज्ज वेससामंते बंभचेरवसाणु (ग) ए ।
बंभयारिस्स दंतस्स, हुज्जा तत्थ विसुत्तिआ ॥ ९ ॥

न चरेद्वेश्यासामन्ते, ब्रह्मचर्यवशानुगः ।
ब्रह्मचारिणो दान्तस्य, भवेदत्र विस्रोतसिका ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(बंभचेरवसाणुए) ब्रह्मचर्यको वशमें करनेवाले **(वेससामंते)** वेश्याके समीपके स्थानोंमें **(न चरेज्ज)** न जाय **(तत्थ)** वहां **(दंतस्स)** जितेन्द्रिय **(बंभयारिस्स)** ब्रह्मचारीको **(विसुत्तिया)** आत्मध्यान-संयमरूपी धान्यके सुखानेवाला मनोविकार **(हुज्जा)** उत्पन्न हो जायगा ॥ ९ ॥

मूलार्थ—साधु ब्रह्मचर्यके नाश करनेवाले वेश्याके समीपके स्थानोंमें न जावे । क्योंकि इन्द्रियोंके दमन करनेवाले ब्रह्मचारीको वहांपर संयमरूपी धान्यके सुखानेवाला मनोविकार उत्पन्न हो जायगा ॥ ९ ॥

मूलार्थ—वर्षाके बरसनेपर, धुधके पड़नेपर, महावायुके-आंधीके चलनेपर, तथा पतङ्ग आदिके उड़नेपर साधु गोचरी आदिकेलिये न जावे ॥ ८ ॥

भाष्य—गाथोक्तपरिस्थिति उपस्थित होजानेपर साधु गमन न करे। क्योंकि-इस प्रकार करनेसे आत्म-विराधना तथा संयम विराधना दोनोंके होनेकी सम्भावना है। तथा लोक पक्षमें भी अपवादका हेतु वह गमन करनेवाला मुनि बन जायगा। अतएव! उक्त पदार्थोंके होते हुए मुनि गोचरीकेलिये न जावे। गोचरीकेलिये ही साधु उक्त परिस्थितिके उपस्थित होनेपर गमन न करे, यही बात नहीं है। बल्कि उपलक्षण न 'अन्य क्रियाओंकेलिये भी साधु न जावे,' यह भी अर्थ यहां ग्रहण करना चाहिये। हां! यदि शारीरिक कोई क्रियाएँ करनी हों तो उन क्रियाओंके निरोध करनेका उल्लेख शास्त्रमें नहीं है। जैसे कि—मल मूत्रादिकी चिन्ता दूर करनेकेलिये जाना पड़ जाए तो उक्त समयमें साधुको गमन करनेका निषेध नहीं पाया जाता। कारण कि-उन क्रियाओंके निरोध करनेसे असाध्य रोगोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना की जा सकती है। जिससे फिर बहुतसे कारणोंके-विघ्नोंके उपस्थित हो जानेका समय उपलब्ध हो जायगा ॥ ८ ॥

उत्थानिका—इसी प्रकारसे शास्त्रकार और भी कहते हैं—

उत्थानिका—इस प्रकार सूत्रकर्ताने एक बार गमन क्रियाके करनेका फल तो वर्णन कर दिया, अब पुन पुन गमन क्रियाके करनेका फल दिखलाते हुए कहते हैं—

अणाय [य] णे चरतस्स, ससग्गीए अभिक्खणं ।
हुज्ज वयाण पीला, सामन्नम्मि अ ससओ ॥ १० ॥

अनायतने चरत, ससर्गेण अभीक्ष्णम् ।
भवेत् व्रतानां पीडा, श्रामण्ये च सशयः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(**अणायणे**) अस्थानमें (**चरतस्स**) चलनेवाले साधुके (**अभिक्खण**) वारम्बारके (**ससग्गीए**) ससर्गसे (**वयाण**) व्रतोंको (**पीला**) पीडा (**हुज्ज**) होगी (**अ**) फिर (**सामन्नम्मि**) सयमके विषयमें (**ससओ**) सशय उत्पन्न होगा ॥ १० ॥

मूलार्थ—अस्थान-वेश्यादिके मुहल्लोंमें चलनेवाले साधुको वार वारके ससर्गसे व्रतोंको पीडा उत्पन्न होगी और श्रामण्यभावमें सशय उत्पन्न हो जायगा ॥ १० ॥

भाष्य — यद्यपि यह नियम नहीं है कि वेश्याके मुहल्लोंमें होकर निकल जानेसे या उनके मुहल्लेमें आनेसे ब्रह्मचर्य्यका नाश नियमसे हो ही जाय। कभी कभी ब्रह्मचर्य्यका नाश वहां जानेसे या उधर होकर निकल जानेसे नहीं भी होता। कभी-कभी क्यों, प्रायः नहीं होता। बल्कि यों कहना चाहिये कि होता है तो कभी-कभी होता है। अर्थात इत्तिफ़ाक़से तीव्र कर्मोदयसे कभी किसी साधुसे इस प्रकारकी अनर्थकारी घटना घटी हो तो घटी हो। इसके पर भी शास्त्रकारने वहां जानेका अथवा उधरसे आनेका जो सर्वथा निषेध किया है, उसका यह मतलब है कि शास्त्रकार उस संसर्गका भी निषेध किया करते हैं, जिससे संयमके बिगड़ जानेकी सम्भावनामात्र हो। इसलिये साधुका उस स्थानपर जाना या उस स्थानके पास होकरके निकल जाना भी निषिद्ध है, जहांपर जानेसे उसके विलोकजन्य ब्रह्मचर्य्यके बिगड़ जानेकी सम्भावना भी हो।

शास्त्रकारका ऐसे सम्भवनीय स्थानोंका निषेध करना उचित भी है। क्योंकि यदि व्रत भङ्ग न हुआ तब तो कुछ बात ही नहीं है। और यदि व्रत भङ्ग हो गया तो सर्वस्व नष्ट हो जायगा। सर्वस्व तो व्रत ही है। इसलिये ब्रह्मचर्य्यकी रक्षाकेलिये इस प्रकारके मार्गोंसे पृथक् रहनेकी संयमी ब्रह्मचारीकेलिये अत्यन्त आवश्यकता है॥ ९॥

उत्थानिका—इसलिये साधुका अब क्या करना चाहिये ? सो कहते हैं—

तम्हा एयं विआणित्ता, दोस दुग्गइवड्ढणं ।
वज्जए वेससामंत, मुणी एगतमस्सिए ॥ ११ ॥

तस्मादेतत् विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्द्धनम् ।
वर्जयेद्वेश्यासामन्तं, मुनिरेकान्तमाश्रितः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(तम्हा) इसलिये (एगतमस्सिए) एकान्तमें रहनेवाला (मुणी) मुनि (एयं) इस प्रकार (दुग्गइवड्ढणं) दुर्गतिके बढानेवाले (दोस) दोषको (विआणित्ता) जानकर (वेससामंत) वेश्याके समीप मार्गको (वज्जए) छोड देवे ॥ ११ ॥

मूलार्थ—इसलिये एकान्तमें रहनेवाला अर्थात् मोक्षमार्गके आश्रय रहनेवाला मुनि इस प्रकार दुर्गतिके बढानेवाले दोषोंको जानकर वेश्याके समीपके मार्गको भी छोडदे ॥ ११ ॥

भाष्य—इस गाथामें वेश्यादिके स्थानोंमें जानेसे जो फल उत्पन्न होता है, वह दिखलाया गया है। जैसेकि—जिन मार्गोंमें साधुकेलिये चलनेका निषेध है यदि उन मार्गोंमें—वेश्यादिके मुहल्लोंमें बारम्बार जायगा तो वेश्यादिके संसर्गसे उसके व्रतोंको पीड़ा उत्पन्न हो जायगी और पवित्र चारित्रमें संशय उत्पन्न हो जायगा। जिसका परिणाम यह निकलेगा कि वह ब्रह्मचारी अपने धारण किये हुए ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट हो जायगा।

सूत्रकर्त्ताने 'वयाण'-'व्रतानां' जो बहुवचनान्त पद दिया है, उसका यह आशय है कि—ऐसा करनेसे पीड़ा केवल ब्रह्मचर्यको ही नहीं है किन्तु पञ्चव्रतोंको भी पीड़ा होगी। जैसे कि—अनुप योगपूर्वक चलनेसे हिंसाव्रतको पीड़ा, पूछनेपर असत्य वचन बोला कि—मैं उस मार्गसे नहीं गया हूँ तो द्वितीय महाव्रतको पीड़ा, श्रीभगवान्‌की आज्ञा न होनेसे अदत्तादान व्रतको पीड़ा, ब्रह्मचर्यव्रतको पीड़ा तो है ही, साथही पुनः पुनः गमन करनेसे ममत्वभाव बढ़ जानेके कारण पञ्चम महाव्रतको पीड़ा और रात्रिभोजनकी अभिलाषा हो जानेसे छठे व्रतको भी पीड़ा हो सकती है। इस प्रकार पुनः पुनः गमनक्रियाके करनेसे छहों व्रतोंको भी पीड़ा हो सकती है। और संयम भावमें संशय—अस्थिरताका भाव उत्पन्न हो जायगा, यह भावार्थ ॥ १० ॥

प्रकारसे सफलीभूत नहीं होता। सामायिक, स्वाध्याय, जप, तप, मनन ध्यान आदि कामोंमें तो
उपयोगके स्थिरताकी अत्यन्त आवश्यकता है। और मुनिवर्गके यह कार्य प्रधानतम हैं इसलिये
उन्हें एकान्त अर्थात् निर्जन स्थानकी अत्यन्त आवश्यकता है। इसीलिये वे प्रायः एकान्तस्थानमें
ही रहते हैं। और इसीलिये 'एगंत' का अर्थ यहांपर 'एकान्त— निर्जन स्थान' है, अनेकान्तका
विरोधी एकान्त नय' नहीं है। 'एकान्त' शब्दके दोनों अर्थ होते हैं। जहांपर जो अर्थ सम्भव हो,
वहांपर वह अर्थ लगाना चाहिये।

यह एकान्त स्थान भी मोक्षतक पहुँचनेकेलिये एक प्रधान कारण है। इसलिये मूलार्थमें
'एंतमस्सिए' का अर्थ 'मोक्षमार्गके आश्रय रहनेवाला मुनि' किया गया है॥ ११॥

उत्थानिका—शास्त्रकार अब गमन क्रियाके यत्न विषयमें और भी विशेष प्रतिपादन
करते हैं—

साणं सूइयं गाविं, दित्तं गोणं हयं गयं।
संडिब्भं [म्भं] कलहं जुद्धं, दूरओ परिवज्जए॥ १२॥

+ 'ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते।'

भाष्य—इस गाथामें प्रस्तुत प्रकरणका निगमन किया गया है। जैसे कि—उक्त गाथासे सिद्धान्त यह निकलता है कि—चतुर्थ महाव्रतकी रक्षाकेलिये साधुको शङ्कनीय मार्गोंमें भी आना योग्य नहीं है।

यदा यदि यह शङ्का की जाय कि—प्रथमव्रत विराधनाके अनन्तर एकदम चतुर्थव्रत विराधनाके विषयमें क्यों कहा गया है? तो इसका समाधान यह है कि—चतुर्थव्रतकी प्रधानता दिखलानेकेलिये ऐसा कहा गया है। कारण कि—चतुर्थ व्रतके न पालनेसे साधुको अनेक प्रकारके असत्यादिका भी प्रयोग करना पड़ेगा। अतएव! चतुर्थव्रतकी रक्षाकेलिये उपदेश दे देनेसे शेष व्रतोंकी रक्षाका उपदेश स्वयमेव हो जाता है।

इसपर दूसरी शङ्का यहां यह पैदा हो सकती है कि—क्या चतुर्थ व्रतकी रक्षाके वास्ते साधु असत्यादिका प्रयोग कर सकता है? तो इसका समाधान यह है कि—प्रथम महाव्रतकी रक्षाके वास्ते ही शेष व्रत कथन किये गये हैं। अर्थात् असत्यादिसे रक्षा नहीं होती किन्तु सत्यादिके प्रयोगसे रक्षा हो सकती है।

जीवका उपयोग एकान्त अर्थात् निर्जन स्थानमें जितना स्थिर होता है, बहुजनाकीर्ण और कोलाहलवाली जगहमें उतना नहीं होता। बिना उपयोगके स्थिर हुए जीवका कोई भी काम भले

'दित' 'दसम्'—'मत्तामत्त' विशेषणवाचक शब्द सिर्फ 'गोणं'-'गावम्'—बैलके साथ ही न लगाना चाहिये, बल्कि शब्द दो 'हय गय'— हय गजम्'—'घोड़ा और हाथी' के शब्दके साथ भी लगाना चाहिये।

गाथाके तीसरे चरणमें 'सडिम्भ'—'सडिम्भ' शब्दका तो अर्थ 'बालकोंके खेलनेका स्थान होता है। लेकिन 'फलह जुद्धं'—'फलहं युद्धम्'—का शुद्ध अर्थ सिर्फ 'कलह और युद्ध' ही होता है, 'कलहका स्थान और युद्धका स्थान' नहीं होता। इसलिये यहांपर 'गङ्गाया घोषः' की भांति ध्वनि मान कर 'कलह और युद्ध' का अर्थ 'कलह स्थान और युद्धस्थान' भी करना चाहिये।

साधुकेलिये गमन करते समय इनका संयोग इसलिये वर्जित है कि ये संयोग आत्म-विराधना और संयम-विराधना, दोनोंके ही कारणीभूत हैं।

उपरोक्त विवेचनका सम्मिलित अर्थ इस प्रकार करना चाहिये——

जिस स्थानपर कुत्ता बैठा हुआ हो या श्वानमण्डली लगी हुई हो; इसी प्रकार नवप्रसूता गौ, मदोन्मत्त बैल मदोन्मत्त अश्व, मदोन्मत्त हाथी आदि खड़े हों; बालकोंका क्रीड़ास्थान हो, परस्पर वचनयुद्ध होता हो तथा खड्गादिसे युद्ध होता हो तो साधु ऐसे स्थानोंको दूरसे ही छोड़ दे।' कारण कि—उक्त स्थानोंमें गमन करनेसे आत्म विराधना या संयम विराधना, दोनों

श्वान सूर्ता गां, दत्त गाव हय गजम् ।
सडिम्भ कलह युद्ध, दूरत परिवर्जयेत् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(**साण**) कुत्तेको (**सुइय गाविं**) नव प्रसूता गौको (**दित्त**) दर्पित (**गोण**) बलीवर्दको (**हय**) अश्वको (**गय**) हाथीको (**सडिम्भ**) बालकोंके क्रीडास्थानको (**कलह**) कलहको (**जुद्ध**) युद्धको (**दूरओ**) दूरसे (**परिवज्जए**) छोड देवे ॥ १२ ॥

मूलार्थ—साधुको मार्गमें यदि कुत्ता, नव प्रसूता गौ, मदोन्मत्त बैल, अश्व, हस्ती, बालकोंके क्रीडाका स्थान, कलहका स्थान, युद्धका स्थान मिल जाय तो उन्हें छोडकर गमन करे ॥ १२ ॥

भाष्य—यहांपर 'साणं'—'श्वानम्'—में जो एक वचन है, वह जातिवाचक है। इससे यहांपर 'एक कुत्ता और अनेक कुत्ते' का भी अर्थ समझना चाहिये।

उसी तरहसे 'सूइय गाविं' -'सूतां गाम्'—ब्याई हुई गाय' का अर्थ भी उपलक्षण सहित करना चाहिये। जिससे ब्याई हुई ऊटनी, भैंस, बकरी आदि भी ग्रहण की जा सकती हैं।

अथवा 'गो' शब्द गायवाचक भी है और सामान्य पशुवाचक भी है। इसलिये यहांपर उसे सामान्य पशुवाचक भी मानकर अर्थ किया जा सकता है।

मूलार्थ—साधु चलते हुए न तो अति ऊंचेको देखे, न अति नीचेको देखे, न हर्षित हो, न व्याकुल हो किन्तु इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंमें वश करता हुआ गोचरी आदिमें जावे ॥ १३ ॥

भाष्य—गाथामें कहा गया है कि साधु गमन करते समय उन्नतपनेसे गमन न करे। उन्नतपनेसे गमन करना दो तरहका है। एक द्रव्यसे, दूसरे भावसे। ईर्यासमितिको छोड़कर आकाशादिको निहारते हुए गमन करना, द्रव्यरूप उन्नतपनेसे गमन करना है। और अपनी श्रेष्ठ जाति आदिका अभिमानभाव मनमें रखते हुए गमन करना, भावरूप उन्नतपनेसे गमन करना है।

जिस तरहसे उन्नतपनेसे गमन करना दो तरहका है, उसी तरहसे नीचेपनेसे गमन करना भी दो तरहका है। एक द्रव्यसे, दूसरे भावसे। अत्यन्त नीची दृष्टि करके चलना, इतनी नीची दृष्टि करके कि साधुकेलिये शास्त्रमें साढ़े तीन हाथ प्रमाण अगाड़ी देखकर चलनेकी जो आज्ञा है, उतना भी अगाड़ी देखकर न चलना, द्रव्यरूप अवनतपनेसे गमन करना है। और आहार-पानीकी प्राप्ति न होनेपर मनमें नीचैर्वृत्ति धारण करते हुए गमन करना, भावरूप अवनतपनेसे गमन करना है।

संभव है। जैसे कि—स्वानादि पशु तो आत्म विराधना करनेमें अपनी सामर्थ्य रखते ही हैं और जहांपर बालकों के खेलनेका स्थान है, यदि उस स्थानपरसे आया जायगा तो वे बालक भी उपहासादि द्वारा या मल्लादि द्वारा संयम विराधना करनेमें विलम्ब नहीं करेंगे। अतएव ! उक्त दोनों विराधनाके भयसे साधु उक्त स्थानोंमें गमन ही न करे ॥ १२ ॥

उत्थानिका—शास्त्रकार अभी उसी विषयका वर्णन कर रहे हैं—

अणुन्नए नावणए, अप्पहिट्ठे अणाउले।
इंदियाणि जहाभाग, दमइत्ता मुणी चरे ॥ १३ ॥

अनुन्नतो नावनत, अप्रहृष्टः अनाकुल।
इन्द्रियाणि यथाभाग, दमयित्वा मुनि चरेत् ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(मुणी) मुनि (अणुन्नए) न उन्नत होकर (नावणए) न अवनत होकर (अप्पहिट्ठे) न हर्षित होकर (अणाउले) न आकुलित होकर (इंदियाइं) इन्द्रियोंको (जहाभाग) अपने-अपने हिस्सेमें—विषयमें (दमिइत्ता) वशमें करके (चरे) गोचरी आदिमें जावे ॥ १३ ॥

इत्यादि अनेक दोषोंकी सम्भावना की जा सकती है। इसलिये साधुको उचित है कि वह विवेकपूर्वक इन बातोंका ख्याल करते हुए गवेषणा आदिकेलिये गमन करे।

इतना ही नहीं, किन्तु पाचों इन्द्रियोंके विषयोंसे अपने मनको हटाकर और राग द्वेषसे रहित होकर ही मुनि गोचरी आदिमें गमन करे।

स्पर्शन्द्रियका विषय है—स्पर्श करना, जिह्वेन्द्रियका विषय है—चखना, घ्राणेन्द्रियका विषय है—सूंघना, चक्षुरिन्द्रियका विषय है—देखना और श्रोत्रेन्द्रियका विषय है—सुनना। इस तरह पांचों इन्द्रियोंके विषय अलग-अलग विभाजित हैं—बँटे हुए हैं। इसीलिये गाथाके 'जहाभाग' शब्दका अर्थ 'अपने-अपने हिस्सेमें—विषयमें' किया गया है ॥ १३ ॥

उत्थानिका—शास्त्रकार इसी विषयमें कुछ और विशेष प्रतिपादन करते हैं—

दवदवस्स न गच्छेज्जा, भासमाणो अ गोयरे।
हसंतो नाभिगच्छेज्जा, कुलं उच्चावयं सया ॥ १४ ॥

पदार्थके मिलजानेपर हर्षित होना और नहीं मिलनेपर आकुलता—क्रोधादि करना भी साधुकेलिये अनुचित है। उक्त प्रकारसे गमन करनेपर साधुकेलिये उपहासादि अनेक दोष उत्पन्न हो सकते हैं। जैसे कि—

यदि साधु द्रव्यरूप अत्यन्त उन्नतपनेसे चलेगा तो वह लोकमें उपहासके योग्य होजायगा।

यदि साधु भावरूपसे अत्यन्त उन्नतपनेसे चलेगा तो वह सम्यक् ईर्यासमितिकी पालना न कर सकेगा।

यदि साधु द्रव्यरूपसे अत्यन्त अवनतपनेसे चलेगा तो वह लोकमें बकवृत्तिसे गमन करने वाला कहा जायगा।

यदि साधु भावरूपसे अत्यन्त नीचेपनेसे चलेगा तो वह लोकमें क्षुद्रसत्ववाला कहा जायगा।

यदि साधु हर्षित होकर चलेगा तो लोग कहेंगे कि साधु योषितोंके वशमें आनन्दित होता हुआ जा रहा है।

यदि साधु आकुलित होता हुआ चलेगा तो लोग यह कहेंगे कि यह साधु दीक्षाके योग्य नहीं है।

'उन्नायय' शब्दके १-उच्चनीच, २-अनुकूल-प्रतिकूल, ३ अव्यवस्थित, ४-विविध, ५-अति उत्तम, ६-महायत और ७-महामतधारी, ये सात अर्थ होते हैं। लेकिन यहांपर उसके संगमें शास्त्रकारने 'कुल' विशेषण दिया है। इसलिये उसका अर्थ यहांपर 'ऊच-नीच कुल' ही किया गया है ॥ १४ ॥

उत्थानिका--शास्त्रकार इसी विषयमें कुछ और भी विशेष प्रतिपादन करते हैं—

आलोअ थिग्गल दार, सधिं दगभवणाणि अ ।
चरतो न विणिज्भाए, सकट्ठाण विवज्जए ॥ १५ ॥

अवलोक चित द्वार, संधिमुदकभवनानि च ।
चरन्न विनिध्यायेत्, शङ्कास्थान विवर्जयत् ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(आलोय) गवाक्षादि-झरोखे (थिग्गल) चिना हुआ वा भित्ति (दार) द्वारादि (सधिं) चौरादिके द्वारा किया हुआ-ऐंदा (अ) और (दग भवणाणि) पानीके

द्रुत द्रुत न गच्छेत्, भाषमाणश्च गोचरे।
हसन्नाभिगच्छेत्, कुलमुच्चावचं सदा ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(गोयरे) गोचरीकेलिये (दवदवस्स) जल्दी-जल्दी (अ) और (भासमाणो) भाषण करता हुआ (न गच्छेज्जा) न जावे (हसंतो) हँसता हुआ (उच्चावय कुल) ऊंच या नीच कुलमें (सया) सदा—कभी भी (नाभिगच्छेज्जा) न जावे ॥ १४ ॥

मूलार्थ—साधु गोचरीकेलिये कभी भी जल्दी-जल्दी गमन न करे, बात चीत करता हुआ एवं हँसता हुआ ऊंच-नीच कुलमें गमन न करे ॥ १४ ॥

भाष्य—जल्दी-जल्दी बात चीत करते हुए ऊँच नीच कुलमें गमन करनेसे साधुकी अयोग्यता प्रदर्शित होती है और ईर्यासमितिका पालन भी नहीं होता। संयमरूप तथा आत्मरूप ...र लोकापवादादि दोषोंके होनेकी भी सम्भावना रहती है।

...सके भी द्रव्य और भावकी अपेक्षासे दो दो भेद हैं। जैसे कि गृहवासी द्रव्यसे ...आढ्यादियुक्त भावसे उच्च कुल माना आता है। उसी प्रकार कुटीरवासी ...न और हीनआढ्यादियुक्त भावसे नीच कुल माना आता है।

'उच्चावय' शब्दके १-उच्चनीच, २-अनुकूल-प्रतिकूल, ३ अव्यवस्थित, ४-विविध, ५-अति उत्तम, ६-महाव्रत और ७-महाव्रतधारी, ये सात अर्थ होते हैं। लेकिन यहांपर उसके संगमें शास्त्रकारने 'कुल' विशेषण दिया है। इसलिये उसका अर्थ यहांपर 'ऊच-नीच कुल' ही किया गया है ॥ १४ ॥

उत्थानिका--शास्त्रकार इसी विषयमें कुछ और भी विशेष प्रतिपादन करते हैं—

आलोअं थिग्गलं दारं, संधिं दगभवणाणि अ ।
चरंतो न विणिज्झाए, संकट्ठाणं विवज्जए ॥ १५ ॥

अवलोकं चितं द्वारं, संधिमुदकभवनानि च ।
चरन्न विनिध्यायेत्, शङ्कास्थानं विवर्जयेत् ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(आलोयं) गवाक्षादि-झरोखे (थिग्गलं) चिना हुआ वा भित्ति (दारं) द्वारादि (संधिं) चौरादिके द्वारा किया हुआ-पेंडा (अ) और (दगभवणाणि) पानीके

गृहादिको (चरंतो) गोचरीमें चलता हुआ (न विणिज्झाए) न देखे (संकठाणं) शंकाके स्थानोंको (विवज्जए) छोड देवे ॥ १५ ॥

मूलार्थ—गोचरीकेलिये जाता हुआ साधु झरोखादिको, भित्तिको, द्वारादिको, संधको—पंडेको, और पानीके भवनोंको मार्गमें न देखे तथा शंकाके सब स्थानोंको छोड देवे ॥ १५ ॥

भावार्थ उक्त स्थानोंको साधु इसलिये न देखे कि उनके वार-बार अवलोकन करनेसे कदाचित् लोगोंके मनमें यह संन्देह उत्पन्न हो सकता है कि यह भिक्षु उक्त स्थानोंको पुनः पुनः क्यों देख रहा है ? क्या यह चोर आदि है ? या, क्या इसीने चोरी आदि की है ? इसीलिये शास्त्रकारने गाथामें 'संकट्ठाणं'—'शङ्कास्थानम्' पद दिया है अर्थात् ये स्थान शङ्कास्पद हैं।

लेकिन उपरोक्त अर्थ तभी घट सकता है, जब कि 'संकट्ठाणं' पदको 'आलोअं' आदि पदोंका विशेषण माना जाय।

लेकिन एक अपेक्षा 'संकट्ठाणं' 'आलोअं' आदि पदोंका विशेषण नहीं भी हो सकता। क्योंकि एक तो यह पूर्व—पीछे चरणमें पड़ा हुआ है। दूसरे बीचमें 'चरंतो न विणिज्झाए'—

'चरन्तं न विभिध्यायेत्' अपूर्ण और पूर्ण क्रियापद भी पड़े हुए हैं, जिनसे कि 'आलोअ' आदि पूर्व पदोंका सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। ऐसी हालतमें 'संकट्ठाणं' को पूर्वमें कहे हुए 'आलोअ' आदि पदोंका विशेषण न मानकर स्वतन्त्र माना जा सकता है और उसका सम्बन्ध केवल 'विवज्जए' क्रियासे किया जा सकता है। तब उसका अर्थ होगा 'शङ्काके स्थानोंको छोड़ दे' यही अर्थ सुगम है। इसलिये यही अर्थ अन्वयार्थ और मूलार्थमें लिखा गया है।

यह बात रखना चाहिये कि उक्त स्थानोंको साधुके बार-बार अथवा विशेषरूपसे देखनेहीका निषेध है। और इसीलिये शास्त्रकारने 'न विनिज्झाए' में 'वि' उपसर्ग लगाया है, जिसका भाव है 'विशेषेण न पश्येत्'।

'आलोअ' शब्दके १-प्रकाश, २-देखना, ३-विशेषरूपसे देखना, ४-समान भूभाग, ५-झरोखा, ६-संसार और ७-रूपी पदार्थ, ये सात अर्थ होते हैं। इनमेंसे यहांपर जो-जो अर्थ घटित हों, उन्हें घटा लेना चाहिये ॥ १५ ॥

उत्थानिका -शास्त्रकार इसी प्रकारके और भी कुछ स्थान गिनाते हैं—

रण्णो गिहवईणं च, रहस्सारक्खियाण य।
संकिलेसकरं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ॥ १६ ॥

राज्ञ गृहपतीनां च, रहस्यारक्षकानां च ।
संक्लेशकर स्थान, दूरतः परिवर्जयेत् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(रण्णो) राजाके (गिहवईण) गृहपतियोंके (य) और (आरक्खियाण) कोटपालादिके (रहस्स) गुप्त वार्तादि करनेके स्थानको तथा (संकिलेसकर ठाण) क्लेशकारक स्थानोंको (दूरओ) दूरसे (परिवज्जए) छोड़ दे ॥ १६ ॥

मूलार्थ—राजा, नगरसेठ, कोतवाल आदिके गुप्त वार्तालापादि करनेके स्थानको और दुःखदायी स्थानोंको साधु दूरसे ही छोड़ दे ॥ १६ ॥

भाष्य—गाथामें 'रण्णो'—'राजा', 'गहवईण'—'गृहपति' और 'आरक्खियाण'—'आरक्षिकानाम्' जो पद दिये हैं, उन्हें उपलक्षण समझना चाहिये। और उससे तत्सदृश राज्यके अन्य उच्च कर्मचारी तथा अन्य प्रतिष्ठित नागरिकोंका भी ग्रहण करना चाहिये। अथवा 'च' से उनका समुच्चय कर लेना चाहिये।

'संकिलेसकरं ठाणं'—'सङ्क्लेशकरं स्थानम्' पदसे असत् इच्छाकी प्रवृत्ति करनेके स्थान, मन्त्रभेद करनेके स्थान, विचार करनेके स्थान, कर्णक्रियाएं करनेके स्थान और उपलक्षणसे कामक्रीडाके स्थान ग्रहण करना चाहिये।

पिण्डैषणा आदिके लिये गमन करता हुआ साधु उक्त स्थानोंको दूरसे ही इसलिये छोड़ देवे कि उक्त स्थानोंमें गमन करनेसे शासनकी लघुता तथा आत्मविराधना होनेकी सम्भावना है।

यहां यदि यह शङ्का की जाय कि गमन करते हुए साधुको यदि इन स्थानोंका पता ही न लगे और यह भूलसे वहां तक पहुँच जाय तो फिर यह वहां क्या करे? इसका समाधान यह है कि यदि भूलसे कदाचित् ऐसा हो जाय तो साधुको वहां खड़ा बिल्कुल न होना चाहिये। अथवा जिस प्रकारसे उन लोगोंके अन्तःकरणमें किसी प्रकारकी शङ्का उत्पन्न न हो सके उस प्रकारसे साधुको यतना चाहिये क्योंकि शङ्काके उत्पन्न हो जानेसे कई प्रकारकी आपत्तियोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना है॥ १६॥

उत्थानिका—शास्त्रकार इसी प्रकारके और भी स्थान बतलाते हैं—

रएणो गिहवईणं च, रहस्सारक्खियाण य ।
संकिलेसकरं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(रण्णो) राजाके (गिहवईण) गृहपतियोंके (य) और (आरक्खियाण) कोटपालादिके (रहस्स) गुप्त वार्तादि करनेके स्थानको तथा (संकिलेसकरं ठाणं) क्लेशकारक स्थानोंको (दूरओ) दूरसे (परिवज्जए) छोड़ दे ॥ १६ ॥

मूलार्थ—राजा, नगरसेठ, कोतवाल आदिके गुप्त वार्तालापादि करनेके स्थानोंको और दु:खदायी स्थानोंको साधु दूरसे ही छोड़ दे ॥ १६ ॥

भाष्य—गाथामें 'रण्णो'—'राजा', 'गहवईण'—'गृहपति' और 'आरक्खियाण'—'आरक्षिकाणाम्' जो पद दिये हैं, उन्हें उपलक्षण समझना चाहिये। और उससे तत्सदृश राज्यके अन्य उच्च कर्मचारी तथा अन्य प्रतिष्ठित नागरिकोंका भी ग्रहण करना चाहिये। अथवा 'च' से उनका समुच्चय कर लेना चाहिये।

शानीप्रावरापिहितं, आत्मना नापावृणुयात्
कपाट न प्रेरयेत्, अवग्रहमयाचित्वा ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(साणीपावारापिहिय) सनकी बनी हुई चिकसे अथवा वस्त्रादिसे ढँके हुए द्वारको (उग्गहंसि) आज्ञा (अजाइया) बिना मांगे (अप्पणा) स्वयमेव (नावपंगुरे) न खोले (कवाडं) गृहके कपाटोंको (नो पणुल्लिज्जा) न खोले ॥ १८ ॥

मूलार्थ—सनकी बनी हुई चिकसे अथवा कपडेसे ढँके हुए द्वारको गृहपतिकी आज्ञाके बिना साधु अपने आप न खोले ॥ १८ ॥

भाष्य—गृहपतिकी आज्ञा बिना साधु किसी द्वार आदि आवरणको इसलिये नहीं खोले कि न जाने अन्दर गृहस्थीकी कौनसी क्रिया हो रही हो ! गृहस्थ उसे उन्हें बतलाना न चाहता हो, या वह क्रिया इनको बतलाने योग्य न हो तो यदि मुनि अचानक उसके यहां पहुँच जायँगे तो घरवालोंको क्रोधादि उत्पन्न होनेकी सम्भावना है ।

'साणी' की संस्कृत छाया जैसे 'शानी' की गई है, वैसी ही 'शुनी' भी होती है । जिसका

दो अर्थ हैं। एक तो यह कि 'जिन घरवालोंको साधुका अपने यहाँ आना अच्छा न लगता हो'। दूसरा यह कि 'जिन घरोंमें आनेसे साधु औरोंको अच्छा न लगता हो—साधुकी उसमें प्रतिष्ठा जाती हो। जैसे कि वेश्या आदिके घर। इन कुलोंमें साधु इसलिये न जाय कि वहांपर जानेसे संक्लेश आदिके उत्पन्न होनेका प्रसङ्ग आजायगा।

साधु उन्हीं कुलोंमें आहार-पानीकेलिये गमन करे, जिनमें जानेसे उनपर भक्ति भाव उत्पन्न हो जाय।

वृद्धव्याख्यासे उक्त पदका अर्थ यह भी सुना जाता है कि—जिन कुलोंकी प्रतीति नहीं है उन कुलोंमें मुनि प्रवेश न करें, कारण कि—वहांपर जानेसे साधुकी भी अप्रतीति लोगोंमें हो जायगी ॥ १७ ॥

उत्थानिका— मार्ग और कुलोंके विषयमें कथन करनेके बाद शास्त्रकार अब यह कहते हैं कि घरपर पहुँच जानेके बाद साधुको किन-किन बातोंका ख्याल रखना चाहिये—

साणीपावारपिहियं, अप्पणा नावपगुरे।
कवाडं नो पणुल्लिज्जा, उग्गहंसि अजाइया ॥ १८ ॥

गोचराग्रप्रविष्टस्तु, वर्चः मूत्रं न धारयेत् ।
अवकाश प्रासुकं ज्ञात्वा, अनुज्ञाप्य व्युत्सृजेत् ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(गोयरग्गपविट्ठो) गोचराग्रमें गया हुआ (अ) फिर (वच्च) पुरीष-बडी नीत (मुत्त) मूत्रकी बाधा-लघु नीत (न धारए) धारण करके न जाय (फासुअ) प्रासुक-निरवद्य (ओगास) जगह (नच्चा) जानकर (अणुन्नविअ) और गृहस्थकी आज्ञा लेकर (वोसिरे) व्युत्सृज करे ॥ १९ ॥

मूलार्थ—अव्वल तो मल मूत्रकी बाधापूर्वक साधु गोचरीकेलिये न जावे । यदि वहां जानेपर बाधा होजाय तब प्रासुक मल-मूत्रका स्थान जानकर और गृहस्थकी आज्ञा लेकर ही मल-मूत्रका परित्याग करे ॥ १९ ॥

भाष्य—गोचरीका समय मध्याह्नके कुछ ही पूर्व है । मूत्र-पुरीषकी बाधाकी निवृत्तिका समय प्रातःकालका है । इस तरहसे यद्यपि गोचरीके समयसे पूर्व मुनि मूत्र-पुरीषसे निवृत्त हो ही लेते हैं, तो भी गोचरीको जाते समय साधुओंको विचार लेना चाहिये कि शरीरको किसी प्रकारकी-मूत्र पुरीषादिकी बाधा तो नहीं है । यदि मालूम दे तो उसे स्वस्थानपर ही निवृत्त कर लेना चाहिये ।

अर्थ होता है 'कुतिया'। लेकिन अगाड़ी 'पावार' को शब्द पड़ा हुआ है, उसके संयोगसे यहांपर 'शानी' ही छाया करना ठीक है, जिसका कि अर्थ 'सनसे बना हुआ वस्त्र अर्थात् चिक' है।

'उग्गह' 'अवग्रह' के अर्थ भी 'अवग्रह' नामक मतिज्ञान विशेष, उपकार, आज्ञा, नियम, परिग्रह, निवासस्थान, अन्तर, निश्चय, उपकरणविशेष, योनिद्वार, आज्ञा, और अपनी वस्तु, इतने होते हैं। प्रकरणवश यहांपर 'आज्ञा' अर्थ ही उचित है।

इस गाथामें शास्त्रकारने उत्सर्ग और अपवाद, इन दोनों मार्गोंका दिग्दर्शन कर दिया है। समयके जाननेवाले विवेकशील साधु जैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको देखें वैसा ही व्यवहार करें। और जो क्रिया करें उसमें उत्सर्ग मार्ग वा अपवाद मार्गका आश्रय वे अवश्य ले लें ॥ १८ ॥

उत्थानिका—गोचरीकेलिये साधु जब जाय, तब मल मूत्रकी बाधासे पहिले ही वह निवृत्त हो ले। यदि कदाचित् गृहस्थके घर जाकर बाधा उपस्थित हो जाय तो वहांपर साधु क्या करे ? सो कहते हैं—

गोयरग्गपविट्ठो अ, वच्चमुत्तं न धारए।
ओगासं फासुअं नच्चा, अणुन्नविअ वोसिरे-॥ १९ ॥

गोचराग्रप्रविष्टस्तु, वर्चं मूत्रं न धारयेत् ।
अवकाशं प्रासुकं ज्ञात्वा, अनुज्ञाप्य व्युत्सृजेत् ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(गोयरग्गपविट्ठो) गोचराग्रमें गया हुआ (अ) फिर (वच्च) पुरीष-बडी नीत (मुत्त) मूत्रकी बाधा-लघु नीत (न धारए) धारण करके न जाय (फासुअ) प्रासुक-निरवद्य (ओगास) जगह (नच्चा) जानकर (अणुन्नविअ) और गृहस्थकी आज्ञा लेकर (वोसिरे) व्युत्सृज करे ॥ १९ ॥

मूलार्थ—अव्वल तो मल मूत्रकी बाधापूर्वक साधु गोचरीकोलिये न जावे । यदि वहां जानेपर बाधा होजाय तब प्रासुक मल-मूत्रका स्थान जानकर और गृहस्थकी आज्ञा लेकर ही मल-मूत्रका परित्याग करे ॥ १९ ॥

भाष्य—गोचरीका समय मध्याह्नके कुछ ही पूर्व है । मूत्र-पुरीषकी बाधाकी निवृत्तिका समय प्रातःकालका है । इस तरहसे यद्यपि गोचरीके समयसे पूर्व मुनि मूत्र-पुरीषसे निवृत्त हो ही लेते हैं, तो भी गोचरीको जाते समय साधुओंको विचार लेना चाहिये कि शरीरको किसी प्रकारकी-मूत्र पुरीषादिकी बाधा तो नहीं है । यदि मालूम दे तो उसे स्वस्थानपर ही निवृत्त कर लेना चाहिये ।

इसके बाद भी—गृहस्थके घर पहुँच जानेपर भी यदि कदाचित् बाधा प्रतीत हो तो साधुको उचित है कि वे गृहस्थकी आज्ञा लेकर और प्रासुक स्थान देखकर वहां मूत्र-पुरीषका उत्सर्जन करें। ऐसा न करनेसे अनेक रोगोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना है। जैसे कि - मूत्रावरोधसे मेधरोग और पुरीषावरोधसे अनेक रोग तथा जीवोपघात आदि होते हैं। इसीलिये सूत्रकर्ताने इस प्रकारकी आज्ञा प्रदान की है।

इसके बाद यहां यह शङ्का की जा सकती है कि—जब मुनि उक्त शुद्ध स्थानपर मल मूत्रादिका परित्याग करदे तब वहां वह अपनी शुद्धि किस प्रकारसे करे? इसका समाधान यह है कि—यदि उनके पास अन्य साधु हों तो वे साधु कहींसे प्रासुक जल लाकर उन्हें दे दें। यदि अन्य साधु उनके समीप न हों तो वे प्रथम प्रासुक मृत्तिकासे शुद्धि कर फिर स्व-उपाश्रयमें आकर जलादिसे शुद्धि कर सकते हैं। इस प्रकार जैन ग्रन्थोंमें प्रतिपादन किया गया है†। सो उक्त विधिसे बाधासे रहित होकर फिर प्रस्तुत विषयमें प्रवृत्त हो जावें॥ १९॥

---

† "यतः संघोटकाय स्वकमाजनमपि समप्यं प्रतिश्रयात् पानीयं गृहीत्वा सपभूमौ विधिना व्युत्सृजेत। विस्तरतो यथा ओघनिर्युक्तौ"।

उत्थानिका—शास्त्रकार अब घरोंकी बनावटके आधारपर किस-किस प्रकारके घरोंको साधु छोड दे, यह कहते हैं—

णीअदुवार तमस, कुट्ठग परिवज्जए ।
अचक्खुविसओ जत्थ, पाणा दुप्पडिलेहगा ॥ २० ॥

नीचद्वार तमस, कोष्ठक परिवर्जयेत् ।
अचक्षुर्विषयो यत्र, प्राणिनो दुष्प्रतिलेख्या: ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(**णीअदुवार**) नीचे द्वारवालेको (**तमस**) घोर अन्धकारयुक्त (**कुट्ठग**) कोठेको (**जत्थ**) जिस स्थानपर (**अचक्खुविसओ**) चक्षुओंका विषय काम नहीं कर सके उसको (**पाणा**) द्वीन्द्रियादि प्राणी (**दुप्पडिलेहगा**) भली प्रकारसे देखे न जा सकें उसको (**परिवज्जए**) छोड दे ॥ २० ॥

मूलार्थ—जिस घरका दरवाजा बहुत नीचा हो, अथवा जिस कोठेमें घोर अन्धकार हो,

इसके बाद भी—गृहस्थके घर पहुँच आनेपर भी यदि कदाचित् बाधा प्रतीत हो तो साधुको उचित है कि वे गृहस्थकी आज्ञा लेकर और प्रासुक स्थान देखकर वहां मूत्र-पुरीषका उत्सर्जन करें। ऐसा न करनेसे अनेक रोगोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना है। जैसे कि-मूत्रावरोधसे मेद्ररोग और पुरीषावरोधसे अनेक रोग तथा जीवोपघात आदि होते हैं। इसीलिये सूत्रकर्त्ताने इस प्रकारकी आज्ञा प्रदान की है।

इसके बाद यहां यह शङ्का की जा सकती है कि—जब मुनि उक्त शुद्ध स्थानपर मल मूत्रादिका परित्याग करदे तब वहां वह अपनी शुद्धि किस प्रकारसे करे? इसका समाधान यह है कि—यदि उनके पास अन्य साधु हों तो वे साधु कहींसे प्रासुक जल लाकर उन्हें दे दें। यदि अन्य साधु उनके समीप न हों तो वे प्रथम प्रासुक मृत्तिकासे शुद्धि कर फिर स्व-उपाश्रयमें आकर जलादिसे शुद्धि कर सकते हैं। इस प्रकार जैनग्रन्थोंमें प्रतिपादन किया गया है†। सो उक्त विधिसे बाधासे रहित होकर फिर प्रस्तुत विषयमें प्रवृत्त हो जावें ॥ १६ ॥

† "यतः संघाटकाय एतस्मागमादि समर्प्य प्रतिश्रमात पानीयं गृहीत्वा संयमस्रो विधिना व्युत्सृजेत्। विस्तरतो ... (partially cut off)

'पिण्डैषणा' के विषयका प्रतिपादक है। इसलिये इसमें यही विषय है। श्रावकोंके मकान बनानेका प्रतिपादन करनेवाला यह शास्त्र नहीं है। उस विषयके शास्त्रोंसे उस विषयको जानना चाहिये ॥ २० ॥

उत्थानिका—मकानकी बनावटके अतिरिक्त और किन किन बातोंको देखकर साधुको मकान छोड़ देना चाहिये ' सो कहते हैं—

> जत्थ पुप्फाइ बीयाइ, विप्पइन्नाइ कोट्ठए।
> अहुणोवालित्त उल्लं, दट्ठूण परिवज्जए ॥ २१ ॥

> यत्र पुष्पाणि बीजानि, विप्रकीर्णानि कोष्ठके।
> अधुनोपलिप्त आर्द्रं, दृष्ट्वा परिवर्जयेत् ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(जत्थ) जिस (कोट्ठए) कोठेमें (पुप्फाइ) पुष्प (बीयाइ) बीज (विप्पइन्नाइ) बिखर हुए हों, उसको (अहुणोवलित्त) तत्काल लीपे हुए (उल्लं) गीलेको (दट्ठूण) देखकर (परिवज्जए) वर्ज दे ॥ २१ ॥

जहांपर कि नेत्रेन्द्रिय कुछ काम न देती हों और जहांपर त्रस जीव दिखलाई न पड़ते हों, साधु ऐसे घरोंको छोड़ दें अर्थात् आहार—पानी लेनेकेलिये वहां वे न जायँ ॥ २० ॥

भाष्य—साधुको उपरोक्त प्रकारके मकान इसलिये छोड़ देने चाहिये कि वहांपर जानेसे ईर्य्याकी शुद्धि नहीं हो सकती। इसलिये संयमविराधना होगी तथा स्वशरीरविराधना होना भी संभव है।

'दुप्पडिलेहगा' की जगहपर कहीं-कहीं 'दुप्पडिलेहा' भी पाठ देखनेमें आता है। पर संस्कृतच्छाया और अर्थ दोनों पाठोंका एक ही होता है।

यहां यह शङ्का की जा सकती है कि श्रावक लोग इस प्रकारके मकान क्यों बनवाते हैं, जिनमें कि मुनि प्रवेश न कर सकें ? तथा ऐसे अन्धकारादियुक्त मकान तो गृहस्थोंको भी—उनके स्वास्थ्यादिको भी तो नुकसान पहुँचानेवाले हैं ? इसका समाधान यह है कि हां ! होना तो यही चाहिये। परन्तु यदि अज्ञानसे किसीने वैसा मकान बनवा लिया हो तो साधुका तो यही कर्तव्य होगा कि वह उन मकानोंको वर्ज दे। हर एक शास्त्रका विषय अलग-अलग होता है। और जिस शास्त्रका जो विषय होता है, वह उसे प्रतिपादन करता है। यह शास्त्र—यह अध्ययन साधुओंकी

एडक दार श्यान, वत्सक वापि कोट्ठके।
उल्लङ्घ्य न प्रविशेत्, व्यूह्य वा संयत ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(कोट्ठए) कोठेके दरवाजेपर (एलग) बकरा (दारग) बालक (साण) कुत्ता (वा) अथवा (वच्छगं वि) वत्सक भी हो तो उन्हें (उल्लंघिया) उल्लंघन करके (व) अथवा (विउहित्ताण) हटा करके (संजए) साधु (न पविसे) प्रवेश न करे ॥ २२ ॥

मूलार्थ—कोठेके दरवाजेपर यदि कोई बकरा, बालक, कुत्ता, या बच्चा भी मिल जाय तो संयमी (साधु) को चाहिये कि वे उन्हें फलांग कर अथवा हटाकर घरमें प्रवेश न करें ॥ २२ ॥

भाष्य—गाथाके 'वि'-'अपि' शब्दसे यहांपर प्रकरणानुसार अन्य पशु भी ग्रहण कर लेना चाहिये।

'दारगं वच्छगं'—'दारकं वत्सकम्' ये दोनों शब्द यद्यपि एकार्थवाचक हैं, लेकिन फिर भी व्यवहार में 'दारक' बड़े बच्चे-बालकको और 'वत्सक' छोटे बच्चेको कहते हैं।

ये लोग अबोध होते हैं। इनके अन्दर साधुकी श्रद्धा-भक्ति होनी सम्भव नहीं है। साधु यदि इन्हें उलांघ कर अथवा पैर मारि ,किसी भी उपायसे उन्हें वहांसे हटाकर अन्दर आयँगे तो

मूलार्थ—जिस स्थानपर फूल और बीज बिखरे हुए हों तथा जो स्थान अभी ही लीपा पोता गया हो, अतएव गीला हो, उस स्थानको देखकर साधु दूरसे ही छोड दे ॥ २१ ॥

भाष्य—उक्त स्थानोंपर आनेसे साधुकेलिये इसलिये निषेध है कि उक्त स्थानोंपर गमन करनेसे साधुको संयमविराधना होनेकी सम्भावना है।

उक्त गाथामें 'कोट्ठए'—'कोष्ठके' शब्द उपलक्षण है। इससे 'जहां कहीं भी फूल और बीज बिखरे हुए हों, और जहां कहीं भी लीपा गया हो या गीलापन हो वे सभी स्थान साधुको वर्जनीय हैं', यह अर्थ लेना चाहिये।

यह उत्सर्ग मार्ग प्रतिपादन किया गया है किन्तु अपवाद मार्गसे यत्नपूर्वक किसी खास कारणके वशसे साधु उक्त स्थानोंपर आ भी सकता है ॥ २१ ॥

उत्थानिका—द्वारपर यदि इतनी चीजें दीखें तो भी साधुको वहां न जाना चाहिये—

> एलगं दारगं साणं, वच्छगं वा वि कुट्ठए।
> उल्लंघिया न पविसे, विऊहित्ताण व संजए ॥ २२ ॥

मूलार्थ—साधु ससक्त होकर किसी ओर न देखे, अतिदूरसे किसी चीजको न देखे, नेत्रोंको फाड फाड कर भी न देखे। यदि किसी घरसे आहार न मिले तो दीन वचन या क्रोधयुक्त वचन न बोले और उस घरसे निकल आवे ॥ २३ ॥

भाष्य—इस गाथामें इस बातका प्रकाश किया गया है कि जब साधु गृहस्थके घरमें आहारकेलिये जाय तब उसे वहां आकर किसप्रकार वर्तना चाहिए। जैसे कि जब आहारके वास्ते गृहस्थके घरमें आय तब वह वहां आसक्त होकर किसी स्त्री आदि को न देखे, या किसी स्त्रीकी ओर न देखे। कारण कि—इस प्रकार देखनेसे गृहस्थको शङ्का, कामरागकी प्राप्ति लोकोपघात आदि दोषोंकी प्राप्ति हो सकती है। और न गृहस्थके घरके पदार्थोंको जो दूर पड़े हुए हों उनको देखे। क्योंकि ऐसा करनेमे गृहस्थको चोर होनेकी शङ्का उत्पन्न हो सकती है तथा यदि उस घरमे आहार नहीं मिला हो तब उन्हें चाहिये कि वे वहां दीन वचन तथा क्रोधयुक्त वचन न बोलते हुए उस घरमे बाहिर आजायँ और उस घरकी निन्दादिके वचन कदापि न बोलें। कारण कि साधुका तो शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार—अपनी वृत्तिके अनुसार याचना करना कर्त्तव्य है। गृहस्थकी इच्छा है उनको भिक्षा दे अथवा न दे। इसलिये ऐसे अवसरपर साधुका यह कर्तव्य नहीं है

सम्भव है उसमें किसी भी प्रकारकी तकलीफ़ या तो उन्हें हो जाय अथवा सबको ही होजाय। इसलिये आत्मविराधना तथा परविराधनासे बचे रहनेकेलिये साधुको उस घरमें प्रवेश न करना चाहिये ॥ २२ ॥

उत्थानिका—शास्त्रकार इसी विषयमें और भी विशेष प्रतिपादन करते हैं—

असंसत्तं पलोइज्जा, नाइदूरावलोअए ।
उप्फुल्लं न विणिज्झाए, निअट्टिज्ज अयंपिरो ॥ २३ ॥

असंसक्तं प्रलोकयेत्, नातिदूरं प्रलोकयेत् (नातिदूरादवलोकयेत्)।
उत्फुल्लं न विनिध्यायेत्, निवर्तेत अजल्पन् ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—(असंसत्तं) असंसक्त होकर (पलोइज्जा) प्रलोकन करे (नाइदूरावलोअए) अति दूरसे अवलोकन न करे (उप्फुल्लं) विकसित आंखोंसे (न विणिज्झाए) न देखे (अयंपिरो) दीन वचन न बोलता हुआ (निअट्टिज्ज) निकले ॥ २३ ॥

मूलार्थ--साधु ससक्त होकर किसी ओर न देखे, अतिदूरसे किसी चीजको न देखे, नेत्रोंको फाड फाड कर भी न देखे। यदि किसी घरसे आहार न मिले तो दीन वचन या क्रोधयुक्त वचन न बोले और उस घरसे निकल आवे ॥ २३ ॥

भाष्य—इस गाथामें इस बातका प्रकाश किया गया है कि जब साधु गृहस्थके घरमें आहारकेलिये जाय तब उसे वहां आकर किसप्रकार वर्तना चाहिए। जैसे कि जब आहारके वास्ते गृहस्थके घरमें जाय तब वह वहां आसक्त होकर किसी स्त्री आदि को न देखे, वा किसी स्त्रीकी ओर न देखे। कारण कि—इस प्रकार देखनेसे गृहस्थको शङ्का, कामरागकी प्राप्ति लोकोपघात आदि दोषोंकी प्राप्ति हो सकती है। और न गृहस्थके घरके पदार्थोंको जो दूर पड़े हुए हों उनको देखे। क्योंकि ऐसा करनेसे गृहस्थको चोर होनेकी शङ्का उत्पन्न हो सकती है तथा यदि उस घरसे आहार नहीं मिला हो तब उन्हें चाहिये कि वे वहां दीन वचन तथा क्रोधयुक्त वचन न बोलते हुए उस घरसे बाहिर आजायँ और उस घरकी निन्दादिके वचन कदापि न बोलें। कारण कि साधुका तो शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार—अपनी वृत्तिके अनुसार याचना करना कर्त्तव्य है। गृहस्थकी इच्छा है उनको भिक्षा दे अथवा न दे। इसलिये ऐसे अवसरपर साधुका यह कर्तव्य नहीं है

कि वह उस घरकी किसी भी प्रकारकी निन्दा करे। किन्तु उसका कर्तव्य यह है कि वह आसक्त भावको छोड़कर सूत्रोक्त विधिके अनुसार अपनी वृत्ति-भिक्षाचरीमें प्रवेश करे ॥ २३ ॥

उत्थानिका—अब फिर भी उसी विषयमें कहते हैं—

अइभूमिं न गच्छेज्जा, गोयरग्गगओ मुणी ।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता, मिअं भूमिं परक्कमे ॥ २४ ॥

अतिभूमिं न गच्छेद्, गोचराग्रगतो मुनिः ।
कुलस्य भूमिं ज्ञात्वा, मितां भूमिं पराक्रमेत् ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—(गोयरग्गगओ) गोचराग्रमें गया हुआ (मुणी) साधु (अइ-मूर्मि) अतिभूमिमें (न गच्छेज्जा) न जाय (कुलस्स) कुलकी (भूमिं) भूमिको (जाणित्ता) जानकर (मिय भूमिं) मर्यादित भूमिपर ही (परक्कमे) पराक्रम करे अर्थात् जावे ॥ २४ ॥

मूलार्थ—गोचराग्रमें गया हुआ मुनि अतिभूमि अर्थात् गृहस्थकी मर्यादित की हुई भूमिको अतिक्रम करके आगे न जायँ किन्तु कुलकी भूमिको जानकर घरकी मर्यादित की हुई भूमि प्रति ही जायँ ॥ २४ ॥

भाष्य—इस गाथामें इस बातका प्रकाश किया गया है कि—साधु कुल कुलकी भूमिको जानकर भिक्षाचरीमें प्रवेश करें। जैसे कि—जब आहारकेलिये जायें तब जिस कुलमें प्रवेश करें उस कुलकी मर्यादित भूमिको देखकर ही आगे जायँ। यदि वे मर्यादित भूमिको लांघकर जायँगे तब जिनशासनकी या उन मुनिकी लघुता होनेकी सम्भावना है। अतएव मुनिको योग्य है कि वह कुल कुलकी भूमिको जानकर फिर उस मर्यादित भूमिपर जानेका पराक्रम करें जिससे किसी भी प्रकारकी लघुता उत्पन्न होनेका प्रसंग न आवे।

तथा इस गाथासे यह भी सिद्ध होता है कि भिक्षुको प्रत्येक कुलकी मर्यादाका बोध होना चाहिए। क्योंकि नाना प्रकारके कुलोंमें नाना प्रकारकी मर्यादा होती है। साथ ही इस बातका भी ध्यान रहे कि सूत्रकर्ताने जो "अइभूमि"-"अतिभूमि" पद दिया है, इसका तात्पर्य यह है कि साधु सामान्य भूमिपर स्वतन्त्रतापूर्वक जा सकता है ॥ २४ ॥

उत्थानिका—मर्यादित भूमिके पास पहुँच जानेके बाद मुनिका क्या कर्तव्य है? सो अब शास्त्रकार कहते हैं,—

तत्थेव पडिलेहिज्जा, भूमिभागविअक्खणो।
सिणाणस्स य वच्चस्स, संलोगं परिवज्जए ॥ २५ ॥

तत्रैव प्रत्युपेक्षेत्, भूमिभागविचक्षणः ।
स्नानस्य च वर्चस, संलोकं परिवर्जयेत् ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—(विअक्खणो) विचक्षण साधु (तत्थेव भूमिभाग) उस मर्यादित भूमिभागका (पडिलेहिज्जा) प्रतिलेखन करे (सिणाणस्स) स्नानघरका (य) तथा (वच्चस्स) पाखानेका (सलोग) देखना (परिवज्जए) छोड़ दे ॥ २५ ॥

मूलार्थ—भिक्षाचरीमें गया हुआ विचक्षण साधु उस मर्यादित भूमिभागका प्रतिलेखन करे और वहा खड़ा हुआ स्नानघर तथा पाखानेकी ओर न देखे ॥ २५ ॥

भाष्य इस गाथामें इस बातका प्रकाश किया गया है कि जब साधु गृहस्थके घरमें आहारको जावे तब वह वहां जाकर क्या करे और किन-किन स्थानोंको न देखे। जैसे कि—जब मर्यादित भूमिपर विचक्षण साधु जाकर खड़ा हो जाय तब उस भूमिभागको भली प्रकारसे पडिलेहन करे। उस स्थानपर खड़े होकर साधुको चाहिये कि वह गृहस्थके स्नानगृहको तथा उसके वर्चस्गृह (पाखाने) को कदापि अवलोकन न करे। कारण कि—उक्त दोनों स्थानोंमें स्त्री या पुरुष नग्न अवस्थामें दृष्टिगोचर हो सकते हैं। जिससे कि शासनकी लघुता व कामराग्की

प्राप्ति होनेकी सम्भावना हो सकती है तथा गृहस्थको साधुके ऊपर शङ्कादि दोषोंकी प्राप्ति हो सकती है। अतएव उक्त दोनों स्थानोंको कदापि न देखना चाहिये।

कहीं-कहींपर 'भूमिभाग विअक्खणो'की जगहपर 'भूमिभागविअक्खणो'—'भूमिभाग विचक्षणः' ऐसा समस्तपदका भी पाठ मिलता है। तब उसका अर्थ होगा—'मर्यादित भूमिको जाननेमें विचक्षण अर्थात् कुशल साधु वहां खडा होकर प्रतिलेखन करे' ॥ २५ ॥

उत्थानिका--गृहस्थके घर पहुँच करके साधुको कैसे-कैसे स्थानोंको छोडकर आहारके लिये खड़ा होना चाहिये ? सो अब शास्त्रकार कहते हैं,--

दगमट्टिअआयाणे, बीआणि हरिआणि अ।
परिवज्जतो चिट्ठिज्जा, सव्विंदिअसमाहिए ॥ २६ ॥

उदकमृत्तिकादान, बीजानि हरितानि च।
परिवर्जयंस्तिष्ठेद्, सर्वेन्द्रियसमाहित ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—(दगमट्टिअआयाणे) पानी और मृत्तिकाके लानेके मार्गको (बीआणि) बीजादिके लानेके मार्गको (अ) और (हरिआणि) हरितकायके लानेके मार्गको

(परिवज्जतो) वर्जता हुआ (सव्विंदिअसमाहिए) सर्वेन्द्रियोंको समाधिमें रखनेवाला अर्थात् पांचों इन्द्रियां जिसने वशमें की हैं ऐसा वह मुनि (चिट्ठिज्जा) खड़ा होवे ॥ २६ ॥

मूलार्थ—जिस मार्गसे लोग पानी, मृत्तिका, बीज तथा हरितकाय लाते हों, सर्वेन्द्रियकी समाधिवाला साधु उनको वर्जता हुआ उचित प्रदेशमें जाकर खड़ा होवे ॥ २६ ॥

भाष्य—इस गाथामें मार्गशुद्धिका वर्णन किया गया है। जैसे कि—जिस मार्गसे लोग पानी, मिट्टी, बीज तथा हरितकाय लाते हों, यदि वह मार्ग संकुचित हो और उस समय उस स्थानपर आनेसे उसके शरीरसे सचित्त पदार्थोंका संघट्टन हो सकता है, तो वह सर्व इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला मुनि किसी एकान्तमें–उचित प्रदेशमें जाकर खड़ा हो जाय। और जब वह मार्ग उक्त पदार्थोंसे विशुद्ध हो जाय तब मुनि उक्त मार्गसे भिक्षाचरीकेलिये कहीं दूसरी जगह जा सकता है। और जिस समय वह मार्ग उक्त पदार्थोंसे संकीर्ण हो रहा हो उस समय मुनिको जीव रक्षाकेलिये किसी एकान्त स्थानमें ही खड़े रहना उचित है। आनेके समयसे पहिले ही साधुको मार्गका विचार कर लेना चाहिए। और जब साधु वहां खड़े हों तब वे वहां अनाकुल चित्तसे खड़े रहें ॥ २६ ॥

उत्थानिका—इस प्रकार खड़ होनेके बाद साधु जो आहार ले, वह किस प्रकारका होना चाहिये ? शास्त्रकार अब इस बातका विवरण करते हैं,—

तत्थ से चिट्ठमाणस्स आहरे† पाणभोयण ।
अकप्पिय न गिरिहज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पिअ ॥ २७ ॥

तत्र तस्य तिष्ठत , आहरेत् पानभोजनम् ।
अकल्पिक न गृह्णीयात् , प्रतिगृह्णीयात् कल्पिकम् ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—(**तत्थ**) उस स्थानपर (**चिट्ठमाणस्स**) खड़ा हुआ (**से**) वह साधु (**पाणभोयण**) पानी और भोजन (**आहरे**) ले, लेकिन (**अकप्पिअ**) अकल्पनीय (**न गिण्हिज्जा**) ग्रहण न करे बल्कि (**कप्पिअ**) कल्पनीय (**पडिगाहिज्ज**) ग्रहण करे ॥२७॥

मूलार्थ—उस स्थानपर खड़ा हुआ साधु पानी और भोजन ले । यदि वह अकल्पनीय हो तो गृहण न करे यदि कल्पनीय हो तो गृहण कर ले ॥ २७ ॥

---

† क्वचिदस्य स्थाने 'आहारे' इत्यपि पाठः ।

भाष्य—इस गाथामें आहार लेनेकी विधिका विधान किया गया है। जैसे कि जब साधु मार्गमें खड़ा हुआ हो तब गृहस्थकी स्त्री यदि अपने आप ही पानी और भोजन लेकर आ रही हो और वह मुनिके प्रति यह विज्ञप्ति करे कि—हे भगवन्! आप यह अन्न और पानीके लेनेकी कृपा कीजिए!" तब इस प्रकारकी विज्ञप्ति हो जानेपर यदि वह पानी और भोजन निर्दोष और कल्पनीय हो तब उसे मुनि ग्रहण करें। यदि वह आहार-पानी सदोष और अकल्पनीय हो तो मुनि उसे ग्रहण न करें।

'आहरे'—'आहरेत्' में आङ् उपसर्ग पूर्वक हृ हरणे धातु है। केवल 'हृ' धातुका अर्थ हरण करना होता है। लेकिन 'आङ्' उपसर्ग लग जानेसे उसका अर्थ बदल जाता है—

"उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते। प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत्॥"

इसीलिये आङ् पूर्वक हृ धातुके चार अर्थ होते हैं—१ प्रहार देना, २ स्वीकार करना, ३ व्यवस्था करना, और ४ ले जाना। प्रकरणवश यहांपर 'स्वीकार करना' अर्थ स्वीकार किया गया है।

'आहरे'—'आहरेत्' पदका 'स्वीकार करना' अर्थ स्वीकार कर लेनेसे 'स्वयमेव आत्मा द्वारा'

अर्थ अपने आप व्यक्त हो जाता है। क्योंकि मँगाये हुए में स्वीकार करनेका व्यवहार नहीं होता। स्वीकार शब्द वहीं व्यवहृत होता है, जहांपर कि कोई व्यक्ति पदार्थको स्वयं दे रहा हो।

इस गाथाके तीसरे चरणके 'गिण्हिज्जा' पदकी जगहपर कहीं–कहीं 'इच्छिज्जा' भी पाठ मिलता है। लेकिन उससे यह पाठ सुन्दरतर है।

'कल्पनीय' और 'अकल्पनीय' शब्दकी व्याख्या शास्त्रकार स्वयं अगाड़ी गाथाओं द्वारा करनेवाले हैं, अतः यहांपर उक्त शब्दोंकी व्याख्या नहीं की गई है ॥ २७ ॥

उत्थानिका –आहार-पानी देनेवाला व्यक्ति यदि सावधानतापूर्वक मुनिको दान न दे रहा हो तब उस मुनिका क्या कर्तव्य है ? सो शास्त्रकार अब कहते हैं,—

आहरती सिया तत्थ, पडिसाडिज्ज भोयणं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ २८ ॥

आहरन्ती स्यात् तत्र, परिशाटयेत् भोजनम् ।
ददन्तीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—(आहरती) देनेवाली (सिया) कदाचित् (तत्थ) वहांपर (भोयण) अन्न पानी रूप भोजनको (परिसाडिज्ज) इतस्तत विक्षेपण करे तो (दिंतिअं) देनेवालीको (पडिआइक्खे) कहे कि (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकारका आहार पानी (न कप्पइ) नहीं कल्पता है -नहीं लेना है ॥ २८ ॥

मूलार्थ—देनेवाली स्त्री कदाचित् इतस्तत गेरती हुई साधुको भोजन दे तो उससे साधु यह कह दें कि—'यह भोजन मुझे नहीं कल्पता है'—नहीं लेना है ॥ २८ ॥

भाष्य—इस गाथामें आहार लेनेकी विधिका विधान किया गया है। जैसे कि—जब साधु गृहस्थके घरमें आहारकेलिये आवें तब भोजन तथा पानीको जो स्त्री देने लगे वह स्त्री यदि उस भोजनको देते समय इधर-उधर गेरती हो तो साधु उससे कह दें कि हे भगिनी! वा हे श्राविके! इस प्रकारका आहार पानी गिरता हुआ मुझे लेना नहीं है। कारण कि अयत्ना हो रही है तथा मधुर पदार्थोंके गिरनेसे अनेक जन्तु इस स्थानपर एकत्रित हो जायेंगे। जिससे फिर उन जीवोंकी विराधना होनेकी सम्भावना की जा सकेगी। इसलिये इस प्रकारका आहार मेरे लेने अयोग्य है।

इस गाथामें 'आहरंती'—'आहरन्ती' जो स्त्रीप्रत्ययान्त पद दिया गया है, उसका कारण यह है कि—"स्त्र्येव प्रायो भिक्षां ददातीति स्त्रीग्रहणं" अर्थात् आहार प्रायः स्त्री जातिके हाथोंसे ही दिया जाता है ॥ २८ ॥

उत्थानिका—इसके अलावा साधुको आहार-पानी देते समय दातासे यदि और भी किसी प्रकारकी गल्ती हो जाय तो उस गल्तीको देखकर जैन साधु उसके आहार-पानीको ग्रहण नहीं करते, सो शास्त्रकार अब कहते हैं,—

समद्दमाणी पाणाणि, बीआणि हरिआणि य।
असंजमकरिं नच्चा, तारिसिं परिवज्जए ॥ २९ ॥

समर्दयन्ती प्राणिनः, बीजानि हरितानि च।
असंयमकरीं ज्ञात्वा, तादृशीं परिवर्जयेत् ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ—(पाणाणि) प्राणियोंको (बीआणि) बीजोंको (य) और (हरिआणि) हरितकायको (समद्दमाणी) समर्दन करती हुई—कुचलती हुई (असंजमकरिं) असंयम

संहृत्य निक्षिप्य, सचित्तं घट्टयित्वा च।
तथैव श्रमणार्थम्, उदकं संप्रणुद्य ॥ ३० ॥
अवगाह्य चालयित्वा, आहरेत् पानभोजनम्।
ददन्तीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ३१ ॥ [युग्मम्]

अन्वयार्थ—(**तहेव**) इसी तरह (**समणट्ठाए**) साधुकेलिये (**सचित्त**) सचित्तको (**साहट्टु**) मिलाकर (**निक्खिवित्ता**) रखकर—सचित्तके ऊपर अचित्तको रखकर (**घट्टियाणि**) रिगड़कर (**उदगं संपणुल्लिया**) पानीको हिलाकर (**य**) तथा—

(**ओगाहइत्ता**) अवगाहन कर (**चलइत्ता**) चलाकर (**पाणभोयणं**) पानी और भोजनको (**आहरे**) दे तो (**दिंतिअं पडिआइक्खे**) देनेवालीसे कहे कि (**मे तारिसं न कप्पइ**) मुझे इस प्रकारका कल्पता नहीं है ॥ ३०–३१ ॥

मूलार्थ—इसी तरह कोई दाता—श्राविका साधुकेलिये सचित्त और अचित्तको मिलाकर अचित्तके ऊपर सचित्तको रखकर, अचित्तसे सचित्तका छुआकर रगड़कर, पानीको हिला जुलाकर,

अथवा स्वय सचित्त जलसे स्नानकर या सचित्त जलको चला करके आहार-पानी दे तो साधु उससे कह दे कि मुझे यह ग्राह्य नहीं है ॥ २०—२१ ॥

भाष्य—गाथाके 'साहटु'—'संहृत्य' पदका अर्थ सचित्त और अचित्त पदार्थोंका मिश्रण होता है। उसके चार भङ्ग होते हैं। यथा—

१ सचित्तमें सचित्त मिला देना, २ सचित्तमें अचित्त मिला देना, ३. अचित्तमें सचित्त मिला देना, और ४. अचित्तमें अचित्त मिला देना।

गाथामें 'समणट्ठाए'—'श्रमणार्थम्' जो पद दिया गया है, उसका अर्थ 'साधुकेलिये या साधुके निमित्तसे' यह किया गया है। जैसे कि कल्पना करो कि किसी श्रावकके घर साधु आहार लेनेकेलिये गये तो वहां आंगनमें घड़ा आदिका जल भरा हुआ था। साधुको अपने यहां आता देख श्रावकने उस पानीको मोरी आदि मार्गसे निकाल दिया। तो साधुको यह देखकर वहांसे वापिस आजाना चाहिये और उस घरका आहार-पानी उस समय नहीं लेना चाहिये। क्योंकि उस जलके निकालनेमें जो जीव-विराधना हुई, वह उस साधुके निमित्तसे ही हुई।

यहां यह शङ्का की जा सकती है कि उस जलको बाहिर निकालनेमें जो हिंसा होती सो तो हो गई। आहार ले लेनेसे वह दुगुनी नहीं हो सकती। तो फिर आहार-पानी लेनेमें क्या दोष है?

इसका समाधान यह है कि यदि उस समय साधु आहार-पानी ग्रहण कर लें तो दाता और मुनि दोनोंके हृदयमें उस जीव-विराधनाका पश्चात्ताप न हो सकेगा। आहार-पानी न लेनेसे दोनोंके अन्तःकरणमें पश्चात्ताप पैदा होगा। यह पश्चात्ताप कर्मका नाशक है। तथा उस समय आहार ले लेनेसे अगाड़ीको प्रवृत्ति भी बिगड़ जायगी। इसलिये साधुको ऐसा आहार कभी नहीं ग्रहण करना चाहिये। उसकेलिये ऐसा आहार शास्त्रमें अकल्पनीय कहा गया है।

यहां पर 'आहरे'—'आहरेत्' क्रियाका अर्थ 'लावे' किया गया है। आङ् पूर्वक 'हृ' धातुका अर्थ 'लाना' भी होता है। यह पहिले लिखा आ चुका है। शब्दके अनेक अर्थोंमेंसे प्रकरणानुसार अर्थ ग्रहण करना चाहिये ॥ ३०-३१ ॥

उत्थानिका—यदि कोई श्राविका पहले ही सचित्त जलसे हाथ आदि धोकर आहार-पानी देने लगे तो ऐसी हालतमें साधुको क्या करना चाहिये ? सो अब शास्त्रकार कहते हैं,—

पुरेकम्मेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३२ ॥

पुः कर्मणा हस्तेन, दर्व्या भाजनेन वा।

ददन्तीं प्रत्याचक्षीत्, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ—(**पुरेकम्मेण**) साधुको आहार-पानी देनेसे पहिले ही सचित्त जलसे धोये हुए (**हत्थेण**) हाथसे (**दव्वीए**) कड़छीसे (**वा**) अथवा (**भायणेण**) भाजनसे (**दिंतिअ**) देनेवालीसे (**पडिआइक्खे**) निषेध करके कहे कि—(**मे**) मुझे (**तारिसं**) इस प्रकारसे (**न**) नहीं (**कप्पइ**) कल्पता है—ग्रहण नहीं करना है ॥ ३२ ॥

मूलार्थ—साधुको आहार-पानी देनेसे पहिले ही सचित्त—अप्राशुक जलसे धोये हुए हाथ, करछुली या किसी अन्य पात्रसे आहार-पानी देनेवाली श्राविकाको साधु यह कह दें कि मुझे इस प्रकारका आहार-पानी ग्रहण नहीं करना है ॥ ३२ ॥

भाष्य—गाथामें 'पुरेकम्मणा'–'पुराकर्मणा' पद जैनागमका एक पारिभाषिक शब्द है। उसका अर्थ—'साधुको आहार-पानी देनेसे पहिले यदि सचित्त जलसे हाथ आदि धो लिये हों,' यह है।

यदि यह क्रिया श्राविकाने साधुके घरपर पहुँचनेके पहिले ही कर रक्खी हो, और साधुको किसी निमित्तसे उसका पता लग गया हो, तब भी साधुको उसका परित्याग कर देना चाहिये।

नहीं तो असयमकी अनुमोदना, असयमकी कारिता और कुम्भकृत्तिकी मृक्षिका दोष साधुको लगेगा, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है ॥ ३२ ॥

उत्थानिका—अब शास्त्रकार इस बातको कहते हैं कि साधुको दिये जानेवाल आहार-पानीको यदि किसी सचित्त पदार्थसे स्पर्श भी हो जाय तो भी साधुको उसे ग्रहण नहीं करना चाहिये,—

एव उदउल्ले ससिणिद्धे, ससरक्खे मट्टिआओसे ।
हरिआले हिंगुलए, मणोसिला अजणे लोणे ॥ ३३ ॥
गेरुअवण्णियसेढिअ, सोरट्ठिअपिट्ठकुक्कुसकए य ।
उक्किट्ठमससट्ठे, ससट्ठे चेव बोद्धव्वे ॥ ३४ ॥ [युग्मम् ।]

एवमुदकार्द्रः सस्निग्ध , सरजस्क मृत्तिकोषाभ्याम् ।
हरितालहिंगुलक , मन शिला अञ्जन लवणाम् ॥ ३३ ॥
गैरिकवर्णिकासेटिका, सौराष्ट्रिकापिष्टकुक्कुसकृता च ।
उत्कृष्टमससृष्ट , ससृष्टश्चैव बोद्धव्य ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ—(एव) उसी प्रकार (**उदउल्ले**) गीले हाथोंसे अथवा (**सासिणिद्धे**) स्निग्ध हाथोंसे किम्वा (**ससरक्खे**) सचित्त रजसे भरे हुए हाथोंसे (**मट्टिआओसे**) सचित्त मिट्टी वा क्षारसे भरे हुए हाथोंसे तथा (**हरिआले**) हरितालसे भरे हुए हाथोंसे वा (**हिंगुलए**) हिंगुलसे तथा (**मणोसिला**) मन शिला मिट्टीसे तथा (**अजणे**) अञ्जनसे वा (**लोणे**) लवणसे

(**गेरुअ**) गेरु (**वन्निअ**) पीली मिट्टी (**सेढिअ**) सफेद मिट्टी (**सोरट्ठिअ**) फिटकिरी (**पिट्ठ**) चून (**कुक्कुस**) भुसी (**कए**) उक्त पदार्थोंसे हस्तादि भरे हुए तथा (**उक्किट्ठ**) फलोंके टुकडे तथा (**असंसट्ठे**) व्यञ्जनादिसे अलिप्त हस्तादि वा (**संसट्ठे**) संसृष्ट—व्यञ्जनादिसे हस्तलिप्त (च) पुन (एव) इस प्रकार (**बोधव्वे**) जानना चाहिए ॥ ३३-३४ ॥

मूलार्थ—उसी प्रकार पानीसे गीले हाथोंसे, स्निग्ध हाथोंसे, सचित्त रजसे भरे हुए हाथोंसे, मिट्टी और क्षार भरे हुए हाथोंसे, हरिताल वा हिंगुल भरे हुए हाथोंसे, मनःशिला, अञ्जन वा लवणसे भरे हुए हाथोंसे—

गेरू, पीली मिट्टी, सफेद मिट्टी, फिटकिरी, चांवलोंका क्षोद, अनछाना चून आदिसे हस्त

नहीं तो असयमकी अनुमोदना, असयमकी कारिता और दुष्प्रवृत्तिकी वृद्धिका दोष साधुको लगेगा, जैसा कि पहिले कहा आ चुका है ॥ ३२ ॥

उत्थानिका—अब शास्त्रकार इस बातको कहते हैं कि साधुको दिये जानेवाले आहार-पानीको यदि किसी सचित्त पदार्थसे स्पर्श भी हो जाय तो भी साधुको उसे ग्रहण नहीं करना चाहिये;—

एव उदउल्ले ससिणिद्धे, ससरक्खे मट्टिआओसे ।
हरिआले हिंगुलए, मणोसिला अंजणे लोणे ॥ ३३ ॥
गेरुअवण्णियसेढिअ, सोरट्ठिअपिट्ठकुक्कुसकए य ।
उक्किट्ठमससट्ठे, ससट्ठे चेव बोद्धव्वे ॥ ३४ ॥ [युग्मम् ।]

एवमुदकार्द्रः सस्निग्ध , सरजस्क मृत्तिकोपाभ्याम् ।
हरितालहिङ्गुलक , मन शिला अञ्जन लवणाम ॥ ३३ ॥
गैरिकवर्णिकासेटिका, सौराष्ट्रिकापिष्टकुक्कुसकृता च ।
उत्कृष्टमससृष्टः, ससृष्टश्चैव बोद्धव्यः ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ—(एव) उसी प्रकार (**उदउल्ले**) गीले हाथोंसे अथवा (**ससिणिद्धे**) स्निग्ध हाथोंसे किम्वा (**ससरक्खे**) सचित्त रजसे भरे हुए हाथोंसे (**मट्टिआओसे**) सचित्त मिट्टी वा क्षारसे भरे हुए हाथोंसे तथा (**हरिआले**) हरितालसे भरे हुए हाथोंसे वा (**हिंगुलए**) हिंगुलसे तथा (**मणोसिला**) मनःशिला मिट्टीसे तथा (**अजणे**) अञ्जनसे वा (**लोणे**) लवणसे

(**गेरुअ**) गेरु (**वन्निअ**) पीली मिट्टी (**सेढिअ**) सफेद मिट्टी (**सोरट्ठिअ**) फिटकिरी (**पिट्ठ**) चून (**कुक्कुस**) भुसी (**कए**) उक्त पदार्थोंसे हस्तादि भरे हुए तथा (**उक्किट्ठ**) फलोंके टुकडे तथा (**असंसट्ठे**) व्यञ्जनादिसे अलिप्त हस्तादि वा (**संसट्ठे**) संसृष्ट-व्यञ्जनादिसे हस्तादि (च) पुन (एव) इस प्रकार (**बोधव्ये**) जानना चाहिए ॥ ३३-३४ ॥

मूलार्थ—उसी प्रकार पानीसे गीले हाथोंसे, स्निग्ध हाथोंसे, सचित्त रजसे भरे हुए हाथोंसे, मिट्टी और क्षार भरे हुए हाथोंसे, हरिताल वा हिंगुल भरे हुए हाथोंसे, मनःशिला, अञ्जन वा लवणसे भरे हुए हाथोंसे—

गेरू, पीली मिट्टी, सफेद मिट्टी, फिटकिरी, चावलोंका क्षोद, अनछाना चून आदिसे हस्त

भरे हुए हों तथा उत्कृष्ट फल या व्यञ्जनादिसे हाथ संसृष्ट अथवा व्यञ्जनादिसे द्रव्य संसृष्ट जानने चाहिए ॥ ३२–३४ ॥

भाष्य—इस गाथामें इस विषयका वर्णन किया गया है कि—सचित्त पानीसे गीले हाथोंसे या स्निग्ध हाथोंसे तथा सचित्त रजसे हाथ भरे हुए हों या कर्दम से हाथ भरे हुए हों तब उन हाथोंसे तथा पांशुक्षारसे हाथ भरे हुए हों इसी प्रकार हरिताल हिंगुल (सिंगरफ) मनः शिला मिट्टी अञ्जन (सुरमा) तथा लवण से हाथ भरे हुए हों अब इस प्रकारके हाथोंसे दाता आहार पानी देने लगे तो साधु कह देवे कि—'मुझे यह आहार पानी नहीं कल्पता है।'

इस स्थानपर जो गीले हाथ कथन किया है उसका यह कारण कि—हाथोंसे पानीके बिन्दु गिरते हों तो उसे उदकार्द्र कहते हैं यदि केवल हाथ गीले ही हों तब उसका नाम स्निग्ध हाथ है।

कारण कि उक्त सचित्त पदार्थोंके संस्पर्शसे आहार पानी ग्रहण करनेसे उक्त जीवोंकी विराधनाकी अनुमोदना लगती है।

तथा उक्त गाथामें सचित्त पानी और मिट्टीके कुछ भेदोंके नाम लिये गये हैं। इसी प्रकारके यावन्मात्र सचित्त पदार्थ हैं, यदि उन जीवोंकी विराधनाकी सम्भावना हो तो भी मुनिको आहार पानी न लेना चाहिये।

इस सूत्रमें फिर उक्त विषयका ही वर्णन किया गया है। जैसे कि—गेरुका धातु इसी प्रकार मद्य आदिकी मिट्टी विषयमें सूत्रकारने वर्णन किया है यथा श्वेतिका-शुक्लमृत्तिका, सौराष्ट्रिका—तुवरका, पिष्ट, आम तन्दुलका क्षोद, कुक्कुस-प्रतीत अर्थात् अनछाना चून इनसे हाथ भरे हुए हों तथा उत्कृष्ट शब्दसे पुष्प फलादि इनके सूक्ष्म खण्डोंसे हाथ भरे हुए हों तथा हस्तादि उक्त पदार्थोंसे अलिप्त होवे।

इस गाथाके कथन करनेका यह सारांश है कि—जिस करके पश्चात्कर्म लगे उस प्रकारके आहारको भी ग्रहण न करना चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे हिंसादि अनेक दोषोंके लगनेकी सम्भावना की जा सकेगी।

गाथामें जो गेरुकादि मिट्टियोंका वर्णन किया गया है उसका कारण यह है कि—जो सचित्त मृत्तिकादि है वह साधुकेलिये सर्वथा त्याज्य है तथा जो तत्कालके चूनका निषेध किया गया है उसका भी यही कारण है कि—तत्कालके चूनमें एकेन्द्रियात्माओंके प्रदेश रहनेकी सम्भावना की जा सकती है जिसे उसे सचित्त वा मिश्रित कहा जाता है तथा जो अनछाना चून है उसमें धान्यादिके रहनेकी शंका है इसलिये उसे वर्जित किया गया है वा जो फलादिका ग्रहण है उसका यह कारण है कि—फलादिके सूक्ष्म खण्ड हाथादिको लगे हुए हों तब भी उस गृहस्थके

हायसे आहार लेना अकल्पनीय बतलाया गया है। तथा जो व्यञ्जनादिसे हाथ संसृष्ट या असंसृष्ट कथन किया गया है उसका कारण यह है कि—ऐसा न हो कि फिर गृहस्थको आहारादि देनेके पश्चात् हाथादि धोने पड़े ॥ ३३-३४ ॥

उत्थानिका –पूर्वमें संसृष्ट और असंसृष्ट जो दो भेद वर्णन किये हैं, शास्त्रकार अब स्वयं उनका फल वर्णन करते हैं,—

असंसट्ठेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा ।
दिज्जमाणं न इच्छिज्जा, पच्छाकम्मं जहिं भवे ॥ ३५ ॥

असंसृष्टेन हस्तेन, दर्व्या भाजनेन वा ।
दीयमानं नेच्छेत्, पश्चात्कर्म यत्र भवेत् ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ—(**असंसट्ठेण**) असंसृष्ट (**हत्थेण**) हाथसे (**वा**) अथवा (**दव्वीए**) कड़छीसे किम्वा (**भायणेण**) भाजनसे (**दिज्जमाणं**) देते हुए अन्न-पानी मति (**न इच्छिज्जा**) न चाहे (**जहिं**) जहांपर (**पच्छाकम्मं**) पश्चात् कर्म (**भवे**) होवे ॥ ३५ ॥

मूलार्थ—ससृष्ट हाथसे वा कडछी तथा भाजनसे देते हुए अन्न-पानीको साधु न चाहे यदि वहांपर पश्चात् कर्म लगे ॥ ३५ ॥

भाष्य—इस गाथामें पश्चात् कर्मका दिग्दर्शन कराया गया है। जैसे कि—अन्नादिसे हाथ लिप्त हो तथा कडछी वा भाजनादि लिप्त हों यदि साधुको अन्न-पानी देकर फिर उसको भाजनादि धोने पड़े तो साधु उन भाजनादिसे आहार ग्रहण न करे। क्योंकि—जब वह साधुके निमित्त रखकर सचित्त जलसे भाजनादि धो रहा है, तब साधुको पश्चात्कर्म नामक दोष लगता है। इसलिये इस प्रकारके आहारका साधु परित्याग कर देवे।

यदि साधु इस प्रकारके दोष लगनेके निश्चय हो जानेपर भी आहार ले ही लेता है तब उसका आत्मा उन जीवोंकी रक्षाके स्थानपर प्रत्युत उनके वधक्रियाओंके अनुमोदन करनेवाला बन जाता है। अत एव इस प्रकारका आहार मुनिको न लेना चाहिए ॥ ३५ ॥

उत्थानिका—अब प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि—किस प्रकारका आहार लेना चाहिए' इस विषयमें सूत्रकार कहते हैं,—

ससट्ठेण य हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा ।

हाथसे आहार लेना अकल्पनीय बतलाया गया है। तथा जो व्यञ्जनाविसे हाथ संसृष्ट या असंसृष्ट कथन किया गया है उसका कारण यह है कि—ऐसा न हो कि फिर गृहस्थको आहारादि देनेके पश्चात् हाथादि धोने पड़े ॥ ३३-३४ ॥

उत्थानिका —पूर्वमें संसृष्ट और असंसृष्ट जो दो भेद वर्णन किये हैं, शास्त्रकार अब स्वयं उनका फल वर्णन करते हैं,—

असंसट्ठेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा ।
दिज्जमाणं न इच्छिज्जा, पच्छाकम्मं जहिं भवे ॥ ३५ ॥

असंसृष्टेन हस्तेन, दर्व्या भाजनेन वा ।
दीयमानं नेच्छेत्, पश्चात्कर्म यत्र भवेत् ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ—(**असंसट्ठेण**) असंसृष्ट (**हत्थेण**) हाथसे (**वा**) अथवा (**दव्वीए**) कड़छीसे किम्वा (**भायणेण**) भाजनसे (**दिज्जमाणं**) देते हुए अन्न-पानी प्रति (**न इच्छिज्जा**) न चाहे (**जहिं**) जहांपर (**पच्छाकम्मं**) पश्चात् कर्म (**भवे**) होवे ॥ ३५ ॥

को ले लेवे। कारण कि जब साधुके नवकोटी प्रत्याख्यान है तब उसको प्रत्येक पदार्थकी ओर अत्यन्त विवेक रखनेकी आवश्यकता है तभी वह दोषोंसे बच सकता है। यदि उसको विवेक न रहेगा तो वह दोषोंसे भी नहीं बच सकेगा।

यहां यदि यह शङ्का की जाय कि जब उसको धर्म ध्यानादि द्वारा ही समय व्यतीत करना है तब उसको विशेष एषणाकी क्या आवश्यकता है? तो इसका समाधान यह है कि—धर्म ध्यानकी शुद्धिकेलिये ही आहारकी एषणाकी अत्यन्त आवश्यकता है। क्योंकि—आहारकी विशुद्धिके द्वारा ही धर्मध्यानकी अत्यन्त विशुद्धि की जा सकती है। अत एव निर्दोषवृत्ति पालनकेलिये आहार-एषणा अवश्यमेव करनी चाहिए ॥ ३६ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार इस विषयमें कहते हैं कि—यदि कोई पदार्थ दो व्यक्तियों का सम्मिलित रूपमें हो तो उसको किस विधिसे ग्रहण करना चाहिए,—

दुण्हं तु भुंजमाणाणं, एगो तत्थ निमंतए।
दिज्जमाणं न इच्छिज्जा, छंदं से पडिलेहए ॥ ३७ ॥

द्वयोस्तु भुञ्जतोः, एकः तत्र निमन्त्रयेत्।
दीयमानं नेच्छेद्, छन्दं तस्य प्रत्युपेक्षेत ॥ ३७ ॥

दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा, जं तत्थेसणियं भवे ॥ ३६ ॥

संसृष्टेन हस्तेन, दर्व्या भाजनेन वा ।
दीयमानं प्रतीच्छेद्, यत्तत्रैषणीयं भवेत् ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थ—(संसट्ठेण) संसृष्ट (हत्थेण) हाथसे (वा) अथवा (दव्वीए) कड़छीसे तथा (भायणेण) भाजनसे (दिज्जमाणं) दिए हुए (दिए) अन्न-पानीको (पडिच्छिज्जा) ग्रहण करे (जं) जो (तत्थ) वहांपर (एसणियं) एषणीय—निर्दोष (भवे) होवे ॥ ३६ ॥

मूलार्थ—संसृष्ट हाथ कड़छी तथा भाजनसे दिया हुआ अन्न-पानी साधु ग्रहण करे यदि वहां पर वह अन्न-पानी निर्दोष होवे तो ॥ ३६ ॥

भाष्य—इस गाथामें अन्न-पानीके ग्रहण करनेकी विधिका विधान किया गया है। जैसे कि—जब साधु आहारके वास्ते जाय तब दातारके हाथ अन्नादिसे संसृष्ट हो रहे हैं तथा कड़छी वा अन्य कोई भाजन किसी निर्दोष पदार्थसे लिप्त हो रहा है तब साधु यदि इस बातका निश्चय कर लेवे कि—'यह अन्न पानी तथा भाजनादि सर्व निर्दोष हैं। पश्चात् कर्म वा पूर्व कर्मके भी दोषकी सम्भावना नहीं की जा सकती अतः यह अन्न पानी ग्राह्य है।' तब उस निर्दोष अन्न पानी

को ले लेवे। कारण कि जब साधुके नवकोटी प्रत्याख्यान है तब उसको प्रत्येक पदार्थकी ओर अत्यन्त विवेक रखनेकी आवश्यकता है तभी वह दोषोंसे बच सकता है। यदि उसको विवेक न रहगा तो वह दोषोंसे भी नहीं बच सकेगा।

यहा यदि यह शङ्का की जाय कि जब उसको धर्म ध्यानादि द्वारा ही समय व्यतीत करना है तब उसको विशेष एषणाकी क्या आवश्यकता है? तो इसका समाधान यह है कि—धर्म ध्यानकी शुद्धिकलिये ही आहारकी एषणाकी अत्यन्त आवश्यकता है। क्योंकि—आहारकी विशुद्धिके द्वारा ही धर्मध्यानकी अत्यन्त विशुद्धि की जा सकती है। अत एव निर्दोषवृत्ति पालनकेलिये आहार-एषणा अवश्यमेव करनी चाहिए ॥ ३६ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार इस विषयमें कहते हैं कि—यदि कोई पदार्थ दो व्यक्तियों का सम्मिलित रूपमें हो तो उसको किस विधिसे ग्रहण करना चाहिए,—

दुण्ह तु भुजमाणाण, एगो तत्थ निमतए ।
दिज्जमाणे न इच्छिज्जा, छद से पडिलेहए ॥ ३७ ॥

द्वयोस्तु भुञ्जतो , एकः तत्र निमन्त्रयेत् ।
दीयमान नेच्छेद् , छन्द तस्य प्रत्युपेक्षेत् ॥ ३७ ॥

अन्वयार्थ—(दुण्ह) दो व्यक्ति (भुंजमाणाण) भोगते हुए (तत्थ) उनमेंसे (एगो) एक व्यक्ति (निमन्तए) निमन्त्रण करे तब (दिज्जमाणं) देते हुए उस पदार्थको (न इच्छेज्जा) न चाहे किन्तु (से) उस न देनेवाले व्यक्तिका (छंद) अभिप्रायके प्रति (पडिलेहए) अवलोकन करे अर्थात् उसके अभिप्रायको देखे ॥ २७ ॥

मूलार्थ—यदि एक पदार्थको दो व्यक्ति भोगनेवाले हों तब उनमेंसे यदि एक व्यक्ति निमन्त्रणा करे तब साधु न देनेवाले व्यक्तिका अभिप्राय अवश्य देखे ॥ २७ ॥

भाष्य—इस गाथामें साधारण पदार्थोंके ग्रहण करनेकी विधिका विधान किया गया है जैसे कि—जो पदार्थ दो जनोंका साधारण हो तब उन दोनोंमेंसे एक व्यक्ति भक्तिपूर्वक साधुको किसी पदार्थकी निमन्त्रणा करे तब साधु जो व्यक्ति दूसरा हो उसकी आज्ञाको देखे क्योंकि—कहीं ऐसा न हो जावे कि यदि साधु दूसरेकी विना आज्ञा कोई वस्तु ले ले तब उन दोनोंका परस्पर विवाद उपस्थित हो जावे तथा उनका साधारण भाव फिर न रह सके वा उनका परस्पर वैमनस्य भाव उत्पन्न हो जावे जिससे फिर वे परस्पर निन्दादि करने लग जावें। अत एव साधुको साधारण पदार्थ लेते समय अवश्य विचार करना चाहिए।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यदि दोनों ही व्यक्ति निमन्त्रणा करें तो फिर ग्रहण करना चाहिए या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं,—

> दुण्ह तु भुंजमाणाण, दोवि तत्थ निमंतए ।
> दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा, जं तत्थेसणियं भवे ॥ ३८ ॥

> द्वयोर्भुञ्जानयोः, द्वावपि तत्र निमंत्रयेयाताम् ।
> दीयमानं प्रतिगृह्णीयात्, यत्तत्रैषणीयं भवेत् ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ—(**दुण्ह**) दो व्यक्ति (**भुंजमाणाण**) भोगते हुए हों (**तत्थ**) वहाँ पर-उन में से (**दोवि**) दोनों ही व्यक्ति (**निमंतए**) निमन्त्रणा करें (**तु**) तो (**दिज्जमाणं**) उस दीयमान पदार्थ को (**पडिच्छिज्जा**) ग्रहण करले (**जं**) जो-वह पदार्थ (**तत्थ**) उस समय-वहाँ (**एसणियं**) एषणीय-सर्वथा शुद्ध (**भवे**) हो ॥ ३९ ॥

मूलार्थ—यदि वे सम्मिलित-एक पदार्थ के भोगने वाले दोनों ही व्यक्ति निमन्त्रणा करें तो, मुनि-उस देते हुए पदार्थ को ग्रहण करले। यदि वह पदार्थ शुद्ध-निर्दोष होतो ॥ ३८ ॥

भाष्य—पूर्व सूत्र में यह कथन किया जा चुका है कि- गोचरी के लिए गया हुआ साधु दो व्यक्तियों के स्वामित्ववाले-साझे के पदार्थ को एक स्वामी की निमन्त्रणा से ग्रहण न करे। अब इस सूत्र में यह बतलाया है कि—यदि दोनों ही व्यक्ति प्रेम-पूर्वक भक्ति भावना से निमन्त्रणा करें तो फिर ग्रहण करले। क्यों कि—दोनों व्यक्तियों की संमिलित रूप से सप्रेम निमन्त्रणा होजाने पर फिर पूर्व सूत्रोक्त पारस्परिक- वैमनस्य आदि दोषों के उत्पन्न होने की कोई आशंका नहीं रहती। हाँ, लेते समय उस पदार्थ की अन्य भिक्षा सम्बन्धी शुद्धता-अशुद्धता का अवश्य ध्यान रखना चाहिए—केवल निमन्त्रणा की शुद्धता पर ही न रहना चाहिए। यदि वह अन्य सभी प्रकार से शुद्ध-निर्दोष मालूम होतो ग्रहण करे—नहीं तो नहीं।

क्यों कि—यदि अन्य भिक्षा सम्बन्धी दोषों पर पूर्ण ध्यान नहीं रक्खा जायगा तो संयम-वास्तविक संयम नहीं रह सकता अर्थात् ऐसी लापरवाही करने से संयम विराधना अवश्यम्भावी है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, गर्भवती स्त्री के लिए तैयार किए हुए आहार पानी के लेने न-लेने के विषय में कहते हैं—

गुव्विणीए उवणत्थं , विविहं पाण भोयणं ।
भुंजमाणं विवज्जिज्जा , भुत्तसेसं पडिच्छए ॥ ३९ ॥

गुर्विण्या उपन्यस्तं , विविधं पानभोजनम् ।
भुज्यमानं विवर्जयेत् , भुक्तशेषं प्रतीच्छेत् ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ—(**गुव्विणीए**) गर्भवती स्त्री के लिए (**उवणत्थं**) उपन्यस्त—तैयार किए हुए (**भुजमाणाणं**) भोजनार्थ लिए हुए (**विविह**) नाना प्रकार के (**पाणभोयणं**) खाद्य तथा पेय पदार्थ को साधु (**विवज्जिज्जा**) छोड़दे—ग्रहण न करे (**भुत्तसेस**) भुक्तशेष—खाने से बचेहुएको तो (**पडिच्छए**) ग्रहण करले ॥ ३९ ॥

मूलार्थ — गर्भवती स्त्री के लिए खास तैयार किए गए—भोजनार्थ उससे लिए हुए विविध प्रकार के खाद्य तथा पेय पदार्थों को अहिंसाव्रती मुनि ग्रहण न करे । यदि वे पदार्थ भुक्तशेष हों—भोजन से बचेहुए हों तो ग्रहण करले ॥ ३९ ॥

भाष्य—इस सूत्र में इस विषय का वर्णन है कि, गर्भवती स्त्री के लिए तैयार किए गए नाना प्रकार के खाद्य तथा पेय पदार्थों को यदि वह स्त्री अपने उपभोग में लारही होतो, मुनि ग्रहण न करे ।

कारण कि— यदि फिर उस अवशिष्ट स्वल्प भोजन से गर्भवती की तृप्ति न हुई तो गर्भपात आदिक होजाने की सम्भावना है ।

अतः साधु, जो भोजन गर्भवती के खाने से बचा हुआ हो उसेही स्वयोग्य जानकर ग्रहण कर सकता है ।

भाष्य—पूर्व सूत्र में यह कथन किया जा चुका है कि- गोचरी के लिए गया हुआ साधु दो व्यक्तियों के स्वामित्ववाले-साझे के पदार्थ को एक स्वामी की निमन्त्रणा से ग्रहण न करे। अब इस सूत्र में यह बतलाया है कि—यदि दोनों ही व्यक्ति प्रेम-पूर्वक भक्ति भावना से निमन्त्रणा करें तो फिर ग्रहण करले। क्यों कि—दोनों व्यक्तियों की संमिलित रूप से सप्रेम निमंत्रणा होजाने पर फिर पूर्व सूत्रोक्त पारस्परिक-वैमनस्य आदि दोषों के उत्पन्न होने की कोई आशंका नहीं रहती। हाँ, उस समय उस पदार्थ की अन्य भिक्षा सम्बन्धी शुद्धता-अशुद्धता का अवश्य ध्यान रखना चाहिए—केवल निमन्त्रणा की शुद्धता पर ही न रहना चाहिए। यदि वह अन्य सभी प्रकार से शुद्ध-निर्दोष मालूम होतो ग्रहण करे—नहीं तो नहीं।

क्यों कि—यदि अन्य भिक्षा सम्बन्धी दोषों पर पूर्ण ध्यान नहीं रक्खा जायगा तो संयम-वास्तविक संयम नहीं रह सकता अर्थात् ऐसी लापरवाही करने से संयम विराधना अवश्यम्भावी है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, गर्भवती स्त्री के लिए तैयार किए हुए आहार पानी के लेने न-लेने के विषय में कहते हैं—

गुव्विणीए उवणत्थं, विविहं पाण भोयणं।
भुंजमाणं विवज्जिज्जा, भुत्तसेसं पडिच्छए ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ—(सिआ) कदाचित् (कालमासिनी) पूरे महिने वाली (गुव्विणी) गर्भवती स्त्री (समण द्वाए) साधुको दान देने के लिए (उट्ठिया) खडी हुई (निसीइज्जा) बैठे (वा) अथवा (निसन्ना) बैठी हुई (पुणुट्ठए) फिर खडी होवे (तु) तो –

(त) वह (भत्तपाण) आहार पानी (सजयाण) संयतोंको-साधुओंको (अकप्पिअं) अकल्पनीय अयोग्य (भवे) होता है । अत (दिंतिय) उस देनेवाली स्त्री से (पडिआइक्खे) कहदेकि (मे) मुझे (तारिस) इस प्रकार का आहार पानी (नकप्पइ) नहीं कल्पता है ॥ ४०-४१ ॥

मूलार्थ—यदि कदाचित् गर्भवती स्त्री साधु को आहार पानी वहराने के लिए खडी हुई बैठे और बैठी हुई फिर खडी होवेतो—

वह आहार पानी साधुको अग्राह्य है । अत देनेवाली स्त्री से कह देकि— इस प्रकार का आहार पानी लेना मुझे नही कल्पता है ॥ ४०—४१ ॥

भाष्य—इस सूत्र में साधु को आहार दान के निमित्त उठने बैठने की क्रिया करने वाली काल मासिनी (पूरे महिने वाली) गर्भवती स्त्री से आहार पानी लेने का साधु के लिए निषेध किया है ।

इस ऊपर के कथन से यह भली भांति सिद्ध होजाता है कि— जैन साधुओं का अहिंसा-व्रत स्थूल दृष्टि से वर्णित नहीं है। जो स्थूल बुद्धि वाले ऐरे-गैरे नाम प्रेमी इसका पालन करलें। जैन साधुओं के अहिंसा व्रत का वर्णन अत्यन्त सर्वतोव्यापिनी सूक्ष्म दृष्टि से किया है। अतः इसे सूक्ष्म दृष्टि वाले धर्मप्रेमी महानुभाव ही पालन कर सकते हैं।

उत्थानिका—अब आचार्य, गर्भवती स्त्री से आहार लेने न लेने के विषय में कहते हैं—

सिआ य समणट्ठाए , गुव्विणी कालमासिणी ।
उट्ठिआ वा निसीइज्जा , निसन्ना वा पुणुट्ठए ॥ ४० ॥
त भवे भत्त पाण तु , सजयाण अकप्पिअ
दिंतिय पडिआइक्खे , न मे कप्पइ तारिस ॥४१॥ [युग्मम्]

स्याच्च श्रमणार्थं , गुर्विणी कालमासिनी ।
उत्थिता वा निषीदेत्, निषण्णा वा पुनरुत्तिष्ठेत् ॥ ४० ॥
तद् भवेद्भक्त पानंतु , संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत , न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४१ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, स्तन-पान कराती हुई दातार स्त्री के विषय में कहते हैं—

थणगं पिज्जमाणी, दारगं वा कुमारिअं।
तं निक्खिवित्तु रोअंतं, आहारे पाणभोयणं ॥ ४२ ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४३ ॥ [युग्मम्]

स्तनकं पाययन्ती, दारकं वा कुमारिकाम्।
तं निक्षिप्य रुदन्तं, आहरेत् पान-भोजनम् ॥ ४२ ॥
तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ॥
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ—(दारगं) बालक को (वा) अथवा (कुमारिअं) बालिका को (थणगं) स्तन (पिज्जमाणी) पिलाती हुई स्त्री यदि (तं) उन (रोअंतं) रुदन करते हुए बालक-बालिका को (निक्खिवित्तु) नीचे भूमि आदि पर रख कर (पाणभोयणं) आहार-पानी (आहरे) देवे—

क्योंकि—इस प्रकार की कठोर क्रियाओं के करने से गर्भस्थ-जीव को पीड़ा पहुँचने की संभावना है और पीड़ा पहुँचने से प्रथम अहिंसा महाव्रत दूषित होजाता है।

यहांपर ध्यान रखना चाहिए कि—जो स्थविर कल्पी मुनि होते हैं, वेतो उक्तदोष का विचार काल मास पर रखते हैं। किन्तु जो जिनकल्पी मुनि होते हैं, वे ऐसा काल मास का विचार नहीं रखते। वेतो गर्भ धारण के समय से ही-प्रथम मास सेही उक्तदोष के निवारणार्थ गर्भवती स्त्री से आहार पानी ग्रहण करना छोड़ देते हैं। स्थविर कल्पी मुनि की अपेक्षा जिन कल्पी मुनि का क्रिया-काण्ड अतीव उग्र होता है।

यहांपर यह सूत्र साररूप ही साम्प्रदायिक मान्यता मानी जाती है कि—स्थविर कल्पी मुनि यदि गर्भवती स्त्री बैठी, हो या खड़ी होतो उससे उसी वर्तमान अवस्था में आहार पानी ग्रहण कर सकते हैं।

सूत्रकारने जो इस जनता की दृष्टि में मामूली नगण्य जंचने वाली-बात को इतना महत्त्व दिया है, सो इसका तात्पर्य यह है कि—

जो सांसारिक उपाधियों को छोड़कर विरक्त मुनि होगए हैं, और जिन्होंने पूर्ण अहिंसा की विशाल प्रतिज्ञा की है। उन्हें बड़ी सावधानी से साधारण सेभी साधारण बातों का ध्यानरखके अहिंसा व्रत की प्रतिज्ञा का पालन करना चाहिए। व्रती और फिर वह स्वीकृत व्रत के पालन में असावधानी रक्खे, यह बात आत्म पतन की सूचक है ॥५०॥ ॥५१॥

मपीता हो कष्ट की सम्भावना हो—न संभावना हो, रोता हो—न रोता हो, किसी भी हालत में बच्चे वाली स्त्री से आहार पानी ग्रहण नहीं करते।

और विशेष बात यहां यह है—अपवाद मार्गावलम्बी मुनि को अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव का पूर्ण विचार करके उचितमार्ग का आश्रयण करना चाहिए। ॥ ४२-४३ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार ग्राह्य अग्राह्य की शङ्कावाले पदार्थों के विषय में कहते हैं:—

ज भवे भत्तपाणतु, कप्पा कप्पमि सकिअ ।
दिंतिय पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिस ॥ ४४ ॥

यद्भवेद् भक्तपानं तु, कल्पाकल्पे शङ्कितम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ (जं) जो (भत्तपाणं) आहार-पानी (कप्पा कप्पमि) कल्पनीय और अकल्पनीय की शङ्का से शङ्कित हो (तु) तो) दिंतिय) देनेवाली से (पडिआइक्खे) कहदेवे कि (मे) मुझे (तारिस) इस प्रकार का शङ्कित आहार पानी (नकप्पइ) नहीं कल्पता है ॥ ४४ ॥

मूलार्थ—यह आहार पानी मेरे को—कल्पनीय है या अकल्पनीय है—इस तरह की शङ्का होजाने पर साधु देनेवाली स्त्री से कहदेकि- मुझे ऐसा आहार-पानी कल्पता नहीं है ॥ ४४ ॥

(तु) तो (तं) वह (भत्तपाणं) आहार-पानी (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं)
अकल्पनीय (भवे) होता है अतः (दिंतियं) देने वाली से (पडिआइक्खे) कह देकि (मे)
मुझे (तारिसं) इस प्रकार का आहार पानी (नकप्पइ) नहीं कल्पता है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

मूलार्थ—बालक-बालिका को स्तन पान कराती हुई स्त्री, उन रोते हुए बालक-बालिका को
नीचे भूमिपर रखकर साधु को आहार पानी देतो-
वह आहार-पानी साधु को अग्राह्य है। अतः देने वाली से कहदे कि इस प्रकार का आहार-पानी
मुझे नहीं कल्पता है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

भाष्य—ऊपर जो आहार-पानी लेने का निषेध किया गया है। इसका यह कारण है कि-
इस प्रकार करने से बालक के दुग्ध पान की अन्तराय लगती है। तथा भूमि आदि अलग—अरक्षित
स्थान पर रखने से मार्जार आदि के आक्रमण से पीड़ा पहुंच ने की संभावना है।

यहाँ एक बात यह है कि अपवाद मार्गावलम्बी स्थविर कल्पी मुनि- यदि बालक दुग्ध पान
न करता हो-भूमिपर रखने से किसी प्रकार के कष्ट हो जाने की सम्भावना भी न हो और वहाँ वह
रखने से रुदन करता हो, तब उस बालक वाली स्त्री से आहार पानी ग्रहण कर सकता है। परंतु
जो उत्सर्ग मार्गावलम्बी जिनकल्पी मुनि है, वे ऐसा नहीं करते। चाहे वालक दुग्ध पीता हो

मपीता हो कष्ट की सम्भावना हो—न सम्भावना हो, रोता हो—न रोता हो, किसी भी हालत में बच्चे वाली स्त्री से आहार पानी ग्रहण नहीं करते।

और विशेष बात यहां यह है—अपवाद मार्गावलम्बी मुनि को अपने द्रव्य, क्षेत्र काल, और भावका पूर्ण विचार करके उचितमार्ग का आश्रयण करना चाहिए। ॥ ४२-४३ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार प्राप्त अप्राप्त की शङ्कावाले पदार्थों के विषय में कहते हैं:—

ज भवे भत्तपाणतु , कप्पा कप्पमि सकिअ ।
दिंतिय पडिआइक्खे , न मे कप्पइ तारिस ॥ ४४ ॥

यद्भवेद् भक्तपानं तु, कल्पाकल्पे शङ्कितम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ (जं) जो (भत्तपाणं) आहार-पानी (कप्पा कप्पमि) कल्पनीय और अकल्पनीय की शङ्का से शङ्कित हो (तु) तो) दिंतियं) देनेवाली से (पडिआइक्खे) कहदेवे कि (मे) मुझे (तारिस) इस प्रकार का शङ्कित आहार पानी (नकप्पइ) नहीं कल्पता है ॥ ४४ ॥

मूलार्थ—यह आहार पानी मेरे को—कल्पनीय है या अकल्पनीय है—इस तरह की शङ्का होजाने पर साधु देनेवाली स्त्री से कहदेकि- मुझे ऐसा आहार पानी कल्पता नहीं है ॥ ४४ ॥

भाष्य—आहार पानी ग्रहण के उद्गम आदि दोष पहले कहे जाचुके हैं। जिस समय उन दोनों का निश्चय साधु को होजाता है, उस समय तो साधु आहार पानी लेते ही नहीं हैं। क्यों कि —वह उनके लिए अकल्पनीय है। किन्तु जिस समय उन दोषों में किसी प्रकार का संदेह भी साधु के हृदय में उत्पन्न होजाय तो ऐसी हालत में भी साधु को वह आहार पानी ग्रहण नहीं करना चाहिए।

कारण कि—शङ्कायुक्त आहार पानी लेने से आत्मा में एक प्रकार का अयुक्त साहस उत्पन्न हो जाता है। इसलिए शङ्कायुक्त आहार पानी साधु को कदापि न लेना चाहिये ॥ ४४ ॥

उत्थानिका—अब शास्त्रकार, आहार-पानी के विषय में और भी कुछ प्रतिबन्ध कहते हैं:

दगवारेण पिहिअं, नीसाए पीढएण वा ।
लोढेण वावि लेवेण, सिलेसेण वि केणइ ॥ ४५ ॥
तं च उब्भिदिआ दिज्जा, समणट्ठा एव दावए ।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४६ ॥ [युग्मम्]

दकवारेण पिहितं, निःसारिकया पीठकेन वा ।
लोष्ठेन वापि लेपेन, श्लेषेण वा केनचित् ॥ ४५ ॥

तच उद्भिद्य दद्यात्, श्रमणार्थं वा दायकः ।
ददती प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥४६॥

अन्वयार्थ—(**दगवारेण**) पानी के घड़े से (**वा**) अथवा (**नीसाए**) पत्थर की पेषणी से (**पीढएण**) पीठ-चौकी से (**वा**) अथवा (**लोढेण**) शिलापुत्र से तथा (**लेवेण**) मिट्टी आदि के लेप से (**वा**) अथवा (**सिलेसेण**) लाख आदि से अथवा (**केणइवि**) अन्य किसी भी वस्तु से (**पिहिअं**) ढका हुआ हो और—

(**त**) उस ढके हुए आहार-पानी को (**समणट्ठाए**) साधु के वास्ते ही (**उब्भिदिआ**) खोलकर (**दावए**) देने वाला गृहस्थ (**दिज्जा**) देवे तब (**दिंतिअं**) देने वाले के प्रति (**पडिआइक्खे**) कहे (**मे**) मुझे (**तारिसं**) इस प्रकार का अन्न-पानी (**नकप्पइ**) नहीं कल्पता है॥ ४५-४६ ॥

मूलार्थ—पानी के घड़े से, पत्थर की पेषणी से, चौकी से, शिलापुत्र से, मिट्टी के लेपसे, लाख आदि की मुद्रा से, अथवा अन्य किसी वस्तुसे, आहार पानी यदि ढका हुआ हो—

और उसको साधु के ही निमित्त से उघाड़कर यदि दाता उस आहार पानी को देतो साधु दाता से कहदे कि—इस प्रकार का आहार-पानी मुझे नहीं कल्पता है ॥ ४५–४६ ॥

भाष्य—आहार पानी ग्रहण के उद्गम आदि दोष पहले कहे जा चुके हैं। जिस समय उन दोनों का निश्चय साधु को हो जाता है, उस समय तो साधु आहार पानी लेते ही नहीं हैं। क्यों कि—वह उनके लिए अग्रहणीय है। किन्तु जिस समय उन दोषों में किसी प्रकार का संदेह भी साधु के हृदय में उत्पन्न हो जाय तो ऐसी हालत में भी साधु को वह आहार पानी ग्रहण नहीं करना चाहिए।

कारण कि—शङ्कायुक्त आहार पानी लेने से आत्मा में एक प्रकार का अयुक्त साहस उत्पन्न हो जाता है। इसलिए शङ्कायुक्त आहार पानी साधु को कदापि न लेना चाहिये॥ ४४॥

उत्थानिका—अब शास्त्रकार, आहार-पानी के विषय में और भी कुछ प्रतिबन्ध कहते हैं-

दगवारेण पिहिअं, नीसाए पीढएण वा।
लोढेण वावि लेवेण, सिलेसेण वि केणइ॥ ४५॥
तं च उब्भिंदिआ दिज्जा, समणट्ठा एव दावए।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥ ४६॥ [युग्मम्]

दकवारेण पिहितं, निःसारिकया पीठकेनवा।
कोष्ठेन वापि लेपेन, श्लेषेण वा केनचित्॥४५॥

तच्च उद्भिद्य दद्यात्, श्रमणार्थं वा दायकः ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥४६॥

अन्वयार्थ—(दगवारेण) पानी के घड़े से (वा) अथवा (नीसाए) पत्थर की पेषणी से (पीढएण) पीठ-चौकी से (वा) अथवा (लोढेण) शिलापुत्र से तथा (लेवेण) मिट्टी आदि के लेप से (वा) अथवा (सिलेसेण) लाख आदि से अथवा (केणइवि) अन्य किसी भी वस्तु से (पिहिअं) ढका हुआ हो और—

(तं) उस ढके हुए आहार-पानी को (समणट्ठाए) साधु के वास्ते ही (उब्भिदिआ) खोलकर (दावए) देने वाला गृहस्थ (दिज्जा) देवे तब (दिंतिअं) देने वाले के प्रति (पडिआइक्खे) कहे (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार का अन्न-पानी (नकप्पइ) नहीं कल्पता है ॥ ४५-४६ ॥

मूलार्थ—पानी के घड़े से, पत्थर की पेषणी से, चौकी से, शिलापुत्र से, मिट्टी के लेपसे, लाख आदि की मुद्रा से, अथवा अन्य किसी वस्तुसे, आहार पानी यदि ढका हुआ हो—

और उसको साधु के ही निमित्त से उघाड़कर यदि दाता उस आहार पानी को देतो साधु दाता से कहदे कि—इस प्रकार का आहार-पानी मुझे नहीं कल्पता है ॥ ४५—४६ ॥

भाष्य—ऊपर जिन पदार्थों से आहार-पानी लेना हुआ बतलाया गया है। उनमें सचित्त या अचित्त दोनों ही पदार्थों का ग्रहण है। सो सचित्त तो पहले ही वर्जनीय है। और जो अचित्त पदार्थ हैं वेभी इस गाथा द्वारा वर्जनीय है।

यद्यपि यहांपर लिये हुए पदार्थों का मूल में वर्णन नहीं है, किन्तु उपलक्षण से वेभी ग्रहण किये जाते हैं।

अस्तु- गृहस्थ जब केवल साधु के वास्ते ही उन भाजनों को खोल कर वा सियेहुयों की सीमन तोड़ कर साधु को आहार-पानी देने लगे तब देने वाले गृहस्थ से साधु स्पष्ट कहदे कि—'हेभद्र! इस प्रकार से आहार-पानी मुझे लेना नहीं योग्य है। क्योंकि— जब तुम मेरे निमित्त ही खोलकर अमुक वस्तु मुझे देने लगे होगे उक्त भाजनों को मृत्तिकादि द्वारा तुम्हें फिर लिप्त आदि करना पड़ेगा। जिस से फिर हिंसा होने की संभावना है। इसके अतिरिक्त सिया हुआ पदार्थ यदि किसी अन्यका निकल आवेतो फिर उनको सक्लेश उत्पन्न होजाने की संभावना है। इसलिये साधु को उक्तकार्यों से बचना चाहिए।

इससे सिद्ध हुआ कि- जिस में हिंसा अयत्ना वा विवादादि के कारण उपस्थित होजाने की आशंका होतो वह भिक्षा भी साधु को नहीं लेनी चाहिए यदि किसी प्रकार की आत्म विराधना वा संयम विराधना की संभावना न होतो कारणवश अपवाद मार्ग में इस प्रकार खुलवा कर योग्य पदार्थ लिया जा सकता है। परन्तु-लिया जा सकताहै-अचित्त पदार्थ स्वामकपी सचित्त नहीं ॥ ४८-४६ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार,इस विषय का वर्णन करते हैं कि, जो भोजन केवल दान के वास्ते ही तैयार किया गया होतो उस विषय में साधु को क्या करना चाहिए—

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, दाणट्ठा पगडं इमं ॥ ४७ ॥
तारिसं भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४८ ॥ [युग्मम्]

अशनं पानकं वापि, खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
यज्जानियात् शृणुयाद्वा, दानार्थं प्रकृतमिदम् ॥ ४७ ॥
तादृशं भक्तपानन्तु, संयताना मकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ—(असणं) अन्न (पाणगं) पानी (वावि) अथवा (खाइमं) खाद्य—मोदकप्रमुख (तहा) तथा (साइमं) स्वाद्य—लवंगप्रमुख कोई पदार्थ (जं) यदि (जाणिज्ज) स्वयमेव जानले

(वा) अथवा (सुणिज्जा) किसी अन्य से सुनले कि (इमं) यह पदार्थ (दाणट्ठा) दानके लिए (पगडं) बनाया गया है—

(तु) तो (तारिस) इस प्रकार का (भत्तपाणं) आहार—पानी (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं) अकल्पनीय है अतः (दितिअं) देनेवाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार का आहार-पानी (न) नहीं (कप्पइ) कल्पता है ॥ ४७-४८ ॥

मूलार्थ—अन्न, पानी, खाद्य वा स्वाद्य पदार्थ को स्वयमेव जान लिया हो अथवा सुन लिया हो कि —यह पदार्थ दान के वास्ते ही तैयार किया गया है—

सो इस प्रकार का अन्न पानी साधुओं को लेना उचित नहीं है। अतः, भावितात्मा साधु देने-वाली स्त्री से साफ साफ कहदे कि, इस प्रकार का अन्न पानी मुझे नहीं कल्पता है ॥ ४७ ४८ ॥

भाष्य—जब साधु भिक्षा के वास्ते गृहस्थ के घर पहुंचे तब उसे स्वयमेव या किसी अन्य के द्वारा यह मालूम होजाए कि- "यह ओदनादि अन्न, द्राक्षादि का पानी मोदक आदि खाद्य पदार्थ तथा हरीतिकी वा इलायची आदि स्वाद्य पदार्थ, अमुक गृहस्थने केवल दान के लिए ही तैयार किये हैं" तब साधु को वे पदार्थ कदापि न लेने चाहिएँ।

कारण कि—दान लेने वालों का अन्तराय पड़ता है। तथा साधु की वृत्ति गृहस्थ के आवश्यकों में यथासंविभाग व्रत में वर्णन की गई है।

साथ ही इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उक्त चारों प्रकार के आहार प्रासुक ही लेने चाहिए। यहाँपर तो केवल दान के कारण से वे निषिद्ध कथन किये गये हैं।

अस्तु—यदि कोई स्त्री उपर्युक्त पूर्वोक्त आहार पानी साधु को देनेही लगेतो साधु को बिना किसी लाग लपेट के स्पष्ट कह देना चाहिए कि—हे बहन! क्यों हठ करती हो। इस प्रकार का अन्न पानी मैं कदापि नहीं ले सकता। क्योंकि यह केवल दान के निमित्त तैयार किया गया है। "स्पष्ट भाषी सदा सुखी"।

प्राचीन प्रतियों में उक्त द्वितीय गाथा का प्रथमपद "तंभवे भत्तपाणं तु" कथन किया है। किन्तु—बृहद्वृत्तिकार वा दीपिकाकार उक्त गाथा का प्रथमपद "तारिसं भत्तपाणंतु" लिखते हैं। लेकिन् अगली गाथाओं के देखनेसे निश्चय होता है कि "तंभवेभत्तपाणं तु" पदही समीचीन है। क्यों कि प्राय प्राचीन प्रतियों में विशेषतया यहीपद ग्रहण किया है॥ ४७–४८॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, जो भोजन केवल पुण्य के लिए ही तैयार किया है उसके विषय में वर्णन करते हुए कहते हैं—

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।

(वा) अथवा (सुणिज्जा) किसी अन्य से सुनले कि (इमं) यह पदार्थ (दाणट्ठा) दानके लिए (पगड) बनाया गया है—

(तु) तो (तारिसं) इस प्रकार का (भत्तपाणं) आहार-पानी (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं) अकल्पनीय है अत. (दिंतिअं) देनेवाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार का आहार-पानी (न) नहीं (कप्पइ) कल्पता है ॥ ४७-४८ ॥

मूलार्थ—अन्न, पानी, खाद्य या स्वाद्य पदार्थ को स्वयमेव जान लिया हो अथवा सुन लिया हो कि —यह पदार्थ दान के वास्ते ही तैयार किया गया है—

तो इस प्रकार का अन्न पानी साधुओं को लेना उचित नहीं है। अतः, भावितात्मा साधु देने-वाली स्त्री से साफ साफ कहदे कि, इस प्रकार का अन्न पानी मुझे नहीं कल्पता है ॥ ४७ ४८ ॥

भाष्य—जब साधु भिक्षा के वास्ते गृहस्थ के घर पहुंचे तब उसे स्वयमेव या किसी अन्य के द्वारा यह मालूम होजाय कि- "यह ओदनादि अन्न, द्राक्षादि का पानी मोदक आदि खाद्य पदार्थ तथा हरीतकी या इलायची आदि स्वाद्य पदार्थ, अमुक गृहस्थने केवल दान के लिए ही तैयार किये हैं" तब साधु को वे पदार्थ कदापि न लेने चाहिएं।

(मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकारका अन्न पानी (नकप्पइ) नहीं कल्पता है ॥ ४९ ५० ॥

मूलार्थ—अन्न, पानी, खाद्य, और स्वाद्य पदार्थ, जिसको स्वयमेव वा अन्य किसी से सुन कर साधु यदि यह जानले कि-यह पदार्थ पुण्य के वास्ते बनाया गया है—

तो वह अन्न पानी साधुओं को अग्राह्य है। अत' साधु देने वाली से कहदे कि- मुझे इस प्रकार का अन्न पानी नहीं कल्पता है ॥ ४९-५० ॥

भाष्य—इस गाथा युग्म में इस विषय का प्रकाश किया है कि-जो अशनादि पदार्थ पुण्यार्थ बनाए गए हों, साधु उन्हें ग्रहण न करे और देने वाली से भी स्पष्ट कहदे कि "मैं यह आहार पानी नहीं ले सकता। क्योंकि मैं किसी की आत्मा को अन्तराय नहीं करना चाहता। मेरी वृत्ति ऐसी भिक्षा लेने की है ही नहीं। यह बात नहीं कि मैं तुम्हारे यहाँ से ही ऐसे टलरहा हूँ। मैं सभी के यहाँ ऐसा किया करता हूँ।"

यहाँ यदि यह शङ्का की जाय कि-शिष्ट कुलों में साधु भिक्षा के वास्ते जो जाते हैं तब वे लोग साधु को पुण्य की भावना से ही भिक्षा देते हैं। तो इस से यह सिद्ध होता है कि साधु को किसी भी कुल में भिक्षा के लिए न जाना चाहिए ?

इसका समाधान यह है कि-जो अशनादि पदार्थ केवल पुण्य के अर्थ ही कल्पित किए हुए हैं, सूत्र कर्ता ने उन्हीं का निषेध किया है। किन्तु जो गृहस्थ लोग साधु को अपने खान में से

ज जाणिज्ज सुणिज्जा वा, पुण्णट्ठा पगड इम ॥ ४९ ॥

त भवे भत्तपाण तु, सजयाण अकप्पिअ ।
दिंतिअ पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिस ॥ ५० ॥ [युग्मम्]

अशनं पानकं वा पि, खाद्य स्वाद्य तथा ।
यज्जानियात् शृणुयाद्वा, पुण्यार्थं प्रकृतमिदम् ॥ ४९ ॥
तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ—(असणं) अन्न (पाणगं) पानी (वावि) अथवा (खाइमं) खाद्य पदार्थ (तहा) तथा (साइमं) स्वाद्य पदार्थ (जं) यदि (जाणिज्ज) आमन्त्रणादि से स्वयमेव जान ले (वा) अथवा (सुणिज्जा) किसी अन्य से सुनले कि- (इम) यह पदार्थ (पुण्णट्ठा) पुण्य के अर्थ (पगडं) बनाया गया है—

(तु) तो (तं) वह (भत्तपाणं) भोजन और पानी (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं) अकल्पनीय (भवे) होता है। अतः (दिंतिअं) देने वाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि—

त भवे भत्तपाण तु, सजयाण अकप्पिअ ।
दिंतिअ पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिस ॥५२॥

अशनं पानकं वापि, खाद्यं स्वाद्य तथा ।
यज्जानियात् शृणुयाद्वा, वनीपकार्थं प्रकृतमिदम् ॥ ५१ ॥
तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थ—(असण) अन्न (पाणगं) पानी (वावि) अथवा (खाइमं) खाद्य पदार्थ (तहा) तथा (साइम) स्वाद्य पदार्थ (जं) यदि (जाणिज्ज) आमन्त्रणादि से स्वयमेव जान ल (वा) अथवा (सुणिज्जा) किसी अन्य से सुनले कि- (इमं) यह पदार्थ (वणिमट्ठा) याचकों के लिये (पगडं) बनाया गया है

(तु) तो (त) वह (भत्तपाण) भोजन और पानी (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं) अकल्पनीय (भवे) होता है अत (दिंतिअ) देने वाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि- (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार का भोजन पानी (नकप्पइ) नहीं कल्पता है ॥५१ ५२॥

संविभाग करता है- जिसके कारण से वह निर्जरा वा पुण्य रूप फल को उपार्जन करता है, उसका निषेध नहीं है।

अतः सिद्ध हुआ कि, केवल पुण्य के अर्थ ही कल्पित किया हुआ पदार्थ मुनि नहीं ले सकता। जैसे कि-मृत्यु के समय बहुत से लोग म्रियमाण पुरुष से संकल्प करवाया करते हैं।

यहाँ यदि दूसरी शंका यह की जाय कि- दान और पुण्य में क्या अन्तर है जो सूत्रकार ने दोनों को पृथक् पृथक् किया है? तो समाधान में कहना है कि-लोग दान प्रायः यशः कीर्ति आदि के वास्ते करते हैं और पुण्य प्रायः परलोक के वास्ते किया करते हैं। एतदर्थ सूत्रकारने भी लौकिक प्रथा के अनुसार दोनों को पृथक् पृथक् रूप से ग्रहण किया है। वैसे तो ये दोनों नाम पर्याय वाची ही हैं ॥ ४९-५० ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मुख्यतया याचकों के वास्ते ही जो भोजन तैयार किया गया है, उसके विषय में कहते हैं—

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, वणिमट्ठा पगडं इमं ॥५१॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५४ ॥ [युग्मम्]

अशनं पानकं वापि, खाद्यं स्वाद्यं तथा।
यज्जानियात् शृणुयाद्वा, श्रमणार्थं प्रकृतमिदम् ॥५३॥
तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ५४ ॥

अन्वयार्थ—(असणं) अन्न (पाणगं) पानी (वावि) अथवा (खाइमं) खाद्य पदार्थ (तहा) तथा (साइमं) स्वाद्य पदार्थ (जं) यदि (जाणिज्ज) आमन्त्रणादि से स्वयमेव जान ले (वा) अथवा (सुणिज्जा) किसी अन्य से सुनले कि- (इमं) यह पदार्थ (समणट्ठा) श्रमणों के अर्थ (पगडं) बनाया गया है—

(तु) तो (तं) वह (भत्तपाणं) भोजन और पानी (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं) अकल्पनीय (भवे) होता है। अत (दिंतिअं) देने वाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि— (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार का भोजन पानी (नकप्पइ) नहीं कल्पता है ॥५३-५४॥

मूलार्थ—अन्न, पानी, खाद्य और स्वाद्य पदार्थों के विषय में साधु स्वयमेव या अन्य किसी से सुनकर यह जानले कि—ये पदार्थ याचकों के वास्ते तैयार किए गए हैं—

तो ये पदार्थ साधु को अकल्पनीय हैं। अत: देनेवाली स्त्री से स्पष्ट कहे कि—ये भोजन पानी मेरे योग्य नहीं हैं। अत: मैं नहीं ले सकता ॥ ५१—५२ ॥

भाष्य—उक्त दोनों गाथाओं में याचकों के लिये जो भोजन तैयार किया गया हो, साधु को उस को लेने के लिये निषेध किया गया है।

कारण वही हैं जो पूर्व गाथाओं के विवरण में कहे जा चुके हैं ॥ ५१-५२ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, जो भोजन श्रमणों के लिए तैयार किया गया है उसके विषय में निर्णयात्मक कथन करते हैं—

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, समणट्ठा पगडं इमं ॥ ५३ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५४ ॥ [युग्मम्]

अशनं पानकं वापि, खाद्यं स्वाद्यं तथा।
यज्जानियात् शृणुयाद्वा, श्रमणार्थं प्रकृतमिदम् ॥ ५३ ॥
तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ५४ ॥

अन्वयार्थ—(असणं) अन्न (पाणगं) पानी (वावि) अथवा (खाइमं) खाद्य पदार्थ (तहा) तथा (साइमं) स्वाद्य पदार्थ (जं) यदि (जाणिज्ज) आमन्त्रणादि से स्वयमेव जान ले (वा) अथवा (सुणिज्जा) किसी अन्य से सुनले कि- (इमं) यह पदार्थ (समणट्ठा) श्रमणों के अर्थ (पगडं) बनाया गया है—

(तु) तो (तं) वह (भत्तपाणं) भोजन और पानी (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं) अकल्पनीय (भवे) होता है। अतः (दिंतिअं) देने वाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि— (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार का भोजन पानी (नकप्पइ) नहीं कल्पता है ॥५३ ५४॥

मूलार्थ—अन्न, पानी, खाद्य तथा स्वाद्य पदार्थ को साधु स्वयमेव या अन्य किसी से सुनकर यह जानले कि– ये पदार्थ श्रमणों के वास्ते बनाए गए हैं–

तो वे पदार्थ साधु को अकल्पनीय होते हैं। अतः साधु देने वाली स्त्री से कह देकि–ये पदार्थ मुझे लेने नहीं कल्पते हैं ॥ ५३–५४ ॥

भाष्य—उक्त दोनों गाथाओं में श्रमणों के लिये जो भोजन तैयार किया गया है उसको ग्रहण करने के लिये जैन साधुओं को निषेध किया है।

यद्यपि श्रमण शब्द जैन भिक्षुओं के लिये भी प्रायः जैन सूत्रोंमें व्यवहृत होता है। तथापि 'श्रमण' शब्द शाक्य आदि भिक्षुओं के लिए भी उनके शास्त्रों में व्यवहृत होता है। क्योंकि वे अपने आपको 'श्रमण' कहते हैं। इसी लौकिक दृष्टि से यहाँ परभी 'श्रमण' शब्द शाक्य आदि भिक्षुओं के लिये ही प्रयुक्त किया है।

अत शाक्यादि श्रमणों के वास्ते बनाए गये भोजन को सदा प्रशस्तात्मा साधु कष्ट से कष्ट के समय में भी ग्रहण नहीं करे।

कारण कि– उसके ग्रहण करने से अनेक दोषों के उत्पन्न होने की संभावना है। जैसे कि– कोई अज्ञानी पुरुष स्वाभाविकता से अपने हृदय में यह बात अङ्कित कर बैठता है कि, प्रत्येक साधु के लिये बनाए हुआ भोजन प्रत्येक मुनि ले सकता है। [illegible] किसी भी तैयार करके

माधन उनको देखिया जायगा तथा उनके अन्तराय या परस्पर वैमनस्यभाव के भी उत्पन्न होने की आशङ्का है ॥ ५३-५४ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, इसी आशङ्का को मुख्य रखते हुए फिर इसी आहार विधि के विषय में प्रकरणोचित वर्णन करते हैं—

उद्देसियं कीअगडं, पूइकम्मं च आहडं ।
अज्झोअरं पामिच्चं, मीसजायं विवज्जए ॥ ५५ ॥

औद्देशिकं क्रीतकृतं, पूतिकर्म च आहृतम् ।
अध्यवपूरकं प्रामित्यं, मिश्रजातं विवर्जयेत् ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थ—(उद्देसियं) साधु का निमित्त रखकर तैयार किया हुआ (कीअगडं) साधु के निमित्त मोल लिया हुआ (च) और (पूइकम्मं) निर्दोष आहार में आधाकर्मी का संयोग मिला हुआ तथा (आहडं) ग्रामादि से साधु के निमित्त लाया हुआ (अज्झोअरं) मूल आहार में साधु का निमित्त रखकर उसमें और प्रक्षेप किया हुआ (पामिच्चं) निर्बल से छीनकर साधुको देना (च) तथा (मीसजायं) साधु के और अपने वास्ते साधारण-सम्मिलित रूप से तैयार किया हुआ आहार

मूलार्थ—अन्न, पानी, खाद्य तथा स्वाद्य पदार्थ को साधु स्वयमेव या अन्य किसी से सुनकर यह जानले कि– ये पदार्थ श्रमणों के वास्ते बनाए गए हैं–

तो वे पदार्थ साधु को अकल्पनीय होते हैं। अतः साधु देने वाली स्त्री से कह देकि–ये पदार्थ मुझे लेने नहीं कल्पते हैं॥ ५३–५४ ॥

भाष्य—उक्त दोनों गाथाओं में श्रमणों के लिये जो भोजन तैयार किया गया है उसको ग्रहण करने के लिये जैन साधुओं को निषेध किया है।

यद्यपि श्रमण शब्द जैन भिक्षुओं के लिये भी प्रायः जैन सूत्रोंमें व्यवहृत होता है। तथापि 'श्रमण' शब्द शाक्य आदि भिक्षुओं के लिए भी उनके शास्त्रों में व्यवहृत होता है। क्योंकि वे अपने आपको 'श्रमण' कहते हैं। इसी लौकिक दृष्टि से यहाँ परभी 'श्रमण' शब्द शाक्य आदि भिक्षुओं के लिये ही प्रयुक्त किया है।

अतः शाक्यादि श्रमणों के वास्ते बनाए गये भोजन को सदा प्रशस्तात्मा साधु कष्ट से कष्ट के समय में भी ग्रहण नहीं करे।

कारण कि– उसके ग्रहण करने से अनेक दोषों के उत्पन्न होने की संभावना है। जैसे कि– कोई अज्ञानी पुरुष स्वाभाविकता से अपने हृदय में यह बात अङ्कित कर बैठता है कि, प्रत्येक साधु के लिए बना हुआ भोजन प्रत्येक मुनि ले सकता है। [illegible] आदि मुझे इनके लिये भी तैयार करके

उत्थानिका—अब उद्गमादि दोषों की शका दूर करने के लिए कहते हैं—

उग्गम से अ पुच्छिज्जा , कस्सट्ठा केणवा कड ।
सुच्चा निसकिय सुद्ध , पडिगाहिज्ज सजए ॥ ५६ ॥

उद्गमं तस्य च पृच्छेत् , कस्यार्थं केन वा कृतम् ।
श्रुत्वा निःशङ्कित शुद्धं प्रतिगृह्णीयात् संयत ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थ—(सजए) साधु (अ) फिर सन्देह होने पर (से) उस शङ्कित अन्न पान की (उग्गमं) उत्पत्ति के विषय में (पुच्छिज्जा) पूछेकि— यह आहार (कस्सट्ठा) किसके लिये (वा) और (केण) किसने (कड) तैयार किया है (सुच्चा) यदि दातार का उत्तर सुनकर यह आहार (निस्सकियं) नि शंकित और (सुद्ध) शुद्ध मालूम पड़ेतो (पडिगाहिज्ज) ग्रहण करे—नहीं तो नहीं ॥ ५६ ॥

मूलार्थ— पूर्वोक्त आहारादि में शङ्का होजाने पर साधु दातार से उस शङ्कित आहार की उत्पत्ति के विषय में पूछेकि—यह आहार किसलिये और किसने तैयार किया है? इस प्रकार पूछनेपर यदि यह आहार शका रहित एव निर्दोष जान पड़ेतो साधु ग्रहण करे—अन्यथा नहीं ॥ ५६ ॥

पानी (विवज्जए) साधु छोड़दे ग्रहण न करे ॥ ५५ ॥

मूलार्थ—औद्देशिक आहार, क्रीतकृत आहार, पूतिकर्म आहार, आहृत आहार, अध्यवपूरक आहार, प्रामित्य आहार, और मिश्रजात आहार इत्यादि प्रकार के आहारों को साधु वर्ज देवे ॥ ५५ ॥

भाष्य—इस सूत्र में इस बात का प्रकाश किया गया है कि-साधु को निम्नलिखित सात प्रकार का आहार नहीं लेना चाहिए।

१ औद्देशिक आहार—केवल साधु का ही निमित्त रखकर तैयार किया हुआ आहार।

२ क्रीतकृत— साधु के लिये मोल लिया हुआ—खरीदा हुआ आहार।

३ पूतिकर्म— आधाकर्मी आहार के स्पर्श से दूषित निर्दोष आहार।

४. आहृत — साधु के उपाश्रय में लाकर देना या साधु के लिये अन्य ग्रामादि से मंगवा कर देना।

५ अध्यवपूरक—साधु की याद आजाने पर अपने लिए बनाते हुए आहार को और मिलाकर बढ़ा देना

६ प्रामित्य—साधु के लिये निबल से छीना हुआ आहार।

७ मिश्रजात—अपने और साधु के लिये संमिलित रूप से तैयार किया हुआ आहार।

उपयुक्त आहार इसलिये नहीं लेने चाहियें कि-इस प्रकार के आहार लेने से साधु की वृत्ति भंग हो जाती है और साधु ही जो अहिंसादि व्रत ग्रहण किये हुए हैं उनमें शिथिलता आ जाती है।

अशन पानकं वापि, खाद्य स्वाद्यं तथा।
पुष्पैर्भवेदुन्मिश्रं, बीजैर्हरितैर्वा ॥ ५७ ॥
तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत , न मे कल्पते तादृशम् ॥ ५८ ॥

अन्वयार्थ—(असण) अन्न (पाणग) पानी (वावि) अथवा (खाइमं) खाद्य (तहा) तथा (साइम) स्वाद्य पदार्थ यदि (पुप्फेसु) पुष्पों से (बिएसु) बीजों से (वा) अथवा (हरिएसु) हरित-दुर्वादिकों से (उम्मीस) उन्मिश्र-मिला हुआ हो—

(तु) तो (त) वह (भत्तपाण) अन्न-पानी (सजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं) अकल्पनीय (भवे) होता है अत (दिंतिअ) देनेवाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि (तारिसं) इस प्रकार का आहार-पानी (मे) मुझे (न) नहीं (कप्पइ) कल्पता है ॥ ५७-५८ ॥

मूलार्थ—यदि अन्न, पानी, खाद्य तथा स्वाद्य पदार्थ पुष्पों से, बीजोंसे तथा हरित दूर्वा आदि से मिश्रित हों–

भाष्य—इस गाथा में यह बतलाया गया है कि–यदि आहार लेते समय साधु को आहार के विषय में किसी प्रकार की अशुद्धि की आशंका होजाय तो साधु बिना दातार से पूछताछ कर निर्णय किए उस आहार को कदापि ग्रहण न करे । यदि गृहस्वामी दातार से पूर्णतया निर्णय न होसके तो अन्य नासमझ बालक बालिका आदि से पूछकर निर्णय करे। मतलब यह है कि सर्वथा निःशंकित होने की चेष्टा करे। क्योंकि शंका युक्त आहार का लेना साधु के लिये सर्वथा अयोग्य है।

क्यों अयोग्य है ? इस प्रश्न के विषय में यह बात है कि-इस प्रकार संदेहयुक्त पदार्थों के लेने से साधुकी आत्मा में दुर्बलता आजाती है। जब आत्मा में दुर्बलता–प्रतिभाहीनता आगई तो फिर साधुता कहाँ ? दुर्बलता और साधुता का तो परस्पर महान विरोध है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, बीजादि मिश्रित अशनादि पदार्थों के लेने का निषेध करते हैं—

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा ।
पुप्फेसु हुज्ज उम्मीसं, बीएसु हरिएसु वा ॥ ५७ ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५८ ॥ [युग्मम्]

अशन पानकं वापि, खाद्य स्वाद्यं तथा ।
पुष्पैर्भवेदुन्मिश्रं, बीजैर्हरितैर्वा ॥ ५७ ॥
तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ५८ ॥

अन्वयार्थ—(असण) अन्न (पाणग) पानी (वावि) अथवा (खाइम) खाद्य (तहा) तथा (साइमं) स्वाद्य पदार्थ यदि (पुप्फेसु) पुष्पों से (बिएसु) बीजों से (वा) अथवा (हरिएसु) हरित दुर्वादिकों से (उम्मीस) उन्मिश्र-मिला हुआ हो—

(तु) तो (त) वह (भत्तपाण) अन्न-पानी (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं) अकल्पनीय (भवे) होता है अत (दिंतिअं) देनेवाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि (तारिसं) इस प्रकार का आहार-पानी (मे) मुझे (न) नहीं (कप्पइ) कल्पता है ॥ ५७-५८ ॥

मूलार्थ—यदि अन्न, पानी, खाद्य तथा स्वाद्य पदार्थ पुष्पों से, बीजोंसे तथा हरित दूर्वा आदि से मिश्रित हों–

तो यह अन्न पानी साधुओं को अयोग्य होता है। अतः देनेवाली से साधु साफ कहदे कि, यह पदार्थ मुझे लेना नहीं कल्पता है ॥ ५७–५८ ॥

भाष्य—इस सूत्र युग्म में यह वर्णन है कि-यदि कोई दातार, साधु को पुष्पादि सचित्त पदार्थों से मिश्रित आहार पानी देने लगेतो, साधु उस आहार पानी को ग्रहण न करे और देने वाले गृहस्थ से स्पष्टता कहदे कि-यह आहार पानी मेरे योग्य नहीं है। अतः मैं नहीं लेसकता।

नहीं लेने का कारण यह है कि— साधु पूर्णअहिंसा वादी होता है। अतः वह न तो स्वय पुष्पादि सचित्त पदार्थों का स्पर्श करता है और न उन सचित्त पदार्थों से स्पर्शित आहार पानी आदि पदार्थ ग्रहण कर सकता है।

दातार को आहार लेने से नहीं कहने का कारण यह है कि—जब दातारगृहस्थ को-इस प्रकार दोष को बतला कर स्पष्ट नहीं म करदी जायगी, तब उसको—साधु ने मेरे से आहार क्यों नहीं लिया ? क्या कारण हुआ ? मैं बड़ा अभागी हूं। भला मेरे जैसे पापियों से साधु आहार कैसे ले सकते हैं ? इत्यादि विचारों से दुःख होता है।

दूसरे उसको- साधु विधि का भली भांति बोध होजाता है।

प्रथम "असणं पाणंवा" सूत्र में "पुप्फेसु बीएसु" आदि शब्दोंमें जो सप्तमी विभक्ति ग्रहण कीगई है, वह तृतीया विभक्ति के अर्थ में है।

उत्थानिका—अव सूत्रकार, सचित्त जल-प्रतिष्ठित पदार्थों के लेने का निषेध करते हैं—

असण पाणग वावि , खाइम साइम तहा ।
उदगमि हुज्ज निक्खित्त , उत्तिंग पणगेसु वा ॥ ५९ ॥
त भवे भत्तपाण तु , सजयाण अकप्पिअ ।
दिंतिअ पडिआइक्खे , न मे कप्पइ तारिस ॥ ६० ॥ [युग्मम्]

अशन पानकं वापि , खाद्य स्वाद्य तथा ।
उदके भवेत् निक्षिप्त , उत्तिंगपनकेषु वा ॥ ५९ ॥
तद्भवेद्भक्तपानं तु , संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत , न मे कल्पते तादृशम् ॥ ६० ॥

अन्वयार्थ—(असण) अन्न (पाणग) पानी (वावि) अथवा (खाइम) खाद्य (तहा) तथा (साइमं) स्वाद्य पदार्थ (उदगमि) जलपर (वा) अथवा (उत्तिंगपणगेसु) कीड़ी प्रमुख के नगर पर (निक्खित्त) रक्खा हुआ (हुज्ज) हो—

तो यह अन्न पानी साधुओं को अयोग्य होता है। अतः देनेवाली से साधु साफ़ कहदे कि, यह पदार्थ मुझे लेना नहीं कल्पता है ॥ ५७-५८ ॥

भाष्य—इस सूत्र युग्म में यह वर्णन है कि-यदि कोई दातार, साधु को पुष्पादि सचित्त पदार्थों से मिश्रित आहार पानी देने लगेतो, साधु उस आहार पानी को ग्रहण न करे और देने वाले गृहस्थ से स्पष्टता कहदे कि-यह आहार पानी मेरे योग्य नहीं है। अतः मैं नहीं लेसकता।

नहीं लेने का कारण यह है कि— साधु पूर्णअहिंसा व्रती होता है। अतः वह न तो स्वयं पुष्पादि सचित्त पदार्थों का स्पर्श करता है और न उन सचित्त पदार्थों से स्पर्शित आहार पानी आदि पदार्थ ग्रहण कर सकता है।

दातार को आहार लेने से नहीं कहने का कारण यह है कि—जब दातारगृहस्थ को-इस प्रकार दोष को बतला कर स्पष्टता नहीं न करदी जायगी, तब एकतो उसको—साधु ने मेरे से आहार क्यों नहीं लिया ? क्या कारण हुआ ? मैं बड़ा अभागी हूं। भला मेरे जैसे पापियों से साधु आहार कैसे ले सकते हैं ? इत्यादि विचारों से क्षुब्ध होता है।

दूसरे उसको- साधु विधि का भली भांति बोध होजाता है।

प्रथम "असणं पाणगं" सूत्र में "पुप्फेसु बीएसु" आदि शब्दोंमें जो सप्तमी विभक्ति ग्रहण कीगई है, वह तृतीया विभक्ति के अर्थ में है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार अग्नि प्रतिष्ठित पदार्थों के लेने का निषेध करते हैं।

असण पाणग वावि, खाइम साइम तहा।
तेउम्मि हुज्ज निक्खित्त, त च सघट्टिया दए ॥ ६१ ॥
त भवे भत्त पाण तु, सजयाण अकप्पिअ।
दिंतिअ पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिस ॥६२॥ [युग्मम्]

अशन पानकं वाऽपि, खाद्य स्वाद्यं तथा।
तेजसि भवेत् निक्षिप्त, तं च संघट्य दद्यात् ॥ ६१ ॥
तद्भवेद्भक्तपान तु, संयताना मकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थ—(असणं) अन्न (पाणगं) पानी (वावि) अथवा (खाइम) खाद्य (तहा) तथा (साइम) स्वाद्य पदार्थ (तेउम्मि) तेजस्काय अग्नि पर रक्खा हुआ (हुज्ज) हो (च) या (त) उस अग्निको (सघट्टिया) सघट्टा करके (दए) दे—

(तु) तो (तं) वह पदार्थ (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं) अकल्पनीय (भवे) होता है। अतः साधु (दितिअं) देने वाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि— (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार का आहार पानी (नकप्पइ) लेना नहीं कल्पता है ॥५९-६०॥

मूलार्थ—अन्न, पानी, खाद्य तथा स्वाद्य पदार्थ, यदि सचित्त जल पर या कीड़ी आदिके नगर पर रक्खे हुए हों—

तो वे पदार्थ साधु को अग्राह्य होते हैं। अतः मुनि देनेवाली स्त्री से कहदे कि—यह आहार मेरे योग्य नहीं है। मैं नहीं ले सकता ॥५९ ६०॥

भाष्य—जैन साधु अहिंसा की पूर्ण प्रतिज्ञा वाला होता है। अतः उसे अपनी प्रत्येक क्रियाओं में सर्वत्र व्यापिनी सूक्ष्म दृष्टि से अहिंसा की महती प्रतिज्ञा का पालन करना चाहिए।

वस्तु-जो अशनादि चतुर्विधाहार उदकोदक पर या कीड़ी प्रमुख के नगर पर रक्खा हुआ हो तो साधु उसे न ले और देने वाले को साफ शब्दों से मना करदे।

नहीं लेने का कारण यह है कि इस प्रकार आहार लेने से जीवों की विराधना होती है। जीवों की विराधना से संयम की विराधना स्वयं सिद्ध है ही। जब संयमी की ही विराधना होगई तो संयमी पना कहाँ रहा। प्रतिज्ञा के विषय में असावधानी रखना प्रतिज्ञा वाले के लिए बहुत बुरी बात है। मामूली सी असावधानी का परिणाम "अनन्तसंसारता" जैसा कटु होता है ॥ ५९ ६० ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार अग्नि प्रतिष्ठित पदार्थों के लेने का निषेध करते हैं।

असण पाणग वावि, खाइम साइम तहा।
तेउम्मि हुज्ज निक्खित्त, त च सघट्टिया दए ॥ ६१ ॥
त भवे भत्त पाण तु, सजयाण अकप्पिअ।
दिंतिअ पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिस ॥६२॥ [युग्मम्]

अशन पानक वाऽपि, खाद्य स्वाद्यं तथा।
तेजसि भवेत् निक्षिप्त, तं च संघट्य दद्यात् ॥ ६१ ॥
तद्भवेद्भक्तपान तु, संयताना मकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थ—(असणं) अन्न (पाणग) पानी (वावि) अथवा (खाइमं) खाद्य (तहा) तथा (साइम) स्वाद्य पदार्थ (तेउम्मि) तेजस्काय अग्नि पर रक्खा हुआ (हुज्ज) हो (च) या (त) उस अग्निको (सघट्टिया) सघट्टा करके (दए) दे—

(तु) तो (तं) वह (भत्तपाणं) अन्न-पानी (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअ) अकल्पनीय (भवे) होता है अतः (दिंतिअं) देनेवाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार का आहार-पानी (न) नहीं (कप्पइ) कल्पता है ॥ ६१ ६२ ॥

मूलार्थ-यदि अशनादि चतुर्विध आहार अग्निपर रक्खा हुआ हो अथवा दातार अग्निसे संघट्टा करके देवे-तो साधु को वह पदार्थ नहीं लेना चाहिए और दातार से कहदेना चाहिए कि-यह आहार मेरे अयोग्य है। अतः मैं नहीं लेता ॥ ६१-६२ ॥

भाष्य—यदि कोई महानुभाव अग्निपर रक्खे हुए अन्न आदि पदार्थ को तथा अग्नि से संघट्टा करके देवे तो साधु को वह ग्रहण नहीं करना चाहिए।

जैन शास्त्रकारों का अटल सिद्धान्त है कि- अग्नि सचित्त है-सजीव है। अतः पूर्ण अहिंसा को लक्ष्य में रखते हुए अग्निकाय के जीवों की रक्षा के लिए सूत्रकार ने यह निषेध किया है ॥ ६१-६२ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, फिर अग्नि के सम्बन्ध में ही कहते हैं—

एवं उस्सक्किया ओसक्किया, उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविया ।
उस्सिंचिया निस्सिंचिया, ओवत्तिया ओयारिया दए ॥ ६३ ॥

त भवे भत्तपाण तु , सजयाण अकप्पिअ ।
दितिअ पडिआइक्खे , न मे कप्पइ तारिस ॥६४॥ [युग्मम]

एव मुत्सिच्य अवसर्प्य , उज्ज्वाल्य प्रज्ज्वाल्य निर्वाप्य ।
उत्सिच्य निषिच्य अपवर्त्य , अवतार्य दद्यात् ॥ ६३ ॥
तद्भवेद्भक्तपान तु , संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत , न मे कल्पते तादृशम् ॥ ६४ ॥

अन्वयार्थ—(एव) इसी प्रकार कोई श्राविका (उस्सक्किया) चूल्हे में इन्धनडालकर या (ओसक्किया) चूल्हे में से इन्धन काढकर या (उज्जालिया) स्तोकमात्र चूल्हे में इन्धन डालकर अथवा (पज्जालिया) बहुतसा इन्धन चूल्हे में डालकर अथवा (निव्वाविया) अग्नि को बुझाकर या (उस्सिचिया) अग्निपर रक्खे हुए पात्र में से थोडा सा अन्न काढकर या (निस्सिचिया) अग्निपर रक्खे हुए पात्र में पानी का छींटा देकर या (ओवत्तिया) अग्निपर का अन्न अन्य पात्र में डालकर अथवा (ओयारिया) अग्निपर से पात्र उतार कर साधु को आहार (दए) देवे–

(तु) तो (तं) वह (भत्तपाणं) आहार पानी (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअ) अकल्पनीय (भवे) होता है अतः साधु (दितिअं) देने वाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि— (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार का आहार पानी (नकप्पइ) नहीं कल्पता है ॥६३ ६४॥

मूलार्थ—इस प्रकार यदि कोई दातार श्राविका-चूल्हे में इन्धन डालकर, चूल्हे में से इन्धन काढ़कर, स्तोक मात्र इन्धन चूल्हे में डालकर, बहुत सा इन्धन चूल्हे में डालकर, जलती हुई अग्नि को बुझाकर, अग्नि स्थित पात्र में से थोड़ासा अन्न काढ कर, अग्नि स्थित पात्र में जलका छींटा डालकर, अग्नि पर के अन्न को अन्य पात्र में काढ कर, तथा अग्नि पर से पात्र उतार कर साधु को आहार पानी देवे—

तो वह आहार पानी साधु के योग्य नहीं होता। अतः साधु देने वाली से कहदे कि- बहन यह आहार मेरे को अयोग्य है। इस लिये मैं नहीं लेसकता ॥ ६३–६४ ॥

भाष्य—इस सूत्र में यह वर्णन किया है कि जब कोई साधु आहारार्थ गृहस्थ के घर पर जाय। तब गृहस्थ साधु को आते देखकर या स्वभावतः चूल्हे में अग्नि सिलगा कर इन्धन डाल दे या अधिक जानकर चूल्हे में से निकाल दे। तथा थोड़ा या बहुत इन्धन चूल्हे में डाल कर अग्नि प्रज्वलित करे

तथा जल से या अन्य किसी मिट्टी आदि से अग्नि बुझावे। तथा अग्नि पर रक्खे हुए पात्र में से अधिक जानकर अन्न निकाल ले या उफणता हुआ जान कर पात्र में जल के छींटे देकर शान्त करे। तथा अग्नि पर जो पात्र रक्खा हुआ हो उसमें से अन्नादि पदार्थ निकाल कर अन्य पात्र में रखदे या दग्ध होने के भय से पात्रको ही अग्नि पर से उतार ले।

सारांश यह है कि दातार इत्यादि क्रियाएं करके साधु को आहार पानी बहराने लगेतो साधु को नहीं लेना चाहिए। क्योंकि इत्यादि क्रियाओं से अयत्ना की वृद्धि होती है और साधु की जो निर्दोष आहार ग्रहण करने का प्रतिज्ञा है, उसका भंग होता है। इतना ही नहीं किन्तु उक्तक्रियाएँ शीघ्रता पूर्वक करने से आत्म विराधना और संयम विराधना होने की भी पूरी-पूरी संभावना है॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, विशेष विधि के विषय में कहते हैं—

हुज्जकट्ठं सिलं वावि, इट्टालं वावि एगया।
ठावियं संकमट्ठाए, तं च होज्ज चलाचलं॥ ६५॥
ण तेण भिक्खू गच्छेज्जा, दिट्ठो तत्थ असंजमो।
गंभीरं झुसिरं चेव, सव्विंदिअ समाहिए॥६६॥ [युग्मम्]

भवेत् काष्ठं शिला वाऽपि, इष्टका-शकलं वाऽपि एकदा
स्थापितं सक्रमार्थं, तच्च भवेत् चलाचलम् ॥ ६५ ॥
न तेन भिक्षु गच्छेद्, दृष्टस्तत्र असयम
गम्भीरं शुषिरं चैव, सर्वेन्द्रिय समाहितः ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थ—(कट्ठं) काष्ठ (वावि) अथवा (सिलं) शिला (वावि) अथवा (इट्टालं) ईंटका टुकड़ा-रोड़ा (एगया) कभी वर्षा आदि के समय पर (सकम्मट्ठाए) संक्रमण के वास्ते (ठवियं) स्थापित किया हुआ (हुज्ज) हो (य) और (तं) वह काष्ठादि (चलाचलं) चलाचल-अस्थिर (होज्ज) होतो—

(भिक्खू) साधु (तेण) उस काष्ठादि द्वारा (नगच्छेज्जा) न जावे क्योंकि (तत्थ) वहां पर गमन करने से (असंजमो) असयम (दिट्ठो) देखा गया है तथा (सव्विंदिअ समाहिए) सम्पूर्ण इन्द्रियोंद्वारा समाधिभाव रखनेवाला मुनि अन्यमी (गंभीरं) प्रकाश रहित तथा (झुसिरं) अन्तः सार रहित- पोले मार्ग से भी गमन न करे ॥ ६५-६६ ॥

मूलार्थ—वर्षा आदि के समय काष्ठ, शिला वा ईंट आदि वस्तु संक्रमण के लिये

रक्खी हुई हों और वे अस्थिर होंतो—

साधु उस मार्ग से गमनागमन न करे। क्यों कि ऐसा करने से असयम की संभावना है। तथा समस्त इन्द्रियों द्वारा समाश्रित मुनि, अन्य भी अन्धकारमय और पोले आदि मार्गों से गमन न करे ॥ ६५-६६ ॥

भाष्य—वर्षा आदि के समय पर मार्ग प्रायः कीचड़ से दुर्गम्य-खराब होजाते हैं। अतः लोग कीचड़ से बचने के उद्देश्य से मार्ग के सङ्क्रमण के लिये काष्ठ शिला अथवा ईंट आदि चीजें मार्ग में स्थापित कर दिया करते हैं। अस्तु—यदि वह स्थापित काष्ठ आदि पूर्ण रूपेण प्रतिष्ठित स्थिर हों तो साधु उनके ऊपर से चला जाय। कोई दोष नहीं। और यदि वे अच्छी प्रकार स्थिर न हों – डग मगाते हों तो फिर भूलकरभी न जाय। क्यों कि इस प्रकार के गमन में अपने गिरने से-अन्य जीवों के उपमर्दन से असयम होने की सभावना है।

इसी प्रकार समस्त इन्द्रियों से समाधि भाव रखने वाला मुनि, अन्य भी प्रकाश रहित-जिनके नीचे पोल हो ऐसे दोष दूषित मार्गों से गमन न करे। क्योंकि वहाँ पर भी पूर्वोक्त दोषों की आशङ्का है ॥ ६५—६६ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, निश्रेणी के विषय में कहते हैं–

निस्सेणिं फलगं पीढं , उस्सविचाण मारुहे ।

मंचं कीलं च पासाए , समणट्ठा एव दावए ॥ ६७ ॥

निश्रेणिं फलकं पीठं , उत्सृत्य आरोहेत् ।

मंचं कीलं च प्रासादं , श्रमणार्थमेव दायकः ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थ—यदि (दावए) दानदेनेवाला व्यक्ति (समणट्ठाएव) केवल साधुके ही लिए (निस्सेणिं) निसेणी को (फलगं) फलक-पाटियाको (पीढं) पीठ—चौकी को (मचं) मंच-पलंग को (च) तथा (कीलं) कीलक को (उस्सविचाण) ऊँचा करके (पासाए) प्रासाद के ऊपर (आरुहे) चढे ॥ ६७ ॥

मूलार्थ—यदि कोई दान देने वाला व्यक्ति केवल साधुके ही लिये निश्रेणी, फलक, पीठ, मंच और कीलक को ऊँचा करके प्रासाद पर चढे । (साधु को आहार देतो साधु नले) ॥ ६७ ॥

भाष्य—इस सूत्र मे इस बात का कथन है कि—जब साधु भिक्षार्थ गृहस्थ के घर पर जाय । तब कोई गृहस्थ यदि केवल साधु के लिये ही ग्रातव्य वस्तु उतार ने के लिये उपर्युक्त निश्रेणी—सीढी आदि वस्तुओं को ऊंची करके-खडी करके प्रासाद पर चढकर भक्तादि देने लगे तो साधु को नहीं लेना चाहिए ।

क्योंनहीं करना चाहिए? इसका उत्तर अग्रिम सूत्र में सूत्रकार स्वयं ही देने वाले हैं। अतः यहाँ कुछ नहीं कहते ॥ ६७ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, इस प्रकार चढ़ने से जो दोष होते हैं उनका वर्णन करते हैं—

दुरूहमाणी पडिवज्जा (पवडेज्जा), हत्थं पायं व लूसए ।
पुढवि जीवे वि हिंसिज्जा, जे अ तन्निस्सिया जगे ॥ ६८ ॥

आरोहन्ती प्रपतेत्, हस्तं पादं च लूषयेत्
पृथिवी जीवानपि हिंस्यात् यानि च तन्निश्रितानि जगन्ति ॥ ६८ ॥

अन्वयार्थ—(दुरूहमाणी) आहार देने वाली स्त्री दुःख पूर्वक ऊपर चढ़ती हुई कदाचित् (पडिवज्जा) गिर पड़े जिससे (हत्थं) अपने हाथ (च) और (पायं) पैरों को (लूसए) व्यथित-खण्डित करे साथ ही (पुढवि जीवेवि) पृथिवी कायिक जीवोंकी भी (हिंसिज्जा) हिंसा करे (च) और भी (जे) जो (तन्निस्सिया) पृथिवी के आश्रित (जगे) त्रस जीव हैं उनकी भी हिंसा करे। अतः ग्रहण न करे ॥ ६८ ॥

मूलार्थ—पूर्वोक्त निश्रेणी आदि द्वारा दुःख पूर्वक ऊपर चढ़ने से दातार स्त्री के गिर जाने की

गिर जाने से हाथ पैर आदिक अङ्ग भग हो जाने की-पृथ्वी कायिक एवं पृथ्वी आश्रित त्रस जीवों की हिंसा हो जाने की, एक निश्चित सी आशङ्का रहती है। अतः इस अवस्था से साधु आहार पानी ग्रहण न करे ॥६८॥

भाष्य—निश्रेणी आदि से आरोहण की क्रिया करने से एक तो कष्ट होता है। दूसरे अस्थिरता के कारण शरीर के गिर जाने की और गिर जाने से हाथ पैर आदि अपने अंगों के भंग होजाने की संभावना रहती है। तीसरे गिरने से सचित्त पृथ्वी के जीवों की और पृथ्वी के आश्रित त्रस जीवों की हिंसा की भी निश्चित आशङ्का है।

क्योंकि- जिस समय मनुष्य कहीं से गिरता है तो वह अपने वश नहीं रहता। वह बिल्कुल पर वश हो जाता है। उस में हिताहित के ज्ञान से फिर समझ आने की शक्ति नहीं रहती। गिरने पर चाहे उसे खुद को किसी प्रकार का कष्ट हो-चाहे किसी तटस्थ प्राणी को कष्ट हो। कष्ट की आशङ्का अवश्य है।

तथा सूत्र में जो "दुरूहमाणी" स्त्रीलिङ्ग का निर्देश किया है, उस का यह आशय है कि- प्रायः स्त्रियों को ही भिक्षा देने का विशेष अवसर मिला करता है।

तथा-पूर्व ६७ वी गाथा में 'दायक' पुंलिङ्ग शब्द का और इस प्रस्तुत ६८ वी गाथा में 'दुरूहमाणी' स्त्रीलिङ्ग का जो निर्देश किया है। सो इस बात का द्योतक है कि- चाहे स्त्री हो, चाहे पुरुष हो

चाहे नपुंसक हो-जो अयत्ना से चलेगा उसी के गिरने की संभावना है। गिरने में किसी लिङ्ग विशेष की बात नहीं रहती ॥ ६८ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, स्वयही एतत्सम्बन्धी दोषों को दिखला कर अपने ही शब्दों में स्पष्टतया प्रतिषेध करते हैं—

एआरिसे महादोसे , जाणिऊण महेसिणो ।
तम्हा मालोहडं भिक्खं , न पडिगिण्हंति संजया ॥ ६९ ॥

एतादृशान्महादोषान् , ज्ञात्वा महर्षयः ।
तस्मात् मालापहृता भिक्षा , न प्रतिगृह्णन्ति संयता ॥ ६९ ॥

अन्वयार्थ— (संजया) शास्त्रोक्त संयम के पालक (महेसिणो) महर्षि लोग (एआरिसे) इस प्रकार के (महादोसे) महादोषों को (जाणिऊण) जानकर (तम्हा) दोषों की निवृत्ति के लिए (मालोहडं) मालापहृत-ऊपर के मकान से निसेणी आदि द्वारा उतार कर लाई हुई (भिक्खं) भिक्षाको (न पडिगिण्हंति) नहीं ग्रहण करते ॥ ६९ ॥

मूलार्थ—संयतात्मा-महामुनि, पूर्वोक्त महादोषों को सम्यक्तया जानकर कदापि मालापहृत अर्थात् ऊपरके मकान से सीढी आदि से उतारकर लाई हुई भिक्षा ग्रहण नहीं करते ॥६९॥

गिर जाने से हाथ पैर आदिक अङ्ग भग हो जाने की-पृथ्वी कायिक एव पृथ्वी आश्रित त्रस जीवों की हिंसा हो जाने की, एक निश्चित सी आशङ्का रहती है। अतः इस अवस्था से साधु आहार पानी ग्रहण न करे ॥६८॥

भाष्य—निश्रेणी आदि से आरोहण की क्रिया करने से एक तो कष्ट होता है। दूसरे अस्थिरता के कारण शरीर के गिर जाने की और गिर जाने से हाथ पैर आदि अपने अंगों के भंग होजाने की संभावना रहती है। तीसरे गिरने से सचित्त पृथ्वी के जीवों की और पृथ्वी के आश्रित त्रस जीवों की हिंसा की भी निश्चित आशङ्का है।

क्योंकि- जिस समय मनुष्य कहीं से गिरता है तो वह अपने वश नहीं रहता। वह बिल्कुल पर वश हो जाता है। उस में हिताहित के ज्ञान से फिर संभल आने की शक्ति नहीं रहती। गिरने पर चाहे उसे खुद को किसी प्रकार का कष्ट हो-चाहे किसी तटस्थ प्राणी को कष्ट हो। कष्ट की आशङ्का अवश्य है।

तथा सूत्र में जो "दुरूहमाणी" स्त्रीलिङ्ग का निर्देश किया है, उस का यह आशय है कि- प्रायः स्त्रियों को ही भिक्षा देने का विशेष अवसर मिला करता है।

तथा-पूर्व ६७ वी गाथा में 'दायकः' पुंल्लिङ्ग शब्द का और इस प्रस्तुत ६८ वी गाथा में 'दुरूहमाणी' स्त्रीलिङ्ग का जो निर्देश किया है। सो इस बात का द्योतक है कि- चाहे स्त्री हो, चाहे पुरुष हो

अन्वयार्थ—([illegible]) इसी तरह (आपणे) बाजार में दुकानों पर (विक्कायमाणं) [illegible]चन के लिये ([illegible]) प्रगट रूप से रक्खे हुए—अधिक दिनों के पुराने (रएण) रज से (परिफासिअ) [illegible] [illegible] मंथु कुम्मास) यव आदि सत्तु का चून (कोल चुण्णाइं) बेरों का चून (संकुलिं) तिल पापड़ी (फाणिअं) द्रवगुड़—राब (पूय) पूआ-रोटी तथा (अन्नवावि) और भी (तहाविह) तथाविध इसी प्रकार के पदार्थ मोदक आदि यदि साधु को देने लगे तो साधु (दितिअं) देने वाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि (मे) मुझे (तारिस) इस प्रकार के पदार्थ लेने (न) नहीं (कप्पइ) कल्पते हैं ॥ ७१-७२ ॥

मूलार्थ—बाजार में दुकानों पर विक्री के लिये प्रगट रूप से रक्खे गये, बहुत दिनों के पुराने, सचित्त रजसे मिश्रित सक्तु चूर्ण, बदरी फल चूर्ण, तिल पापड़ी, ढीला गुड़, पूआ तथा अन्य भी ऐसे ही लड्डू जलेबी आदि खाद्य पदार्थ यदि साधु को मिलते हों तो साधु न ले और देने वाली से कहदे कि—ये पदार्थ मेरे योग्य नहीं हैं ॥ ७१-७२ ॥

भाष्य—इस सूत्र में यह वर्णन है कि—बाजार में बिकते हुए सत्तु, तिल पापड़ी गुड़ आदि खाद्य पदार्थ यदि बहुत दिनों के पुराने हों—सचित्त धूल से भरे हुए हों तो साधु न ले (यदि साफ-शुद्ध-नये ही बने हुए हों तो ले सकता है)। क्योंकि एकतो अधिक दिनों के खाद्य पदार्थ रस-

ये सब पदार्थ अपने अपने स्वरूप से संख्यात, असंख्यात और अनन्त जीवों के समूहरूप होने से बिना किसी नानुभव के सचित्त हैं। अतः साधुओं को प्रथम अहिंसा महाव्रत की पूर्ण रूपेण रक्षा के लिये उक्त कच्चे पदार्थ अपने खान-पान आदि के प्रयोग में कदापि नहीं लाने चाहिएं।

यहाँ उपलक्षण से सभी जाति के कच्चे-सचित्त फलों का ग्रहण है। अतः सभी के लिये प्रतिषेध है। किसी एक के लिये नहीं। उदाहरण के तौर पर ये विशेष नाम कह दिये हैं॥ ७० ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, बाजार में बिकने वाले खाद्य पदार्थों के विषय में कहते हैं—

तहेव सत्तुचुण्णाइं, कोलचुण्णाइं आवणे।
सक्कुलिं फाणियं पूयं, अन्नं वावि तहाविहं॥ ७१ ॥
विक्कायमाणं पसढं, रएण परिफासियं।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥७२॥ [युग्मम्]

तथैव सक्तुचूर्णान्, कोलचूर्णान् आपणे।
शष्कुलिं फाणितं पूतं, अन्यद्वाऽपि तथाविधम्॥ ७१ ॥
विक्रीयमाणं प्रसभं, रजसा परिस्पृष्टम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम्॥ ७२ ॥

अन्वयार्थ—(तहेव) इसी तरह (आपणे) बाजार में दुकानों पर (विक्कायमाणं) बेचने के लिये (पसढं) प्रगट रूप से रक्खे हुए—अधिक दिनों के पुराने (रएण) रज से (परिफासिअं) सने हुए (सत्तु चुण्णाइं) यव आदि सत्तु का चून (कोलचुण्णाइ) बेरों का चून (संकुलिं) तिल पापड़ी (फाणिअ) द्रवगुड़—राब (पूय) पूड़ा-रोटी तथा (अण्णवावि) और भी (तहाविहं) तथाविध इसी प्रकार के पदार्थ मोदक आदि यदि साधु को देने लगे तो साधु (दिंतिअं) देने वाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार के पदार्थ लेने (न) नहीं (कप्पइ) कल्पते हैं ॥ ७१-७२ ॥

मूलार्थ—बाजार में दुकानों पर बिक्री के लिये प्रगट रूप से रक्खे गये, बहुत दिनों के पुराने, सचित्त रजसे मिश्रित सक्तु चूर्ण, बदरी फल चूर्ण, तिल पापड़ी, ढीला गुड़, पूड़ा तथा अन्य भी ऐसे ही लड्डू जलेबी आदि खाद्य पदार्थ यदि साधु को मिलते हों तो साधु न ले और देने वाली से कहदे कि—ये पदार्थ मेरे योग्य नहीं हैं ॥ ७१-७२ ॥

भाष्य—इस सूत्र में यह वर्णन है कि—बाजार में बिकते हुए सत्तु, तिल पापड़ी गुड़ आदि खाद्य पदार्थ यदि बहुत दिनों के पुराने हों—सचित्त धूल से भरे हुए हों तो साधु न ले (यदि साफ-शुद्ध-नये ही बने हुए हों तो ले सकता है)। क्योंकि एक तो अधिक दिनों के खाद्य पदार्थ रस-

ये सब पदार्थ अपने अपने स्वरूप से संख्यात, असंख्यात और अनन्त जीवों के समूहरूप होने से बिना किसी नजुनब के सचित्त हैं। अतः साधुओं को प्रथम अहिंसा महाव्रत की पूर्ण रूपेण रक्षा के लिये उक्त कच्चे पदार्थ अपने खान-पान आदि के प्रयोग में कदापि नहीं लाने चाहिएं।

यहाँ उपलक्षण से सभी जाति के कच्चे-सचित्त फलों का ग्रहण है। अतः सभी के लिये प्रतिषेध है। किसी एक के लिये नहीं। उदाहरण के तौर पर ये विशेष नाम कहदिये हैं॥ ७० ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, बाजार में बिकने वाले खाद्य पदार्थों के विषय में कहते हैं—

तहेव सत्तुचुण्णाइं, कोलचुण्णाइं आवणे।
सक्कुलिं फाणियं पूयं, अन्नं वावि तहाविहं ॥ ७१ ॥
विक्कायमाणं पसढं, रएण परिफासिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥७२॥ [युग्मम्]

तथैव सक्तुचूर्णान्, कोलचूर्णान् आपणे।
शष्कुलिं फाणितं पूतं, अन्यद्वाऽपि तथाविधम् ॥ ७१ ॥
विक्रीयमाणं प्रसभं, रजसा परिस्पृष्टम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ७२ ॥

अप्पे सिया भोयणजाए , बहुउज्झियधम्मिए।
दिंतिअ पडिआइक्खे , नमे कप्पइ तारिसं ॥ ७४ ॥[युग्मम्]

बह्वास्थिकं पुद्गल, मनिमिष वा बहु कण्टकम् ।
अस्थिकं तिन्दुकं बिल्व, मिक्षुखण्डं वा शाल्मलिम् ॥ ७३ ॥
अल्पं स्याद् भोजनजातं, बहूज्झन धर्मकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम्॥ ७४ ॥

अन्वयार्थ—(बहुअट्ठियं) बहुत गुठलियों वाला (पुग्गल) पुद्गल नामक फल विशेष (अणिमिसं) अनिमिष नामक फल विशेष (वा) अथवा (बहुकंटयं) बहुत कांटों वाला फल (अत्थियं) अस्थिक वृक्ष का फल (तिंदुअं) तिन्दुक वृक्ष का फल (बिल्लं) बिल्व नामक वृक्ष का फल (उच्छुखंडं) इक्षुखण्ड (व) तथा (सिंबलिं) शाल्मली वृक्ष का फल—

(भोयणजाय) जिनमें खाने लायक भागतो (अप्पे) अल्प (सिया) हो और (बहु उज्झिय धम्मिए) गेरने लायक भाग बहुत अधिक हो, ऐसे फल कोई, देने लगे तो साधु-

सचित्त हो जाने से वैसे ही अग्राह्य होजाते हैं। दूसरे सचित्त रज का सम्मिश्रण हो जाने से जो अग्राह्यता होती है यह स्वयं सिद्ध है ही। दोनों ही अवस्थाओं में आहार लेने से साधु का प्रथम महाव्रत दूषित हो जाता है।

ऊपर के सूत्र लेख से सिद्ध होता है कि, प्राचीन काल में भी अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ तैयार किये जाते थे और वे बाजार में दुकानों पर ग्राहकों को यथोचित मूल्य से बेचे जाते थे। बेचने वाले दुकानदार प्रायः भद्र एवं भद्रपरिणामी होते थे। अतः वे पैसा नहीं रखनेवाले संत महात्माओं को भी कभी कभी अवसर मिलने पर बिना किसी इच्छा के धर्म बुद्धि से यथा योग्य दान देकर महान लाभ उठाया करते थे।

यहाँ सूत्रगत एक बात और भी विचारणीय- मननीय है जो इतिहासज्ञ सज्जनों के लिये बड़ी ही कीमती है। वह यह है कि इसी ७२ वें सूत्र में 'दितिअं' शब्द आया है, जिस का अर्थ होता है देने वाली। अस्तु-इस शब्द से यह निःसंदेह सिद्ध हो जाता है कि- प्राचीन काल में पुरुषों की भाँति स्त्रियां भी बाजारों में दुकानों पर कुशलता पूर्वक क्रय विक्रय किया करती थीं। उस समय उनका यह कार्य समाज में निन्दित नहीं समझा जाता था। ॥ ७१-७२ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, आहार के विषय में और भी विस्तृत विवेचना करते हैं—

बहुअट्ठियं पुग्गलं, अणिमिसं वा बहुकंटयं।
अत्थियं तिन्दुयं बिल्लं, उच्छुखंडं व सिंबलिं ॥ ७३ ॥

कच्चे फलों का निषेध तो पहले ही किया जा चुका है। अतः यहां साधु ऐसे अधिक लेने के लायक फल न सही यदि अधिक खाने में आने लायक कच्चे फल हों फिर तो लेने में कोई हर्ज नहीं यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता है।

प्रस्तुत ' बहु अट्ठियं पुग्गल ' सूत्र में जो अणिमिस अनिमिष, शब्द दिया हुआ है उसका अर्थ मांस नहीं समझना चाहिए। क्योंकि मास का अर्थ सर्वथा प्रकरण विरुद्ध है। देखिए, गाथा के उत्तर के दोनों चरणों में वेम इक्ख आदि फलों के नाम स्पष्टतया परिकथित हैं। अतः निर्भ्रान्त सिद्ध है कि पूर्व के दोनों चरणों में भी वनस्पतिका ही स्पष्ट अधिकार है।

यह प्रकृति देवी का क्रीड़ा क्षेत्र संसार बड़ा ही विचित्र है। यहाँ देखने वाले जहाँ देखेंगे, वहाँ विचित्रता ही देखेंगे। यहाँ की कोई भी बात ऐसी नहीं है, जिस में किसी प्रकार की विचित्रता नहीं। परन्तु-सब से अधिक विचित्रता जिन में है वे नाम हैं। इन नामों की विचित्रता ऐसी बढ़ी हुई है कि, ना समझ जनता तो बहुधा धोखा खा जाया करती है। वह कभी कभी नामों की भूल में आकर अर्थ का अनर्थ कर डालती है। परन्तु जो विद्वान सज्जन हैं वे कभी धोखा नहीं खाते। वेतो जो कुछ करते हैं वह पूर्वा पर का विचार करके ही करते हैं।

प्रस्तु-सूत्रगत ' अनिमिष ' शब्द के नाम साम्य से भी विपरीत कल्पना करके विद्वान् पाठक धोखा न खावें।। क्योंकि फलों की अनेक जातियाँ होती हैं। कोई फल ऐसे होते हैं, जिन में गुठलियाँ अधिक होती हैं। और कोई फल ऐसे होते हैं, जिन में काटे अधिक होते हैं। कोई फल

(दिंतियं) देने वाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि (मे) मुझे (तारिस) इस प्रकार का आहार (न कप्पइ) नहीं कल्पता है ॥ ७३–७४ ॥

मूलार्थ—बहुत अधिक गुठलियों वाले-बीजों वाले पुद्गल फल, अनिमिष फल, बहुत काटोंवाले फल, अस्थिक फल, तिन्दुक फल, बिल्व फल, (बेल) गन्नेकी गनेरियां , तथा शाल्मली फल आदि—

ऐसे पदार्थ जिनमें खाने लायक भागतो थोड़ा हो और गेरने के लायक भाग अधिक हो साधु ग्रहण न करे। और देने वाली से स्पष्ट कहदेकि-ये पदार्थ मेरे योग्य नहीं है। अतः मैं नहीं लेता ॥ ७३–७४ ॥

भाष्य—इस गाथा में यह वर्णन है कि—अपने और पर के तारने वाले मुनियों को-जिन फलों का भाग खाने में तो थोड़ा आता हो और गेरने में अधिक आता हो-ऐसे उपर्युक्त "पुद्गल फल" आदि फलों का सेवन कभी नहीं करना चाहिए। क्योंकि अखाद्य भाग के परिष्ठापन से अयत्ना होने की बहुत संभावना है।

सूत्रकार की विषय प्रतिपादन शैली कह रही है कि—यावन्मात्र पदार्थ-जो खाने में थोड़े आते हों और गेरने में अधिक आते हों वे सभी अग्राह्य हैं। फलों के नामों का जो उल्लेख किया है यह उदाहरण रूपेण सूचना मात्र है। इससे सूत्रोक्त फलही अग्राह्य हैं, यह बात नहीं।

कच्चे फलों का निषेध तो पहले ही किया जा चुका है। अतः यहां साधु ऐसे अधिक गरन के लायक फल न सही यदि अधिक खाने में आने लायक कच्चे फल हों फिर तो लेने में कोई हर्ज नहीं यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता है।

प्रस्तुत ' बहु अट्ठियं पुग्गल ' सूत्र में जो अणिमिसं, अनिमिष, शब्द दिया हुआ है उसका अर्थ मांस नहीं समझना चाहिए। क्योंकि मांस का अर्थ सर्वथा प्रकरण विरुद्ध है। देखिए, गाथा के उपर के दोनों चरणों में अेच्छिख आदि फलों के नाम स्पष्टतया परिकथित हैं। अतः निर्भ्रान्त सिद्ध है कि पूर्व के दोनों चरणों में भी वनस्पतिका ही स्पष्ट अधिकार है।

यह प्रकृति देवी का लीला क्षेत्र संसार बड़ा ही विचित्र है। यहाँ देखने वाले जहाँ देखेंगे, वहाँ विचित्रता ही देखेंगे। यहाँ की कोई भी बात ऐसी नहीं है, जिस में किसी प्रकार की विचित्रता नहीं। परन्तु सब से अधिक विचित्रता जिन में है वे नाम हैं। इन नामों की विचित्रता ऐसी बढ़ी हुई है कि, ना समझ जनता तो बहुधा धोखा खाजाया करती है। वह कभी कभी नामों की भूल में आकर अर्थ का अनर्थ कर डालती है। परन्तु जो विद्वान सज्जन हैं वे कभी धोखा नहीं खाते। वे तो जो कुछ करते हैं वह पूर्वा पर का विचार करके ही करते हैं।

मद्नु-सूत्रगत ' अनिमिष ' शब्द के नाम साम्य से भी विपरीत कल्पना करके विद्वान् पाठक धोखा न खावें।। क्योंकि फलों की अनेक जातियाँ होती हैं। कोई फल ऐसे होते हैं, जिन में गुठलियाँ अधिक होती हैं। और कोई फल ऐसे होते हैं, जिन में कांटे अधिक होते हैं। कोई फल

वैसे होते हैं, जिनके नाम पशु पक्षियों के नामों पर होते हैं, और कोई फल वैसे होते हैं, जिन के नाम मनुष्यों के एवं अन्य पदार्थों के नामों पर होते हैं। फलों के इस प्रकार विचित्रता मय नामों के विषय में जिज्ञासु पाठकों को वैद्यक कोषों का–निघण्टुओं का अवलोकन करना चाहिए। उनमें बहुतसी वनस्पतियें इसी प्रकार की मिलेंगी जैसे कि ब्राह्मणी, कुमारी, कन्या, मार्जारी, कपोती आदि आदि।

सूत्रगत 'अनिमिष' शब्द फलका भी वाचक है इसके लिये कोषों के प्रमाण भी देखिये।

"अणिमिस त्रि० (अनिमेष) पलक न मारा हुआ और वनस्पति विशेष"

अर्द्ध मागधी कोष–प्रथम भाग–पृष्ठ १८१

"अणिमिस–त्रि० (अनिमिष) आँखनो पलकारो मार्या वगर नु २ वनस्पति विशेष"

जैनागम शब्द संग्रह–अर्द्ध मागधी गुजराती कोष पृष्ठ ४८

अस्तु उपर्युक्त कोषों के प्रमाणों से 'अणिमिस' शब्द का मांस अर्थ इस स्थान पर कदापि नहीं हो सकता, किन्तु फल विशेष ही सिद्ध होता है। मांस अर्थ करने से गाथा के अर्थ की परस्पर संगति किसी प्रकार भी नहीं मिलती।

एक बात और भी है कि–इस अध्ययन में कहीं पर भी मांस विषयक अधिकार नहीं आता। जिस प्रकार अकल्पनीय अन्न पानी कल्पित और स्वाद्यिम नहीं लेने चाहियें, यह विषय बारबार आता है और जिस प्रकार उक्त चारों आहारों का विस्तृत वर्णन किया गया है। ठीक उसी प्रकार मांस विषय

का कहीं पर भी विधान नहीं है। क्योंकि ये उक्त दोनों पदार्थ सर्वथा ही अभक्ष्य हैं। फिर भला इनका विधान अहिंसा प्रधान शास्त्र में किस प्रकार किया जा सकता था। इतना तो मन्द से मन्द बुद्धि भी सोच विचार सकते हैं।

ऊपर के लंबे विवेचन का संक्षिप्त शब्दों में यह निष्कर्ष है कि- उक्त 'अणिमिस, आदि पदों का वनस्पति सम्बंधी युक्ति युक्त एवं शास्त्र सम्मत है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, जल के विषय में कथन करते हैं—

तहे वुच्चावयं पाणं , अदुवा वारधोअण ।
संसेइम चाउलोदग, अहुणाधोअ विवज्जए ॥७५॥

तथैवोच्चावचं पानं , अथवा वारकधावनम् ।
संस्वेदजं तन्दुलोदकं , अधुना धौत विवर्जयेत् ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थ—(तहेव) उसी प्रकार (उच्चावयं) ऊँच नीच—अच्छा बुरा (पाणं) पीने योग्य पदार्थ पानी (अदुवा) अथवा (वारधोअणं) गुड़ घट आदि का धोवन (संसेइम) पिष्टोदक—कठोती का धोवन (चाउलोदग) चावलों का धोवन (अहुणाधोअ) सो यदि तत्काल का धौत होतो मुनि (विवज्जए) वर्जदे—ग्रहण न करे ॥ ७५ ॥

मूलार्थ—जिस प्रकार अशन के विषय में कहागया है, उसी प्रकार उच्च-सुस्वादु द्राक्षादि का पानी, अवच-दुःस्वादु काँजी आदि का पानी, गुड़ घट के धोवन का पानी, कपरोट के धोवन का पानी, चावलों के धोवन का पानी, इत्यादि तत्काल के धोवनपानी को मुनि कदापि ग्रहण न करे ॥ ७५ ॥

भाष्य—इस गाथा में पानी के विषय में वर्णन किया गया है—जिस प्रकार उत्सर्ग और अपवाद मार्ग के द्वारा अशनादि के विषय में वर्णन किया है ठीक उसी प्रकार पानी के विषय में भी जानना चाहिए। यथा—

उच्च पानी उसे कहते हैं जिसका वर्ण गन्ध, शुभ होता है। जैसे द्राक्ष आदि का पानी। नीच पानी है जिसका वर्ण, गन्ध, शुभ नहीं होता जैसे कांजी आदि का पानी। गुड़ के घड़े का धोवन घड़े का धोवन धान्य स्थाली का धोवन, पिष्ट आदि का धोवन तथा चावलों के धोवन का प्रकार अन्य भी धोवन का पानी जो तत्काल के-तुरत के बने हुए हों न लेने चाहिए। क्यों धोवन पानी थोड़े समय के बने हुए होते हैं उनमें अन्य पदार्थों का स्पर्श पूर्ण रूप से नहीं होने पूर्ण दोष रहित-शुद्ध जल ही साधु को ग्राह्य है अन्य नहीं। इसी लिए सूत्रकार ने 'अधुनाधौत' पद दिया है। ॥ ॥

उत्थानिका—अब फिर इसी जलके विषय में कहा जाता है—

ज जाणेज्ज चिरा धोय , मईए दसणेण वा ।
पडिपुच्छिऊण सुच्चा वा, ज च निस्सकिअ भवे ॥ ७६ ॥

यज्जानियात् चिराद्धौत , मत्या दर्शनेन वा ॥
प्रतिपृच्छ्य श्रुत्वा च , यच्च नि शकित भवेत् ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थ—(ज) यदि (चिराधोअं) यह धोवन चिरकाल का है इस प्रकार (मइए) अपनी विचार बुद्धि से (वा) अथवा (दंसणेण) देखने से (पडिपुच्छिऊण) गृहस्थ से, पूछकर (वा) या (सुच्चा) सुनकर (जाणेज्ज) जानले (च) और (ज) पूर्वोक्त पानी के विषय में (निस्सकिअ) पूर्ण निःशङ्कित (भवे) होजाय तो ग्रहण करले ॥ ७६ ॥

मूलार्थ—विचार-बुद्धि से, प्रत्यक्ष दर्शन से, दातार से पूछकर या सुन कर यदि ' यह जल चिरधौत है ' ऐसा शङ्का रहित शुद्ध निश्चय हो जाय तो मुनि धोवन पानी ग्रहण करले ॥ ७६ ॥

भाष्य—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है-साधु को चाहिए कि जितने भी धोवन पानी शास्त्रकारों ने साधु को ग्राह्य बतलाये हैं, उन सब की लेने से पहले दीर्घकालिक धौत सम्बन्धी निर्दूषणता का ज्ञान भले प्रकार प्राप्त करे ।

यह ज्ञान इस प्रकार से किया जा सकता है-प्रथम तो सूत्रानुसारिणी सूक्ष्म बुद्धि से विचार करे कि प्रायः धोवन पानी किस समय तैयार होते हैं? अब क्या समय हो चला है? गृहस्थ लोग अब किस अवस्था में थे? किधर थे? क्या कर रहे थे? आदि आदि बातों पर पूर्ण ध्यान दे। यदि इससे ठीक तौर से कुछ पता न चले तो फिर धोवन जल को देखे देख कर निर्णय करे कि जल का रूप रंग किस प्रकार का है? जल में पिष्टोदिकता परिलक्षित है या नहीं। यदि परिलक्षित है तो वह किस कारण को छिपे हुये है? यदि इतने पर भी आशङ्का बनी ही रहे तो दातार गृहस्थ से या अन्य समीपस्थ अबोध बच्चों आदि से प्रश्नोत्तर करके निर्णय करे।

कहने का सारांश यह कि-जब पूर्ण रूप से पूछ ताछ आदि करलेने पर 'यह धोवन साधु मर्यादा योग्य प्रासुक निर्जीव है और अधिक समय का हो चुका है।" यह निश्चय होजाय तब तो साधु उस धोवन पानी को ग्रहण करे नहीं तो नहीं। तत्काल के धोवन पानी में प्रासुकता की-जीव रहितता की बुद्धि रखना स्पष्ट शास्त्र असम्मत है॥ ७६॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, उष्ण जल के विषय में एवं शङ्कित जल को चखकर निर्णय करने के विषय में कहते हैं—

अजीव परिणय नच्चा, पडिगाहिज्ज संजए।
अह संकिय भवेज्जा, आसाइत्ताण रोयए॥७७॥

अजीवं परिणतं ज्ञात्वा , प्रतिगृह्णीयात् संयत ।
अथ शंकितं भवेत् , आस्वाद्य रोचयेत् ॥ ७७ ॥

अन्वयार्थ—उष्ण जल को पूर्ण तया (अजीवं) अजीव भाव (परिणयं) परिणत हुआ (नच्चा) जान कर (पडिगाहिज्ज) ग्रहण करे अन्यथा नहीं । (अह) यदि किसी अन्य प्रासुक जल के विषय में अरुचिता आदि की (संकिय) शङ्का (भवे) होजाय तो (आसाइत्ताण) आस्वादन करके-चख करके (रोअए) निश्चय करे ॥ ७७ ॥

मूलार्थ साधुको उष्ण जल मिले तो-भले प्रकार तप्त, अजीव भाव परिणत, पूर्ण प्रासुक उष्ण जल ही ग्रहण करे । इस के विपरीत मन्दोष्ण आदि नहीं । तथा यदि किसी अन्य प्रासुक जल के विषय में यह शङ्का होजाय कि-यह जल मेरी प्रकृति के अनुकूल नहीं पचेगा तो-चख कर लेने न लेने का निश्चय करे ॥ ७७ ॥

भाष्य—इस गाथा में पूर्व के दो चरणों में उष्ण जल के विषय में और उत्तर के दो चरणों में अन्य प्रासुक जल के विषय में वर्णन किया गया है-

उष्ण जल साधु के लिये ग्राह्य है । परन्तु कब ग्राह्य है-जब कि वह पूरे तौर से तप्त हो जाने पर जीव रहित,-प्रासुक हो चुका हो तब । इस का निर्णय भी उन्हीं पूर्व सूत्रोक्त युक्ति दर्शन प्रश्न आदि

यह ज्ञान इस प्रकार से किया जा सकता है-प्रथम तो सूत्रानुसारिणी सूक्ष्म बुद्धि से विचार करे कि प्रायः धोवन पानी किस समय तैयार होते हैं ? अब क्या समय हो चला है ? गृहस्थ लोग अब किस अवस्था में थे ? किधर थे ? क्या कर रहे थे ? इत्यादि आदि बातों पर पूर्ण ध्यान दें। यदि इससे ठीक तौर से कुछ पता न चले तो फिर धोवन जल को देखे देख कर निर्णय करे कि जल का रूप रंग किस प्रकार का है ? जल में सिञ्चोष्णिमता पलटिता है या नहीं। यदि पलटित है तो वह किस कारण को लिये हुये है ? यदि इतने पर भी आशङ्का बनी ही रहे तो दातार गृहस्थ से या अन्य समीपस्थ अबोध बच्चों आदि से प्रश्नोत्तर करके निर्णय करे।

कहने का सारांश यह कि-जब पूर्ण रूप से पूछ ताछ आदि करने पर ' यह धोवन साधु मर्यादा योग्य प्रासुक निर्जीव है और अधिक समय का हो चुका है। " यह निश्चय होजाय तब तो साधु उस धोवन पानी को ग्रहण करे नहीं तो नहीं। तत्काल के धोवन पानी में प्रासुकता की-जीव रहितता की बुद्धि रखना स्पष्ट' शास्त्र असम्मत है ॥ ७६ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, उष्ण जल के विषय में एवं शङ्कित जल को चखकर निर्णय करने के विषय में कहते हैं—

अजीव परिणयं नच्चा, पडिगाहिज्ज संजए।
अह संकियं भवेज्जा, आसाइत्ताण रोअए ॥७७॥

थोवमासायणट्ठाए , हत्थगम्मि दलाहि मे ।
मा मे अच्चविलं पूअं , नालं तिण्हं विणित्तए ॥ ७८ ॥

स्तोक मास्वादनार्थं , हस्ते देहि मे ।
मा मे अत्यम्लं पूति , नालं तृष्णनोदाय (नालंतृष्णा विनेतु ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थ—(थोवं) थोड़ा सा पानी (आसायणट्ठाए) आस्वादन के वास्ते (मे) मुझे (हत्थगम्मि) हाथ में—अजली में (दलाहि) दे । क्यों कि (अच्चविलं) अत्यन्त खट्टा अथवा (पूअं) सड़ा हुआ (तिण्हं) तृषा को (विणित्तए) निवृत्त करने में (नालं) असमर्थ पानी (मे) मुझे (मा) नहीं खपता है ॥ ७८ ॥

मूलार्थ—हे बहिन ! चखने के लिय थोड़ा सा पानी मुझे हाथ में दे । क्योंकि अतीव खट्टा, सड़ा हुवा, प्यास नहीं मिटाने वाला जल मुझे अनुकूल नहीं पड़ता ॥ ७८ ॥

भाष्य—इस गाथा में यह वर्णन है कि—जिस जल के विषय में यह शङ्का होजाय कि यह जल खट्टा है—सड़ा हुआ है—प्यास बुझाने लायक नहीं है, तो साधु देनेवाली से कह कि-हे बहन ! यह जल थोड़ासा चखने के लिये मुझे अंजली में दे । ताकि मैं निर्णय करलूं कि यह जल किसी प्रकार

उपायों से करना चाहिए। खाद्य-अखाद्य सम्बन्धी सन्देह की अवस्था में किसी चीज के लेने के लिये
हाथ पसारना आत्माभिमानी-व्रताभिमानी जैन साधु के लिए सर्वतो भावेन वर्जित है।

पहली रही उष्ण जल की शुद्धता की बात। अब सूत्रकारने गाथा के पिछले दो चरणों में
यह बतलाया है कि-जल के विषय में प्रासुकता सम्बन्धी तो किसी प्रकार की शंका नहीं रही हो-
अच्छे प्रकार से यह निश्चय हो चुका हो कि-यह जल प्रासुक है शुद्ध है। अतः इसके लेने में कोई आपत्ति
नहीं। परन्तु—यदि यह शङ्का हो जाय कि यह जल दुःस्वादु-विरस-अरुचिकर है। अतः यह मेरी
शारीरिक प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ेगा तो उस समय दातव्य जल को चख करके अपनी शङ्का
की सत्यता असत्यता का भ्रम करे। गृहस्थ के यहाँ ही ऐसे चख कर निर्णय करने में साधु को कोई
दूषण नहीं लगता।

शरीर की उपमा यंत्र से दी जाती है। अतः शरीर के लिये जिस प्रकार अन्न की शुद्धता का
ध्यान रक्खा जाता है उसी प्रकार-उससे भी बढ़कर जल की शुद्धता का ध्यान रखना चाहिए। दूषित
जल के पीने से स्वास्थ्य में गड़बड़ हुए बिना नहीं रह सकती। जब स्वास्थ्य में गड़बड़ होगई तो
फिर नित्यप्रति की धार्मिक क्रियाओं में गड़बड़ का होना अपने आप सिद्ध है। अस्तु, इस उत्तरोत्तर
की गड़बड़ से बचने के लिए मुनि को अपने खान-पान के कामों में अवश्य ही सदा सतर्क रहना
चाहिए ॥ ७७ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, चखने के लिये पानी किस तौर से क्या कह कर ले यह कहते हैं—

थोवमासायणट्ठाए , हत्थगमि दलाहि म ।
मा मे अच्चंबिल पूअ , नाल तिण्हं विणित्तए ॥ ७८ ॥

स्तोक मास्वादनार्थं , हस्ते देहि मे ।
मा मे अत्यम्लं पूति , नालं तृष्णपनोदाय (नालंतृष्णां विनेतु ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थ—(थोव) थोडा सा पानी (आसायणट्ठाए) आस्वादन के वास्ते (मे) मुझे (हत्थगंमि) हाथ में—अंजली में (दलाहि) दे । क्यों कि (अच्चंबिलं) अत्यन्त खट्टा अथवा (पूअ) सड़ा हुआ (तिण्हं) तृषा को (विणित्तए) निवृत्त करने में (नाल) असमर्थ पानी (मे) मुझे (मा) नहीं खपता है ॥ ७८ ॥

मूलार्थ—हे बहिन ! चखने के लिय थोड़ा सा पानी मुझे हाथ में दे । क्योंकि अतीव खट्टा, सड़ा हुआ, प्यास नहीं मिटाने वाला जल मुझे अनुकूल नहीं पड़ता ॥ ७८ ॥

भाष्य—इस गाथा में यह वर्णन है कि—जिस जल के विषय में यह शङ्का होजाय कि यह जल खट्टा है—सड़ा हुआ है—प्यास बुझाने लायक नहीं है, तो साधु देनेवाली से कह कि—हे बहन ! यह जल थोड़ासा चखने के लिये मुझे अंजली में दे । ताकि मैं निर्णय करलूं कि यह जल किसी प्रकार

से दूषित हो नहीं है। क्यों कि—दूषित पानी पिया हुआ शरीर में विकार करता है। अतः ऐसे पानी को लेकर मैं क्या करूँगा ?

इस ऊपर के कथन से स्पष्ट सिद्ध है कि—जो पदार्थ अनुपयोगी हो विकार जनक हो उसे मुनि कदापि ग्रहण न करे। शङ्कित पदार्थ की उसी स्थान पर परीक्षा करले, जिससे फिर उसे गेरना न पड़े क्यों कि—गेरने में प्रायः अयत्ना होजाने की सम्भावना रहती है।

सूत्रकर्ता ने जो 'आस्वादन' पद दिया है, वह व्यक्त करता है कि—देय पदार्थ की योग्यता-अयोग्यता के निर्णय करने में साधु गृहस्थ के यहाँ किसी प्रकार का लज्जा भाव एवं संकोच न करे। जिस रीति से निर्णय हो सकता हो साधु को उसी रीति का अवलम्बन करना चाहिए।

सूत्रकार ने सूत्र में केवल पानी के लिये ऐसा कहा है-इससे यह मतलब नहीं निकाल लेना चाहिए कि केवल पानी का ही इस प्रकार निर्णय करे अन्य का नहीं। यह पानी उपलक्षण है। इससे इसी भाँति अन्य पदार्थों का भी ग्रहण कर लेना चाहिए ॥ ७८ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यदि कोई दातार भी आग्रह करके ऐसा पानी देने ही लगे तो फिर साधु क्या करे—यह कहते हैं—

त च अच्चंबिलं पूअं, नालं तिण्हं विणित्तए।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७९ ॥

तच अच्चम्लं पूर्ति (तं), नालं तृष्णां विनेतुं ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत , न मे कल्पते तादृशम् ॥ ७९ ॥

अन्वयार्थ—(च) फिर (त) उस (अच्चंविल) अत्यन्त खट्टे (पूर्ख) सड़े हुए (तिग्ह) तृषा (विणित्तए) शान्त करने के लिये (नालं) असमर्थ-पानी को (दितिअ) देनेवाली स्त्री से (पडि आइक्खे) कहे कि- (मे) मुझे (तारिस) इस प्रकार का दूषित पानी ग्रहण करना (न) नहीं (कप्पइ) कल्पता है ॥ ७९ ॥

मूलार्थ—फिरभी यदि दातार स्त्री आग्रह करके इस प्रकार का खट्टा-सड़ाहुआ-प्यास बुझाने के लिये अयोग्य पानी देने लगेतो साधु उस देने वाली से स्पष्ट कहदेकि-इस प्रकार का दूषित पानी मुझे ग्रहण करना नहीं कल्पता है ॥ ७९ ॥

भाष्य—इस सूत्र में यह वर्णन है कि-यदि कोई अनभिज्ञ दातार स्त्री ऐसे दूषित पानी के लेने का आग्रह करने लगे तो साधु को चाहिए कि वह उस देने वाली से साफ कहदे कि यह आग्रह समयोचित नहीं है। ऐसा पानी मैं नहीं लेसकता। पानी तृषा मिटाने के लिये लिया जाता है नकि गेरने के लिये। इस में कौनसा लाभ होगा कि मैं तेरे यहाँ से लेजाऊँ और फिर गेरता फिरूँ। इस पानी से पानी की गर्ज पूरी होनी तू भी जानती है सर्वथा असम्भव है।

से तृषित तो नहीं है। क्यों कि—दूषित पानी पिया हुआ शरीर में विकार करता है। अतः ऐसे पानी को लेकर मैं क्या करूँगा ?

इस ऊपर के कथन से स्पष्ट सिद्ध है कि—जो पदार्थ अनुपयोगी हो विकार जनक हो उसे मुनि कदापि ग्रहण न करे। शङ्कित पदार्थ की उसी स्थान पर परीक्षा करले, जिससे फिर उसे गेरना न पड़े क्यों कि—गेरने में प्रायः अयत्ना होजाने की सम्भावना रहती है।

सूत्रकर्ता ने जो 'आस्वादन' पद दिया है, वह व्यक्त करता है कि—देय पदार्थ की योग्यता-अयोग्यता के निर्णय करने में साधु गृहस्थ के यहाँ किसी प्रकार का लज्जा भाव एवं संकोच न करे। जिस रीति से निर्णय हो सकता हो साधु को उसी रीति का अवलम्बन करना चाहिए।

सूत्रकार ने सूत्र में केवल पानी के लिये ऐसा कहा है-इससे यह मतलब नहीं निकाल लेना चाहिए कि-केवल पानी का ही इस प्रकार निर्णय करे अन्य का नहीं। यह पानी उपलक्षण है। इससे इसी भाँति अन्य पदार्थों का भी ग्रहण कर लेना चाहिए ॥ ७८ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यदि कोई दातार भी आग्रह करके ऐसा पानी देने ही लगे तो फिर साधु क्या करे—यह कहते हैं—

त च अच्चविल पूअ , नाल तिण्ह विणित्तए ।
दिंतिअ पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिस ॥ ७९ ॥

तच्च अत्यम्लं पूति (त), नालं तृष्णां विनेतुं।
ददतीं प्रत्याचक्षीत , न मे कल्पते तादृशम् ॥ ७९ ॥

अन्वयार्थ—(च) फिर (तं) उस (अच्चंविलं) अत्यन्त खट्टे (पूअं) सड़े हुए (तिण्हं) तृषा (विणित्तए) शान्त करने के लिये (नालं) असमर्थ-पानी को (दिंतिअं) देनेवाली स्त्री से (पडि आइक्खे) कहे कि (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार का दूषित पानी ग्रहण करना (न) नहीं (कप्पइ) कल्पता है ॥ ७९ ॥

मूलार्थ—फिरभी यदि दातार स्त्री आग्रह करके इस प्रकार का खट्टा-सड़ाहुवा-प्यास बुझाने के लिये अयोग्य पानी देने लगेतो साधु उस देने वाली से स्पष्ट कहदेकि-इस प्रकार का दूषित पानी मुझे ग्रहण करना नहीं कल्पता है ॥ ७९ ॥

भाष्य—इस सूत्र में यह वर्णन है कि-यदि कोई अनभिज्ञ दातार स्त्री ऐसे दूषित पानी के देने का आग्रह करने लगे तो साधु को चाहिए कि वह उस देने वाली से साफ कहदे कि यह आग्रह समयोचित नहीं है। ऐसा पानी मैं नहीं लेसकता। पानी तृषा मिटाने के लिये लिया जाता है नकि गेरने के लिये। इस में कौनसा लाभ होगा कि मैं तेरे यहाँ से लेजाऊं और फिर गेरता फिरूं। इस पानी से पानी की गर्ज पूरी होनी तू भी जानती है सर्वथा असम्भव है।

ऊपर की इस स्पष्टोक्ति के कहने का सारांश यह ही है कि—आहार पानी के विषय में साधु सरलता से काम ले। किसी प्रकार की दबा दबी न रक्खे। दबा दबी के काम में माया चारी अवश्य करनी पड़ती है। जब मायाचारी आगई तो फिर साधुता कहाँ? असावधानता के कारण एक दोष ही आगे चल कर अनेकानेक दोषों का कारण होजाता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यदि कभी ऐसा पानी लेही लिया होतो साधु फिर क्या करे–यह कहते हैं –

त च होज्ज अकामेण , विमणेण पडिच्छिअ ।
त अप्पणा न पिवे , नोवि अन्नस्स दावए ॥ ८० ॥

तच्च भवेत् अकामेन , विमनस्केन प्रतीप्सितम् ।
तदात्मना न पिबेत् , नाऽप्यन्येभ्यो दापयेत् ॥ ८० ॥

अन्वयार्थ—(अकामेणं) बिना इच्छा से अथवा (विमणेणं) बिना मन से (तं) कदाचित् उक्त पानी (पडिच्छिअं) ग्रहण करलिया होतो (तं) उस जल को साधु (अप्पणा) स्वय (नपिबे) न पिये तथा (अन्नस्सवि) दूसरों को भी (नोदावए) पीने के लिये न दे अर्थात् नहीं पिलावे ॥ ८० ॥

मूलार्थ—यदि पूर्वोक्त अग्राह्य पानी बिना इच्छा के और बिना मन के अर्थात् असावधानता से ग्रहण कर लिया होतो साधुका कर्तव्य है कि उस जल को न तो स्वय पीवे और न दूसरों को पिलाये ॥ ८० ॥

भाष्य—पूर्व सूत्र में बतलाया जा चुका है कि- साधु दूषित पानी कदापि ग्रहण न करे-साफ कहदे कि यह पानी मैं नहीं लेता। दूषित पानी के लेने से कुछ लाभ नहीं।

अब यह दूसरा सूत्र है। इस के प्रश्न और उत्तर के रूप में दो खण्ड होते हैं। पाठक दोनों का सूक्ष्म विचारणा के साथ अवलोकन करें।

प्रश्न—पूर्व सूत्रका कथन सर्वांश में ठीक है। ऐसा दूषित पानी कदापि नहीं लेना चाहिए। फिर भी मनुष्य के पीछे भूल लगी हुई है। कभी कभी वह भूल से बचते-बचते भी सहसा भूल में आजाता है और उसी काम को कर बैठता है। अस्तु भूल से या गृहस्थ के विशेष आग्रह से (कभी ऐसा अवसर होजाता है कि- गृहस्थ के आग्रह की उपेक्षा करने से धर्म में बड़ी भारी हानि हो जाती है) इच्छा न होते हुए भी, यदि कभी दूषित जल ग्रहण करलिया जाय तो फिर क्या करना उचित है? उस जल को स्वय पीवे या दूसरे साथी साधुओं को दे? दोनों कामों में से एक काम तो करना ही होगा-सो कौनसा करे? इस का उत्तर होना चाहिए।

उत्तर—दोनों में से एक काम भी न करना चाहिए अर्थात् न तो खुद पीवे और न दूसरे साधुओं को पीने के लिये दे। क्योंकि दूषित जल, चाहे खुद पीवो चाहे कोई दूसरा पीवो केवल हानिही

हानि है लाभ कुछ नहीं। दूषित जल पान से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। सो रुग्णावस्था में संयम रक्षा व आत्म रक्षा कहाँ तक ? किस रूप में हो सकती है ? यह सब जानते ही हैं। अतः उसके लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं।

साधु स्वपर हितार्थी होते हैं। वे अपने में और दूसरे में कुछ भेद नहीं समझते। जिस प्रकार वे अपनी रक्षा का ध्यान रखते हैं ठीक उसी प्रकार दूसरों की रक्षा का भी ध्यान रखते हैं। साधुओं की यह वृत्ति नहीं होती कि वे अपनी बेगार दूसरों पर गेरें। अतएव उन्हें दूसरे साधुओं को भी यह दूषित पानी नहीं देना चाहिए।

यहाँ शङ्का हो सकती है कि-यदि उस पानी की किसी को आवश्यकता ही होवे तो फिर क्या करना चाहिए ? देना चाहिए या नहीं ? उत्तर में कहा जाता है कि—यदि कोई गीतार्थ साधु उस पानी को माँगता हो तो साधु उस पानी के विषय में अपनी तरफ से कहने योग्य सब कुछ कह कर उसको दे सकता है। यदि कोई अगीतार्थ माँगता हो तो उसे कदापि नहीं देना चाहिए। गीतार्थ और अगीतार्थ में यही अन्तर होता है कि गीतार्थ उचित-अनुचित हित-अहित का पूर्ण ज्ञाता होता है और अगीतार्थ नहीं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, इस विषय में कहते हैं कि जब वह पानी किसी को भी न दिया जाय तो फिर क्या करना चाहिए—

एगत मवक्कमित्ता , अचित्त पडिलेहिआ ।
जय परिट्ठविज्जा , परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥ ८१ ॥

एकान्त मवक्रम्य , अचित्तं प्रत्युपेक्ष्य ।
यतं परिष्ठापयेत् , परिष्ठाप्य प्रतिक्रामेत् ॥ ८१ ॥

अन्वयार्थ—(एगतं) एकान्त स्थान पर (अवक्कमित्ता) जाकर (अचित्त) जीव रहित स्थान की (पडिलेहित्ता) प्रति लेखना करके (जय) यत्न पूर्वक (परिट्ठविज्जा) पानी को परठदे-गरदे । और (परिट्ठप्प) परठ कर (पडिक्कमे) ईर्या पथिकी का ध्यान करे ॥ ८१ ॥

मूलार्थ—एकान्त स्थान पर जाकर, अचित स्थान की प्रतिलेखना करके, यत्नपूर्वक उस पानी को परठ दे और परठकर प्रतिक्रमण करे ॥ ८१ ॥

भाष्य—जब वह पानी किसी प्रकार से भी काम न आसके तो फिर उस पानी को एकान्त स्थान पर जाकर, अचित्त भूमि को आँखों से खूब अच्छी तरह देखकर तथा रजोहरणादि द्वारा प्रतिलेखना करके बड़ी यत्ना के साथ परठ देना-गेर देना चाहिए और विधि पूर्वक परठ देने के बाद उस पानी को 'वोसिरा' देना चाहिए। अर्थात परठ कर 'वोसिरे-वोसिरे' 'व्युत्सृजामि' इस प्रकार मुख से कहना चाहिए।

यद्यपि वृत्तिकार 'प्रतिक्रमेत्' क्रिया पद के अर्थ में 'ईर्यापथिकम्' ईरिया वहिया का ध्यान करे इस प्रकार लिखते हैं-यथा- 'प्रतिष्ठाप्य वसतिमागतः प्रतिक्रमेदीर्यापथिकम् । एतच्च वहिरागत-नियमकरणसिद्धम प्रतिक्रमणमपरिरपि प्रतिष्ठाप्य प्रतिक्रमणज्ञापनार्थ मिति सूत्रार्थः । " परन्तु- 'प्रतिक्रमेत्' क्रिया पद का अर्थ पीछे हटना है अर्थात् परठ कर 'वोसिरामि' कहना यही अर्थ युक्ति संगत प्रतीत होता है। क्योंकि जब दैवसिक प्रतिक्रमण किया जाता है तब दिन में लगे हुए सब अतिचारों की विधि पूर्वक आलोचना की ही जाती है।

सूत्रगत 'पानी' शब्द उपलक्षण है। इससे इसी प्रकार के अन्य मल आदि पदार्थों का भी ग्रहण हो जाता है। अस्तु परठने लायक सभी वस्तुओं के लिये यही विधि है। जो वस्तु परठनी हो, उसे एकान्त-निर्जीव स्थान पर परठे और परठ कर प्रतिक्रमण अर्थात् वोसिरे करे।

यहाँ सूत्र में जो 'एकान्त स्थान' शब्द आया है, उससे यह मतलब है कि जहाँ गृहस्थों का आना जाना न होता हो ऐसा स्थान। क्योंकि-चौड़े धौड़े खुले स्थान पर परठी हुई वस्तु गृहस्थों के देखने में आती है, उससे गृहस्थों को-साधुओं की तरफ से अप्रतीति होती है। वे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के दृष्टि बिन्दुओं से वस्तु के योग्य अयोग्य का विचार न करके अपने मन में यही भाव लाते हैं कि देखो ये कैसे साधु हैं? हम गृहस्थों के यहाँ से चीजें लाकर यों फेंक देते हैं। न अपने कामों में लाते और न हमारे काम की छोड़ते! साधु बनगये तो क्या हुआ पर चीमतो बस न हुई।

दूसरा शब्द 'अचित्तस्थान की प्रतिलेखना है। उस का यह भाव है कि जो अयोग्य वस्तु परठनी हो उसे यत्न पूर्वक सूक्ष्म-देख भाल कर-जहाँ त्रस स्थावर दोनों प्रकार के जीवों की बाधा

न होती हो ऐसे अचित्त स्थान पर परठे। क्योंकि अयत्ना के साथ बिना देखे भाले परठ देने से जीवों की विराधना होती है उससे प्रथम अहिंसा व्रत दूषित होजाता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, अन्न पानी की ग्रहण विधि के कथन के बाद भोजन विधि के विषय में कहते हैं—

सिआ य गोयरग्गगओ , इच्छिज्जा परिभुत्तुअ (भुजिउ)।
कुट्ठग भित्तिमूल वा , पडिलेहित्ताण फासुअ ॥८२॥

स्याच्च गोचराग्रगत , इच्छेत् परिभोक्तुम्।
कोष्ठकं भित्तिमूलं वा , प्रत्युपेक्ष्य प्रासुकम् ॥ ८२ ॥

अन्वयार्थ—(गोयरग्गगओ) गोचरी के लिये गया हुआ साधु, (सिआ) कदाचित् (परिभुत्तुअं) वहाँ पर ही भोजन करने की (इच्छिज्जा) इच्छा करे (य) तो (कुट्ठगं) शून्य गृह आदि में (वा) अथवा (भित्तिमूल) मठ आदि की भित्ति के मूल में (फासुअ) प्रासुक—जीव रहित स्थान की (पडिलेहित्ताण) प्रति लेखना करके—भोजन करे ॥८२॥

मूलार्थ—गोचरी के लिये गाँव में गये हुए साधु को कदाचित् किसी कारण वश वहाँ पर ही

यद्यपि वृत्तिकार 'प्रति क्रमेत्' क्रिया पद के अर्थ में 'ईर्या पथिकाम्' ईरिया वहिया का ध्यान करे इस प्रकार लिखते हैं-यथा- 'प्रतिष्ठाप्य वसतिमागतः प्रतिक्रमेदीर्यापथिकाम् । एतच्च बहिरागत-नियमकरणसिद्धम प्रतिक्रमणमबहिरपि प्रतिष्ठाप्य प्रतिक्रमणज्ञापनार्थ मिति सूत्रार्थ । " परन्तु-'प्रतिक्रमेत्' क्रिया पदका अर्थ पीछे हटना है अर्थात् परठ कर वोसिरामिर कहना यही अर्थ युक्ति संगत प्रतीत होता है। क्योंकि जब दैवसिक प्रतिक्रमण किया जाता है तब दिन में लगे हुए सब अतिचारों की विधि पूर्वक आलोचना की ही जाती है।

सूत्रगत पाणी' शब्द उपलक्षण है। इससे इसी प्रकार के अन्य मल आदि पदार्थों का भी ग्रहण हो जाता है। अस्तु परठने लायक सभी वस्तुओं के लिये यही विधि है। जो वस्तु परठनी हो, उसे एकान्त-निर्जीव स्थान पर परठे और परठ कर प्रतिक्रमण अर्थात् वोसिरे करे ।

यहाँ सूत्र में जो 'एकान्त स्थान' शब्द आया है, उससे यह मतलब है कि जहाँ गृहस्थों का आना जाना न होता हो वैसा स्थान। क्योंकि-चौड़े धौड़े खुले स्थान पर परठी हुई वस्तु गृहस्थों के देखने में आती है, उससे गृहस्थों की-साधुओं की तरफ से अप्रतीति होती है। वे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के दृष्टि बिन्दुओं से वस्तु के योग्य अयोग्य का विचार न करके अपने मन में यही भाव लाते हैं कि देखो ये कैसे साधु हैं? हम गृहस्थों के यहाँ से चीजें लालाकर यों फेंक देते हैं। न अपने कामों में लाते और न हमारे काम की छोड़ते! साधु बनगये तो क्या हुआ पर जीमते वश न हुई।

दूसरा शब्द 'अचित्तस्थान की प्रतिलेखना है। उस का यह भाव है कि जो अयोग्य वस्तु परठनी हो उसे यत्न पूर्वक सूक्ष्मेक्षण भाव कर-जहाँ जस स्थावर दोनों प्रकार के जीवों की बाध

अनुज्ञाप्य मेधावी , प्रतिच्छन्ने संवृतः ।
हस्तकं सम्प्रमृज्य , तत्र भुञ्जीत संयतः॥ ८३ ॥

अन्वयार्थ—(मेहावी) बुद्धिमान (संजए) साधु (अणुन्नविज्ञ) गृहस्थ की आज्ञा लेकर (पडिच्छन्नंमि) प्रतिच्छादन किये हुए—ढके हुए स्थानक में (संवुडे) उपयोग पूर्वक (हत्थगं) रजोहरणी द्वारा शरीर के हस्त पादादि अवयवों को (संपमज्जित्ता) सम्यक् प्रकार से प्रमार्जनकर (तत्थ) वहां (भुंजिज्जा) भोजन करे ॥ ८३ ॥

मूलार्थ—बुद्धिमान साधु का कर्तव्य है कि, जब पूर्व प्रसग से भोजन करने की इच्छा हो तब गृहस्थ की आज्ञा लेकर पूंजणी से अपने शरीर के अवयवों को सम्यक्तया प्रमार्जन करके तृणादि से आच्छादित स्थानक में उपयोग पूर्वक भोजन करे ॥ ८३ ॥

भाष्य—इस गाथा में आहार करने की विधि प्रतिपादित है कि—जब साधु, किसी शून्य गृह में अथवा किसी भित्ति के मूल में आहार करने लगे तब साधु को एक तो प्रथम गृहस्थ की आज्ञा अवश्य लेनी चाहिए। क्योंकि बिना गृहस्थ की आज्ञा लिए भोजन करने में जैन धर्म की हीलना निन्दना आदि अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं, जिनके कहने की आवश्यकता नहीं—जो विचारशीलों के स्पष्टतः विचार गम्य हैं।

भोजन करने की इच्छा हो जाय, तो सूने-निर्जन घर में अथवा किसी भित्ति-दीवार के मूल-कोणे प्रासुक-शुद्धभूमि की प्रति लेखना करके (भोजन करे) ॥ ८२ ॥

भाष्य—इस सूत्र में यह वर्णन है कि-कोई तपस्वी या बालक साधु गोचरी के लिये गाँव में गया हुआ है। गांव में फिरते-फिरते बहुत देर होगई है। समय के अतिक्रमण से कड़ी भूख-प्यास या अन्य किसी ऐसे ही कारण के उपस्थित हो जाने पर, उस की यह इच्छा हो कि, मैं यहीं किसी स्थान पर आहार करलूं। तब उस को योग्य है कि वह किसी सूने घर में आकर यत्न पूर्वक आहार करले। यदि कोई सूना घर न मिले तो किसी कोष्ठक की भित्ति के मूल में यानी दीवार की आड़ में प्रासुक-निर्दोष भूमि की प्रतिलेखना कर वहाँपर आहार करे।

यहाँ यह अवश्य स्मरण रहे कि-जिस स्थान पर गृहस्थ लोग भोजनादि क्रियाएँ करते हों उस स्थान पर बैठकर साधु कदापि आहार न करे। क्योंकि वहाँपर आहार करने से बहुत से लोगों को यह शङ्का उत्पन्न होजाएगी कि यह साधु यहाँ आमंत्रित भोजन कर रहा है। इसलिये सूत्रकार ने शून्य गृह में तथा किसी दीवार की मूल में भोजन करने के लिये कहा है। ८२ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, वहाँपर किस प्रकार से भोजन करे—यह कहते हैं-

अणुन्नविनु मेहावी , पडिच्छन्नम्मि संवुडे ।
हत्थगं संपमज्जित्ता , तत्थ भुंजिज्ज संजए ॥ ८३ ॥

अनुज्ञाप्य मेधावी , प्रतिच्छन्ने संवृतः ।
हस्तकं सम्प्रमृज्य , तत्र भुञ्जीत संयतः॥ ८३ ॥

अन्वयार्थ—(मेहावी) बुद्धिमान (संजए) साधु (अणुन्नविंत्तु) गृहस्थ की आज्ञा लेकर (पडिच्छन्नंमि) प्रतिच्छादन किये हुए—ढके हुए स्थानक में (संवुडे) उपयोग पूर्वक (हत्थगं) रजोहरणी द्वारा शरीर के हस्त पादादि अवयवों को (संपमज्जित्ता) सम्यक् प्रकार से प्रमार्जनकर (तत्थ) वहां (भुंजिज्जा) भोजन करे ॥ ८३ ॥

मूलार्थ—बुद्धिमान साधु का कर्तव्य है कि, जब पूर्व प्रसंग से भोजन करने की इच्छा हो तब गृहस्थ की आज्ञा लेकर पूंजणी से अपने शरीर के अवयवों को सम्यक्तया प्रमार्जन करके तृणादि से आच्छादित स्थानक में उपयोग पूर्वक भोजन करे ॥ ८३ ॥

भाष्य—इस गाथा में आहार करने की विधि प्रतिपादित है कि—जब साधु किसी शून्य गृह में अथवा किसी भित्ति के मूल में आहार करने लगे तब साधु को एक तो प्रथम गृहस्थ की आज्ञा अवश्य लेनी चाहिए। क्योंकि बिना गृहस्थ की आज्ञा लिए भोजन करने में जैन धर्म की हीलना निन्दना आदि अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं, जिनके कहने की आवश्यकता नहीं—जो विचारशीलों के स्पष्टतः विचार गम्य हैं।

बतलाते हैं। तथाच टीका–"हस्तकं" "मुख वस्त्रिका रूपम्। आदाय इति वाक्यशेषः सम्प्रमृज्य" स्यात्–ना तेनकाय तत्र भुञ्जीत।'

परन्तु–टीकाकार का यह अर्थ युक्ति से समर्थित नहीं जान पड़ता। क्योंकि मुखवस्त्रिका तो सदा मुंहपर लगी रहती है। अतएव 'हस्तेभवं हस्तकं' यह व्युत्पति मुखवस्त्रिका पर किसी भी रीति से नहीं लग सकती। जिन पर बिना किसी ननु–नच के लग सकती है वे रजोहरण एवं रजोहरणी ही है। क्योंकि उक्त दोनों पदार्थ केवल प्रमार्जन क्रिया के वास्ते ही रक्खे जाते हैं।

प्रश्न व्याकरण सूत्र के प्रथम संवर द्वार में भी यह पाठ आता है कि 'संपमज्जिऊण ससीसकायं' यहाँ वृत्तिकार ने 'सम्प्रमृज्य मुखवस्त्रिका रजोहरणाभ्या सशीर्षं कायं समस्तकं शरीरम्' यह वृत्ति लिखकर मुखवस्त्रिका के साथही रजोहरण भी ग्रहण किया है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रश्न व्याकरण सूत्र के टीकाकार को मुखवस्त्रिका की अपेक्षा प्रमार्जन के लिये रजोहरण ही उपयुक्त जान पड़ा है। मुखवस्त्रिका तो उन्होंने एक टीकाकारों की प्रथा के अनुसार ग्रहण की है।

मुखवस्त्रिका तो वायुकाय के जीवों की रक्षा वास्ते एवं स्वलिङ्ग के वास्ते ही कथन की गई है नकि शरीर के प्रमार्जन के वास्ते। प्रमार्जन तो रजोहरणीसे ही होसकता है अतः सिद्ध हुआ कि 'हत्थग'–'हस्तक शब्द से रजोहरणी ग्रहण करना ही सूत्र विहित है।

'इस रजोहरणी अर्थ को कोषकार भी स्वीकार करते हैं। देखिये–जैनागम शब्द संग्रह (अर्द्ध–मागधी गुजराती कोष) पृष्ठ ८१० पर लिखा है–हत्थय, न० (हस्तक) पूँजनी।

(घ) दूसरे जिस स्थान पर भोजन करता है, उस स्थान की शुद्धि का भी अवश्य ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि शुद्धि रहित स्थान अशुद्ध होता है। अशुद्ध अशुद्धि करता ही है। यहाँ शुद्धि से मतलब स्थान सम्बन्धी यतना से है, बाह्य-प्रचलित लौकिक जलादि शुद्धि से नहीं। स्थान सम्बन्धी शुद्धि का यह अर्थ है कि साधु जिस स्थान में भोजन करे, वह स्थान ऊपर से अच्छी प्रकार ढका हुआ होना चाहिए। चाहे ढका हुआ हो तृणादि के छप्परसे ही इसकी कोई बात नहीं। प्रतिच्छन्न स्थानक में भोजन करने से भोजन में उड़ते हुए सूक्ष्म जीव नहीं गिरने पाते।

(ङ) अस्तु—जब पूर्वोक्त भाजन की और स्थान शुद्धि की बात ठीक होजाय, तब साधु आहार करने से पहले अपने शरीर के हस्त पादादि अवयवों को पूँजणी से अच्छी तरह प्रमार्जन करे—तत्पश्चात् भोजन करे। पूँजणी द्वारा शरीर प्रमार्जन करने से एकतो जो सूक्ष्म जीव शरीर पर चढ़े हुए हों वे, उतर जाते हैं, उनकी विराधना नहीं होती। दूसरे शरीर पर पड़ी हुई सूक्ष्म रज आदि पदार्थ भी उतर जाते हैं, जिससे भोजन करते समय फिर किसी प्रकार की खुजली आदि आकुलता नहीं होने पाती।

संक्षिप्त शब्दों में कहने का तात्पर्य यह है कि-साधु भोजन करने की अयोग्य शीघ्रता न करे। साधु जब भोजन करना चाहे तब बड़ी सावधानी से शान्ति पूर्वक खूब अपना विधि विधान देख भाल कर भोजन करे।

पाठक वृन्द! प्रस्तुत सूत्र में जो एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है वह यह है कि-सूत्र में जो 'हत्थगं' 'हत्थगं' शब्द आया है उसका अर्थ पूँजणी-रजोहरणी किया है। परन्तु टीकाकार इसके विरुद्ध हैं, वे इस हस्तक का अर्थ "मुख वस्त्रिका" करते हैं और, उसके द्वारा शरीर का प्रमार्जन करना

तदुत्क्षिप्य न निक्षिपेत् , आस्येन नोज्झेत् ।
हस्तेन तद् गृहीत्वा , एकान्तमवक्रामेत् ॥ ८५ ॥
एकान्तमवक्रम्य , अचित्तं प्रत्युपेक्ष्य ।
यत परिष्ठापयेत् , परिष्ठाप्य प्रतिक्रामेत् ॥ ८६ ॥

अन्वयार्थ—(तत्थ) वहाँ पूर्वोक्त शुभस्थान में (भुंजमाणस्स) भोजन करते हुए (से) उस साधु के आहार में (अट्ठिअं) गुठली (कंटओ) कण्टक (वापि) और (तणकट्ठसक्करं) तृण, काष्ठ, शर्करा-कंकर (वा) तथा (अन्नंवावि) अन्य भी कोई (तहाविहं) तथा विध पदार्थ (सिआ) आजाय निकल आवे तो—

(त) उस पदार्थ को (उक्खिवित्तु) हाथ से उठाकर (न निक्खिवे) इतस्ततः न फेंके तथा (आसएण) मुख से भी (न छड्डए) थूककर दूर न गेरे किन्तु (हत्थेण) हाथ से (त) सम्यक्तया उसको (गहेऊण) ग्रहण कर-पकड़ कर (एगतं) एकान्त स्थान में (अवक्कमे) जावे—

और (एगत) एकान्त स्थान में (अवक्कमे) जाकर (अचित्तं) अचित्त भूमि की प्रति

अस्तु—युक्ति प्रमाणों से इस्तक का वास्तविक अर्थ पूँजभी ही सिद्ध होता है। टीकाकारों का कथन परतः प्रमाण है। अतः यहाँ इस अर्थ में टीका अप्रमाण्य ठहरती है॥ ८३ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, तीन गाथाओं से इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि- यदि भोजन करते समय कण्टक आदि पदार्थ आजायें तो क्या करना चाहिए—

तत्थ से भुंजमाणस्स , अट्ठिअ कटओ सिया ।
तणकट्ठ सक्कर वावि , अन्न वावि तहाविहं ॥ ८४ ॥
त उक्खिवित्तु न निक्खिवे , आसएण न छड्डए ।
हत्थेण त गहेऊण , एगत मवक्कमे ॥ ८५ ॥
एगतमवक्कमित्ता , अचित्त पडिलेहिआ ।
जय परिट्ठविज्जा , परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥ ८६ ॥ [त्रिभि०]

तत्र तस्य भुञ्जानस्य अस्थिकं कण्टकः स्यात् ।
तृण-काष्ठं शर्करं वाऽपि , अन्यद्वाऽपि तथाविधम् ॥ ८४ ॥

तदुत्क्षिप्य न निक्षिपेत् , आस्येन नोज्झेत् ।
हस्तेन तद् गृहीत्वा , एकान्तमवक्रामेत् ॥ ८५ ॥
एकान्तमवक्रम्य , अचित्तं प्रत्युपेक्ष्य ।
यत परिष्ठापयेत् , परिष्ठाप्य प्रतिक्रामेत् ॥ ८६ ॥

अन्वयार्थ—(तत्थ) वहाँ पूर्वोक्त शुद्धस्थान में (भुंजमाणस्स) भोजन करते हुए (से) उस साधु के आहार में (अट्ठिअं) गुठली (कंटओ) कण्टक (वापि) और (तणकट्ठसक्कर) तृण, काष्ठ, शर्करा-कंकर (वा) तथा (अन्नंवावि) अन्य भी कोई (तहाविहं) तथा विध पदार्थ (सिआ) आजाय-निकल आवे तो—

(तं) उस पदार्थ को (उक्खिवित्तु) हाथ से उठाकर (न निक्खिवे) इतस्ततः न फेंके तथा (आसएण) मुख से भी (न छड्डए) थूककर दूर न गेरे किन्तु (हत्थेण) हाथ से (त) सम्यक्तया उसको (गहेऊण) ग्रहण कर-पकड़ कर (एगंत) एकान्त स्थान में (अवक्कमे) जावे—

और (एगंत) एकान्त स्थान में (अवक्कमे) जाकर (अचित्त) अचित्त भूमि की प्रति-

लेखना कर (जयं) यतना से (परिट्ठविज्जा) उसे परठ दे और (परिट्ठप्प) परठकर (पडिक्कमे) प्रतिक्रमण करे यानी ईर्यावहिया का ध्यान करे या–'वोसिरामि-वोसिरामि' करे। ॥ ८४-८५ ८६ ॥

मूलार्थ—पूर्व सूत्रोक्त स्थान में भोजन करते समय यदि साधु के आहार में गुठली, काँटा, तिनका, काठ, कंकर तथा अन्य भी इसी प्रकार के कोई पदार्थ आजाएँ तो—

साधु उन पदार्थों को न तो हाथ से उठाकर यत्र कुत्रचित् फेंके और नाही मुखसे थूत्कार की ध्वनि से थूककर फेंके। किन्तु—उनको सम्यक्तया हाथ से ग्रहण कर एकान्त जीव–रहित स्थान में चला जावे—

और वहाँ एकान्त स्थान में जाकर अचित्त भूमि को खूब देख भाल कर बड़ी यतना के साथ परठने योग्य स्थान पर परठे और परठकर प्रतिक्रमण करे ॥ ८४—८५—८६ ॥

भाष्य—साधु के भोजन करते समय यदि गुठली कंटक आदि पदार्थ निकल आयें तो साधु उन पदार्थों को योंही अयत्ना से इधर-उधर–थूक-थाक कर न फेंके। क्योंकि ऐसा करने से अयत्ना होती है। जहाँ अयत्ना है, वहाँ जीवों का उपघात सिद्ध है ही।

अस्तु—साधु ऐसे खान के अयोग्य निकृष्ट पदार्थों को हाथ से ग्रहण कर एकान्त स्थान में जावे और वहाँ जाकर प्रासुक भूमि की सावधानी से प्रतिलेखना कर यत्न पूर्वक परठ दे। इतना ही नहीं परठ कर प्रतिक्रमण भी करे। यानी इच्छाकारेण आदि प्रसिद्ध पाठ पढे या 'वोसिरामि २, कहे क्योंकि इस प्रकार करने से क्रिया का अवरोध भली भाँति होजाता है। इसी वास्ते अन्तिम ८६ अंकवाली गाथा के चतुर्थ पाद में 'पडिक्कमे — प्रतिक्रामेत्' क्रिया पद दिया गया है। इस क्रियापद के विषय में विशेषपक्षीय "एगत मवक्कमित्ता" ८१ गाथा के भाष्य में देखें। वहाँ स्पष्टतः विवेचन किया जाचुका है।

यहाँ विशेष विवेचन योग्य एक बात और है। वह यह कि–चौरासी वे सूत्र में जो 'अट्ठिअं' 'अस्थिकं' पद दिया हुआ है। उससे यही भ्रान्ति होती है जो 'बहुअट्ठिअंपुग्गल' वाली गाथा के भाष्य में कही जाचुकी है। परन्तु–इस मसल इस शब्द का यहाँ वहाँ भ्रान्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ 'अस्थिक' शब्द से केवल फल की गुठली ही लीजाती है। क्योंकि अगले चरणों में स्पष्ट तृण आदि शब्द पड़े हुए हैं। वे बतलाते हैं कि सूत्रकार को 'अस्थिक' शब्द से गुठली ही अभिमत है। तभी तो पाठकी पूर्वापर संगति बैठती चली जाती है—नहीं तो कैसे बैठ सकती है?

पन्नवणा सूत्र के भी प्रथमपद में और वनस्पति अधिकार में 'एगट्ठिया' और 'बहुबीयगा' ऐसे दो सूत्र दिये हुए हैं। जिसमें 'एगट्ठिया' 'एकास्थिका' शब्द में निम्ब, आम्र, जामुन हरीतकी (हरड़) आदि फल ग्रहण किये गये हैं और 'बहुबीयगा' शब्द में दाड़िम–अनार आदि फलों का

देखना कर (जयं) यतना से (परिट्ठविज्जा) उसे परठ दे और (परिट्ठप्प) परठकर (पडिक्कमे) प्रतिक्रमण करे यानी ईर्यावहिया का ध्यान करे या-'वोसिरामि-वोसिरामि' कहे। ॥ ८४-८५ ८६ ॥

मूलार्थ—पूर्व सूत्रोक्त स्थान में भोजन करते समय यदि साधु के आहार में गुठली, काँटा, तिनका, काठ, कंकर तथा अन्य भी इसी प्रकार के कोई पदार्थ आजाएँ तो—

साधु उन पदार्थों को न तो हाथ से उठाकर यत्र कुत्रचित् फेंके और नाही मुखसेथूत्कार की ध्वनि से थूककर फेंके। किन्तु—उनको सम्यक्तया हाथ से ग्रहण कर एकान्त जीव-रहित स्थान में चला जावे—

और वहां एकान्त स्थान में जाकर अचित्त भूमि को खूब देख भाल कर बड़ी यतना के साथ परठने योग्य स्थान पर परठे और परठकर प्रतिक्रमण करे ॥ ८४—८५—८६ ॥

भाष्य—साधु के भोजन करते समय यदि गुठली कंटक आदि पदार्थ निकल आयें तो साधु उन पदार्थों को योंही अयत्ना से इधर-उधर-थूक-थाक कर न फेंके। क्योंकि ऐसा करने से अयत्ना होती है। जहाँ अयत्ना है, वहां जीवों का उपघात सिद्ध है ही।

भोजन करू, तो वह शुद्ध भिक्षा लिये हुए साधु उपाश्रय में आवे और भोजन स्थान की प्रति लेखना करके लायेहुए भिक्षा भोजन की विशुद्धि करे ॥ ८७ ॥

भाष्य—इस गाथा में यह वर्णन है कि किसी विशेष कारण के न होने पर जब साधु की यह इच्छा होवे कि-मैं उपाश्रय में आकर ही भोजन करू तो वह 'सपिण्डपात अर्थात्-शुद्ध भिक्षा लिये हुए उपाश्रय में आकर सब से प्रथम भोजन करने की भूमि की खूब देख भाल कर प्रतिलेखना करे क्योंकि भोजन करने की भूमि सर्वथा शुद्ध और जीव रहित होनी चाहिए।

तथा सूत्र में जो 'सपिण्डपात' शब्द आया है उस का यह भाव है कि साधु शुद्ध आहार को लकर उपाश्रय में आकर भोजन योग्य भूमि को देखे-यथा च टीका- सह पिण्डपातेन विशुद्ध समुदान-नागम्य" इत्यादि।

सूत्रगत 'उन्दुक शब्द का अर्थ यहाँ बहुत से 'स्थण्डिल भूमि करते हैं परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं। यहाँ 'उन्दुक' शब्द का अर्थ भोजन करने की भूमिका ही है। क्योंकि-अर्द्ध मागधी कोष क पृष्ठ १६ वें में लिखा है कि-'उंदुयं' न० (उन्दुक) भोजन करवानु स्थान। यद्यपि 'उ दग' पु० शब्द क अर्थ उक्त कोष में मूत्रपात्र वा मूत्र करने का स्थान लिखे हैं, किन्तु उक्त शब्द का संस्कृत रूप न देकर उसे देशी प्राकृत शब्द का रूप माना गया है। अपितु 'उ दुय' शब्द नपुंसक लिङ्गीय मान कर फिर उसका 'उन्दुक' इस प्रकार का संस्कृत रूप देकर उसका अर्थ भोजन करने का स्थान लिखा है सो इस स्थल पर यही अर्थ युक्ति युक्त सिद्ध होता है। कारण कि सब से प्रथम भोजन करने की

ग्रहण है। अतः इसी तरह 'अस्थिक' शब्द से गुठली का ग्रहण ही युक्ति युक्त सिद्ध होता है—अन्य का नहीं। ८४-८५-८६॥

उत्थानिका—अब, वसति-उपाश्रय में आकर किस प्रकार भोजन करना चाहिए? इस विषय में कहा जाता है—

सिआ य भिक्खू इच्छिज्जा , सिज्जमागम्म भुत्तुअं ।
सपिंडपायमागम्म , उंडुअं पडिलेहिआ ॥ ८७ ॥

स्याच्च भिक्षुरिच्छेत् , शय्यामागम्य भोक्तुम् ।
सपिण्डपातमागम्य ,उन्दुकं प्रत्युपेक्ष्य ॥ ८७ ॥

अन्वयार्थ—(सिआ) कदाचित् (भिक्खू) साधु (सिज्जं) उपाश्रय में (आगम्म) आकर ही (भुत्तुअं) भोजन करना (इच्छिज्जा) चाहे तो (सपिंड पाय) वह शुद्ध भिक्षा सहित साधु (आगम्म) उपाश्रय में आकर (उंडुअं) भोजन करने की भूमिका की (पडिले हिआ) प्रतिलेखना करके फिर उसी स्थानपर पिण्डपातकी विशुद्धि करे ॥ ८७ ॥

मूलार्थ—यदि कोई विशेष कारण न हो और साधु यह चाहे कि-उपाश्रय में आकर ही

अन्वयार्थ—सदा विधि निषेध के सिद्धान्तों को मनन करने वाला (**मुणी**) मुनि (**विणएण**) विनय से उपाश्रय में प्रवेश करके (**गुरुणो**) गुरु श्री के (**सगासे**) समीप (**इरियावहियं**) ईर्या पथिक सूत्रको (**आयाय**) पढ़कर के तथा (**आगओ**) गुरु श्री के पास आया हुआ (**पडिक्कमे**) कायोत्सर्ग करे ॥ ८८ ॥

मूलार्थ—साधु महान विनय विधि के साथ "मत्थएण वंदामि" कहता हुआ उपाश्रय में प्रवेश करे और गुरुदेव के समीप आकर 'इरिया वहियाए' सपूर्ण सूत्र को पढ़कर कायोत्सर्ग करे ॥ ८८ ॥

भाष्य—इस सूत्र में वर्णन है कि—जब साधु आहार लेकर उपाश्रय में गुरुदेव के समीप प्रवेश करतब निस्सही २'–'नैषेधिकी२' ऐसा शब्द कहे। इसका यह आशय है कि हे भगवन् ! जिस काम के लिये मैं गया हुआ था, उस काम को मैं पूर्ण करके अब आगया हूं–अर्थात् आवश्यक क्रिया से अब मैं निवृत्त होगया हू । इसके बाद 'मत्थएण वंदामि मस्तकेन वन्दामि' तथा ' नमोखमासमणाण–नमः क्षमा श्रमणेभ्य, इत्यादि विनय पूर्वक मुख से शब्द उच्चारण करता हुआ और हाथ जोड़ता हुआ गुरु श्री के सन्निकट आवे । गुरु श्रीके समीप आकर फिर ' इच्छाकारेण और ' तस्सोत्तरी करणेणं' सूत्र को पढ़कर गमनागमन की क्रिया का निरोध करने के लिये तथा मंगल के लिये '† लोगस्सउज्जोयगरे ' के

---

†नोट यह लोगस्स के ध्यान की मान्यता उपाध्यायजी की अपनी साम्प्रदायिक मान्यता है। सभी संप्रदाए ऐसा नहीं मानती। बहुत सी सम्प्रदाऐं इच्छाकारेण ' सूत्र का ध्यान करना मानती है – संपादक।

भूमि को देखकर ही फिर वहां बैठकर और क्रियाएं की जासकेंगी। नकि भोजन करते ही सबसे पहले स्थंडिल जाने की भूमि को देखना चाहिए। भला स्थण्डिल भूमि का और भोजन क्रिया का क्या सम्बन्ध ? भोजन क्रिया के लिये तो भोजन भूमि ही देखनी ठीक है।

वृत्तिकार भी इसी भोजन भूमि के अर्थ से सहमत हैं। वे अपनी इसी सूत्र की वृत्ति में स्पष्टता लिखते हैं कि-तत्र बहिरेवोष्मुकं स्थानं प्रत्युपेक्ष्य विधिना तत्रस्थः पिण्ड पातं विशोधयेदिति सूत्रार्थः-उपाश्रय से बाहिर ही भोजन करने की भूमि को देखकर फिर विधि से वहाँपर बैठकर आहार पानी की विशुद्धि करे।

अस्तु-सभी प्रकार से इस स्थान पर 'उच्चुक' शब्द से 'भोजन करने की भूमि' यह अर्थ ग्रहण करना ही सिद्ध होता है।

उत्थानिका—अब उपाश्रय में गुरु के समीप किस प्रकार प्रवेश करना चाहिए ? इस विषय में कहा जाता है—

विणएण पविसित्ता, सगासे गुरुणो मुणी।
इरियावहियमायाय, आगओ अ पडिक्कमे ॥ ८८ ॥

विनयेन प्रविश्य, सकाशे गुरोः मुनि।
ईर्यापथिका मादाय, आगत श्च प्रतिक्रामेत् ॥ ८८ ॥

भाष्य—जब साधु भिक्षा लाकर गुरु श्री के समक्ष कायोत्सर्ग करे, तब उस कायोत्सर्ग में गमन आने जाने की क्रिया करते समय तथा अन्न पानी ग्रहण करते समय जो कोई अतिचार हों उन सब को सम्यक् प्रकार से स्मरण करके अपने विकार शून्य हृदय में स्थापित करे।

इस गाथा के उक्त कथन से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि, विचारक मनुष्य को जो भी कुछ विचार करना हो वह कायोत्सर्ग विधि से भली भाँति किया जा सकता है। कारण कि-कायोत्सर्ग (ध्यान) की दशा में अव्याक्षिप्तचित्त होने से सभी वस्तुओं का विचार पूर्णरूपेण ठीक हो सकता है। अतः प्रत्येक वस्तु का विचार ध्यान युक्ति से होना चाहिए।

सूत्रकर्ता ने जो 'यथाक्रम' पद दिया है। इस का यह भाव है कि अति चारों की स्मृति यथा क्रम से करनी चाहिए। जैसे कि प्रथम गमना गमन की क्रिया ओं से लगे हुए अति चारों की विचारणा करे और तत्पश्चात् अन्न पानी के ग्रहण करते समय लगे हुए अतिचारों की। जब यथा क्रम से अतिचारों की स्मृति की जाएगी तब स्मृति ठीक होने से ज्ञानावर्णीय कर्म का क्षयोपशम भी होवेगा। इसी कारण से सूत्र कर्ता ने 'एवं' शब्द का प्रयोग किया है। क्योंकि-'एव' शब्द अवधारण अर्थ में व्यवहृत है।

उत्थानिका—कायोत्सर्ग पार लेने के बाद फिर क्या करना चाहिए? अब इस विषय में कहा जाता है—

मन का स्थिर चित्त होकर ध्यान करे। कारण कि—जब विधि पूर्वक ध्यान किया जायेगा तभी अति-
चारों की विधि पूर्वक आलोचना हो सकेगी अन्यथा नहीं।

ऊपर के वक्तव्य से सिद्ध हुआ कि—साधु भोजन लाते ही भोजन करने न लगजाय, प्रत्युत विधि
पूर्वक ही प्रवेश करे और विधि पूर्वक ही ध्यान करे ॥ ८९ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, लोगस्स के ध्यान के अनन्तर ध्यान में किस बात का विचार
करना चाहिए। इस विषय में कहते हैं—

आभोइत्ताण नीसेस, अइयार जहक्कम।
गमणागमणे चेव, भत्ते पाणे च संजए ॥ ८९ ॥

आभोगयित्वा निःशेषं, अतिचारं यथाक्रमम्।
गमनागमनयोश्चैव, भक्तपानयोश्च संयतः ॥ ८९ ॥

अन्वयार्थ—(संजए) साधु (गमणागमणे) गमना गमन की क्रिया में (चेव) और
इसी प्रकार (भत्तपाणे) अन्न पानी के ग्रहण करने में लगे हुए (नीसेस) सम्पूर्ण (अइयार) अति
चारों को (जहक्कमं) अनुक्रम से (आभोइत्ताण) जानकर हृदय में स्थापन करे ॥ ८९ ॥

मूलार्थ—भिक्षा लाने वाला साधु, कायोत्सर्ग में गमनागमन की क्रिया से तथा अन्न पानी

के बहर ने से लगे हुए समस्त अतिचारों को अनुक्रम से एक एक करके स्मरण कर अपने हृदय में स्थापन करे ॥ ८९ ॥

भाष्य—जब साधु भिक्षा लाकर गुरु श्री के समक्ष कायोत्सर्ग करे, तब उस कायोत्सर्ग में गमनागमन आने जाने की क्रिया करते समय तथा अन्न पानी ग्रहण करते समय जो कोई अतिचार लगे हों उन सब को सम्यक प्रकार से स्मरण करके अपने विकार शून्य हृदय में स्थापित करे।

इस गाथा के उक्त कथन से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि, विचारक मनुष्य को जो भी कुछ विचार करना हो वह कायोत्सर्ग विधि से भली भाँति किया जा सकता है। कारण कि-कायोत्सर्ग (ध्यान) की दशा में अव्याक्षिप्तचित्त होने से सभी वस्तुओं का विचार पूर्णरूपेण ठीक हो सकता है। अतः प्रत्येक वस्तु का विचार ध्यान वृत्ति से होना चाहिए।

सूत्रकर्ता ने जो 'यथाक्रम' पद दिया है। इस का यह भाव है कि अति चारों की स्मृति यथा क्रम से करनी चाहिए। जैसे कि प्रथम गमना गमन की क्रिया ओं से लगे हुए अति चारों की विचारणा करे और तत्पश्चात अन्न पानी के ग्रहण करते समय लगे हुए अतिचारों की। जब यथा क्रम से अतिचारों की स्मृति की जायगी तब स्मृति ठीक होने से ज्ञानावर्णीय कर्म का क्षयोपशम भी होवेगा। इसी कारण से सूत्र कर्ता ने 'एव' शब्द का प्रयोग किया है। क्योंकि-'एव' शब्द अवधारण अर्थ में व्यवहृत है।

उत्थानिका—कायोत्सर्ग पार लेने के बाद फिर क्या करना चाहिए ? अब इस विषय में कहा जाता है—

उज्जुपन्नो अणुव्विग्गो , अव्वक्खित्तेण चेयसा ।
आलोए गुरुसगासे , ज जहा गहिअ भवे ॥९०॥

ऋजुप्रज्ञ अनुद्विग्नः , अव्याक्षिप्तेन चेतसा ।
आलोचयेद् गुरुसकाशे, यद् यथा गृहीतं भवेत् ॥९०॥

अन्वयार्थ—(उज्जुपन्नो) सरल बुद्धि वाला तथा (अणुव्विग्गो) उद्विग्नता रहित मुनि (अव्वक्खित्तेण) अव्याक्षिप्त (चेयसा) चित्त से (गुरू सगासे) गुरु के समीप (आलोए) आलोचना करे अर्थात् (ज) जो पदार्थ (जहा) जिस प्रकार से (गहिअं) ग्रहण किया (भवे) हो उसको उसी प्रकार से गुरु के समक्ष निवेदन करे ॥ ९० ॥

मूलार्थ—सरल स्वभावी एवं व्यग्रता रहित साधु जो पदार्थ जिस रूप से ग्रहण किया हो उसकी उसी रूप से स्थिर चित्त होकर गुरुश्रीके समक्ष आलोचना करे ॥ ९० ॥

भाष्य—जब ध्यान पाले तब कपट रहित होने से सरल बुद्धि वाला तथा क्षुधा आदि के जीतने से प्रशान्त चित्त वाला साधु अव्याक्षिप्त चित्त से अर्थात् स्थिर चित्तपूर्वक-चपलता आदि अव गुणों को दूर करके गुरु के समक्ष सभी ध्यान में स्मरण किये हुए अतिचारों को निवेदन करे। यानी

जिस प्रकार अन्न पानी ग्रहण किया गया हो उसी प्रकार गुरुदेव के समक्ष प्रगट करे। क्योंकि—जब गुरु के पास भिक्षाचरी विषयक सर्व प्रकार से आलोचना करली जायगी, तब गुरुदेव किसी अन्य साधु को उस घर-जिस घर से वह आहार लाया हो-जानेकी आज्ञा प्रदान नहीं करेंगे। जब गुरु को पताही नहीं होगा तो फिर वे अन्य मुनियों को 'अमुक घर पर मत जाना' इस प्रकार कैसे कह सकेंगे। अस्तु—अन्ततोगत्वा इसका यह परिणाम निकलेगा कि—प्रत्येक मुनि के एक ही घर में पुनः पुन भिक्षा के लिये जानेसे जिन शासन की लघुता और मुनियों पर गृहस्थों की अश्रद्धा उत्पन्न होजायगी।

अतएव गुरुश्री के पास भिक्षाचरी के विषय में आलोचना करनी युक्ति युक्त सिद्ध होती है। तथा आलोचना करने से दूसरा यह भी लाभ है कि भूल से या अन्य किसी प्रकार से लगे हुए दोषों की यथावत् निवेदना करने से हृदय में सरलता निष्कपटता आती है। जब हृदय में निष्कपटता ने स्थान पालिया तो फिर कहना ही क्या है! जैसी आत्म विशुद्धि निष्कपट मनुष्य की होती है, वैसी अन्य किसी की नहीं होती। संयमी के लिये आत्म विशुद्धि सबसे बड़ा लाभ है। इसी लाभ के लिये संसार छोड़ कर साधुपद ग्रहण किया जाता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यदि आलोचना सम्यक्तया नहो तो फिर क्या करना चाहिए? इस के विषय में कहते हैं—

न सम्ममालोइअं हुज्जा, पुव्विं पच्छा व जं कडं।
पुणो पडिक्कमे तस्स, वोसट्ठो चिंतए इमं ॥ ११ ॥

उज्जुपन्नो अणुव्विग्गो , अव्वक्खित्तेण चेयसा ।
आलोए गुरुसगासे , ज जहा गहिअ भवे ॥९०॥

ऋजुप्रज्ञः अनुद्विग्न , अव्याक्षिप्तेन चेतसा ।
आलोचयेद् गुरुसकाशे, यद् यथा गृहीतं भवेत् ॥९०॥

अन्वयार्थ—(उज्जुपन्नो) सरल बुद्धि वाला तथा (अणुव्विग्गो) उद्विग्नता रहित मुनि (अव्वक्खित्तेण) अव्याक्षिप्त (चेयसा) चित्त से (गुरू सगासे) गुरु के समीप (आलोए) आलोचना करे अर्थात् (जं) जो पदार्थ (जहा) जिस प्रकार से (गहिअं) ग्रहण किया (भवे) हो उसको उसी प्रकार से गुरु के समक्ष निवेदन करे ॥ ९० ॥

मूलार्थ—सरल स्वभावी एव व्यग्रता रहित साधु जो पदार्थ जिस रूप से ग्रहण किया हो उसकी उसी रूप से स्थिर चित्त होकर गुरुश्री के समक्ष आलोचना करे ॥ ९० ॥

भाष्य—जब ध्यान पारले तब कपट रहित होने से सरल बुद्धि वाला तथा क्षुधा आदि के जीतने से प्रशान्त चित्त वाला साधु अव्याक्षिप्त चित्त से अर्थात् स्थिर चित्तपूर्वक चंचलता आदि अव गुणों को दूर करके गुरु के समक्ष सभी ध्यान में स्मरण किये हुए अतिचारों को निवेदन करे। यानी

के लिये 'इच्छाकारेणं' और 'तस्सोत्तरीकरणेणं' इत्यादि सूत्र पढ़कर 'गोयर चरिआए' इत्यादि सूत्र का ध्यान करे और उसमें विस्मरण हुए अतिचारों का चिंतन करे।

कारणकि—जब सम्यक् प्रकार से चिन्तन किया जायगा तभी सर्व प्रकार से अतिचारों का स्मरण किया जासकेगा-अन्यथा नहीं। सम्यक् चिंतन ही वास्तव में सर्व श्रेष्ठ वस्तु है। यह स्मरण रहे कि-जैसा चिन्तन ध्यानावस्था में किया जासकता है वैसा बिना ध्यानावस्था के प्रायः नहीं किया जासकता। क्योंकि—ध्यानावस्था में चित्त वृत्तियाँ चंचलता छोड़कर स्थिर होजाती हैं। चित्त वृत्तियों की स्थिरता में ही सभी सद्गुण संनिहित हैं।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, ध्यान सम्बन्धी विचारणा के विषय में कहते हैं—

अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिया।
मुक्खसाहणहेउस्स, साहु देहस्स धारणा ॥ ९२ ॥

अहो जिनैः असावद्या, वृत्तिः साधूनां दर्शिता।
मोक्षसाधनहेतोः, साधुदेहस्य धारणाय ॥ ९२ ॥

अन्वयार्थ—(अहो) आश्चर्य है कि (जिणेहिं) तीर्थंकर देवों ने (साहूण) साधुओं के लिये (असावज्जा) असावद्य—पापरहित (वित्ती) गोचरी रूप वृत्ति (देसिया) दिखलाई है

न सम्यगालोचितं भवेत्, पूर्वं पश्चाद्वा यत्कृतम् ।
पुनः प्रतिक्रामेत् तस्य, व्युत्सृष्टश्चिन्तयेदिदम् ॥ ९१ ॥

अन्वयार्थ—(**जं**) जो अतिचार (**सम्मं**) सम्यक् प्रकार से (**आलोइअ**) आलोचित (**नहुज्जा**) न किया गया हो (**व**) अथवा (**जं**) जो (**पुव्वि**) पूर्वकर्म तथा (**पच्छाकड**) पश्चात् कर्म विपर्यय हो (**तस्स**) उसको (**पुणो**) फिर (**पडिक्कमे**) प्रतिक्रमण करे और फिर (**वोसट्ठो**) कायोत्सर्ग में (**इमं**) यह (**चिंतए**) चिंतन करे ॥ ९१ ॥

मूलार्थ—जिन सूक्ष्म अतिचारों की सम्यक् प्रकार से आलोचना न हुई हो और जो पूर्वकर्म तथा पश्चात् कर्म आगे पीछे कहे गये हों, उनका फिर प्रतिक्रमण करे और दुबारा कायोत्सर्ग करके उसमें अग्रिम सूत्रोक्त विचारों का चिंतन करे ॥ ९१ ॥

भाष्य—यदि अनाभोगपन से-अज्ञान से-या स्मृति के ठीक न होने से सम्यक्तया अतिचारों की आलोचना न की जासकी हो। जैसे—पूर्वकर्म पीछे वर्णन किया गया और पश्चात्कर्म पहले वर्णन किया गया अर्थात् जो पहले दोष लगा हो उसे पीछे और जो पीछे दोष लगा हो उसे पहले वर्णन कर दिया हो तो उस आलोचक साधु का कर्तव्य है कि-वह फिर दुबारा सूक्ष्म अतिचारों की स्मृति

जिस दिन से साधु होता है, उसी दिन से मौत से मोर्चा लगा देता है, फिर मरने का डर कैसा ! साधु जो भिक्षा द्वारा शरीर रक्षा करता है, वह मोक्ष के साधन जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप तीन रत्न हैं, उनकी सम्यक् साधना के लिये करता है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम।'

उत्थानिका—अब सूत्रकार, जब ध्यान में उक्त प्रकार से चिन्तन कर चुके तब फिर क्या करे ? इस विषय में कहते हैं—

णमुक्कारेण पारित्ता , करित्ता जिणसथवं ।
सज्झाय पट्ठवित्ताण, वीसमेज्ज खण मुणी ॥ ९३ ॥

नमस्कारेण पारयित्वा , कृत्वा जिन सस्तवम् ।
स्वाध्यायं प्रस्थाप्य विश्रामेत् क्षणं मुनिः ॥ ९३ ॥

अन्वयार्थ—(णमुक्कारेण) नमस्कार मन्त्रसे (पारित्ता) कायोत्सर्ग को पारकर (जिणसंथवं) जिनसस्तव—अर्थात् ' लोगस्स उज्जोयगरे ' आदि जिनसस्तव को (करित्ता) पढकर और (सज्झाय) स्वाध्याय को (पट्ठवित्ताणं) सपूर्ण करके (मुणी) साधु (खणं) क्षणमात्र (वीसमेज्ज) विश्राम लेवे ॥ ९३ ॥

मतलाई है जो (मुक्ख साहण हेउस्स) मोक्ष-साधन के कारण भूत (साहु देहस्स) साधु के शरीर की (धारणा) धारण करने के लिये-पोषण करने के लिये है ॥ ९२ ॥

मूलार्थ—महान आश्चर्य है कि—तीर्थंकर देवों ने साधुओं के लिये निरवद्य-पापरहित उस गोचरी रूप वृत्ति का उपदेश किया है, जो मोक्ष के साधन ज्ञान दर्शन चारित्र हैं तत्कारण भूत साधु के शरीर को धारण करने के लिये होती है ॥ ९२ ॥

भाष्य—साधु ध्यान में इस प्रकार विचार करे कि, अहो ! आश्चर्य है, श्रीश्रमण भगवान महावीर स्वामी ने तथा राग द्वेष के जीतने वाले सभी तीर्थंकर देवों ने साधुओं की भिक्षा वृत्ति सर्वथा पाप से रहित उपदेशित की है। जैन साधुओं की भिक्षा वृत्ति किसी को कष्टकारी न होने से पूर्ण रूपेण पवित्र होती है।

इसी भिक्षा वृत्ति का उद्देश्य और कुछ नहीं है—यह केवल अपने शरीर के निर्वाह के लिये ही है। इसके द्वारा साधु अपने शरीर की पालना सम्यक् प्रकार से कर सकता है।

अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि—साधु भिक्षावृत्ति द्वारा अपने इस अपावन शरीर की रक्षा किस लिये करता है ? क्या साधु भी शरीर के मोह में फंसा हुआ है ? क्या वह भी गृहस्थों की तरह मरने के डर से शरीर रक्षा की कोशिश करता है ?

उत्तर में कहा जाता है कि—शरीर-मोह की या मरने के डरने की कोई बात नहीं है। साधु तो

जिस दिन से साधु होता है, उसी दिन से मौत से मोर्चा लगा देता है, फिर मरने का डर कैसा ? साधु जो भिक्षा द्वारा शरीर रक्षा करता है, वह मोक्ष के साधन जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप तीन रत्न हैं, उनकी सम्यक साधना के लिये करता है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम।'

उत्थानिका—अब सूत्रकार, जब ध्यान में उक्त प्रकार से चिन्तन कर चुके तब फिर क्या करे ? इस विषय में कहते हैं—

णमुक्कारेण पारित्ता , करित्ता जिणसथवं ।
सज्झाय पट्ठविताण, वीसमेज्ज खण मुणी ॥ ९३ ॥

नमस्कारेण पारयित्वा , कृत्वा जिन संस्तवम् ।
स्वाध्याय प्रस्थाप्य विश्रामेत् क्षण मुनि ॥ ९३ ॥

अन्वयार्थ—(णमुक्कारेण) नमस्कार मन्त्रसे (पारित्ता) कायोत्सर्ग को पारकर (जिणसंथवं) जिनसस्तव-अर्थात् 'लोगस्स उज्जोयगरे' आदि जिनसस्तव को (करित्ता) पढकर और (सज्झाय) स्वाध्याय को (पट्ठविताण) सपूर्ण करके (मुणी) साधु (खण) क्षणमात्र (वीसमेज्ज) विश्राम लेवे ॥ ९३ ॥

मूलार्थ—इस प्रकार विचारणा के बाद साधु 'नमस्कार मन्त्रसे-नमो अरिहंताणं' के पाठ से कायो-त्सर्ग ध्यान को पारे। ध्यान पारकर जिनसंस्तव अर्थात् ' लोगस्स ' पढे फिर सूत्र स्वाध्याय पूर्ण करके कुछ देर विश्राम करे ॥ ९२ ॥

भाष्य—जब साधु कायोत्सर्ग को पारे तब मुख से ' नमोअरिहंताणं पद पढकर पारे। ध्यान पारणे के बाद फिर जिन संस्तव-लोगस्स उज्जोयगरे इत्यादि स्तव संपूर्ण पढे। पश्चात्-सूत्र की गाथाओं का स्वाध्याय आरम्भ करे जिससे एक मंडल पर बैठने वाले मुनिगण एकत्रित होजाएं तथा जो अन्य मुनि आते जाएं, वे भी जिन संस्तव या सूत्र का स्वाध्याय आरम्भ करे। जब स्वाध्याय पूर्ण कर चुके तत्पश्चात् क्षण मात्र थोड़ी देर विश्रान्ति ले यानी आराम करे।

क्योंकि-अति शीघ्रता से किया हुआ आहार भली भाँति शरीर की रक्षा नहीं कर सकता। प्रत्युत, शरीर में एक प्रकार की व्यथा उत्पन्न कर देता है। अतएव, उक्त विधि से किया हुआ आहार अपने अभीष्ट की सिद्धि करने में सम्पूर्णतया सहायता करेगा। इसलिये मुनि को उक्त विधि से विश्रान्ति लेकर ही आहार करना चाहिए।

तथा जो सूत्र में 'जिण संथवं'-'जिन संस्तव' का पाठ करना लिखा है, उस का अर्थ परम्परासे 'लोगस्स उज्जोयगरे' करते चले आये हैं। परन्तु जिन गाथाओं में भी भगवान की स्तुति हो उसी का नाम जिन संस्तव है। अत: एव आहार करने से पहले 'जिन संस्तव' का 'स्वाध्याय' अवश्यमेव करना चाहिए। जिससे स्वस्थचित्तता से ही आहार करने में निमग्न होजाए।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, विश्राम लेते हुए क्या करना चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—

वीसमंतो इम चिंते , हियमट्ठ लाभमट्ठिओ (अस्सिओ)
जइ मे अणुग्गह कुज्जा , साहू हुज्जामि तारिओ ॥ ९४ ॥

विश्राम्यन्निदं चिन्तयेत् , हितमर्थं लाभार्थिकः ।
यदि मे अनुग्रह कुर्यु (कुर्यात्), साधु भवामि तारित ॥ ८४ ॥

अन्वयार्थ—(लाभमट्ठिओ) निर्जरा के लाभ का अर्थी साधु (वीसमंतो) विश्राम करता हुआ (हियमट्ठ) हित के वास्ते (इम) यह (चिंते) चिन्तनकरे कि (जइ) यदि कोई (साहू) साधु (मे) मुझपर आहार लेने का (अणुग्गह) अनुग्रह (कुज्जा) करेतो मैं (तारिओ) भव समुद्र से तारा हुआ हो जाऊँ ॥ ९४ ॥

मूलार्थ—निर्जरा रूप महान् लाभ की अभिलाषा रखने वाला साधु, विश्राम करता हुआ कल्याण के लिये यह विचार करे कि—यदि कोई कृपालु मुनि, मेरे पर कुछ आहार लेने की कृपाकरें तो मैं संसार समुद्र से तारा हुआ हो जाऊँ ॥ ९४ ॥

मूलार्थ—इस प्रकार विचारणा के बाद साधु 'नमस्कार मंत्रसे-नमो अरिहंताणं' के पाठ से कायोत्सर्ग ध्यान को पारे। ध्यान पारकर जिनसंस्तव अर्थात् ' लोगस्स ' पढ़े फिर सूत्र स्वाध्याय पूर्ण करके कुछ देर विश्राम कर ॥ ९३ ॥

भाष्य—अब साधु कायोत्सर्ग को पारे तब मुख से ' नमोअरिहंताणं ' पद पढ़कर पारे। ध्यान पारने के बाद फिर जिन संस्तव-लोगस्स उज्जोयगरे इत्यादि स्तव संपूर्ण पढ़े। पश्चात्-सूत्र की गाथाओं का स्वाध्याय आरंभ करे, जिससे एक मंडल पर बैठने वाले मुनिगण एकत्रित होजाएँ तथा जो अन्य मुनि आते जावें, वे भी जिन संस्तव वा सूत्र का स्वाध्याय आरम्भ करे। जब स्वाध्याय पूर्ण कर चुके तत्पश्चात् क्षण मात्र थोड़ी देर विश्रान्ति छ यानी आराम करे।

कारणकि-अति शीघ्रता से किया हुआ व्यवहार भली भाँति शरीर की रक्षा नहीं कर सकता। प्रत्युत, शरीर में एक प्रकार की व्यथा उत्पन्न कर देता है। अतएव, उक्त विधि से किया हुआ आहार अपने अभीष्ट की सिद्धि करने में सम्पूर्णतया सहायता करेगा। इसलिये मुनि को उक्त विधि से विश्रान्ति लेकर ही आहार करना चाहिए।

तथा जो सूत्र में 'जिण संथवं -'जिन संस्तव' का पाठ करना लिखा है, उस का अर्थ परम्परासे 'लोगस्स उज्जोयगरे' करते चले आये हैं। परन्तु जिन गाथाओं में भी भगवान की स्तुति हो, उसी का नाम जिन संस्तव है। अतः एव आहार करने से पहले 'जिन संस्तव' वा 'स्वाध्याय' अवश्यमेव करना चाहिए। जिससे स्वभाविकता से ही आहार करने में विलम्ब होजाए।

साहवो तो चिअत्तेण , निमंतिज्ज जहक्कम ।
जइ तत्थ केइ इच्छिज्जा , तेहिं सद्धिं तु भुंजए ॥ ९५ ॥

साधुस्ततो मन प्रीत्या , निमन्त्रयेत् यथाक्रमम् ।
यदि तत्र केचन इच्छेयु , तै सार्धं तु भुञ्जीत ॥ ९५ ॥

अन्वयार्थ—(तओ) तत्पश्चात् (साहवो) साधुओं को (चिअत्तेणं) प्रीतिभाव से (जहक्कमं) यथाक्रम (निमंतिज्ज) निमन्त्रणा करे । फिर (जइ) यदि (तत्थ) उन निमन्त्रित साधुओं में से (केइ) कोई साधु (इच्छिज्जा) भोजन करना चाहें तो (तेहिंसद्धिं) उनके साथ भोजन करे ॥ ९५ ॥

मूलार्थ—गुर्वाज्ञा मिलने पर साथ के साधुओं को प्रीति पूर्वक अनुक्रमण से निमन्त्रणा करे । यदि निमन्त्रणा मानकर कोई प्रेमी साधु भोजन करना चाहें तो प्रसन्नता पूर्वक उनके साथ भोजन करे ॥ ९५ ॥

भाष्य—आचार्य श्री जी की आज्ञा मिलने पर अपने अन्य साथी साधुओं को प्रीति भाव से स्वयं यथाक्रम विधि से अपने लाये हुये आहार के लिए आमंत्रण करे । 'यथा विधि' उसका नाम है।

भाष्य—विश्राम लेता हुआ साधु, निर्जरा रूप अक्षय लाभ के लिये तथा परस्पर के हित-प्रेम के लिये वा कल्याण के लिये अपने हृदय में विचार करे कि- यदि ये संगी साधु मुझ सेवक पर कुछ अनुग्रह करें तो मैं इन को यह लाया हुआ सब आहार दे दूं। ऐसा करने से मैं इन कृपा सिन्धु साधुओं द्वारा संसार समुद्र से अनायास ही तर जाऊँगा।

अस्तु-ऐसा विचार करके प्रथम तो आचार्य श्री जी को आमन्त्रणा करे। यदि वे स्वयं ग्रहण न करें तो फिर उनसे कहे कि भगवन्! आप नहीं लेते तो कृपया अन्य मुनिवरों को देदीजिए। यदि आचार्य कहें कि तुम स्वयं आमंत्रणा करो तो फिर ('स्वयं आमन्त्रणा करे'। यह अग्रिमसूत्रों में कहा जाता है)।

इस कथन का यह भाव है कि- साधुओं को आहार पानी परस्पर आदान प्रदान करके प्रेम पूर्वक ही करना चाहिए। इस प्रकार परस्पर दान करने के सूत्रकारने दो फल प्रति पादन किये हैं। एक तो निर्जरा और दूसरे परस्पर प्रेम भाव उत्पादन करना तथा सहानुभूति दिखलाना। अतः एव अन्य साधुओं का आहार की आमंत्रणा सच्चे दिल से अपना कल्याण समझ करनी चाहिए यह नहीं कि- पोंही ऊपर के मन से कुछ कहा कुछ न कहा और झट आमन्त्रणा के फर्ज से हलके हुए॥ ९५॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, आमत्रणा करने पर यदिकोई साधु आमंत्रणा स्वीकार करे तो फिर क्या करे? यह कहते हैं—

साहवो ता चिअत्तेण , निमंतिज्ज जहक्कम ।
जइ तत्य केइ इच्छिज्जा , तेहिं सद्धिं तु भुंजए ॥ ९५ ॥

साधुस्ततो मनः प्रीत्या , निमन्त्रयेत् यथाक्रमम् ।
यदि तत्र केचन इच्छेयुः , तैः सार्धं तु भुञ्जीत ॥ ९५ ॥

अन्वयार्थ—(तओ) तत्पश्चात् (साहवो) साधुओं को (चिअत्तेणं) प्रीतिभाव से (जहक्कम) यथाक्रम (निमतिज्ज) निमन्त्रणा करे । फिर (जइ) यदि (तत्थ) उन निमन्त्रित साधुओं में से (केइ) कोई साधु (इच्छिज्जा) भोजन करना चाहें तो (तेहिंसद्धिं) उनके साथ भोजन करे ॥ ९५ ॥

मूलार्थ—गुर्वाज्ञा मिलने पर साथ के साधुओं को प्रीति पूर्वक अनुक्रमण से निमन्त्रणा करे । यदि निमन्त्रणा मानकर कोई प्रेमी साधु भोजन करना चाहें तो प्रसन्नता पूर्वक उनके साथ भोजन करे ॥ ९५ ॥

भाष्य—आचार्य श्री जी की आज्ञा मिलने पर अपने अन्य साथी साधुओं को प्रीति भाव से स्वयं यथाक्रम विधि से अपने लाये हुये आहार के लिए आमंत्रणा करे । 'यथा विधि' उसका नाम है।

भाष्य—विश्राम लेता हुआ साधु, निर्जरा रूप महान् लाभ के लिये तथा परस्पर के हित-प्रेम के लिये या कल्याण के लिये अपने हृदय में विचार करे कि यदि ये संगी साधु मुझ सेवक पर कुछ अनुग्रह करें तो मैं इन को यह लाया हुआ सब आहार दे दूं। ऐसा करने से मैं इन कृपा सिन्धु साधुओं द्वारा संसार समुद्र से अनायासही तरा जाऊँगा।

अस्तु-ऐसा विचार करके प्रथम तो आचार्य श्री जी को आमन्त्रणा करे। यदि वे स्वय ग्रहण न करें तो फिर उनसे कहे कि भगवन्! आप नहीं लेते तो कृपया अन्य मुनिवरों को देदीजिए। यदि आचार्य कहें कि तुम स्वयं आमंत्रणा करो तो फिर ('स्वयं आमंत्रणा करे'। यह अभिमसूत्रों में कहा जाएगा है)।

इस कथन का यह भाव है कि- साधुओं को आहार पानी परस्पर आदान प्रदान करके प्रेम पूर्वक ही करना चाहिए। इस प्रकार परस्पर दान करने के सूत्र कारने दो फल प्रति पादन किये हैं। एक तो निर्जरा और दूसरे परस्पर प्रेम भाव उत्पादन करना तथा सहानुभूति दिखलाना। अतः एव अन्य साधुओं को आहार की आमंत्रणा सच्चे दिल से अपना कल्याण समझ करनी चाहिए यह नहीं कि-यों ही ऊपर के मन से कुछ कहा कुछ न कहा और झट आमंत्रणा के फर्ज से हलके हुए॥ ९४॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार; आमन्त्रणा करने पर यदिकोई साधु आमंत्रणा स्वीकार करे तो फिर क्या करे? यह कहते हैं—

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यदि कोई आमत्रणा स्वीकार न करेतो फिर क्या करे ? इस विषय में कहते हैं–

अह कोइ न इच्छिज्जा , तओ मुजिज्ज एक्कओ ।
आलोए भायणे साहू , जय अप्परिसाडिय ॥ ९६ ॥

अथ को पि नेच्छेत्, ततो भुञ्जीत एकक ।
आलोके भाजने साधुः यतमपरिशातयन् ॥ ९६ ॥

अन्वयार्थ—(अह) यदि साग्रह निमत्रणा करने पर भी (कोइ) कोई साधु (नइच्छिज्जा) आहार लेने की इच्छा न करे (तओ) तत्पश्चात् (साहू) वह निमत्रणा करने वाला साधु (एकओ) स्वय अकेला ही (आलोए) प्रकाश युक्त (भायणे) पात्र में तथा (जयं) यत्न-पूर्वक (अप्परिसाडिय) हाथ तथा मुख से न गेरता हुआ (भुजिज्ज) शान्त भाव से भोजन करे ॥ ९६ ॥

मूलार्थ—यदि बार बार की साग्रह निमत्रणा पर भी कोई साधु भोजन करने के लिये तैयार

जैसे पहले सब से बड़े को आमंत्रणा करे, फिर उससे छोटे को। अस्तु, इस प्रकार निमन्त्रणा करने पर यदि कोई साधु चाहे, तो उनके साथ बैठकर भोजन करले। क्योंकि जब धर्म बान्धव साथ बैठकर भोजन करना चाहे तो उसके साथही बैठकर भोजन करने में हीआत्मकल्याण है, प्रेमभाव की वृद्धि है, जैन धर्म की प्रशंसा है।

तथा सूत्र में जो 'केई' बहुवचन सर्व नाम के साथ 'इच्छिज्जा' एक वचनान्त क्रिया पद दिया है। यह प्राकृत भाषा के कारण से है। प्राकृत भाषा में इस प्रकार के विपर्यय प्रायः बहुत अधिक होते हैं। इसी प्रकार 'साहवो' यह द्वितीयान्त पद भी प्राकृत भाषा के कारण से ही दिया है।

उक्त गाथा से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि—जब साधु भोजन करना चाहे तब साथी साधुओं को अवश्यमेव निमन्त्रणा करे। बिना निमन्त्रणा किये भोजन कदापि नहीं करना चाहिए। साधु हाकर संविभागी न हुआ तो फिर क्या हुआ? कुछ भी नहीं। साधु संघ में संविभाग दान मुख्य है †।

† नोट—संविभाग में-परस्पर बाँटकर खाने में ही आत्म कल्याण है। जब प्रेम मूर्ति साधु ही बनगए, तो फिर एकलखोरे पन के भाव कैसे? साधु वही है जो संविभागी है। आगे चलकर इसी सूत्र के नवम अध्ययन में स्वयं सूत्रकारने कहा है कि— असंविभागी न हु तस्स मोक्खो' जो असंविभागी है-बाँटकर नहीं-खानेवाला है, वह चाहे कि मुझे मोक्ष मिले तो उसे कदापि मोक्ष नहीं मिल सकती। मोक्ष संविभागी को ही मिलती है। (जो जिन कल्पी मुनि असंयता की दृष्टि से असंविभागी है उनके लिये यह कथन नहीं है।) अहा पारस्परिक प्रेम वृद्धि का कितना ऊँचा आदर्श-कथन है। एकलखोरे-भिक्षालोलुप मुनि ध्यानसे-संपादक।

तित्तग व कडुअ व कसायं , अविल व महुर लवण वा ।
एअलद्धमन्नत्थ पउत्त , महुघय व भुंजिज्ज संजए ॥ ९७ ॥

तिक्तकं वा कटुकं वा कषायं , अम्लं वा मधुरं लवणं वा ।
एतल्लब्ध मन्यार्थप्रयुक्तं , मधुघृतमिव भुञ्जीत संयत ॥ ९७ ॥

अन्वयार्थ—(संजए) यत्नावान साधु (एअं) इस प्रकार के (लद्धं) आगमोक्त विधि से मिले हुए (अन्नत्थपउत्तं) अन्य के वास्ते बनाए हुए (तित्तगं) तिक्त (व) अथवा (कडुअ) कटुक (व) तथा (कसायं) कषाय (व) तथा (अंबिल) अम्ल—खट्टा (वा) अथवा (महुरं) मधुर अथवा (लवण) क्षार आदि पदार्थों को (महुघयंव) मधु—घृत की तरह प्रसन्नता के साथ (भुंजिज्ज) भोगे अर्थात् खावे ॥ ९७ ॥

मूलार्थ—साधु वही भोजन करे, जो गृहस्थने अपने लिए बनाया हुआ हो और जो आगमोक्त विधि से लिया हुआ हो। चाहे फिर वह तिक्त हो-कटुहो कषायलाहो—खट्टाहो-मीठाहो- खाराहो- चाहे कैसाही हो, उसी को बडी प्रसन्नता के साथ मधु घृत के समान खावे ॥ ९७ ॥

भाष्य—साधु का भोजन कुछ घर का भोजन नहीं है। वहतो भिक्षा का भोजन है। भिक्षा मे

न होतो फिर अकेला ही प्रकाशमय—खुले पात्र में, यत्ना पूर्वक इधर उधर परिसाटन न करता हुआ भोजन करे ॥ ९६ ॥

भाष्य—बारी बारी से सब साधुओं से विनती कर लेने पर भी यदि साधु उससे आहार लेने की इच्छा न करें, तब उस साधु को योग्य है कि वह राग और द्वेष के संकल्प-विकल्पों से रहित होकर अकेला ही प्रकाशमय पात्र में आहार करले। किन्तु, जब आहार करने लगे तब यत्नपूर्वक हाथ तथा मुख से इधर उधर न गेरता हुआ ही आहार करे। क्योंकि अयत्ना से किया हुआ आहार संयम विराधना का हेतु बनजाता है।

अतः सिद्ध हुआ कि—साधु मुख में जो ग्रास डाले वह प्रमाणका ही डाले। ऐसा न करे कि-कुछ तो ग्रास मुख में है तथा कुछ उसका भागनीचे गिर रहा है। तथा कुछ हाथ में है और कुछ नीचे गिर रहा है। इस प्रकार आहार करने में अयोग्यता पाई जाती है।

सूत्रकर्ता ने जो प्रकाशनीय पात्र में भोजन करना लिखा है, उसका कारण यह है कि प्रकाश नीय पात्र में ही सूक्ष्म त्रसजीव भली भाँति देखे जा सकते हैं—अन्य में नहीं। अतः साधु को सदा भोजन करने के लिये प्रकाश प्रधान पात्रही रखना चाहिए।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, अच्छे-बुरे भोज्य पदार्थों के विषय में समभाव रखने के लिये कहते हैं—

तित्तग व कडुअ व कसायं , अविल व महुर लवण वा ।
एअलद्धमन्नत्थ पउत्त , महुघय व भुंजिज्ज संजए ॥ ९७ ॥

तित्तकं वा कटुकं वा कषायं , अम्लं वा मधुर लवणं वा ।
एतल्लब्ध मन्यार्थप्रयुक्तं , मधुघृतमिव भुञ्जीत संयत ॥ ९७ ॥

अन्वयार्थ—(संजए) यत्नावान साधु (एअं) इस प्रकार के (लद्धं) आगमोक्त विधि से मिले हुए (अन्नत्थपउत्तं) अन्य के वास्ते बनाए हुए (तित्तगं) तिक्त (व) अथवा (कडुअ) कटुक (व) तथा (कसाय) कषाय (व) तथा (अंविल) अम्ल—खट्टा (वा) अथवा (महुरं) मधुर अथवा (लवणं) क्षार आदि पदार्थों को (महुघयंव) मधु—घृत की तरह प्रसन्नता के साथ (भुंजिज्ज) भोगे अर्थात् खावे ॥ ९७ ॥

मूलार्थ—साधु वही भोजन करे, जो गृहस्थने अपने लिए बनाया हुआ हो और जो आगमोक्त विधि से लिया हुआ हो । चाहे फिर वह तिक्त हो-कटुहो- कसायलाहो—खट्टाहो-मीठाहो- खाराहो—चाहे कैसाही हो, उसी को नबी प्रसन्नता के साथ मधु घृत के समान खावे ॥ ९७ ॥

भाष्य—साधु का भोजन कुछ घर का भोजन नहीं है । वहतो भिक्षा का भोजन है । भिक्षा में

न करता
न होतो फिर अकेला ही प्रकाशमय—खुले पात्र में , यत्ना पूर्वक इधर उधर परिसाटन न करता हुआ भोजन करे ॥ ९६ ॥

भाष्य—बारी बारी से सब साधुओं से विनती कर लेने पर भी यदि साधु उससे आहार लेने की इच्छा न करें , तब उस साधु को योग्य है कि वह राग और द्वेष के संकल्प-विकल्पों से रहित होकर अकेला ही प्रकाशमय पात्र में आहार करले। किन्तु, जब आहार करने लगे तब यत्नपूर्वक हाथ तथा मुख से इधर उधर न गेरता हुआ ही आहार करे। क्योंकि अयत्ना से किया हुआ आहार संयम विराधना का हेतु बनजाता है।

अतः सिद्ध हुआ कि—साधु मुख में जो ग्रास डाले वह प्रमाणयुक्त ही डाले। ऐसा न करे कि—कुछ तो ग्रास मुख में है तथा कुछ उसका भागनीचे गिर रहा है। तथा कुछ हाथ में है और कुछ नीचे गिर रहा है। इस प्रकार आहार करने में अयोग्यता पाई जाती है।

सूत्रकर्ता ने जो प्रकाशनीय पात्र में भोजन करना लिखा है , उसका कारण यह है कि प्रकाशनीय पात्र में ही सूक्ष्म त्रसजीव भली भाँति देखे जा सकते हैं—अन्य में नहीं। अतः साधु को सदा भोजन करने के लिये प्रकाश प्रधान पात्रही रखना चाहिए।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, अच्छे-बुरे भोज्य पदार्थों के विषय में समभाव रखने के लिये कहते हैं—

तित्तग व कडुअ व कसायं , अविलं व महुर लवण वा ।
एअलद्धमन्नत्थ पउत्त , महुघय व भुजिज्ज संजए ॥ ९७ ॥

तिक्तकं वा कटुकं वा कषायं , अम्लं वा मधुरं लवणं वा ।
एतल्लब्धमन्यार्थप्रयुक्तं , मधुघृतमिव भुञ्जीत संयतः ॥ ९७ ॥

अन्वयार्थ—(संजए) यत्नवान साधु (एअ) इस प्रकार के (लद्धं) आगमोक्त विधि से मिले हुए (अन्नत्थपउत्तं) अन्य के वास्ते बनाए हुए (तित्तगं) तिक्त (व) अथवा (कडुअ) कटुक (व) तथा (कसायं) कषाय (व) तथा (अंविलं) अम्ल—खट्टा (वा) अथवा (महुरं) मधुर अथवा (लवण) क्षार आदि पदार्थों को (महुघयव) मधु—घृत की तरह प्रसन्नता के साथ (भुजिज्ज) भोगे अर्थात् खावे ॥ ९७ ॥

मूलार्थ—साधु वही भोजन करे, जो गृहस्थने अपने लिए बनाया हुआ हो और जो आगमोक्त विधि से लिया हुआ हो। चाहे फिर वह तिक्त हो-कटुहो- कषायलाहो—खट्टाहो-मीठाहो- खाराहो—चाहे कैसाही हो, उसी को बड़ी प्रसन्नता के साथ मधु घृत के समान खावे ॥ ९७ ॥

भाष्य—साधु का भोजन कुछ घर का भोजन नहीं है। यहतो भिक्षा का भोजन है। भिक्षा में

सभी प्रकार के पदार्थ मिलते हैं। जैसे—तिक्त—एलुआ, बालुक आदि। कटुक—आर्द्रक तीमन आदि। कषाय—पत्र आदि। अम्ल—तक्र मास आदि। मधुर—क्षीर मधु आदि। लवण—क्षार बहुल पदार्थ। ये नाम गिना दिये गए हैं। इसी तरह के अन्य पदार्थ भी मिल जाते हैं।

सो इस प्रकार के भिक्षा में मिले हुए सभी पदार्थों का अक्षोपाङ्ग न्याय से—परमार्थ से मोक्ष के लिये साधक मान कर प्रसन्नता से इस प्रकार भोजन करे, जिस प्रकार संसारी लोग मधु और घृत का भोजन किया करते हैं।

साधु का भोजन शरीर सौन्दर्य के लिये नहीं होता बल्कि, आत्म सौन्दर्य के लिये होता है। आत्म सौन्दर्य तभी होसकता है जबकि अच्छे बुरे पर एकसी प्रसन्नता हो—नाक भौंह सिकोड़ना न हो। साधु के लिये तो भोजन का अच्छा बुरापन आगमोक्त विधि से लेना न लेना है। जो भोजन आगमोक्त विधि से लिया जाता है, वह अच्छा है और जो आगमोक्त विधि से नहीं लिया जाता है वह बुरा है।

ऊपर के विस्तृत कथन का सारांश इतना ही है कि—साधु को साधु वृत्ति के अनुसार जाहे तिक्त आदि किसी भी प्रकार का आहार मिले, साधु सभी को मधु-घृत की तरह सुन्दर जानकर ही भोजन करे। किन्तु, उस आहार की निन्दादि कदापि न करे। और नाहीं उसके रसका आस्वादन करे॥ ९७॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, युग्मगाथा द्वारा फिर इसी विषय को स्पष्ट करते हैं—

अरस विरस वावि, सूइय वा असूइय ।
उल्ल वा जइ वा सुक्क, मथु कुम्मास भोयण ॥ ९८ ॥
उप्पण्ण नाइ हिलिज्जा, अप्प वा बहु फासुअ ।
मुहालद्ध मुहाजीवी, भुजिज्जा दोष वज्जिअ ॥ ९९ ॥ [युग्मम्]

अरसं विरसं वाऽपि, सूचित वा असूचितम् ।
आर्द्र वा यदि वा शुष्कं, मन्थु कुल्माष भोजनम् ॥ ९८ ॥
उत्पन्नं नातिहील्येत्, अल्पं वा बहुप्रासुकम् ।
मुधालब्धं मुधाजीवी, भुञ्जीत दोष-वर्जितम् ॥ ९९ ॥

अन्वयार्थ—(उप्पण्ण) विधिसे प्राप्त किया हुवा (अरस) रस रहित आहार (वावि) अथवा (विरसं) विरस आहार शीत अन्नादि (वा) अथवा (सूइयं) व्यञ्जनादि से युक्त आहार अथवा (असूइयं) व्यञ्जनादि से रहित आहार (वा) अथवा (उल्लं) आर्द्रतर आहार (वा) अथवा (सुक्क) शुष्क आहार अथवा (मंथु) बदरी फल के चून का आहार अथवा

(कुम्मास भोयण) उड़दके बाकलों का आहार अथवा (अप्पं) थोड़ा सरस आहार (वा) अथवा (बहु) घणा—नीरस आहार आदि आदि कैसा ही क्यों न निन्दित आहार हो साधु उसकी (नाइ हिलिज्जा) निन्दा—बुराई न करे बल्कि (मुहाजीवी) जाति कुल आदि न बताकर आहार लेने वाला-अनिदान जीवी साधु (मुहालद्धं) मन्त्र तन्त्रादि दुष्क्रियाओं के बिना किये हुए ही मिले हुए (फासुअं) प्रासुक आहार को चाहे फिर वह कैसा ही हो (दोष वज्जिअं) संयोजनादि दोषों को छोड़कर (भुंजिज्जा) प्रसन्नता से भोगे ॥ ९८ ९९ ॥

मूलार्थ—आत्मार्थी मुधा जीवी साधु-शास्त्रोक्त विधि से प्राप्त-अरस, विरस, सूचित, असूचित, आर्द्र, शुष्क आदि किसी भी प्रकार के निकृष्ट भोजन की घृणा से निन्दा न करे। यदि थोड़ा आहार मिले तो यों न कहे कि-यह तो बहुत थोड़ा आहार है। इससे मेरी पेट पूर्ति कैसे हो सकती है? यदि असार प्राय अधिक आहार मिलेतो यों न कहे कि-कितना, देखो ढेर असार आहार मिला है? ऐसे असार आहार को मैं कैसे खाऊँ? अस्तु-मुधा जीवी साधु को तो जो आहार मिले वह मुधालब्ध (निःस्वार्थ वृत्ति से प्राप्त) और प्रासुक होना चाहिए, उसे ही संयोजनादि दोषों को त्यागकर प्रसन्नता पूर्वक भोगे ॥ ९८ ९९ ॥

भाष्य—आहार के लिये गये हुए साधु को भिक्षा में कई प्रकार के पदार्थ मिलते हैं। जैसे-अरस आहार—हिंग्यादि से असंस्कृत। विरस आहार—बहुत पुराणे ओदन आदि एवं शीत पदार्थ। सूचित† आहार—व्यञ्जनादि से युक्त अर्थात् मसालेदार पदार्थ। असूचित आहार—व्यञ्जनादि से रहित, बिना मसाले का। आर्द्र आहार-प्रचुर व्यञ्जन वाला तर पदार्थ। शुष्क आहार—स्तोक व्यञ्जन वाला—रूखा सूखा पदार्थ। मन्थु—बेरों का चून—बोरकूट। कुल्माष -सिद्धमाष, यवमाष-उड़दों के बाकले आदि आदि।

अस्तु—उपर्युक्त शुद्ध और शास्त्रोक्त विधि से मिले हुए पदार्थों की साधु कदापि निन्दा न करे। साधु वृत्ति के अनुसार साधु को तो जो आहार मिलता है, वही अमृत के तुल्य है। उस पर अच्छे बुरे का भाव लाकर राग द्वेष आदि नहीं करना चाहिए।

बहुत सी दफा ऐसा भी होजाता है कि—बहुत ही थोड़ा आहार मिलता है तो-यह न विचार करे कि—क्या मिला है! कुछ नहीं मिला। भला देने वाले को देते वक्त लज्जा भी न आई। यह तो दाँतों के लग जायगा-पेट कैसे भरेगा? देह रक्षा कैसे होगी? बाज़ मौके नीरस पदार्थ बहुत अधिक मिल जाते हैं। तब यह न सोचे कि—देखो भाग फूट गए। कैसा आहार मिला है? देखते ही उल्टी आती है। थोड़ा भी तो नहीं मिला, पूरा पात्र ही भरगया। अब इतना आहार कैसे खाऊँ?

---

† कोई कोई सूचित और असूचित शब्दों का क्रमशः यह भी अर्थ करते हैं कि—कह कर दिया हुआ आहार और बिना कह कर दिया हुआ आहार। यहाँ पर दाता शब्द का अध्याहार कर लेना चाहिए।

कोई-कोई आचार्य 'अप्पवा बहु फासुअं' पदकी व्याख्या 'अप्प—वा—बहुफासुअं' पद छेद करके करते हैं। उनका यह आशय है कि—जो साधु मुधाजीवी है, उसको थोड़ा विरस आहार परन्तु सर्वथा शुद्ध—मुधालब्ध मिला है तो-साधु उसकी निन्दा न करे, अपितु यह भावना भावेकि—यह गृहस्थलोग मेरे को जो कुछ भी थोड़ा यह देते हैं वही बहुत ठीक है। मैं तो अनुपकारी हूं। अनुपकारी को क्या इतना आहार देना थोड़ा है? नहीं बहुत ज्यादह है। अरे, अनुपकारी को तो कुछ भी नहीं मिलना चाहिए।

सूत्रगत मुधाजीवी' और 'मुधालब्ध शब्दों के अर्थों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। क्यों कि-शब्द भण्डार में साधु के लिये ये दो शब्द बड़े ही मारके के हैं—

'मुधाजीवी' शब्द का अर्थ है- सर्वथा निदान रहित पवित्र जीवन व्यतीत करने वाला तथा अपनी जाति कुल आदि बितला कर आहार न लेने वाला आदर्श साधु। वास्तव में ऐसे निःस्पृही साधुही दुनियों में आकर कुछ नफा कमा लेजाते हैं। आदर्श साधुओं की जीवन नौका जाति आदि किसी के भरोसे पर नहीं चलती। उन्हें तो अपने आपे पर भरोसा है।

'मुधालब्ध' शब्द का अर्थ है—बिना किसी स्वार्थ के मिला हुआ पवित्र आहार। ऐसे शुद्ध आहार को ही वस्तुतः आहार करना चाहिए। मन्त्र, यन्त्र, ज्योतिष, वैद्यक या अन्य किसी काम काज आदि के पेटे बोझ से जो गृहस्थ आहार देते हैं, उस आहार का भोजन करना तो मानों पाप का भोजन करना है। अस्तु।

सूत्रकार के कथन का संक्षिप्त सार यह है कि, साधु मुधाजीवी है। अतः उसका आहार मुधा लब्ध प्रासुक होना चाहिए। फिर चाहे वह आहार सरस हो-विरस हो-थोड़ा हो-बहुत हो-कैसा ही हो, यही अमृत समझ कर संयोजनादि दोषों का परित्याग कर प्रसन्न चित्त से खावे ॥ ९८ ९९ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मुधादायी और मुधाजीवी की दुर्लभता के विषय में कहते हैं—

दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दोवि गच्छंति सुग्गइं ॥ १०० ॥ त्तिबेमि।

दुर्लभास्तु मुधादायिन, मुधाजीविनोऽपि दुर्लभा।
मुधादायी मुधाजीवी, द्वावपि गच्छन्ति सुगतिम् ॥ १०० ॥ [इति ब्रवीमि]

अन्वयार्थ—(मुहादाई) निःस्वार्थ बुद्धि से देने वाले दातार, संसार में (उ) निश्चय ही (दुल्लहा) दुर्लभ हैं तथा (मुहाजीवीवि) निःस्वार्थ बुद्धि से लेने वाले साधु भी (दुल्लहा) दुर्लभ हैं। अतः (मुहादाई) मुधादायी और (मुहाजीवी) मुधाजीवी (दोवि) दोनों ही (सुग्गइं) सुगति को (गच्छंति) जाते हैं—प्राप्त करते हैं ॥ १०० ॥

(त्तिबेमि) इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—इस संसार में, निःस्वार्थ बुद्धि से देने वाले दातार और निःस्वार्थ बुद्धि से लेने

कोई-कोई आचार्य 'अप्पंवा बहु फासुअं' इसकी व्याख्या 'अप्पं—वा—बहुफासुअं' पद च्छेद करके करते हैं। उनका यह आशय है कि—जो साधु मुधाजीवी है, उसको थोड़ा विरस आहार परन्तु सर्वथा शुद्ध—मुधालब्ध मिला है तो-साधु उसकी निन्दा न करे, अपितु यह भावना भावेकि—यह गृहस्थलोग मेरे को जो कुछ भी थोड़ा यह देते हैं यही बहुत ठीक है। मैं तो अनुपकारी हूं। अनुपकारी को क्या इतना आहार देना थोड़ा है? नहीं बहुत ज्यादह है। अरे, अनुपकारी को तो कुछ भी नहीं मिलना चाहिए।

सूत्रगत 'मुधाजीवी' और 'मुधालब्ध' शब्दों के अर्थों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। क्यों कि-शास्त्र भण्डार में साधु के लिये ये दो शब्द बड़े ही मारके के हैं—

'मुधाजीवी' शब्द का अर्थ है सर्वथा निदान रहित पवित्र जीवन व्यतीत करने वाला तथा अपनी जाति कुल आदि बितला कर आहार न लेने वाला आदर्श साधु। वास्तव में ऐसे निःस्पृही साधु ही दुनियाँ में आकर कुछ नफा कमा लेजाते हैं। आदर्श साधुओं की जीवन नौका जाति आदि किसी के भरोसे पर नहीं चलती। उन्हें तो अपने आपे पर भरोसा है।

'मुधालब्ध' शब्द का अर्थ है—बिना किसी स्वार्थ के मिला हुआ पवित्र आहार। ऐसे शुद्ध आहार को ही वस्तुतः आहार कहना चाहिए। मंत्र, यन्त्र, ज्योतिष, वैद्यक या अन्य किसी काम काज आदि के गहरे लोभ से जो गृहस्थ आहार देते हैं, उस आहार का भोजन करना तो मानों पाप का भोजन करना है। अस्तु।

शास्त्रीय परिभाषा में ऐसे देने वाले दातार को मुधादायी और ऐसे लेने वाले साधु को मुधाजीवी कहते हैं। इन मुधादायी और मुधाजीवी के वास्तविक तत्व का सरल विवेचन पाठकों के हितार्थ दृष्टान्त द्वारा किया जाता है—

मुधालब्ध का दृष्टान्त—

एक कोई परिव्राजक सन्यासी फिरता घूमता किसी भागवत के यहाँ पहुंचा। बात चीत होनेपर कहने लगा कि- भक्त! चौमासा का समय नजदीक है। मैं किसी योग्य स्थान पर चौमासा करने की तलास में हूँ। यदि तुम आज्ञा दो तो तुम्हारा घर मुझे पसंद है, मैं यहीं चौमासा करलूं। समझ लो तुम मेरा निर्वाह कर सकते हो?

भागवत ने कहा कि—भगवन! अच्छी बात है। खुसी से चौमासा करें। यह आपका ही घर है। मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि-आप जैसे त्यागियों का मेरे घर पर ठहरना होता है। परन्तु-महाराज! ठहरने के विषय में एक बात है-उसे आप मंजूर करें तो आपका भी और मेरा भी दोनों ही का काम बने नहीं तो नहीं। वह बात यह है कि-आप मेरे यहाँ आनन्द से ठहरे रहें, पर मेरे घरका कोई भी काम आप न करें। चाहे मेरा कैसा ही जरूरी काम क्यों न बिगड़ता-संवरता हो पर आपका उसमें किसी भी अंश में हस्तक्षेप करना ठीक न होगा? आप निःस्पृही भाव से रहें—मेरे पर किसी प्रकार की ममता न करें। यह मैंने ठहरने ठहराने के विषय में जो कुछ बात थी, बतलादी। अब आप देख लें कैसा विचार है?

वाले साधु—दोनों ही दुर्लभ हैं। अतः ये दोनों ही सत्पुरुष उत्तम—सद्गति प्राप्त करते हैं ॥ १००॥

भाष्य—इस गाथा में मुधादायी और मुधाजीवी की दुर्लभता का तथा उनके फलका दिग्दर्शन कराया है—

यों तो यह संसार है। इस में दान देने वालों की और दान लेने वालों की कुछ कमी नहीं है। यहाँ पर जहाँ देखो वहाँ ही देने वाले एवं लेने वाले-दोनों ही व्यक्ति बहुत अधिक संख्या में मिलते हैं। परन्तु-निःस्वार्थ बुद्धि से देने वालों की और निःस्वार्थ बुद्धि से लेने वालों की ही बड़ी भारी कमी है। ऐसे व्यक्ति संसार में कहीं ढूंढे हुए ही मिलते हैं।

आशा बड़ी पापिनी है। यह दूर दूर तक पहुँची हुई है। धार्मिक आत्मोन्नति के कार्य भी इससे अछूते नहीं बच सके हैं। दान देना और दान लेना कितना पवित्र कार्य है। पर खेद है कि-इस पर भी किसी न किसी सांसारिक आशा का अपवित्र जाल पड़ ही जाता है। धन्य हैं, वे देने वाले और लेने वाले, जो इस आशा के जाल से अलग हैं। जिन्हें किसी प्रकार की सांसारिक आशा नहीं है। अस्तु- येही दोनों सद्गति प्राप्त करते हैं—अन्य नहीं।

वस्तुतः येही देने में देने वाले गृहस्थ हैं जो बिना किसी आशा के निःस्वार्थ भाव से देते हैं। इसी प्रकार लेने में लेने वाले भी वही भावितात्मा साधु हैं जो निःस्वार्थ भावसे केवल संयम के निर्वाह के लिये ही लेते हैं। इन दानों का संमेलन, एक महा संमेलन है। इस संमेलन में वह अजब गजब की आत्म क्रान्ति होती है-जो मुमुक्षु सज्जनों का अन्तिम ध्येय बिन्दु है।

इस दृष्टान्त के देने का यह मतलब है कि-अयि दानवीर गृहस्थो ! इस आदर्श पर चलो । जो दान करो वह बिना किसी प्रतिफल की आशा के करो । इसी में तुम्हारा वास्तविक कल्याण है । शास्त्रकारों ने इसी दान का फल अनंत गुणा बतलाया है ।

मुधाजीवी का दृष्टान्त—

एकराजा बड़ा प्रजाप्रिय एवं धर्मात्मा राजा था । एकदिन उसने विचार किया कि—योंतो सभी धर्मपाल अपने अपने धर्म की प्रशंसा करते हैं, और अपने-अपने धर्म को ही अच्छा मोक्षफल प्रदाता बताते हैं । परन्तु—परीक्षा करके देखना चाहिए कि वस्तुतः कौन सा धर्म अच्छा है ? धर्म के प्रवर्तक गुरु होते हैं । गुरु के अच्छे बुरे पन परही धर्म का अच्छा-बुरापन है । अतः धर्म की परीक्षा के लिये गुरु की परीक्षा करनी चाहिए कि धर्म गुरु किस प्रकारका भोजन करते हैं । सच्चा गुरु वही है जो बिना किसी आशा अभिलाषा के निःस्वार्थ भाव से दिया हुआ—जैसा मिला वैसा ही आहार बड़ी प्रसन्नता से ग्रहण करता है । उसीका बतलाया हुआ धर्म श्रेष्ठ होता है ।

यह विचार करके राजाने अपने सेवकों को आज्ञा दी कि-मेरे देशमें जितने भी भिक्षुक हैं-सभी को एकत्रित करो और कहोकि राजा सब भिक्षुओं को मोदक (लड्डू) वितीर्ण करेगा । राजाज्ञा होते ही सेवक सभी भिक्षुओं को बुलालाए । जिनमें कार्पटिक जटा धारी, जोगी, सन्यासी, श्रमण, ब्राह्मण, निर्ग्रन्थ सभी शामिल थे । नियत समय पर राजा ने आकर पूछा कि-हे भिक्षुओ ! कृपया बतलाओ, तुम सब अपना जीवन-निर्वाह किस किस तरह करते हो ?

उपस्थित भिक्षुओं में से एकने कहा—मैं मुख से निर्वाह करता हूँ । दूसरे ने कहा मैं पैरों से

संन्यासी ने कहा ठीक है-ऐसाही करूँगा। भला मैं संन्यासी तुम्हारे कामों में व्यर्थ का हस्त-क्षेप करके, अपना सन्यासीपन क्यों खोने लगा ? मैं कोई पगला हूँ ? तुम निश्चय रक्खो तुम्हारे कथन के विरुद्ध कोई कार्य नहीं होगा।

संन्यासी ठहर गया। भागवत भी सन्यासी की अशन-वसन आदि से खूब ही सेवा भक्ति करने लगा। आनंद से चौमासा का समय बीतने लगा। परन्तु एक समय की बात है। रात्रि के समय चोरों ने आकर उस भागवत का घोड़ा चुरा लिया और अधिक प्रभात जानकर बाहर किसी तालाब पर वृक्ष के बांध दिया। संन्यासी जी उसी तालाब पर स्नान करने आया करते थे। सो उस दिन वे बहुत सबेरे उठ खड़े हुए और झट सीधे तालाब पर स्नान करने चले गए। वहाँ घोड़ा बंधा रहा था। संन्यासी जी चोरों की करतूत को ताड़ गये। सन्यासी जीने प्रतिज्ञा को याद कर हृदय को बहुत मशोसा पर उनसे रहा नहीं गया। झटपट उल्टे पैरों भागवत के पास आये और प्रतिज्ञा भङ्ग से अपने मनों साफ बचते हुए कहने लगे कि-भाई, मैं तो तालाब पर वस्त्र भूल आया। क्या करूँ ! बड़ी भूल हुई। उस वस्त्र के बिना तो काम नहीं चलेगा। भागवत सेठ ने वस्त्र लाने के लिये नौकर भेजा। नौकर ने आकर सेठ से घोड़े के विषय में कहा। सेठ सब बात समझ गया। उसने संन्यासी जी को यह कहते हुए चलता बताई कि—महाराज ! आप अपनी प्रतिज्ञा भंग कर चुके हैं—सन्यासी के पद से नौकर के पद पर आगिरे हैं। अब मेरे से आपकी सेवा न हो सकेगी। ऐसी सेवा का—ऐसे दान का फल बहुत ही स्वल्प होता है। अस्तु-ऐसे महान कार्यों का फल स्वल्प मिले, यह मुझे पसंद नहीं। बिचारे संन्यासीजी अपना बघना—बोरिया उठा चलते बने।

इस दृष्टान्त के देने का यह मतलब है कि-अयि दानवीर गृहस्थो ! इस आदर्श पर चलो । जो दान करो वह बिना किसी प्रतिफल की आशा के करो । इसी में तुम्हारा वास्तविक कल्याण है । शास्त्रकारों ने इसी दान का फल अनंत गुणा बतलाया है ।

मुधाजीवी का दृष्टान्त—

एकराजा एक प्रजाप्रिय एवं धर्मात्मा राजा था । एकदिन उसने विचार किया कि—योंतो सभी धर्मवाले अपने अपने धर्म की प्रशंसा करते हैं; और अपने-अपने धर्म को ही अच्छा मोक्षफल प्रदाता बताते हैं । परन्तु—परीक्षा करके देखना चाहिए कि वस्तुतः कौन सा धर्म अच्छा है ? धर्म के प्रवर्तक गुरु होते हैं । गुरु के अच्छे बुरे पन परही धर्म का अच्छा-बुरापन है । अतः धर्म की परीक्षा के लिये गुरु की परीक्षा करना चाहिए कि धर्म गुरु किस प्रकारका भोजन करते हैं । सच्चा गुरु वही है जो बिना किसी आशा अभिलाषा के निःस्वार्थ भाव से दिया हुआ—जैसा मिला वैसा ही आहार बड़ी प्रसन्नता से ग्रहण करता है । उसीका बतलाया हुआ धर्म श्रेष्ठ होता है ।

यह विचार करके राजाने अपने सेवकों का आज्ञा दी कि-मेरे देशमें जितने भी भिक्षुक हैं-सभी को एकत्रित करो और कहोकि-राजा सब भिक्षुओं को मोदक (लड्डू) वितीर्ण करेगा । राजाज्ञा होते ही सेवक सभी भिक्षुओं को बुलालाए । जिनमें कार्पटिक जटा धारी, जोगी, सन्यासी, श्रमण, ब्राह्मण, निर्ग्रन्थ सभी शामिल थे । नियत समय पर राजा ने आकर पूछा कि- हे भिक्षुओ ! कृपया बतलाओ, तुम सब अपना जीवन-निर्वाह किस किस तरह करते हो ?

उपस्थित भिक्षुओं में से एकने कहा-मैं मुख से निर्वाह करता हूँ । दूसरे ने कहा-मैं पैरों से

निर्वाह करता हूं। तीसरे ने कहा-मैं हाथों से निर्वाह करता हूं। चौथे ने कहा-मैं लोकानुग्रहसे निर्वाह करता हूं। पाँचवे ने कहा कि—मेरा क्या निर्वाह ! मैं तो मुधाजीवी हूं।

राजा ने फिर कहा-आप लोगों ने क्या उत्तर दिया-मैं नहीं समझ सका। कृपया इस का स्पष्टीकरण होना चाहिए। उत्तर दाताओं ने यथा क्रम कहना प्रारंभ किया—

प्रथम-महाराज ! मैं भिक्षुक तो होगया ! पर करूं क्या पेट वश में नहीं होता। इस पेट की पूर्ति के लिये मैं लोगों के संदेशे पहुंचाया करता हूं। अतः मैंने कहा कि—मैं मुख से निर्वाह करता हूं। मेरे धर्म में क्षुधा निवृत्ति के लिये वैसे काम करना निन्दित नहीं समझा जाता।

द्वितीय—राजन् ! मैं साधु हू, पत्रवाहक का काम करता हूं। गृहस्थ लोग—जहाँ भेजना होता है वहाँ पत्र देकर मुझे भेजदेते हैं, और उपयुक्त परिश्रम का द्रव्य देदेते हैं। जिससे मैं अपनी आवश्यकताएं पूरी करता हू। अतः मैंने कहा कि—मैं पैरों से निर्वाह करता हू।

तृतीय-नरेश ! मैं लेखक हू। मैं अपनी तमाम आवश्यकताएं, लेखन क्रिया द्वारा पूरी करता हू। अतः मैंने कहा कि मैं अपना निर्वाह हाथों से करता हूं।

चतुर्थ-नरेन्द्र ! मैं परिव्राजक हूं। मेरा कोई खास धन्धा नहीं है—जिससे मेरा निर्वाह हो। मैं तो अपनी आवश्यकताएं लोगों के अनुग्रह से पूरी करता हूं। अतः येन केन प्रकारेण लोगों को खुश रखना मेरा काम है—इसीसे मेरा निर्वाह है।

पंचम—भूपालमन् ! मेरा निर्वाह क्या पूछते हो ? मैं तो संसार से सर्वथा विरक्त जैन निर्ग्रन्थ हू। मैं अपने निर्वाह के लिये किसी प्रकार की सांसारिक क्रिया नहीं करता। केवल संयम क्रिया पालन

के लिये गृहस्थों द्वारा निःस्वार्थ बुद्धि से दिया हुआ आहार ग्रहण करता हूँ। मैं सर्वथा स्वतंत्र हूँ। मुझे आहार आदि के निर्वाह के लिये किसी की आजीजी नहीं करनी होती। अतः मैंने कहा कि—मैं मुधाजीवी हूँ।

अस्तु—राजाने सबकी बातें सुनकर विचार किया कि—वास्तव में सच्चा साधु यह मुधाजीवी ही है। अतः इसीसे धर्मोपदेश सुनना चाहिए। राजाने उपदेश सुना। सच्चे वैरागी का उपदेश असर करता ही है। राजा प्रतिबोध पाकर उन्हीं निर्ग्रन्थ के पास दीक्षित होगया और जप तप क्रियाएँ करके समय पर मुक्ति सुख का अधिकारी बना।

इस दृष्टान्त का यह मतलब है कि साधुओं! संसार त्याग कर पराधीनता से मुक्त होकर साधु बने हो—फिर किस लिये गृहस्थों की गुलामी करते हो। पेट के लिये जाति पाँति न बतलाओ-किसी की आजीजी न करो। जो निःस्वार्थ भाव से दे, उसीसे ग्रहण करो—चाहे दे वह कैसा ही। अच्छे बुरे की परवा न करो।

उद्देश-समाप्ति के इस महान सूत्रका हृदयाङ्कित करने लायक—सर्व साधारण की समझ में आने लायक संक्षिप्त तात्पर्य यह है कि—गृहस्थ जो दान करे वह बिना किसी आशा के ही करे। इसी प्रकार साधु भी गृहस्थों के यहां से जो भिक्षा लावे-वह बिना किसी आशा पर ही लावे। दोनों में निःस्वार्थता कूट—कूट कर भरी हुई होनी चाहिए। इसी में दोनों का कल्याण है। दोनों के कल्याण से संसार का कल्याण है॥ १०० ॥

निर्वाह करता हूं। तीसरे ने कहा-मैं हाथों से निर्वाह करता हूं। चौथे ने कहा-मैं लोकानुग्रहसे निर्वाह करता हूं। पाँचवे ने कहा कि—मेरा क्या निर्वाह! मैं तो मुधाजीवी हूं।

राजा ने फिर कहा-आप लोगों ने क्या उत्तर दिया-मैं नहीं समझ सका। कृपया इस का स्पष्टीकरण होना चाहिए। उत्तर दाताओं ने यथा क्रम कहना प्रारंभ किया—

प्रथम-महाराज! मैं भिक्षुक तो होगया! पर करूं क्या पेट वश में नहीं होता। इस पेट की पूर्ति के लिये मैं लोगों के संदेशे पहुंचाया करता हूं। अतः मैंने कहा कि—मैं मुख से निर्वाह करता हूं। मेरे धर्म में क्षुधा निवृत्ति के लिये ऐसे काम करना निश्चित नहीं समझा जाता।

द्वितीय—राजन्! मैं साधु हूं, पत्रवाहक का काम करता हूं। गृहस्थ लोग—जहाँ भेजना होता है, वहाँ पत्र देकर मुझे भेजदेते हैं, और उपयुक्त परिश्रम का द्रव्य देदेते हैं। जिससे मैं अपनी आवश्यकताएं पूरी करता हूं। अतः मैंने कहा कि—मैं पैरों से निर्वाह करता हूं।

तृतीय-नरेश! मैं लेखक हूं। मैं अपनी तमाम आवश्यकताएं, लेखन क्रिया द्वारा पूरी करता हूं। अतः मैंने कहा कि मैं अपना निर्वाह हाथों से करता हूं।

चतुर्थ-नरेन्द्र! मैं परिव्राजक हूं। मेरा कोई खास धंधा नहीं है—जिससे मेरा निर्वाह हो। मैं तो अपनी आवश्यकताएं लोगों के अनुग्रह से पूरी करता हूं। अतः येन केन प्रकारेण लोगों को खुश रखना मेरा काम है—इसीसे मेरा निर्वाह है।

पञ्चम—भद्रात्मन्! मेरा निर्वाह क्या पूछते हो? मैं तो संसार से सर्वथा विरक्त जैन निर्ग्रन्थ हूं। मैं अपने निर्वाह के लिये किसी प्रकार की सांसारिक क्रिया नहीं करता। केवल संयम क्रिया पालन

अथ पिण्डेपणाध्ययने द्वितीय उद्देशः

उत्थानिका—प्रथम उद्देश में जो उपयोगी विषय छोड़ दिया है, वह अब इस द्वितीय उद्देश में बतलाया जाता है—अब सूत्रकार, जिस पात्र में आहार करे, उस पात्र को लेप मात्र पर्यंत पोंछलेने के विषय में कहते हैं—

पडिग्गहं संलिहित्ताणं , लेवमायाए संजए ।
दुगंधं वा सुगंधं वा , सव्वं भुंजे न छड्डए ॥ १ ॥

प्रतिग्रहं संलिख्य , लेपमर्यादया संयतः ।
दुर्गन्धं वा सुगन्धं वा , सर्वं भुञ्जीत नोज्झेत् ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(संजए) यत्नावान् साधु (पडिग्गहं) पात्र को (लेवमायाए) लेप मात्र पर्यन्त (संलिहित्ता) अंगुली से पूँछ कर (दुगंधं) दुर्गन्धित (वा) अथवा (सुगंधं) सुगन्धित पदार्थ—जो हो—(सव्वं) सभी को (भुंजे) भोगे, परन्तु (न छड्डए) किंचिन्मात्र भी न छोड़े ('वा' वाक्यालङ्कार अर्थ में और 'वा' समुच्चय अर्थ में है) ॥ १ ॥

" श्री सुधर्मा स्वामी जी जम्बूस्वामी जी से कहते हैं कि–हे वत्स ! श्रमण भगवान् श्री महावीर स्वामी के मुखारविन्द से मैंने जैसा अर्थ इस ' पिण्डैषणा ' अध्ययन के प्रथम उद्देशका सुना है, वैसा ही मैंने तुमसे कहा है, अपनी बुद्धि से कुछभी नहीं कहा । "

इय पिंडेसणाय पढमो उद्देसो सम्मत्तो ।

इति पिण्डैषणाध्ययने प्रथम उद्देशः समाप्तः ।

इति श्री दशवैकालिक सूत्र के पिण्डैषणा नामक पंचम अध्ययनके प्रथम उद्देश की— आत्मज्ञानप्रकाशिका नामक हिन्दी भाषाटीका समाप्त हुई ।

प्रदर्शन होता है। साधु की तरफ से लोगों के मनों में घृणा के भाव पैदा होने लगजाते हैं। क्यों न पैदा हों, यह है भी तो एक गन्दा पन की बात।

सूत्र में जो भोजन के विशेषण रूप में 'गन्ध' शब्द आया है वह उप लक्षण है। अतः गन्ध से गन्ध के सह चारी जो रूप रस आदि हैं, उनका भी ग्रहण करलेना चाहिए ॥ १ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, विशेष विधि के विषय में कहते हैं—

सेज्जा निसीहियाए, समावन्नो अ गोयरे।
अयावयट्ठा भुच्चाण, जइ तेण न संथरे ॥ २ ॥

शय्यानैषेधिक्याम्, समापन्नो वा गोचरे।
अयावदर्थं भुक्त्वा, यदि तेन न संस्तरेत् ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(सेज्जा) उपाश्रय में अथवा (निसीहियाए) स्वाध्याय करने की भूमि में बैठा हुआ साधु (गोयरे) गोचरी के लिये (समावन्नो) गया हुआ (आहार लाया परन्तु) (अयावयट्ठा) अपर्याप्त आहार (भुच्चाण) भोगकर (जइ) यदि (तेणं) उस आहार से (न संथरे) निर्वाह न होसके तो फिर—('आहार के लिये जावे' यह अग्रिम सूत्र में कहते हैं) ॥ २ ॥

मूलार्थ—उपाश्रय में अथवा स्वाध्याय करने के स्थान में बैठा हुआ गोचर प्राप्त साधु, अपर्याप्त

मूलार्थ—साधु जब आहार कर चुके, तब पात्र को खूब पूँछ—पोंछ कर साफ कर के रक्खे, लेप मात्र भी पात्र के न लगा रहने दे। दुर्गन्धित—सुगन्धित (अच्छा बुरा) कैसा ही पदार्थ हो, सब का सब लेप मात्र पर्यंत खाले—छोड़े नहीं। यह नहीं कि-जो अच्छा पदार्थ हो, उसे तो खूब अच्छी तरह उँगली से पूँछ कर—रगड़कर खाले, और जो खराब पदार्थ हो, उसे योंही सिरपची से आधा—परधा खा-पी कर फेंकता बने ॥ १ ॥

भाष्य—इस प्रारम्भिक गाथा में यह वर्णन है कि-जब मुनि आहार करके निवृत्त हो-तब जिस पात्र में भोजन किया है, उस पात्र को अंगुली से खूब अच्छी तरह पूंछकर-साफ करके निर्लेप करदे। किंचित् मात्र भी भक्तादि का लेप, पात्र के लगा हुआ बाकी न छोड़े।

इसी बात पर अत्यधिक ज़ोर देते हुए सूत्रकारने सूत्र के उत्तर भागों में फिर यही बात दूसरे शब्दों में कही है कि चाहे दुर्गन्ध वाला खराब पदार्थ हो-चाहे सुगन्ध वाला अच्छा पदार्थ हो साधु लेप मात्र भी पात्र के लगा न रहने दे। जो आहार लाया है—सब का सब खालेवे, कुछ भी नहीं छोड़े। कारण कि-पात्र के लेप की बात वैसे देखने में तो बहुत साधारण सी दिखती है, पर है वास्तव में यह बहुत ही बड़ी बात। कभी ऐसा समय आजाता है कि—यही छोटी सी बात फिर संचित संयम की घातक होजाती है।

दूसरे यह भी बात है कि-इस प्रकार भोजन पात्रों के सने रहने से साधु की अयोग्यता का

तओ कारणमुप्पण्णे , भत्तपाण गवेसए ।
विहिणा पुव्वउत्तेण , इमेण उत्तरेण य ॥ ३ ॥

तत कारणमुत्पन्ने , भक्तपान गवेषयेत् ।
विधिना पूर्वोक्तेन , अनेन उत्तरेण च ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(तओ) तदनन्तर (कारणे) आहार के कारण (उप्पण्णे) उत्पन्न होने पर (पुव्वउत्तेण) पूर्वोक्त (य) और (इमेण) इस वक्ष्यमाण (उत्तरेण) उत्तर (विहिणा)विधि से (भत्तपाण) अन्न पानी की (गवेसए)गवेषणा करे ॥ ३ ॥

मूलार्थ—पूर्वसूत्रोक्त अल्पाहार से क्षुधा निवृत्ति न होने के कारण—यदि फिर आहार की आवश्यकता पड़े, तो साधु पूर्वोक्त विधि से तथा वक्ष्यमाण उत्तर विधि से दुबारा आहार पानी की गवेषणा करे अर्थात् दुबारा गोचरी के लिये जावे ॥ ३ ॥

भाष्य—पूर्वसूत्र के कथनानुसार जब क्षुधा आदि वेदनाएँ अत्यधिक प्रबल हो उठें तथा रोग आदि के कारण वश अपर्याप्त आहार से अच्छी तरह निर्वाह न होसके तो साधु फिर दूसरी दफा भिक्षा लाने में किसी प्रकार की लज्जा न करे। बस उसी समय गुरु श्री से आज्ञा ले, अपने योग्य भिक्षा लियावे।

आहार भोग कर यदि उस आहार से न सरे तो फिर-(आगे का विषय अगले सूत्र में देखो) ॥२॥

भाष्य—कोई भावितात्मा साधु, उपाश्रय में वा स्वाध्याय भूमिका में शान्त चित्त से धार्मिक क्रियाएं करता हुआ बैठा है। इसी समय गोचरी का समय आया जानकर गोचरी के लिये गया और अपने मनों ठीक प्रमाणोपेत आहार लाया। गुर्वाज्ञा मिलने पर उन्हीं पूर्व स्थानों में भोजन करने लगा, परन्तु-आहार जितना चाहिए था, उतना न मिलने के कारण भले प्रकार उदरपूर्ति न हुई। अतः यदि अपर्याप्त आहार से अच्छी तरह निर्वाह न हो सके तो फिर साधु दुबारा विधि पूर्वक आहार लेने के लिये जा सकता है। यह आगे का कथन अग्रिम सूत्र में सूत्रकार स्वयं करेंगे।

सूत्र कर्ताने जो 'अयावयट्ठं' पद पढ़ा है। उसका व्युत्पत्ति सिद्ध स्पष्ट अर्थ यह है कि "न यावदर्थं मयावदर्थम्—अर्थात् भूख मिटाने के लिये जितना आहार उपयुक्त होना चाहिए, उतने आहार का न मिलना।"

बात यह है कि साधु को थोड़ा भी आहार मिले तो कोई हर्ज नहीं। भले ही भूखा रहो साधु थोड़ा ही खाकर अपना निर्वाह चला लेते हैं। परन्तु-कभी ऐसा अवसर होता है कि भूख असह्य होजाती है। कितना ही क्यों न हृदय को दाबाजाए, थमा नहीं जाता। ऐसी अवस्था प्रायः रोगियों तपस्वियों तथा नव दीक्षितों की होती है। अस्तु शास्त्रकार ने इसी आकस्मिक बात को लेकर-इस सूत्र में प्रश्न उठाकर अग्रिम सूत्र में दुबारा भिक्षा की आज्ञा देकर समाधान किया है॥ २॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, दुबारा गोचरी करने की आज्ञा देते हैं—

तओ कारणमुप्पण्णे , भत्तपाण गवेसए ।
विहिणा पुव्वउत्तेण , इमेण उत्तरेण य ॥ ३ ॥

ततः कारणमुत्पन्ने , भक्तपान गवेषयत् ।
विधिना पूर्वोक्तेन , अनेन उत्तरेण च ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(तओ) तदनन्तर (कारणं) आहार के कारण (उप्पण्णे) उत्पन्न होने पर (पुव्वउत्तेण) पूर्वोक्त (य) और (इमेण) इस वक्ष्यमाण (उत्तरेण) उत्तर (विहिणा)विधि से (भत्तपाण) अन्न पानी की (गवेसए)गवेषणा करे ॥ ३ ॥

मूलार्थ—पूर्वसूत्रोक्त अल्पाहार से क्षुधा निवृत्ति न होने के कारण—यदि फिर आहार की आवश्यक्ता पड़, तो साधु पूर्वोक्त विधि से तथा वक्ष्यमाण उत्तर विधि से दुबारा आहार पानी की गवषणा करे अर्थात् दुबारा गोचरी के लिये जावे ॥ ३ ॥

भाष्य—पूर्वसूत्र क कथनानुसार जब क्षुधा आदि वेदनाएँ अत्यधिक प्रबल हो उठें तथा रोग आदि के कारण वश अपर्याप्त आहार से अच्छी तरह निर्वाह न होसके तो साधु फिर दूसरी वफा भिक्षा लाने में किसी प्रकार की लज्जा न करे। बस उसी समय गुरु श्री से आज्ञा ले, अपने योग्य भिक्षा लियावे।

परन्तु—एक बात यह अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि-भिक्षा लावे विधि से। यह नहीं कि कड़ाके की भूख लग रही है, सो अब कहाँ आते जाते, फिरते फिरेंगे—चलो बिना देखे भाले ही किसी एक घर से ही पात्र पूर्ण करलें। कैसीही क्यों न भूख प्यास हो—कैसी ही क्यों न आपत्ति हो साधु को अपने विधि—विधान से अपनी मुंह नहीं मोड़ना चाहिए। पूर्वोत्तर विधि द्वारा भिक्षा ग्रहण करने से ही एषणा समिति की सम्यक्तया आराधना हो सकेगी—समिति आराधनासे ही आत्माराधना है।

नित्य प्रति आहार करने वाले भिक्षुओं के लिये सूत्रकार ने एक बार ही भिक्षा लाने की आज्ञा दी है। किन्तु यह उसका अपवाद सूत्र है। अर्थात् विशेष कारण के उपस्थित हो जाने पर दुबारा भी भिक्षा लाई जा सकती है।

यद्यपि क्षुधा वेदना आदि अनेक कारण सूत्र कर्ता ने वर्णन किये हैं, तथापि उस समय जो मुख्य कारण उपस्थित होजाय उसी की गणना करनी चाहिए।

सूत्र का संक्षिप्त सार यह है कि यद्यपि एक बार भिक्षा लेआने के बाद दूसरी बार भिक्षा लाना माना है। ऐसा मुख्य मार्ग ठीक नहीं। फिर भी कारण बड़े बलवान होते हैं अतः अपवाद विधि से दुबारा गोचरी करने में कोई हर्ज नहीं ॥ ३ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यह बतलाते हैं कि-भिक्षा के लिये किस समय जाना ठीक है—

कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे।

अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे ॥ ४ ॥

कालेन निष्क्रामेद् भिक्षु , कालेन च प्रति क्रामेत् ।
अकालं च विवर्जयित्वा , काले कालं समाचरेत् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(भिक्खू) साधु (कालेण) जिस गाँव में जो भिक्षा का समय हो उसी समय में (निक्खमे) भिक्षा के लिये जाव (य) फिर (कालेण) स्वाध्याय आदि के समय (पडिक्कमे) वापिस लौट आवे (च) और (अकाल) अकाल को (विवज्जित्ता) छोड़कर (काले) काल के समय (काल) काल योग्य कार्यक्रम (समायरे) समाचरण करे ॥ ४ ॥

मूलार्थ—जिस ग्राम में जो भिक्षा का समय हो, उसी समय में साधु को भिक्षा के लिये गाँव में जाना चाहिए,और स्वाध्याय आदि का समय होते ही वापिस लौट आना चाहिए। साधु-अकाल को छोड़कर काल के काल ही यथायोग्य भिक्षादि क्रियाओं में प्रवृत्ति करे ॥ ४ ॥

भाष्य—जब साधु भिक्षाचरी जाने के लिये तैयार हो तब उस को उचित है कि वह सब से पहले इस बात का ज्ञान प्राप्त करे कि गाँव में आम तौर से भोजन का एवं साधुओं की भिक्षा का समय कब होता है ? अस्तु-ठीक-ठीक पता चल जाने पर काल के अनुसार भिक्षा चरी के लिये गाँव में जाए और जब यह जाने कि अब गोचरी का समय नहीं रहा है—स्वाध्याय आदि का समय आगया है तो झट उसी समय वापिस स्थानपर लौट आवे। ताकि-स्वाध्याय आदि आवश्यक क्रियाओं में किसी प्रकार का विघ्न न पड़े।

संक्षिप्त शब्दों में कहने का सार यह है कि साधु क्रिया-वादी है। उस के तमाम दिन रात नियत क्रियाओं के करने में ही जाते हैं। अस्तु-साधु जो समय जिस क्रिया का हो उस समय उसी क्रिया को करे-दूसरी को नहीं। क्रियाओं के क्रम में फेर फार करने से बड़ी भारी गड़-बड़ी पड़ जाती है। वह मनुष्य ही नहीं जो समय का पाबन्द नहीं है।

टीकाकार श्री 'हरिभद्र सूरि' भी इसी क्रिया की पाबन्दी के लिये स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि-"भिक्षावेलायां भिक्षां समाचरेत्, स्वाध्यायादि वेलायां स्वाध्यायादीनिति-भिक्षा के समय भिक्षा के लिये जावे और स्वाध्याय आदि के समय स्वाध्याय आदि करे।" इसी कारण से सूत्रकर्ता ने काल को कारण भूत मान कर 'कालेण' यह तृतीयान्त पद दिया है ॥४॥

उत्थानिका—अब, अकाल में भिक्षा के लिये जाने से क्या दोष है ? यह कहा जाता है—

अकाले चरसी (सि) भिक्खू , कालं न पडिलेहसि ।
अप्पाणं च किलामेसि , सनिवेसं च गरिहसि ॥ ५ ॥

अकाले चरसि भिक्षो ! कालं न प्रत्युपेक्षसे ।
आत्मानं च क्लामयसि , सन्निवेशं च गर्हसि ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(भिक्खू) हे मुने! तू (अकाले) अकाल में (चरसी) गोचरी के लिये जाता

है, किन्तु (काल) भिक्षा के काल को (न पडिलेहसि) नहीं देखता है। अतः (अप्पाणं) अपने आत्मा को (किलामेसि) पीड़ा देता है (च) और भगवान की आज्ञा भङ्ग करके, दैन्य वृत्ति से (संनिवेस) ग्राम की भी (गरिहसि) निन्दा करता है ॥ ५ ॥

मूलार्थ—हे मुने! तुम पहले तो अकाल में भिक्षा के लिये जाते हो—भिक्षा काल को भले प्रकार देखते नहीं हो। और जब भिक्षा नहीं मिलती है, तब यों अपने-आप को दुःखित करते हो, भगवदाज्ञा भगकर के व्यर्थ ही गांव की निन्दा करते हो ॥ ५ ॥

भाष्य—एक मुनि भिक्षा कालको अतिक्रम करके भिक्षार्थ गाँव में गये। वे अवसर भिक्षा कहाँ मिलनी थी, बस मनही मन गुन-गुनाते लौट आये। म्लानमुख देखकर किसी अन्य मुनि ने पूछा कि-"क्यों मुने! क्या बात है? भिक्षा मिली कि नहीं? उत्तर मिला, अरे यहाँ कहाँ भिक्षा धरी है? यह गाँव थोड़ा ही है जो यहाँ भिक्षा मिले। यह तो स्थण्डिल है, सुनसान जगह है"। पृच्छक मुनि ने कहा—महात्मन! ऐसा न कहो। पहले तो तुम प्रमाद से या लोभ से भिक्षा काल को लाँघ देते हो। देखते तक नहीं कि यह भिक्षा का समय है या नहीं। बतलाओ बे वक्त भिक्षा कैसे मिल सकती है? भिक्षा तो भिक्षा के समय पर ही मिला करती है। बंधु! अब अकाल में भिक्षार्थ जाने से क्यों तो तुम अपने-आपको, अत्यन्त भ्रमण से या क्षुधा आदि की पीड़ा से, क्लेशित करते हो। और क्यों भगवदाज्ञा लोपकर दैन्य भाव से, बिचारे निर्दोष गाँवकी निन्दा करते हो! इसमें गाँवका क्या दोष है! जो दोष

संक्षिप्त शब्दों में कहने का सार यह है कि साधु क्रिया-पात्री है। उस के तमाम दिन रात नियत क्रियाओं के करने में ही आते हैं। अस्तु-साधु जो समय जिस क्रिया का हो उस समय उसी क्रिया को करे-दूसरी को नहीं। क्रियाओं के क्रम में फेर फार करने से बड़ी भारी गड़ी-बड़ी पड़ जाती है। यह मनुष्य ही नहीं जो समय का पाबंद नहीं है।

टीकाकार श्री 'हरिभद्र सूरि' भी इसी क्रिया की पाबंदी के लिये स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि- "भिक्षावेलायां भिक्षां समाचरेत्, स्वाध्यायादि वेलायां स्वाध्यायादीनिति भिक्षा के समय भिक्षा के लिये जावे और स्वाध्याय आदि के समय स्वाध्याय आदि करे।" इसी कारण से सूत्रकर्ता ने काल को कारण भूत मान कर 'कालेण' यह तृतीयान्त पद दिया है ॥४॥

उत्थानिका—अब, अकाल में भिक्षा के लिये जाने से क्या दोष है ? यह कहा जाता है—

अकाले चरसी (सि) भिक्खू , कालं न पडिलेहसि ।
अप्पाणं च किलामेसि , संनिवेसं च गरिहसि ॥ ५ ॥

अकाले चरसि भिक्षो ! कालं न प्रत्युपेक्षसे ।
आत्मानं च क्लामयसि , सन्निवेशं च गर्हसि ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(भिक्खू) हे मुनि ! तू (अकाले) अकाल में (चरसी) गोचरी के लिये जाता

है, किन्तु (काल) भिक्षा के काल को (न पडिलेहसि) नहीं देखता है । अत (अप्पाण) अपने आत्मा को (किलामेसि) पीड़ा देता है (च) और भगवान की आज्ञा भङ्ग करके, दैन्य वृत्ति से (सन्निवेस) ग्राम की भी (गरिहसि) निन्दा करता है ॥ ५ ॥

मूलार्थ—हे मुने! तुम पहले तो अकाल में भिक्षा के लिये जाते हो—भिक्षा काल को भले प्रकार देखते नहीं हो । और जब भिक्षा नहीं मिलती है, तब यों अपने-आप को दुःखित करते हो, भगवदाज्ञा भंगकर के व्यर्थ ही गांव की निन्दा करते हो ॥ ५ ॥

भाष्य—एक मुनि भिक्षा कालको अतिक्रम करके भिक्षार्थ गाँव में गये । वे अवसर भिक्षा कहाँ मिलनी थी, बस मनही मन गुन–गुनाते लौट आये । म्लानमुख देखकर किसी अन्य मुनि ने पूछा कि-"क्यों मुने ! क्या बात है ? भिक्षा मिली कि नहीं? उत्तर मिला, अरे यहाँ कहाँ भिक्षा धरी है? यह गाँव थोड़ा ही है जो यहाँ भिक्षा मिले। यह तो स्थण्डिल है, सुन सान जंगल है"। पृच्छक मुनि ने कहा–महात्मन! ऐसा न कहो । पहले तो तुम प्रमाद से या लोभ से भिक्षा काल को लाँघ देते हो । देखते तक नहीं कि यह भिक्षा का समय है या नहीं । बतलाओ वे वक्त भिक्षा कैसे मिल सकती है ? भिक्षा तो भिक्षा के समय पर ही मिला करती है । बंधु ! अब अकाल में भिक्षार्थ जाने से क्यों तो तुम अपने–आपको, अत्यन्त भ्रमण से या क्षुधा आदि की पीड़ा से, क्लेशित करते हो । और क्यों भगवदाज्ञा लोपकर दैन्य भाव से, बिचारे निर्दोष गाँवकी निन्दा करते हो ? इसमें गाँवका क्या दोष है ? जो दोष

है वह सब तुम्हारे अकाल में आने का है। अपने आपको देखो—व्यर्थ दूसरों को दोष मत दो।

मतलब यह है कि—अकाल में गोचरी आदि क्रिया करने से जो है सो, दोष ही दोष है—गुण तो एकभी नहीं है। समय का विचार न करने वाले महानुभावों को गुण कैसे मिल सकते हैं। यदि वैसे विवेक भ्रष्ट मनुष्य ही सद्गुणी–सुखी कहलाय तो फिर दुखी कौन कहलायगा?

बहुत से अर्थकार इस सूत्रका "अथ अकाल में भिक्षा के लिये आयगा तो अपने आपको दुःखी करेगा और गाँव की निन्दा करेगा" इस प्रकार भविष्यत्काल परक करते हैं-यानी भविष्यत्काल की क्रियाओं का प्रयोग करते हैं। परन्तु-सूत्र में 'चरसि' आदि क्रिया पद सब वर्तमान लट् लकार के मध्यम पुरुष के ही हैं भविष्यत्काल का कोई भी प्रत्यय नहीं है। अतः उनका यह अर्थ उपयुक्त नहीं जँचता। वर्तमान कालका ही अर्थ ठीक है।

इस विषय को जो यह दृष्टान्त का रूपक दिया है, वह बाल बुद्धि शिष्यों के सद्य परिज्ञान के लिए दिया है। दृष्टान्त की शैली अतीव उत्तम है, इसके द्वारा गहन से गहन विषय भी बड़ी सरलता से समझाये जा सकते हैं।

उत्थानिका— अबसूत्रकार,यदि भिक्षोचित समय पर जाने पर भी भिक्षा न मिले, तो फिर क्या करना चाहिए? इस विषय में कहते हैं —

सइ काले चरे भिक्खू , कुज्जा पुरिसकारिअं।
अलाभुत्ति न सोइज्जा ,तवुत्ति अहिआसए ॥ ६ ॥

सति काले चरेद्भिक्षु , कुर्यात् पुरुष कारम् ।
अलाभेऽपि न शोचयेत् , तप इत्यधिसहेत ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(भिक्खू) हे मुने! (काले) भिक्षा योग्य काल के (सइ) होने पर (चरे) भिक्षा के लिये जावे (पुरिसकारिअ) पुरुषाकार पराक्रम (कुज्जा) करे, यदि (अलाभुत्ति) लाभ नहीं हो तो फिर (नसोइज्जा) शोक न करे किन्तु (तवुत्ति) कोई बात नहीं-यह अनशन आदि तप ही होगया है—ऐसा विचार कर क्षुधा आदि परीषह को (अहिआसए) सहन करे ॥ ६ ॥

मूलार्थ—गुरु कहते हैं कि-हे मुने! भिक्षुक, भिक्षा का काल होने पर-अथवा स्मृति काल होने पर-ही भिक्षा के लिये जाये और एतदर्थ यथोचित पुरुषार्थ करे। यदि भिक्षा न मिले तो शोक न करे, किन्तु अनशन आदि तप ही होगया है—ऐसा विचार कर क्षुधा आदि परीषह को सहन करे ॥६॥

भाष्य—गुरु श्री शिष्य को उपदेश करते हैं कि-हे शिष्य! अकाल चारी के दोषों को ठीक-ठीक जानकर साधु, भिक्षा का काल होने पर ही भिक्षा के लिए जाये, मालस्य न करे। साधु तो पुरुषार्थी होते हैं। उनकी समस्त क्रियाए पुरुषार्थ युक्त ही होनी चाहिए। जब तक जंघाओं में चलने फिरने की शक्ति बनी हुई है, तबतक वीर्याचार का उल्लंघन साधु को नहीं करना चाहिए-यानी साधु मारे आलस्य के अन्य साधुओं की भिक्षा पर पलोथा मार कर न बैठे।

अब प्रश्न यह उपस्थित हो जाता है कि—यदि पुरुषार्थ करने पर भी आहार लाभ न होवे तो, फिर क्या करना चाहिए? उत्तर में कहा जाता है कि—यदि आहार न मिले तो कोई बात नहीं। साधु को शोक नहीं करना चाहिए। क्यों कि-भिक्षा के लिये जाकर मुनि ने तो अपने वीर्याचार का सम्यक्तया आराधन कर लिया है। टीकाकार भी कहते हैं—तदर्थं च भिक्षाटनं नाहारार्थमेवातो न शोचयत्—'साधु वीर्याचार के लिये ही भिक्षाटन करता है केवल आहार के लिये ही नहीं।

अतः भिक्षा के न मिलने पर, मन में किसी प्रकार का खेद न करता हुआ साधु, यही शुभ विचार करे कि आज भिक्षा न मिली तो क्या हानि है? मुझे तो इस में भी लाभ ही है। क्या बात है यदि आज का तप ही सही। ऐसा शुभ अवसर कब-कब मिलता है? इत्यादि शुभ भावनाओं द्वारा क्षुधा आदि परीषहों को सहन करे।

तथा सूत्र के प्रारम्भ में ही जो 'सइकाले' पद आया है, उस का यह भी अर्थ किया जाता है कि-'स्मृति काले' जिस समय धर्म निष्ठ गृहस्थ, भोजन करते समय अतिथि-साधुओं के पधारने की भावना करते हैं वह समय। विवेकी गृहस्थ यह भावना भाया करते हैं कि अहा! यह कैसा मङ्गलकारी समय हो कि- यदि कोई अतिथि साधु इस समय पधारें और मुझ सेवक से यथोचित भोजन ग्रहण करें। क्यों कि वस्तुतः भोजन वही है जिसमें से अपनी इच्छा के अनुसार कुछ भोजन अतिथि देवता ग्रहण करलें।

इस अर्थ में टीका कार भी सम्मत हैं,वे कहते हैं कि- 'स्मृतिकाल एव भिक्षाकालोऽभिधीयते। स्मर्यन्ते यत्र भिक्षुकाः स स्मृति काल स्तस्मिन् चरेत् भिक्षुः भिक्षार्थं यायात्।"

उत्थानिका—काल यत्ना के कथन के बाद अब सूत्रकार, क्षेत्र यत्ना के विषय में कहते हैं-

तहे वुच्चावया पाणा , भत्तट्ठाए समागया ।

त उज्जुअ न गच्छिज्जा , जयमेव परक्कमे ॥ ७ ॥

तथैव उच्चावचाः प्राणिनः , भक्तार्थं समागताः ।

तदृजुकं न गच्छेत् , यतमेव पराक्रमेत् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(तहेव) उसी प्रकार गोचरी के लिये जाते हुए साधु को, कहीं पर (भत्तट्ठाए) अन्न पानी के वास्ते (समागया) एकत्र हुए (उच्चावया पाणा) ऊँच और नीच प्राणी मिलजायें तो साधु (तं उज्जुअं) उन प्राणियों के सम्मुख (न गच्छिज्जा) न जावे, किन्तु (जयमेव) यत्न पूर्वक (परक्कमे) गमन करे, जिससे उन जीवों को दु ख न पहुँचे ॥ ७ ॥

मूलार्थ—इसी तरह गोचरी गये हुए साधु को, यदि कहीं पर भोजनार्थ एकत्र हुए ऊँच-नीच पशु पक्षी आदि प्राणी मिलजायें, तो साधु उनके सम्मुख न जावे, किन्तु-बचकर यत्ना के साथ गमन करे ॥ ७ ॥

भाष्य—काल यत्ना के कहे जाने के पश्चात् अब सूत्रकार, क्षेत्र यत्ना के विषय में कहते हैं जैसे कि-जब साधु भिक्षा के लिए जाए तब मार्ग में उस को यदि कहीं पर अन्न पानी के वास्ते एकट्ठे हुए उत्तम-हंस आदि, अधम-काक आदि, अच्छे-बुरे नाना प्रकार के जीव मिलें तो साधु का कर्तव्य है कि वह उनके सम्मुख न आवे यत्न पूर्वक बचकर निकल जावे।

कारण कि-साधु के डर से एकत्रित प्राणी उड़ जायेंगे। जिससे साधु को उनकी अन्तराय का दोष लगेगा। अन्य भी सहसा भागने-दौड़ने उड़ने जाने के कारण हिंसा आदिक दोषों की सम्भावना की जासकेगी। अतएव अहिंसा की पूर्ण प्रतिज्ञा वाला साधु मार्ग में जीवों को किसी प्रकार का उद्वेग पैदा करता हुआ, भिक्षा के लिए जावे ॥ ७ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, गोचरी को गया हुआ साधु, कहीं पर न बैठे और धर्म कथा न कहे, इस विषय म कहते हैं—

गोअरग्ग पविट्ठो अ , न निसीइज्ज कत्थई ।
कह च न पबंधिज्जा , चिट्ठित्ताण व संजए ॥ ८ ॥

गोचराग्रप्रविष्टश्च , न निषीदेत् क्वचित् ।
कथां च न प्रबध्नीयात् , स्थित्वा वा संयतः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(गोअरग्गपविट्ठो अ) गोचरी में गया हुआ (संजए) साधु (कत्थई) कहीं पर भी (न निसीइज्ज) नहीं बैठे (वा) तथा वहाँ (चिट्ठित्ताण) बैठकर (कहं च) धर्म कथा का भी (न पबंधिज्जा) विशेष प्रबन्ध नहीं करे ॥ ८ ॥

मूलार्थ—गोचरी के लिये गया हुआ साधु—कहीं पर भी न बैठे और नाही वहाँ बैठकर, विशेष धर्मकथा करे ॥ ८ ॥

भाष्य—आहार के वास्ते गये हुए साधु का परम कर्तव्य है कि वह किसी गृहस्थ आदि के घर में जाकर न बैठे। इतना ही नहीं—किन्तु वहाँ कोई भावुक, धर्म कथा के लिये भी कहे, तोभी धर्म कथा का विस्तार पूर्वक प्रबन्ध न करे अर्थात् घरों में जाकर धर्म कथा आदि भी न करे। क्योंकि इस प्रकार करने से संयम के उपघात की और एषणा समिति की विराधना होने की संभावना है।

हाँ, यदि कोई गृहस्थ प्रश्न करले, तो उस प्रश्न का उत्तर संक्षेपसे खड़ा—खड़ा ही दे सकता है बैठकर नहीं। टीकाकारभी कहते हैं 'मनेक व्याकरणैक ज्ञातानुज्ञामाह।' अर्थात्—एक प्रश्नोत्तर खड़े खड़े ही संक्षेपतासे कर सकता है—विस्तार पूर्वक नहीं।

सिद्धान्त यह निकला कि आहार के लिये गया हुआ साधु घरों में धर्म कथा का विस्तार पूर्वक प्रबन्ध न करे ॥ ८ ॥

उत्थानिका—क्षेत्र यत्ना के कथन के बाद, अन्य यत्ना के विषय में कहते हैं—

भाष्य—काल यत्ना के कहे जाने के पश्चात् अब सूत्रकार, क्षेत्र यत्ना के विषय में कहते हैं जैसे कि-जब साधु भिक्षा के लिये जाय,तब मार्ग में उस को यदि कहीं पर अन्न पानी के वास्ते एकट्ठे हुए उत्तम-हंस आदि, अधम-काक आदि, अच्छे-बुरे नाना प्रकार के जीव मिलें तो साधु का कर्तव्य है कि वह उनके सम्मुख न जावे यत्न पूर्वक बचकर निकल जावे।

कारण कि-साधु के डरसे एकत्रित प्राणी उड़जायेंगे। जिससे साधु को उनकी अन्तराय का दोष लगेगा। अन्य भी सहसा भागने-दौड़ने उड़ने आदि के कारण हिंसा आदिक दोषों की संभावना की जासकेगी। अतएव अहिंसा की पूर्ण प्रतिज्ञा वाला साधु मार्ग में जीवों को किसी प्रकार का उद्वेग न पैदा करता हुआ, भिक्षा के लिये जावे ॥ ७ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, गोचरी को गया हुवा साधु, कहीं पर न बैठे और धर्म कथा न करे, इस विषय म कहते हैं—

गोअरग्ग पविट्ठो अ, न निसीइज्ज कत्थई।
कहं च न पबंधिज्जा, चिट्ठित्ताण व संजए ॥ ८ ॥

गोचराग्रप्रविष्टश्च, न निषीदेत् क्वचित्।
कथां च न प्रबध्नीयात्, स्थित्वा वा संयतः ॥ ८ ॥

परिघ (जो नगर द्वारादि से सम्बन्ध रखने वाला एक फलक होता है) तथा द्वार (शाखामय-यह प्रसिद्ध ही है) तथा कपाट (द्वार यंत्र—किवाड़) अपि शब्द से अन्य भित्ति आदि का ग्रहण किया जाता है।

क्यों नहीं खड़ा होवे? इसका यह समाधान है कि—एकतो अवलंबन से जोर पड़ने पर पदार्थों के गिर जाने से असंयम होने की संभावना है। दूसरे-ऐसे करने से लघुता का दोष भी होता है अर्थात् धर्म की, शास्त्र की या उस मुनि की लघुता होती है। देखने वाले लोगों के मन में यह विचार होते हैं कि—देखो यह कैसा साधु है? कैसे असभ्यता से खड़ा है! इसका धर्म भी कैसा है! क्या इसके शास्त्रों में सभ्यता से उठने-बैठने-खड़ा होने की भी शिक्षा नहीं है। अरे जब यही मामूली बातें नहीं हैं, तो फिर क्या डले पत्थर होंगे आदि आदि।

सूत्र का संक्षिप्त मननीय सार यह है कि—साधु जब गोचरी के लिये घरों में जाय, तब वहाँ पर किसी प्रकार की असभ्यता का बर्ताव न करे ॥ ९ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, द्रव्य यत्ना के बाद भाव यत्ना का वर्णन करते हैं—

समण माहण वावि, किविण वा वणीमग।

उवसकमत भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व सजए ॥ १० ॥

अग्गल फलिहं दारं , कवाडं वावि संजए ।
अवलंबिया न चिट्ठिज्जा , गोयरग्गगओ मुणी ॥ ९ ॥

अर्गलं परिघं द्वारं , कपाटं वाऽपि संयत ।
अवलम्ब्य न तिष्ठेत् , गोचराग्रगतो मुनिः ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(गोयरग्गगओ) गोचरी के लिये गया हुआ (संजए) जीवा-जीव की पूर्ण यत्ना करने वाला (मुणी) मुनि (अग्गलं) अर्गला को (फलिहं) कपाट के ढाँकने वाले फलक को (दारं) द्वार को (वा) तथा (कवाडंवि) कपाट आदि को (अवलंबिया) अवलम्बनकर (न चिट्ठिज्जा) खड़ा न हो ॥ ९ ॥

मूलार्थ—पूर्ण यत्नावान साधु—गोचरी के लिये घरों में गया हुआ आगल को, परिघ को, द्वार को, अथवा कपाट आदि को अवलंबन कर खड़ा न होवे ॥ ९ ॥

भाष्य—क्षेत्र यत्ना के पश्चात् अब सूत्रकार द्रव्य यत्ना के विषय में कहते हैं—जब साधु घरों में आहार के लिए आवे, तब वह ये आगे कहे जाने वाले पदार्थों का अवलम्बन करके-सहारा लेकर खड़ा न होवे ।

वे पदार्थ ये हैं—अर्गल-आगल (जो मोटुए कपाटादि से सम्बन्ध रखने वाली होती है) तथा

परिघ (जो नगर द्वारादि से सम्बन्ध रखने वाला एक फलक होता है) तथा द्वार (शाखामय-यह प्रसिद्ध ही है) तथा कपाट (द्वार यंत्र—किवाड़) अपि शब्द से अन्य भित्ति आदि का ग्रहण किया जाता है।

क्यों नहीं खड़ा होवे? इसका यह समाधान है कि—एकतो अवलंबन से जोर पड़ने पर पदार्थों के गिर जाने से असंयम होने की सम्भावना है। दूसरे-ऐसे करने से लघुता का दोष भी होता है अर्थात् धर्म की, शास्त्र की या उस मुनि की लघुता होती है। देखने वाले लोगों के मन में यह विचार होते हैं कि—देखो यह कैसा साधु है? कैसे असभ्यता से खड़ा है? इसका धर्म भी कैसा है? क्या इसके शास्त्रों में सभ्यता से उठने-बैठने-खड़ा होने की भी शिक्षा नहीं है। अरे जब यही मामूली बातें नहीं हैं, तो फिर क्या डले पत्थर होंगे आदि आदि।

सूत्र का संक्षिप्त मननीय सार यह है कि—साधु जब गोचरी के लिये घरों में जाय, तब वहाँ पर किसी प्रकार की असभ्यता का वर्ताव न करे ॥ ९ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, द्रव्य यत्ना के बाद भाव यत्ना का वर्णन करते हैं—

समणं माहणं वावि, किविणं वा वणीमगं।
उवसंकमंतं भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ॥ १० ॥

तमइक्कमित्तु न पविसे, नवि चिट्ठे चक्खुगोअरे ।
एगत मवक्कमित्ता , तत्थ चिट्ठिज्ज सजए ॥ ११ ॥ [युग्मम्]

श्रमणं ब्राह्मणं वाऽपि, कृपणं वा वनीपकम् ।
उपसंक्रामन्त भक्तार्थं , पानार्थं वा सयत ॥ १० ॥
तमतिक्रम्य न प्रविशेत् , नापि तिष्ठेत् चक्षुर्गोचरे ।
एकान्त मवक्रम्य , तत्र तिष्ठेत्सयतः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(भत्तट्ठाए) अन्न के वास्ते (व) एव (पाणट्ठाए) पानी के वास्ते, गृहस्थ के द्वार पर (उवसंकमंतं) आते हुए—या गये हुए (समणं) श्रमण (वा वि) अथवा (माहणं) ब्राह्मण (किविण) कृपण (वा) अथवा (वणीमगं) दरिद्र कोई हो—

(तं) उसको (अइक्कमित्तु) उल्लंघन करके (संजए) साधु (न पविसे) गृहस्थ के घर में प्रवेश न करे तथा (चक्खु गोयरे) गृहस्वामी की आंखों के सामने (न चिट्ठे) खड़ा भी न हो; किन्तु (एगंत) एकान्त स्थान पर (अवक्कमित्ता) अवक्रमण करके—जाकर के (तत्थ) वहां (चिट्ठिज्ज)

खड़ा होजावे (नि) अपि शब्द से, जिस समय कोई दान आदि देता हो, उसके सामने भी खड़ा न होवे ॥ १०–११ ॥

मूलार्थ—अन्न तथा पानी के वास्ते, गृहस्थ के द्वारपर अपने बराबर से जाते हुए या पहले से पहुँचे हुए–श्रमण, ब्राह्मण, कृपण तथा दरिद्र पुरुषों को लाँघकर साधु गृहस्थ के घरमें प्रवेश न करे तथा गृहस्वामी की आँखों के सामने भी खड़ा न होवे, किन्तु एकान्त स्थान पर खड़ा होजावे ॥ १०–११ ॥

भाष्य—साधु भिक्षार्थ गाँव में किसी गृहस्थ के यहाँ गया है। परन्तु वहाँ क्या देखता है कि घर के आगे द्वारपर श्रमण—बौद्ध आदि भिक्षु, ब्राह्मण, कृपण (जो धनी होते हुए भी कृपणता के कारण भिक्षा माँगता है) तथा दरिद्र आदि पुरुषों में से कोई खड़ा है। तो साधु उसको लाँघकर गोचरी के लिए घर में न जावे। और नाँही दान देते हुए गृहस्थ के सामने तथा भिक्षुकों के सामने खड़ा होवे। तो क्या करे, एकान्त स्थान में जहाँ किसी की दृष्टि न पड़तीहो—वहाँ आकर खड़ा हो जावे।

लाँघकर न जाने और सामने न खड़ा होने का सामान्य कारण यह है कि—ऐसा करने से उन भिक्षुक लोगों के हृदय में द्वेष उत्पन्न होता है—उनके हृदय को बड़ी भारी ठेस पहुँचती है। किसी के हृदय को किसी प्रकार की ठेस पहुचाना मुनि वृत्ति के सर्वथा प्रतिकूल है।

यहाँ प्रश्न होता है कि—सूत्र में जो याचकों के होने पर साधु को एकान्त स्थान में खड़ा होने

की आज्ञा दी है—तो क्या इसका मतलब यह है कि-साधु आहार किये बिना वापिस लौटे ही नहीं। जब तक याचक खड़े रहें तब तक वहीं पर छुपा हुआ खड़ा रहे और याचकों के जाते ही आहार ग्रहण करे ?

उत्तर में कहना है कि—यह बात नहीं है। साधु वापिस लौट सकता है। वस्तुतः छुपकर खड़े रहने की अपेक्षा लौट जाना ही अच्छा है। यहाँ एकान्त में खड़े होने की जो आज्ञा दी है-वह विशेष कारण को लेकर दी है। यानी रोगादि के कारण से किसी ऐसा आहार पानी आदि वस्तु की आवश्यकता हो—जो उस समय उसी घर में मिलती हो—तब वहाँ एकान्त में खड़ा हो सकता है।

सूत्र में जो 'श्रमण' शब्द आया है। उससे यहाँ निर्ग्रन्थ आदि के प्रतिरूप शाक्य आदि मुनियों का ग्रहण है।

सूत्रगत "माहण वावि" वाक्य में जो अपि शब्द आया है। वह सूचित करता है कि-सूत्र में पढ़े हुए ही श्रमण आदि पुरुषों को लाँघने की मनाई नहीं है बल्कि किसी प्रकार का कोई भी याचक सभी को लाँघने की मनाई है ॥ १०-११ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, स्वयं याचकों को लाँघकर जाने का दोष कहते हैं—

वणीमगस्स वा तस्स, दायगस्सुभयस्स वा।
अप्पत्तिअं सिया हुज्जा, लहुत्तं पवयणस्स वा ॥ १२॥

वनीपकस्य वा तस्य, दातुरुभयोर्वा ।
अप्रीति स्यात् भवेत्, लघुत्वं प्रवचनस्य वा ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—ऐसा न करने से (सिया) कदाचित् (तस्स) उस (वणीमगस्स) याचक को (वा) अथवा (दायगस्स) दातार को (वा) अथवा (उभयस्स) दाता और याचक दोनों को (अप्पत्तिअं) अप्रीति (वा) और (पवयणस्स) भगवत्प्रवचन की (लहुत्तं) लघुता (हुज्जा) होगी ॥ १२ ॥

मूलार्थ—याचकों को लाँघकर जाने से एकतो याचकों को-दाता को तथा याचक और दाता दोनों को अप्रीति होगी और आर्हत प्रवचन की लघुता निन्दा होगी ॥ १२ ॥

भाष्य—यदि साधु भिक्षार्थ द्वारपर खड़े हुए याचक लोगों को लाँघकर भीतर घर में आयगा तब एकतो साधु की तरफ से याचक और दाता दोनों को अप्रीति होगी। वे अवश्य सोचेंगे कि देखो, यह कैसा मुखमय साधु है! कैसे ऊपर तले पड़ता हुआ भीतर घुसा हुआ चला आता है! क्या गाँव में अकाल पड़ रहा है! क्या इसे और कहीं भिक्षा नहीं मिलती! जो आँख मींचे-देखे न भाले-पोंदी अन्धे की तरह भीतर घिसता है।

दूसरे प्रवचन की लघुता होगी। देखने वाले कहेंगे कि हो भाई! ये जैन साधु देखलो। कैसे लम्प शिरोमणि हैं! यों नहीं कि माँगने वाले खड़े हैं, कुछ थोड़ा बहुत संतोष रक्खें। क्या इनके शास्त्रों का यही कथन है कि चाहे कुछ भी होता रहे-बस अपनी पेट पूर्ति तो करली लेनी चाहिए।

तीसरे-याचकों के दान के अन्तराय होने का दोष लगता है। क्योंकि भीतर घरमें जाने से, दातार गृहस्थ तो, साधु को दान देने लगजायगा और वे बिचारे याचक, दानाभाव से खिन्न चित्त हुए-निराश हुए, बस झांकते ही रहजायगे ॥ १२ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, फिर आगे क्या करे ? इस विषय में कहते हैं—

पडिसेहिए व दिन्ने वा , तओ तम्मि नियत्तिए ।
उवसकमिज्ज भत्तट्ठा , पाणट्ठा एव संजए ॥ १३ ॥

प्रतिषिद्धे वा दत्ते वा , ततः तस्मिन् निवर्तिते ।
उपसङ्क्रामेद् भक्तार्थं , पानार्थं वा संयतः ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(दिन्ने) दान देने पर (व) अथवा (पडिसेहिए) सर्वथा निषेध कर देने पर (तओ) उस द्वार आदि स्थान से (तम्मि) उन याचकों के (नियत्तिए) लौट जानेपर (संजए) साधु (भत्तट्ठा) अन्न के वास्ते (वा) तथा (पाणट्ठाए) पानी के वास्ते, भीतर घर में (उवसंकमिज्जा) चला जावे ॥ १३ ॥

मूलार्थ—गृहस्वामी के द्वारा दान देने तथा निषेध कर देने के बाद, जब वे याचक लोग उस स्थान से लौट जायँ, तब साधु आहार पानी आदि के लिये उक्त घर में प्रवेश करे ॥ १३ ॥

भाष्य—संसार में माँगने वाले याचकों की दो ही गतियाँ होती हैं। क्या तो उदार चेता दातार गृहस्थ उनको प्रेम पूर्वक यथोचित दान देकर विसर्जन कर देता है। क्या कोई अनुदार चेता महाशय झिड़क-झिड़का कर एक-दो खरी-खोटी सुना सुनाकर बिना दिए ही विचारों को चलते कर देता है।

सो उपर्युक्त दोनों गतियों द्वारा, जब पूर्वोक्त द्वारस्थित याचक द्वार पर से लौट जावें, तब भावितात्मा साधु यत्न, पूर्वक उस घर में प्रवेश करे और जिस अन्न-पानी आदि वस्तु की आवश्यकता हो, वह यदि साधु—योग्य—विधि से मिले तो ग्रहण करे—नहीं तो नहीं।

भाव यह है कि—साधु की जो भी क्रिया हो, वह द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव की सर्वतो मुखी दृष्टि से पूर्ण तथा शास्त्र संमत—शुद्ध ही हो। मन माने पथपर चलकर साधु को कोई काम करना उचित नहीं है। जहाँ मनमानी नीति चल जाती है, वहाँ अपने और दूसरों के विनाश की आशङ्का सर्वथा निश्चित है। शास्त्रीय परतंत्रता ही वास्तविक स्वतंत्रता है॥ १३॥

उत्थानिका—अत्र सूत्रकार, पर पीडा का निषेध करते हुए, वनस्पति अधिकार के विषय में कहते हैं—

उप्पल पउम वावि, कुमुअं वा मगदंतिअं।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं, तं च संलुंचिया दए॥ १४॥

तीसरे-याचकों के दान के अन्तराय होने का दोष लगता है। क्योंकि भीतर घरमें जाने से, दातार गृहस्थ तो, साधु को दान देने लगजायगा और वे बिचारे याचक, दानाभाव से खिन्न चित्त हुए-निराश हुए, बस झांकते ही रहजायगे ॥ १२ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, फिर आगे क्या करे ? इस विषय में कहते हैं—

पडिसेहिए व दिन्ने वा , तओ तम्मि नियत्तिए ।
उवसंकमिज्ज भत्तट्ठा , पाणट्ठा एव संजए ॥ १३ ॥

प्रतिषिद्धे वा दत्ते वा , ततः तस्मिन् निवर्तिते ।
उपसंक्रामेद् भक्तार्थं , पानार्थं वा संयत ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(दिन्ने) दान देने पर (व) अथवा (पडिसेहिए) सर्वथा निषेध कर देने पर (तओ) उस द्वार आदि स्थान से (तम्मि) उन याचकों के (नियत्तिए) लौट जानेपर (संजए) साधु (भत्तट्ठा) अन्न के वास्ते (वा) तथा (पाणट्ठाए) पानी के वास्ते, भीतर घर में (उवसंकमिज्जा) चला जावे ॥ १३ ॥

मूलार्थ—गृहस्वामी के द्वारा दान देने तथा निषेध कर देने के बाद, जब वे याचक लोग उस स्थान से लौट जायँ, तब साधु आहार पानी आदि के लिये उक्त घर में प्रवेश करे ॥ १३ ॥

चन्द्र विकाशी श्वेत कमल को, मगदन्तिका—माल्ती पुष्प को, तथा अन्य भी ऐसे ही सचित्त पुष्पों को छेदन—भेदन करके आहार पानी देतो—

यह आहार पानी साधुओं को अकल्पनीय होता है। अत देने वाली से स्पष्ट कहदेना चाहिए कि- यह आहार पानी मेरे अयोग्य है, सो मैं नहीं ले सकता हूँ ॥ १४–१५ ॥

भाष्य—इस गाथा में यह वर्णन है कि-जब साधु भिक्षा के लिये गृहस्थ के घर में आवे, तब वहाँ देखे कि-कोइ स्त्री, नीलोत्पल कमल आदि सूत्र पठित सचित्त पुष्पों को छेदन-भेदन कर रही है।

सो यदि वह (उपयुक्त पदार्थों का छेदन करती हुई) स्त्री आहार पानी देने लगे तो साधु को वह आहार-पानी नहीं लेना चाहिए और उसे कहदेना चाहिए कि-यह आहार पानी मेरे अयोग्य है। अतः मैं नहीं ले सकता।

कारण कि-ये नीलोत्पल आदि सचित्त पदार्थ जीव सहित होते हैं। अतः तद्गत जीवों का पीड़ा होती है। साधु वृत्ति, यत्न प्रधान होती है, अतः हरहालत में साधु को यत्ना का ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार आहार लेने से अयत्ना की वृद्धि स्वतः सिद्ध होती है।

साधु धर्म की अहिंसा का सम्बन्ध कुछ मनुष्य पशु, पक्षी, आदि जगत के जीवों से ही नहीं है। उसका सम्बन्ध तो ससारिक लोगों की स्थूल दृष्टि में, नगण्य जँचने वाले वनस्पति जगत के जीवों से भी है। वह सम्बन्ध भी किसी भेद भाव से नहीं, एक रूपसे है। साधु की, संसार के सभी छोटे-बड़े जीवों के साथ परम मैत्री है। जो मरते दम तक अक्षुण्ण बनी रहती है ॥ १४–१५ ॥

त भवे भत्तपाण तु , सजयाण अकप्पिअ ।
दिंतिअ पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिस ॥ १५ ॥ [युग्मम्]

उत्पलं पद्मं वाऽपि , कुमुदं वा मगदन्तिकाम् ।
अन्यद्वा पुष्पं सचित्तं , तच्च संलुञ्च्य दद्यात् ॥ १४ ॥
तद्भवेद्भक्तपानं तु , संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत , नमे कल्पते तादृशम् ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(उप्पलं) नीलोत्पल कमल अथवा (पउमं) पद्म कमल (वावि) अथवा (कुमुअ) चन्द्रविकाशी श्वेत कमल (वा) अथवा (अन्न) अन्य कोई (पुप्फ सचित्त) सचित्त पुष्प हो (त) उसको (संलुंचिया) छेदन कर (दए) आहार पानी देवे-

(तु) तो (तं) वह (भत्तपाण) अन्न पानी (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं) अकल्पनीय (भवे) होता है, अतः साधु (दिंतिअ) देने वाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि- (तारिस) इस प्रकार का आहार (मे) मुझे (न) नहीं (कप्पइ) कल्पता है ॥ १४ १५ ॥

मूलार्थ—यदि कोई दान देने वाली स्त्री, उत्पल-नील कमल को, पदम-रक्त कमल को, कुमुद

अन्य कोई (पुप्फ सचित्तं) सचित्त पुष्प हो (त) उसको (संमद्दिया) समर्दन करके (दए) आहार पानी देवे-

(तु) तो (त) वह (भत्तपाण) अन्न पानी (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअ) अकल्पनीय (भवे) होता है अत (दितिअ) देने वाली से (पडिआइक्खे) कहदे कि (मे) मुझे (तारिसं) इस प्रकार का अन्न पानी (न) नहीं (कप्पइ) कल्पता है ॥ १६-१७ ॥

मूलार्थ—यदि कोई स्त्री पूर्वोक्त नीलोत्पल आदि सचित्त पुष्पों को, समर्दन करके-दल मल करके-आहार पानी देवे, तो साधु को वह आहार पानी नहीं लेना चाहिए और कह देना चाहिए कि यह आहार मेरे को अकल्पनीय है, अत बहन ! मैं नहीं ले सकता ॥ १६-१७ ॥

भाष्य—पूर्व सूत्र में जिस प्रकार छेदन करने के विषय में कहागया है, उसी प्रकार इस सूत्र में संमर्दन करने क विषय में कहा है । अर्थात् पूर्वोक्त उत्पल, पद्म आदि सचित्त पुष्पों को संमर्दन करके यदि कोई स्त्री आहार-पानी बहराने लगे, तो साधु को वह दातव्य पदार्थ नहीं लेना चाहिए ।

न लेने का कारण यही है-जो पूर्व सूत्र क भाष्य में कहा जाचुका है । अर्थात्-ऐसी अवस्था में आहार लेने से एकेन्द्रिय जीवों की विराधना होने के कारण, प्रथम अहिंसा महाव्रत दूषित हो जाता है ॥ १६-१७ ॥

उत्पानिका—अब सूत्रकार, पूर्वोक्त पदार्थों को मर्दन करती हुई स्त्री से, आहार लेने का निषेध करते हैं–

उप्पल पउम वावि , कुमुअ वा मगदंतिअ ।
अन्न वा पुप्फ सच्चित्त , त च संमद्दिया दए ॥ १६ ॥
तं भवे भत्तपाण तु , संजयाण अकप्पिअ ।
दिंतिअ पडिआइक्खे , न मे कप्पइ तारिस ॥ १७ ॥ [युग्मम्]

उत्पल पद्म वाऽपि , कुमुदं वा मगदन्तिकाम् ।
अन्यद्वा पुष्प सचित्त , त च संमृद्य दद्यात् ॥ १६ ॥
तद्भवेद् भक्त पान तु , संयतानामकल्पिकम् ।
ददती प्रत्याचक्षीत , न मे कल्पते तादृशम् ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—यदि दातार स्त्री, (उप्पलं) नीलोत्पल कमल (वा) अथवा (पउमं) पद्म कमल (वा) अथवा (कुमुअं) चन्द्र विकाशी कमल अथवा (मगदंतिअं) मालती के पुष्प (वा) अथवा (अन्नं)

अन्य कोई (पुप्फ सचित्त) सचित्त पुष्प हो (त) उसको (संमद्दिया) समर्दन करके (दए) आहार
पानी देवे-

(तु) तो (तं) वह (भत्तपाण) अन्न पानी (संजयाण) साधुओं को (अकप्पिअं) अकल्पनीय
(भवे) होता है अत (दिंतिअ) देन वाली से (पडिआइक्खे) कहद कि (मे) मुझे (तारिस) इस
प्रकार का अन्न पानी (न) नहीं (कप्पइ) कल्पता है ॥ १६-१७ ॥

मूलार्थ—यदि कोइ स्त्री पूर्वोक्त नीलोत्पल आदि सचित्त पुष्पों को, समर्दन करके-दल मल
करके-आहार पानी देवे, तो साधु को वह आहार पानी नहीं लेना चाहिए और कह देना चाहिए कि
यह आहार मेरे को अकल्पनीय है, अत बहन । मै नहीं लेसकता ॥ १६-१७ ॥

भाष्य—पूर्व सूत्र मे जिस प्रकार छेदन करने के विषय मे कहागया है, उसी प्रकार इस सूत्र मे
संमर्दन करने के विषय म कहा है । अर्थात् पूर्वोक्त उत्पल, पद्म आदि सचित्त पुष्पों को समर्दन करके
यदि कोइ स्त्री आहार-पानी पहराने लगे, तो साधु को वह दातव्य पदार्थ नहीं लेना चाहिए ।

न लेने का कारण वही है-जो पूर्व सूत्र के भाष्य मे कहा जाचुका है । अर्थात्-ऐसी अवस्था मे
आहार लेने से एकेन्द्रिय जीवों की विराधना होने के कारण, प्रथम अहिंसा महाव्रत दूषित
हो जाता है ॥ १६-१७ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, पूर्वोक्त पदार्थों को मर्दन करती हुई स्त्री से, आहार लेने का निषेध करते हैं—

उप्पलं पउमं वावि, कुमुअं वा मगदंतिअं।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं, तं च संमद्दिया दए॥ १६॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥ १७॥ [युग्मम्]

उत्पलं पद्मं वाऽपि, कुमुदं वा मगदन्तिकाम्।
अन्यद्वा पुष्पं सचित्तं, तं च संमृद्य दद्यात्॥ १६॥
तद्भवेद् भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम्॥ १७॥

अन्वयार्थ—यदि दातार स्त्री, (उप्पलं) नीलोत्पल कमल (वा) अथवा (पउमं) पद्म कमल (वा) अथवा (कुमुअं) चन्द्र विकासी कमल अथवा (मगदंतिअं) मालती के पुष्प (वा) अथवा (अन्नं)

(तु) तो (त) यह (भत्तपाण) आहार पानी (मजयाण) साधुओं को (अकप्पिअ) अकल्प-नीय (भवे) होता है, अत (तारिसं) इस प्रकार का आहार (मे) मुझे (न कप्पइ) नहीं कल्पता है ॥ १८—१९ ॥

मूलार्थ—यदि कोई स्त्री, सूत्रोक्त नीलोत्पल आदि सचित्त पदार्थों को संघट्टन करके आहार पानी देवे, तो साधु न ले और देने वाली से कह देकि-यह आहार पानी साधु के अयोग्य है, अतः मैं नहीं ले सकता ॥ १८-१९ ॥

भाष्य—इस सूत्र में—पूर्वोक्त नीलोत्पल आदि सचित्त पुष्पों को संघट्टन करके कोई स्त्री आहार पानी देने लगे, तो साधु को लेने का निषेध किया है। कारण यही है कि-सचित्त पदार्थों के संघट्ट से जीवों की विराधना होती है—उससे प्रथम महाव्रत दूषित होजाता है।

यहाँ एक बात और है, वह यह कि—जिस प्रकार इन सूत्रों में वनस्पति का अधिकार कहा गया है, ठीक उसी प्रकार अप्काय आदि के विषय में भी जान लेना चाहिए। यानी जितने भी सचित्त पदार्थ कहे गये हैं—उन सभी के संघट्ट से आहार पानी लेने का निषेध है।

जैन साधु, वनस्पति के समान ही जल और अग्नि आदि के जीवों की रक्षा का भी महान् प्रयत्न करते हैं। जीव रक्षा के विषय में, जितनी ही अधिक सावधानी रक्खी जायगी, उतनी ही अधिक सुन्दरता से समितियों की समाराधना हो सकेगी।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, पूर्वोक्त पदार्थों को संघट्टन करती हुई स्त्री से, आहार लेने का निषेध करते हैं–

उप्पलं पउमं वावि, कुमुअं वा मगदंतिअं।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं, तं च संघट्टिया दए॥ १८॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥ १९॥ [युग्मम्]

उत्पलं पद्मं वाऽपि, कुमुदं वा मगदन्तिकाम्।
अन्यद्वा पुष्पं सचित्तं, तं च संघट्य दद्यात्॥ १८॥
तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम्॥ १९॥

अन्वयार्थ—कोई स्त्री, (उप्पलं) उत्पल कमल (वा) अथवा (पउमं) पद्म कमल (वा) अथवा (कुमुअं) चन्द्र विकासी कमल तथा (मगदंतिअं) मालती पुष्प (वा) अथवा (अन्नं) अन्य कोई (पुप्फ सच्चित्तं) सचित्त पुष्प हो (तं) उसको (संघट्टिया) संघट्टित करके (दए) आहार पानी देवे–

(उप्पलनालिअं) नीलोत्पल कमल की नाल को अथवा (मुणालिअं) कमल के तन्तु को अथवा (सासवनालिअं) सरसों की नाल को अथवा (उच्छुखंड) इक्षुखण्ड को (साधु ग्रहण न करे) ॥२०॥

मूलार्थ—कमल का कन्द, पलाश का कन्द, श्वेत कमल की नाल, नील कमल की नाल, कमल के ततु, सरसों की नाल, और गन्ने की गनेरियाँ–ये सब सचित्त पदार्थ, साधु को अग्राह्य हैं ॥ २० ॥

भाष्य—इस गाथा में यह वर्णन है कि—शालूक-कमल कन्द, विरालि का-पलाश कन्द कुमुद नाल-विकासी कमल की नाल उत्पल नालिका—नील कमल की नाल मृणालिका—कमल के ततु, सर्षपनालिका—सरसों की नाल इक्षुखण्ड—गन्ने की गनेरियाँ आदि वनस्पति, जो सचित्त हैं-अप्रासुक हैं, वे साधु को किसी भी अवस्था में लेने योग्य नहीं हैं।

कारणकि- वनस्पतियों में किसी में असंख्यात और किसी में अनन्त जीव होते हैं। अतः सचित्त वनस्पति साधुओं के लिये सर्वथा अभक्ष्य है।

साधु, जब साधु वृत्ति धारण करता है, तब प्रथम अहिंसा महाव्रत धारण करते हुए तीन करण और तीन योग से, त्रस-स्थावर सभी जीवों की सभी प्रकार की हिंसा का परित्याग करता है ॥ २० ॥

उत्थानिका—फिर इसी विषय में कहाजाता है—

यह ' उप्पलं पउमं वावि'-और तंमवे भत्तपाणंतु '-१८—१९ गाथा युग्म, वृत्तिकार ने-टीका
करने अपनी टीका में छोड़ दिया है। परन्तु लिखित प्रतियों में प्रायः यह गाथा पाई जाती है अतः
यहाँ परभी उद्धृत करदी गई है।

वस्तुतः गाथाओं के परस्पर के सम्बन्ध की दृष्टि से इस गाथा का होना आवश्यक भी प्रतीत
होता है। क्योंकि— संलुंचिया -'सलुच्य और'- समद्दिया ' 'समुच ' शब्दों के साथ ' संघट्टिया '
'संघट्य' का होना अतीव उचित है। अन्यथा विषय अधूरा सा रह जाता है।

तथा ' संघट्टा ' शब्द जो सर्वत्र सुप्रसिद्धि में आया हुआ है। यह इसी गाथा के आधार पर
जान पड़ता है। इससे भी इस गाथा की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है॥ १८—१९॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, फिर वनस्पति के ही विषय में कहते हैं—

सालुअं वा विरालियं, कुमुअं उप्पल नालिअं।
मुणालिअं सासवनालिअं, उच्छुखंडं अनिव्वुडं॥२०॥

शालूकं वा विरालिकां, कुमुदमुत्पलनालिकाम्।
मृणालिकां सर्षपनालिकां, इक्षुखण्डमनिर्वृतम्॥ २०॥

अन्वयार्थ—(अनिव्वुडं) जो शस्त्र से परिणत नहीं है ऐसे (सालुअं) कमल के कन्द को (वा)
अथवा (विरालियं) पलाश के कन्द को अथवा (कुमुअं) चन्द्र विकासी कमल की नाल को अथवा

उत्थानिका—फिर इसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है—

तरुणिअं वा छिवाडिं , आमिअं भज्जिअं सइं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे , नमे कप्पइ तारिसं ॥ २२ ॥

तरुणिकां वा छिवाडिं , आमिकां भर्जितां सकृत् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत , न मे कल्पते तादृशम् ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—साधु को यदि कोई (तरुणिअं) तरुण जिसमें अभीतक बीज ठीक-ठीक न पके हों– ऐसी (छिवाडिं) मुग-मूँग आदि की फली (आमिअं) कची (वा) अथवा (सइं) एक बार की (भज्जिअं) भुनी हुई–देने लगे तो साधु (दिंतिअं) देने वाली से (पडिआइक्खे) कह दे कि (तारिसं) इस प्रकार का आहार (मे) मुझ (नकप्पइ) नहीं कल्पता है ॥ २२ ॥

मूलार्थ—यदि कोई भावुक स्त्री, जिसमें अभीतक अच्छी तरह दाने न पके हों, ऐसी मूँग मोठ आदि की फलियाँ-सर्वथा कची अथवा एक बार की भुनी हुई-देने लगे तो साधु देने वाली से कह दे कि, यह आहार मुझे लेना नहीं कल्पता है ॥ २२ ॥

भाष्य—इस गाथा में यह कथन है कि—जो मूंग आदि की फलियाँ सर्वथा कची हों-या एक

तरुणग वा पवाल , रुक्खस्स तणगस्स वा ।
अन्नस्स वावि हरिअस्स, आमग परिवज्जए ॥ २१ ॥

तरुणकं वा प्रवालं , वृक्षस्य तृणकस्य वा ।
अन्यस्य वाऽपि हरितस्य, आमकं परिवर्जयेत् ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—विशुद्ध-संयम धारी साधु (रुक्खस्स) वृक्षका (वा) अथवा (तणगस्स) तृणका (वावि) अथवा (अन्नस्स) अन्य किसी दूसरी (हरिअस्स) हरितकाय वनस्पतिका (आमगं) कच्चा (तरुणगं वा पवालं) नवीन प्रवाल (परिवज्जए) छोड़दे—ग्रहण न करे ॥ २१ ॥

मूलार्थ—वृक्ष का तृण का तथा अन्य किसी दूसरी वनस्पति का, तरुण प्रवाल (नईकुंपल) यदि कच्चा है—शस्त्र परिणत नहीं है तो मुनि उसे त्याग दे ॥ २१ ॥

भाष्य—इस गाथा में वृक्ष आदि सभी वनस्पतियों के नवीन प्रवाल के यानी उगते हुए नवीन अंकुर के—यदि वह सचित्त है—लेने का निषेध किया है । न लेने का कारण यही है कि—प्रथम अहिंसा महाव्रत का भङ्ग होता है ।

यद्यपि पूर्व सूत्रों में शालूक आदि कन्दों का वर्जन किया जाचुका था, तथापि इस स्थान पर पल्लव (नूतन कुम्पल) का अतिकर होने से उन सभी का ग्रहण यहाँ पर भी होजाता है ॥ २१ ॥

उत्थानिका—फिर इसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है—

तरुणिअं वा छिवाडिं , आमिअं भज्जिअं सइं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे , न मे कप्पइ तारिसं ॥ २२ ॥

तरुणिकां वा छिवाडिं , आमिकां भर्जितां सकृत् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत , न मे कल्पते तादृशम् ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—साधु को यदि कोई (तरुणिअं) तरुण-जिसमें अभीतक बीज ठीक-ठीक न पके हों- ऐसी (छिवाडिं) मुद्ग-मूँग आदि की फली (आमिअं) कच्ची (वा) अथवा (सइं) एक बार की (भज्जिअं) भुनी हुई-देने लगे तो साधु (दिंतिअं) देने वाली से (पडिआइक्खे) कह दे कि (तारिसं) इस प्रकार का आहार (मे) मुझे (नकप्पइ) नहीं कल्पता है ॥ २२ ॥

मूलार्थ—यदि कोई भावुक स्त्री, जिसमें अभीतक अच्छी तरह दाने न पके हों, ऐसी मूँग चोंगा आदि की फलियाँ-सर्वथा कच्ची अथवा एक वार की भुनी हुई-देने लगे तो साधु देने वाली से कह दे कि, यह आहार मुझे लेना नहीं कल्पता है ॥ २२ ॥

भाष्य—इस गाथा में यह कथन है कि—जो मूग आदि की फलियाँ सर्वथा कच्ची हों-वा एक

बार की भुनी हुई हों, उन्हें यदि कोई देने लगे तो साधु उसी समय उस देने वाले से कहदेकि—यह आहार सर्वथा प्रकार परिपक्व-प्रासुक न होने से मुनि वृत्ति के सर्वथा अयोग्य है। अतः मैं इसे किसी भी तरह नहीं ले सकता।

गाथा में का 'छिवाडि' शब्द देशी प्राकृत का विदित होता है। क्यों कि—इसका संस्कृत रूप वृत्तिकार एवं कोषकार दोनों ही ने नहीं लिखा है। "छिवाडिमितिमुद्गादि फलिम्" इतिवृत्तिः। छिवाडि—( ) फली—शाकुनीफलक इति अर्द्धमागधी गुजराती कोश।

छिवाडी शब्द समुच्चय फलियों का वाचक है। अतः इससे मूंगकी फली चौलों की फली, चनों की फली (बूट) आदि सभी फलियों का ग्रहण हो जाता है।

एक बार की सिकी हुई फलियों के लेने का निषेध इसलिये किया है कि-एकवार के अग्नि के संस्कार से पूर्णतया पकता नहीं आती-कुछ न कुछ अपक्वता बनीही रहती है। सो सन्देह युक्त मिश्र भावोपेत पदार्थ साधु को कदापि नहीं लेना चाहिये॥ २२॥

उत्थानिका—अब, अपक्व बदरीफल आदि के विषय में कहते हैं—

तहा कोलमणुस्सिन्न, वेलुअं कासवनालिअं।
तिलपप्पडगं नीमं, आमगं परिवज्जए॥ २३॥

तथा कोलमनुस्विन्न, वेणुकं काश्यपनालिकाम्।
तिलपर्पटकं नीमं, आमकं परिवर्जयेत्॥ २३॥

अन्वयार्थ—(तहा) इसी प्रकार साधु, (अणुस्सिन्नं) अग्नि आदि से अपक्व (आमगं) कच्चे (कोलं) बदरी फल (वेलुअ) वंशकरेला तथा (कासवनालिअं) श्रीपर्णी वृक्ष के फल, (तिलपप्पडगं) तिल पपट—तिल पापड़ी (नीमं) नीम वृक्ष के फल भी (परिवज्जए) छोड़दे ॥ २३ ॥

मूलार्थ—इसी प्रकार साधु को—बदरी फल, वंश करेला, श्रीपर्णी फल, तिलपापड़ी, और नीम की नींबोली आदि, अग्नि आदि शस्त्र से अपरिणत—कच्चे नहीं लेने चाहिएँ ॥ २३ ॥

भाष्य—जो बेर आदि फल, अग्नि और पानी के योग से विकारान्तर को प्राप्त नहीं हुए हैं, व साधु को सर्वथा त्याज्य हैं।

कारणकि- कोई पदार्थ केवल अग्नि द्वारा पकाया जाता है और कोई पदार्थ अग्नि और पानी दोनों द्वारा पकाया जाता है। सो जो सचित्त फल, पदार्थ 'वह्न्यु दक योगेना नापादित विकारान्तरम्' 'अग्नि और उदक के योग से विकारान्तर को प्राप्त नहीं हुए हैं वे साधु के सर्वथा लेने योग्य नहीं हैं। साधु, सचित्त पदार्थ का सर्वथा त्यागी होता है।

हिन्दी भाषा में 'अस्विन्न' शब्द का स्पष्ट अर्थ होता है—बिना रंधा। पाठक महोदय! सूत्र के प्रत्येक शब्द का भाव, जो स्पष्ट से स्पष्ट और सरल से सरल हो, उसे अपनी मातृभाषा द्वारा हृदयं गम करें। बिना मातृभाषा में, स्पष्ट भाव के जाने-यदि कार्य में प्रवृत्ति की जायगी तो वह अर्थ के स्थान-में अनर्थ को ही करने वाली होगी ॥ २३ ॥

बार की भुनी हुई हों, उन्हें यदि कोई देने लगे तो साधु उसी समय उस देने वाले से कहदेकि—यह आहार सर्वथा शस्त्र परिणत-प्रासुक न होने से मुनि वृत्ति के सर्वथा अयोग्य है। अतः मैं इसे किसी भी तरह नहीं ले सकता।

गाथा में का 'छिवाडि' शब्द देशी प्राकृत का विदित होता है। क्यों कि—इसका संस्कृत रूप वृत्तिकार एवं कोषकार दोनों ही ने नहीं लिखा है। "छिवाडिमितिमुद्गादि फलिम्" इतिवृत्ति। छिवाडि—( ) फली—मगनीफल इति अर्द्धमागधी गुजराती कोष।

छिवाडी शब्द समुच्चय फलियों का वाचक है। अतः इससे मूंगकी फली चौलों की फली, चनों की फली (बूट) आदि सभी फलियों का ग्रहण हो जाता है।

एक बार की सिकी हुई फलियों के लेन का निषेध इसलिए किया है कि—एकवार के अग्नि के संस्कार से पूर्णतया पक्वता नहीं आती कुछ न कुछ अपक्वता बनीही रहती है। सो सन्देह युक्त-मिश्र भावापेक्ष पदार्थ साधु को कदापि नहीं लेना चाहिये॥ २२॥

उत्थानिका—अब, अपक्व बदरीफल आदि के विषय में कहते हैं—

तहा कोलमणुस्सिन्नं वेलुअं कासवनालिअं।

[illegible] ॥ २३॥

सूत्र में जो तसानिर्वृत्त शब्द है, उसका अर्थ मिश्रित जल है। सो मिश्रित जल से दो अभिप्राय हैं। एक तो यह है कि- उष्ण जल बहुत देर का होकर मर्यादा से बहिर्भूत होकर फिर शीत भाव को प्राप्त होगया हो अर्थात् सचित्त हो गया हो। दूसरा यह कि- कच्चा जल गर्म होने के लिये अग्नि पर तो रख दिया है, परन्तु शीघ्रता या अन्य किसी कारण वश अग्नि का भली भाँति स्पर्श हुवे बिना मंदोष्ण ही उतार लिया हो। मंदोष्ण जल न तो सर्वथा सचित्त ही होता है और न सर्वथा अचित्त ही।

यद्यपि आटा कितने काल के पश्चात् अचित्त हो जाता है- इस प्रकार का स्पष्ट विधान किसी सूत्र में नहीं वर्णन किया गया है। तथापि परंपरा से एक मुहूर्त के पश्चात् अचित्त होना माना जाता है।

जिस प्रकार तत्काल के पीसे हुए आटे के लेने का निषेध है, इसी प्रकार उसके स्पर्श से अन्य पदार्थ लेने का भी निषेध है।

धोवन जल और तप्त शीतल जल के विषय में यह बात है कि- इन के ग्राह्य और अग्राह्य का निर्णय ऋतु के अनुसार बुद्धि से विचार करके करना चाहिए। इसी प्रकार सत्तों की खल के विषय में भी जान लेना चाहिए।

यदि उपर्युक्त तन्दुलपिष्ट आदि पदार्थों में जरा भी अप्रासुकता की आशङ्का होजाय, तो साधु को वे पदार्थ कदापि ग्रहण करने उचित नहीं हैं। आशङ्का युक्त पदार्थों के लेने से आत्मा में दुर्बलता आती है। और दुर्बलता आते ही आत्मा उन्नति पथ से गिर कर, पतन की ओर अग्रसर होती चली जाती है ॥ २४ ॥

उत्थानिका—फिर इसी सचित्त विषय पर कहा जाता है—

तहेव चाउलं पिट्ठं , वियडं वा तत्तनिव्वुडं ।
तिलपिट्ठपूइपिन्नागं , आमगं परिवज्जए ॥ २४ ॥

तथैव तान्दुलं पिष्टं , विकटं वा तप्तानिर्वृतम् ।
तिलपिष्टं पूतिपिण्याकं आमकं परिवर्जयेत् ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—(तहेव) उसी प्रकार (चाउलं) चावलों का (पिट्ठं) आटा तथा (वियडं) शुद्धोदक—धोवन (वा) अथवा (तत्तनिव्वुडं) तप्तानिर्वृतजल—जो उष्ण जल मर्यादा से बाहिर होने के कारण ठंडा होकर फिर सचित्त होगया है—अथवा मिश्रित जल (तिलपिट्ठं) तिलोंका आटा तथा (पूइपिन्नागं) सरसों की खली—ये सब कच्चे पदार्थ साधु (परिवज्जए,) सर्वथा छोड़दे ॥ २४ ॥

मूलार्थ—उसी प्रकार चावलोंका आटा, शुद्धोदक, मिश्रित जल, तिलों का आटा, सरसों की खल—ये सब यदि कच्चे हों तो साधु कदापि न ले ॥ २४ ॥

भाष्य—इस गाथा में यह वर्णन किया गया है कि- चावलों का आटा, धोवन का जल मिश्रित जल, तिलों का आटा और सरसों की खल-ये सब यदि सर्वथा अचित्त न हुए हों तो साधु इन को वर्जे अर्थात् इन को ग्रहण न करे ।

यहाँ शास्त्रकारने फलों का वर्णन करते करते जो साथही 'मूलग' और 'मूलगत्तिअ' शब्दों का उल्लेख किया है। वह कन्द मूल अनंतकाय पदार्थों के गुरुत्व स्थापनार्थ है। कन्द मूल—अनंत जीवात्मक होते हैं। अतः प्रत्येक वनस्पति फल फूल आदि की अपेक्षा, साधारण वनस्पति—कन्द मूल के भोजन में अत्यधिक पाप है।

यद्यपि यहाँपर कच्चा और अशस्त्र-परिणत पाठ है। तथापि धार्मिक जनता को बहुत पाप समझ कर कन्द मूल का समस्त रूप से परित्याग करना ही श्रेयस्कर है। तथा श्रावक-वर्ग को तो, विशेषतया कन्द मूल के भक्षण का परित्याग करना चाहिए॥ २५ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, सचित्त फलादि चूर्णों के विषय में कहते हैं—

तहेव फलमथूणि, बीयमथूणि जाणिया।
विहेलगं पियालं च, आमगं परिवज्जए ॥ २६ ॥

तथैव फलमन्थून्, बीजमन्थून् ज्ञात्वा।
बिभीतकं प्रियालं च, आमकं परिवर्जयेत् ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—(तहेव) उसी प्रकार (आमगं) कच्चा—सचित्त (फलमथूणि) बेदरी फल आदि का चूर्ण (बीय मथूणि) यव आदि का चूर्ण (विहेलगं) बिभीतक फल (च) तथा (पियालं) प्रियाल

कविट्ठ माउलिंगं च, मूलगं मूलगत्तिअं ।
आमं असत्थपरिणयं, मणसावि न पत्थए ॥ २५ ॥

कपित्थं मातुलिंगं च, मूलकं मूलकर्तिकाम् ।
आमामशस्त्रपरिणतां, मनसा पि न प्रार्थयेत् ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—(आमं) अपक्व तथा (असत्थपरिणयं) शस्त्र परिणत (कविट्ठं) कोठ फलकी (माउलिंगं) मातुलिंग फलकी (मूलगं) मूली की (च) और (मूलगत्तिअं) मूल-कर्तिका की (मणसावि) मन से भी (नपत्थए) इच्छा न करे ॥ २५॥

मूलार्थ—मोक्षाभिलाषी साधु, कच्चे और अग्नि आदि शस्त्र से अपरिणत बिजोरा, मूली और मूल कर्तिका की मन से भी इच्छा न करे ॥ २५ ॥

भाष्य—इस गाथा में भी फलों का ही वर्णन किया गया है। जैसे कि—कपित्थ फल बीज पूरक फल मूलक-सपत्र और मूल कर्तिका-मूल कन्द-यदि ये सब कच्चे हों—स्वकाय तथा परकाय शस्त्र से अपरिणत हों, पासी अचित्त नहीं हुए हों तो साधु इनके ग्रहण करने की मन से भी चाहना न करे।

यहाँ शास्त्रकारने फलों का वर्णन करते करते जो साथही 'मूलग' और 'मूलगत्तिअं' शब्दों का उल्लेख किया है। वह कन्द मूल अनन्तकाय पदार्थों के गुरुत्व स्थापनार्थ है। कन्द मूल—अनन्त जीवात्मक होते हैं। अतः प्रत्येक वनस्पति फल फूल आदि की अपेक्षा, साधारण वनस्पति—कन्द मूल के भोजन में अत्यधिक पाप है।

यद्यपि यहाँपर कच्चा और अशस्त्र-परिणत पाठ है। तथापि धार्मिक जनता को बहुत पाप समझ कर कन्द मूल का समस्त रूप से परित्याग करना ही श्रेयस्कर है। तथा श्रावक-वर्ग को तो, विशेषतया कन्द मूल के भक्षण का परित्याग करना चाहिए ॥ २५ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, सचित्त फलादि चूर्णों के विषय में कहते हैं—

तहेव फलमंथूणि, बीयमंथूणि जाणिया।
विहेलगं पियालं च, आमगं परिवज्जए ॥ २६ ॥

तथैव फलमन्थून्, बीजमन्थून् ज्ञात्वा।
विभीतकं प्रियालं च, आमकं परिवर्जयेत् ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—(तहेव) उसी प्रकार (आमगं) कच्चा-सचित्त (फलमंथूणि) बेदरी फल आदि का चूर्ण (बीय मंथूणि) यव आदि का चूर्ण (विहेलगं) विभीतक फल (च) तथा (पियालं) प्रियाल

का फल इन सब को शास्त्र-विधि से सम्यक्तया (जाणिया) जानकर (परिवज्जए) वर्जदेवे
॥ २६ ॥

मूलार्थ—इसी तरह भावितात्मा मुनि, बेर आदि फलों के चूर्ण—और जौ आदि बीजों के चूर्ण—बिभीतक फल और प्रियाल फल आदि को शास्त्रोक्त विधि से कच्चे जानकर ग्रहण न करे ॥ २६ ॥

भाष्य—इस गाथा में चूर्णों के विषय में प्रतिपादन किया गया है। जैसे कि—बदरी फल का चूर्ण (आटा) यव आदि बीजों का चूर्ण, बिभीतक फल (बहेड़ा का फल,) और प्रियाल फल आदि जो सचित्त हैं अर्थात् कच्चे हैं, उन सब को मुनि छोड़दे यानी ग्रहण न करे।

सूत्रकारने नाम लेले कर, बार बार जो यह वनस्पति का सविस्तर वर्णन किया है। सो प्रथम अहिंसा महाव्रत की रक्षा पर अत्यधिक जोर देने के लिये किया है। ग्रन्थकार को जब किसी विषय पर अधिक जोर देना होता है, तब वह उस विषय को बार बार फेर फार करके कहा करता है। अतः साहित्यक सज्जन यहाँ पुनरुक्ति दोष की आशङ्का न करें।

सूत्र में जो 'फल मंथूणी' शब्द आया है, वृत्तिकार उसका अर्थ 'बदर चूर्णान्' लिख कर बेरों का चून ऐसा अर्थ करते हैं। परन्तु यह अर्थ कुछ उपयुक्त नहीं जचता। क्योंकि सूत्र में बिना किसी विशेषता के केवल 'फल' शब्द आया है—उससे सभी प्रकार के फलों का ग्रहण होता है—एक बेर काही नहीं। हाँ, बेर का ग्रहण उदाहरण के लिये अवश्य उपयुक्त है।

-सूत्र का संक्षिप्त शब्दों में सार यह है कि -जितने भी सचित्त चूर्ण हैं, व साधु का अग्राह्य हैं ॥ २६ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, ऊँच-नीच कुलों में समान भावसे भिक्षा लाने के विषय में कहते हैं—

समुआण चरे भिक्खू , कुलमुच्चावय सया ।

नीय कुलमइक्कम्म , ऊसढं नाभिधारए ॥ २७ ॥

समुदानं चरेद्भिक्षु , कुलमुच्चावचं सदा ।

नीचं कुलमतिक्रम्य , उत्सृतं नाभिधारयेत् ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—(भिक्खू) साधु (समुआणं) शुद्ध-भिक्षा का आश्रयण करके (सया) सदा (उच्चावय) ऊँच और नीच कुलों में (चरे) आहार के लिये जावे, परन्तु (नीयंकुल) नीच कुल को (अइक्कम्म) उल्लंघन करके (ऊसढं) ऊँचे कुल में (नाभिधारए) नहीं जावे ॥ २७ ॥

मूलार्थ—शुद्ध भिक्षार्थी साधु, ऊँच और नीच कुलों में समान भाव से सदा आहार के लिये जावे । परन्तु-सरस अरस आहार के विचार से धन हीन-नीच कुलों को लाँघकर-छोड़कर, धन सपन्न-ऊँचे कुलों में कदापि न जावे ॥ ७ ॥

भाष्य—इस गाथा में सन्तोष वृत्ति और कुल के विषय में प्रतिपादन किया है कि—जो साधु शुद्ध भिक्षा का अभिलाषी है (समुदान शब्द से यहाँ शुद्ध-भाव-भिक्षा का ग्रहण है) उसका कर्तव्य है कि—वह मार्ग में आये हुए, सभी ऊँच नीचकुलों में, समान भाव से प्रवेश करे। यह नहीं कि अच्छे स्वादिष्ट भोजन के लिये नीच कुलों को छोड़ता हुआ ऊँच कुलों की तलाश में आगे ही आगे बढ़ता रहे।

यदि कोई भिक्षा लोलुप साधु सूत्र के इस उपर्युक्त कथन के विपरीत कार्य करेगा—अर्थात् हीन कुलों को छोड़कर, ऊँच कुलों में ही आयगा, तो इससे जिन शासन की लघुता होगी। देखने वाले लोग कहेंगे कि—साधु होकर ऊपर से मुंह बाँध लिया, क्या हुआ, भीतर से जिह्वा तो नहीं बाँधी। वह तो ताजा माल उड़ाने के लिये-यह करने के लिये-बेचारा उछल-कूद कर रहा है। साधुओं के यहाँ पर भी धनवानों की ही कदर है, बिचारे गरीबों की तो साधुओं के यहाँ भी पूछ नहीं।

यद्यपि इस स्थल पर सूत्र में केवल ऊँच-नीच कुल का सामान्यतया विधान किया है, तथापि वृत्तिकारों के एवं परम्परा के मत से विभवापेक्षया अर्थात् धन की अपेक्षा से ऊँच एवं नीच कुल का वर्णन किया जाता है। भाव यह है कि-जो कुल धनाढ्य हैं, उनकी ऊँच संज्ञा है। और जो कुल धन-हीन दरिद्र हैं, उनकी नीच संज्ञा है।

वास्तव में यह तात्पर्यार्थ है भी ठीक। क्योंकि सूत्रकार का संकेत सरस-अरस आहार की तरफ है। सो सरस आहार, धनसंपन्न कुलों में मिलता है और अरस आहार, धनहीन कुलों में। अस्तु—ऊँच नीच कुल का सीधे सादे शब्दों में स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि—जिस कुल में विशेष—

मनोऽभिलषित सुस्वादुपदार्थों की प्राप्ति होती है उस कुल की ऊँच संज्ञा है और जिस कुल में प्रायः असार-दु स्वादु भोजन मिलता है, उस कुल की नीच संज्ञा है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, अदीन वृत्ति से आहार की गवेषणा करने के विषय में कहते हैं—

अदीणो विचिमेसिज्जा , न विसीइज्ज पडिए।
अमुच्छिओ भोयणमि ,मायण्णे एसणा रए॥ २८॥

अदीनो वृत्तिमेषयेत् , नविषीदेत्पण्डित ।
अमूर्च्छितो भोजने , मात्रज्ञ एषणारतः॥ २८॥

अन्वयार्थ—(पडिए) पण्डित साधु (अदीणो) दीनता से सर्वथा रहित होकर (विचि) प्राण निर्वाहक वृत्ति की (एसिज्जा) गवेषणा करे—यदि आहार न मिले तो (नविसीइज्ज) विषाद भी न करे, और (मोयणमि) सरस भोजन के मिलजाने पर उसमें (अमुच्छिओ) अमूर्च्छित रहे-अन्तिम बात यह है—(मायण्णे) आहार की मात्रा का जानने वाला प्रवीण मुनि (एसणारए) जो आहार सर्वथा निर्दोष हो—उसी में रत रहे॥ २८॥

मूलार्थ—विद्वान साधु वही है—जो दीनता से रहित होकर, प्राण निर्वाहक आहार वृत्ति की गवेषणा करता है-जो आहार न मिलने पर, कभी खिन्न नहीं होता है-और जो सरस भोजन मिल

जाने पर उस में मूर्छित नहीं होता है। वह आहार की मात्रा का ठीक–ठीक जानने वाला मुनि,
उसी आहार में रत रहता है, जो आहार शास्त्रोक्त विधि से सर्वथा शुद्ध यानी निर्दोष होता है॥ २८॥

भाष्य—संयम पालन के लिये प्राणों की कितनी भारी आवश्यकता है। यह किसी से छुपी
हुई नहीं है। सब कोई विचारशीलसज्जन इस बात को भली भाँति सिद्धान्त रूपेण जानते हैं।
अस्तु-प्राणों की रक्षा किससे होती है? आहार से। अतः संयमी का कर्तव्य है कि-शुद्ध
संयम पालन के लिये, शुद्ध आहार की ही गवेषणा करे दूषित आहार की कदापि इच्छा न करे।
परन्तु-गवेषणा के साथ एक बात और है-वह यह कि-चित्त में किसी प्रकार के दीनता के भाव
न लावे। क्योंकि दीनता के आजाने से शुद्ध आहार की गवेषणा नहीं हो सकती। फिर जैसे तैसे
बस पेट भरने की ही पड़ जाती है।

यदि कभी दीनता रहित वृत्ति के अनुसार आहार पानी नहीं भी मिले, तो साधु को चित्त में
खेद नहीं करना चाहिए। क्योंकि–साधु को मिलजाय तो वाह–वाह और न मिलजाय तो वाह-वाह।
दोनों दशा में आनन्द ही आनन्द है–दुःख की तो बात ही नहीं, फिर न मिलने में रंज कैसा?

साधु को रस–लोलुपी भी नहीं होना चाहिए। साधुता इसी में है कि जैसा कुछ जैसा
आहार मिले, उसी में सन्तोष करे। यह नहीं कि–आहार में कभी स्वादिष्ट पदार्थ मिलजायं तो बस
उसीपर मूर्छित होजाय–डींगें हाँकने लगजाय–एवं अपनी, दान की तथा दातार की तारीफ़ के पुल

पचने लग जाय। यह साधु कैसा, जो सरस नीरस के अपवित्र विचार का अपने पवित्र हृदय में स्थान देता है।

साधु को आहार की मात्रा का जिससे अच्छी तरह क्षुधा निवृत्ति होसके-विचार विमर्श के साथ पूर्ण ज्ञाता होना चाहिए। क्योंकि जो साधु आहार की मात्रा का नहीं जानने वाला है वह या तो इतना थोड़ा आहार लावेगा जिससे क्षुधा निवृत्ति न हो सके और या इतना अधिक आहार लावेगा जिसे भूख की सीमा से बाहर होने के कारण गेरना पड़े। आहार की मात्रा के न जानने वाले मुनि से उद्गम दोष, उत्पादन दोष तथा एषणा के दोषों से रहित शुद्ध आहार की शुद्ध गवेषणा भी नहीं हो सकती।

सूत्रकार का भाव यह है कि जो साधु इस सूत्रोक्त क्रिया का पालक है, वही आत्म साधक हो सकता है—अन्य नहीं। जब साधु के भाव आहार में समभाव-सम हो जाते हैं, तब साधु की वास्तविक गम्भीरता बढ़ जाती है। जिससे फिर वह अपने आत्म कार्य में पूर्ण रूपेण तल्लीन होजाता है। तल्लीनता ही वस्तुतः कार्य की संसाधिका है॥ २८॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, आहार न देने वाले गृहस्थ के प्रति साधु, क्या भावना रक्खे? यह कहते हैं—

बहु परघरे अत्थि, विविहं खाइमं साइमं।
न तत्थ पंडिओ कुप्पे, इच्छा दिज्ज परो न वा॥ २९॥

जाने पर उस में मूर्छित नहीं होता है। वह आहार की मात्रा का ठीक–ठीक जानने वाला मुनि,
उसी आहार में रत रहता है, जो आहार शास्त्रोक्त विधि से सर्वथा शुद्ध यानी निर्दोष होता है॥ २८॥

भाष्य—संयम पालन के लिये प्राणों की कितनी भारी आवश्यकता है। यह किसी से छुपी हुई नहीं है। सब कोई विचारशीलसज्जन इस बात को भली भाँति सिद्धान्त रूपेण जानते हैं।
अस्तु-प्राणों की रक्षा किससे होती है? आहार से। अतः संयमी का कर्तव्य है कि-शुद्ध संयम पालन के लिये, शुद्ध आहार की ही गवेषणा करे दूषित आहार की कदापि इच्छा न करे।
परन्तु-गवेषणा के साथ एक बात और है-वह यह कि-चित्त में किसी प्रकार के दीनता के भाव न लावे। क्योंकि दीनता के आजाने से शुद्ध आहार की गवेषणा नहीं हो सकती। फिर जैसे तैसे बस पेट भरने की ही पड़ जाती है।

यदि कभी दीनता रहित वृत्ति के अनुसार आहार पानी नहीं भी मिले, तो साधु को चित्त में खेद नहीं करना चाहिए। क्योंकि-साधु को मिलजाय तो वाह–वाह और न मिलजाय तो वाह-वाह। दोनों दशा में आनन्द ही आनन्द है-दुःख की तो बात ही नहीं, फिर न मिलने में रंज कैसा?

साधु को रस–लोलुपी भी नहीं होना चाहिए। साधुता इसी में है कि अच्छा बुरा जैसा आहार मिले, उसी में सन्तोष करे। यह नहीं कि-आहार में कभी स्वादिष्ट पदार्थ मिलजाय तो बस उसीपर मूर्छित होजाय-और झोंकने लगजाय-एवं अपनी, दान की तथा दातार की तारीफ के पुल

बहु परगृहेऽस्ति, विविध खाद्य स्वाद्यम् ।
न तत्र पण्डितः कुप्येत्, इच्छा दद्यात् परो न वा ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ—(परघरे) गृहस्थ के घर में (बहुं) बहुत (विविहं) नाना प्रकार के (खाइम) खाद्य तथा (साइम) स्वाद्य पदार्थ (अत्थि) होते हैं, यदि गृहस्थ साधु को वे पदार्थ न देवे तो (पंडिओ) विद्वान साधु (तत्थ) उस गृहस्थ पर (न कुप्पे) क्रोध नहीं करे, परन्तु—यह विचार करे कि- (परो) यह पर-गृहस्थ है इसकी (इच्छा) इच्छा हो तो (दिज्जा) देवे (वा) अथवा इच्छा न हो तो (न) नहीं देवे मुझे इससे क्या ? ॥ २९ ॥

मूलार्थ—गृहस्थ के घर में, नाना प्रकार के खाद्य तथा स्वाद्य पदार्थ तैयार हैं। सो यदि गृहस्थ, साधु को ये पदार्थ नहीं देवे तो साधु को उस गृहस्थ पर क्रोध नहीं लाना चाहिए—बल्कि विचारना चाहिए कि—यह गृहस्थ है, इसकी इच्छा है—दे न दे, मेरा इस में क्या ? ॥ २९ ॥

भाष्य—सन्तोषी साधु, भिक्षा के लिये गृहस्थों के घरों में गया। वहाँ उसने किसी गृहस्थ के घर में देखा कि—नाना प्रकार के खाद्य तथा स्वाद्य पदार्थ तैयार रक्खे हुए हैं।

अस्तु—कभी गृहस्थ भिक्षा में वे पदार्थ नहीं देवे तो साधु को उस गृहस्थ पर किसी प्रकार का दुर्भाव नहीं करना चाहिए—प्रत्युत यही विचारना चाहिए कि—यह गृहस्थ है, इस की चीज है, चाहे दे

चाहे न दे। मैंने इसका कोई काम तो किया ही नहीं, जो मेरा इस पर कुछ अधिकार हो। यह दान में कुछ लाभ समझता है, तो देता है-नहीं समझता है, तो नहीं देता है-यह सब इसकी इच्छा की बात है।

इस प्रकार के शास्त्रीय विचारों से साधु, अपने हृदय को शान्त रक्खे-क्षुभित न होने दे। क्योंकि-क्रोध के करने से साधु का अमूल्य सामायिक व्रत नष्ट हो जाता है।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यदि कोई गृहस्थ प्रत्यक्ष रक्खी हुई भी वस्तु न दे, तो साधु को उसपर क्रोध नहीं करना चाहिए? यह कहते हैं-

सयणासणवत्थं वा , भत्तपाणं व संजए।
अदितस्स न कुप्पिज्जा , पच्चक्खेवि अ दीसओ ॥ ३० ॥

शयनासनवस्त्रं वा , भक्तं पानं वा संयतः।
अददतः न कुप्येत् , प्रत्यक्षेऽपि च दृश्यमाने ॥ ३० ॥

अन्वयार्थ—(संजए) साधु (सयण) शयन (आसण) आसन (वत्थं) वस्त्र (वा) अथवा (भत्त) अन्न (वा) अथवा (पाण) पानी (अदितस्स) न देते हुए गृहस्थ के प्रति (न कुप्पेज्जा)

क्रोध न करे चाहे ये वस्तु (पयक्स्तेचित्र) प्रत्यक्षमी (दीमओ) दिखती हों—यानी चौड़े आखों के सामने रक्खी हों ॥ २६ ॥

मूलार्थ—यदि गृहस्थ प्रत्यक्ष दिखते हुए भी शयन, आसन, वस्त्र और अन्न-पानी आदि पदार्थ न देवे, तो साधु उस गृहस्थ पर जरामी क्रोध न करे ॥ ३० ॥

भाष्य—भिक्षार्थ गये हुए साधु को यदि गृहस्थ सामने प्रत्यक्ष रक्खे हुए भी शयन-शय्या, आसन, पीठ फलक आदि, वस्त्र और अन्न पानी आदि पदार्थ नहीं देवे, तो साधु को उस देने वाले गृहस्थ पर क्रोध नहीं करना चाहिए। यानी मनमें यह भाव कभी नहीं रखना चाहिए कि—देखो यह गृहस्थ कैसा नीच है—कैसा कंजूस है, जो चौड़े सामने इतने पदार्थ रक्खे हुए हैं, फिर भी नहीं देता। बल्कि—हृदय को शान्त रखने के लिए यही भावना करनी चाहिए कि—साधु की वृत्ति याचना करने की है। देना न देना यह तो गृहस्थ के अधिकार की बात है। दान देने से गृहस्थ काही कल्याण होता है, साधु का तो कुछ नहीं। साधु का कल्याण तो अपनी ग्रहण की हुई संयम क्रियाओं के पालन सही होता है। अतः मेरी भोजन-वृत्ति संयम-क्रिया के अनुसार ही होनी चाहिए। इसी में कल्याण है। ३० ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, वन्दना करने वाले स्त्री-पुरुषों से आहार की याचना नहीं करने के विषय में कहते हैं—

इत्थिअं पुरुसं वावि , डहरं वा महल्लगं ।
वंदमाणं न जाइज्जा , नो अणं फरुसं वए ॥ ३१ ॥

स्त्रियं पुरुषं वाऽपि , डहरं (तरुणं) वा महल्लकम् ।
वन्दमानं न याचेत् , न चैनं परुषं ब्रूयात् ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ—साधु (वन्दमाणं) वन्दना करने वाले (इत्थिअं) स्त्रीजन से (वावि) अथवा (पुरुसं) पुरुष व्यक्ति से अथवा (डहरं) तरुण–युवा से अथवा (वा) मध्यमवयवाले से अथवा (महल्लगं) वृद्ध से किसी प्रकार की (नजाइज्जा) याचना नहीं करे, और (अणं) इस आहार न देने वाले को किसी प्रकार का (फरुसं) कठिन वचन भी (नवए) न बोले ॥ ३१ ॥

मूलार्थ—साधु, वन्दना करने वाले स्त्री पुरुष आदि से, किसी प्रकार की याचना न करे। यदि कोई याचित वस्तु न देवे, तो साधु उसको कटुवाक्य भी न कहे ॥ ३१ ॥

भाष्य—भिक्षा के लिए गाँव में गए हुए साधु को, जो कोई स्त्री, पुरुष, युवा, अधेड़, वृद्ध लोग वन्दना करें तो साधु उन से किसी प्रकार की भी याचना न करे। क्यों कि इस प्रकार याचना करने से, वन्दना करने वाले लोगों के हृदय से, साधुओं के प्रति भक्ति-भावना नष्ट होजाती है ।

क्रोध न करे चाहे वे वस्तु (पच्चक्खेविअ) प्रत्यक्षमी (दीसओ) दिखती हों—यानी चौड़े आखों के सामने रक्खी हों ॥ २९ ॥

मूलार्थ—यदि गृहस्थ प्रत्यक्ष दिखते हुए भी शयन, आसन, वस्त्र और अन्न-पानी आदि पदार्थ न देवे, तो साधु उस गृहस्थ पर जरामी क्रोध न करे ॥ ३० ॥

भाष्य—भिक्षार्थ गये हुए साधु को यदि गृहस्थ सामने प्रत्यक्ष रक्खे हुए भी शयन-शय्या, आसन, पीठ फलक आदि, वस्त्र और अन्न पानी आदि पदार्थ नहीं देवे, तो साधु को उस देने वाले गृहस्थ पर क्रोध नहीं करना चाहिए। यानी मनमें यह भाव कभी नहीं लाना चाहिए कि—देखो यह गृहस्थ कैसा नीच है—कैसा कंजूस है, जो चौड़े सामने इतने पदार्थ रक्खे हुए हैं, फिर भी नहीं देता। बल्कि—हृदय को शान्त रखने के लिए यही भावना करनी चाहिए कि—साधु की वृत्ति याचना करने की है। देना न देना यह तो गृहस्थ के अधिकार की बात है। दान देने से गृहस्थ का ही कल्याण होता है, साधु का तो कुछ नहीं। साधु का कल्याण तो अपनी ग्रहण की हुई संयम क्रियाओं के पालन सही होता है। अतः मेरी भोजन-वृत्ति संयम-क्रिया के अनुसार ही होनी चाहिए। इसी में कल्याण है॥ ३० ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, वन्दना करने वाले स्त्री-पुरुषों से आहार की याचना नहीं करने के विषय में कहते हैं—

अन्वयार्थ—साधु (जो) जो गृहस्थ (न वंदे) वन्दना नहीं करे (से) उसपर (न कुप्पे) क्रोध नहीं करे—यदि राजा आदि महान पुरुष (वंदिओ) वन्दना करें तो (नसमुक्कसे) अहंकार न करे (एवं) इसी प्रकार (अन्नेसमाणस्स) जिनाज्ञा—प्रमाण चलनेवाले साधु का (सामण्णं) श्रामण्य—भाव (अणुचिट्ठइ) अखण्ड रहता है ॥ ३२ ॥

मूलार्थ—जो साधु वन्दना नहीं करने वालों से अप्रसन्न और राजा आदि महान् पुरुषों की वन्दना से प्रसन्न नहीं होता, उसी साधु का चारित्र अखण्ड रहता है ॥ ३२ ॥

भाष्य—इस गाथा में साधु वृत्ति का सर्वोत्कृष्ट लक्षण प्रतिपादन किया है। जैसे कि—यदि कोई गृहस्थ, साधु को वन्दना नहीं करता है तो साधु को उसके ऊपर क्रोध नहीं करना चाहिए। क्योंकि गृहस्थ की इच्छा है—वन्दना करे या न करे। वन्दना करने से कुछ लाभ है तो गृहस्थ को ही है—साधु को तो कुछ है ही नहीं, उल्टा कभी नुकसान भले ही होजाय।

तथा यदि किसी राजा आदि द्वारा साधु का अत्यन्त सत्कार होता है अर्थात् किसी मुनि के प्रति राजा आदि लोग पूर्ण भक्ति दिखाते हैं और भक्ति भाव से नम्र हो उसके चरण कमलों का अपने मस्तक से स्पर्श करते हैं, तो उस समय मुनि को अहंकार नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार समभाव पूर्वक जिनाज्ञा के पालनेवाले मुनिका श्रामण्य (साधुत्व) अखण्ड रहसकता है। टीकाकार भी कहते हैं "अन्वेषमाणस्य भगवदाज्ञामनुपालयतः श्रामण्यमनुतिष्ठत्यखण्डमिति"

यदि कदाचित् कारण वश याचना करने पर, कोई वन्दना करने वाला निर्दोष आहार पानी नहीं देवे, तो साधु उसको कठिन वचन न बोले । जैसे कि—वृथा ते वन्दनम्, तेरी यह वन्दना वृथा है। अरे इस झूठी वन्दना में क्या धरा है । यह बगुला भक्ति मुझे अच्छी नहीं लगती । मार्ग लगी चोखी वन्दना करने का तो खूब अभ्यास कर लिया पर कुछ देने का भी अभ्यास किया है ।

किन्हीं प्रतियों में 'वन्दमाण न जाएज्जा' के स्थान में 'वन्दमाणो न जाएज्जा' पाठ मिलता है । उसका अर्थ है कि-'वन्दमानो न याचेत् लक्षिण्याकरणेन' अर्थात् साधु गृहस्थ की स्तुति करके आहार-पानी नहीं ले। जैसे कि-यह गृहस्थ बड़ा ही भद्र है। इस के सदा यही भाव रहते हैं कि-साधु का पात्र यह भरदी दूँ—अपनी खाली न रक्खूँ । क्यों न ऐसे भाव हों-आखिर तो निकट संसारी-मोक्ष गामी जीव है—आदि आदि ।

उत्थानिका—अब सूत्रकार, वन्दना करने वाले और नहीं करने वाले—दोनों पर समान दृष्टि रखने को कहते हैं—

जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे ।
एवमन्नेसमाणस्स, सामण्ण मणुचिट्ठइ ॥ ३२ ॥

यो न वन्दते न तस्मै कुप्येत्, वन्दितो न समुत्कर्षेत् ।
एवमन्वेषमाणस्य, श्रामण्यमनुतिष्ठति ॥ ३२ ॥

मुझ न देंगे, इस लोभ पूर्ण दूषित विचार से प्राप्त हुए सरस आहार को नीरस आहार से ढांपता है ॥ ३३ ॥

भाष्य—कोई साधु भिक्षा के लिए गाँव में गया। वहाँ फिरते हुए किसी घर से उसे सरस और सुन्दर भोजन मिला। तब वह रस लोलुपी लोभी साधु उस सरस आहार को अन्त-प्रान्त-नीरस आहार से ढांप लेता है और मन में यह विचारता है कि—यह आहार प्रशस्त रूप में मुझे मिला है और बड़े कठिन परिश्रम से मिला है। सो यदि गुरु इसे देखलेंगे तो सम्भव है सबका सब स्वयं ही रखलें, मुझे कुछ भी न दें। मैं सब कुछ कर कराकर अन्त में मुंह देखता ही रह जाऊं। अतः मुझे जिस किसी रीति से इस आहार को छिपाना ही श्रेयस्कर है।

अस्तु—उपर्युक्त रीति से आहार के छिपाने का काम माया वृत्ति में शामिल है। अतः आत्मोन्नति की अभिलाषा रखने वाले, मुनियों का कर्तव्य है कि—वे भूलकर भी ऐसा जघन्य कार्य न करें।

यदि यहाँपर कोई आशङ्का करे कि—क्या सभी साधु ऐसा करते हैं, जो इस बात का सूत्रकार ने मुख्य रूप से उल्लेख किया है? उत्तर में कहना है कि—सभी साधु ऐसा नहीं करते। कोई अत्यन्त जघन्य भावों वाला ही ऐसा कार्य करता है। इसीलिए सूत्रकार ने 'एगइओ' यह पद दिया है—जिसका अर्थ होता है 'कोई एक'।

सर्वोत्कृष्ट वृत्ति वाले साधु तो सरस-आहार पर समान भाव रखते हुए जैसा आहार मिलता है, उसे वैसा ही रखते हैं—लोभ से अदल बदल नहीं करते ॥ ३३ ॥

सगवशाख के पालने वाले मुनिकादी साधुत्व अखण्ड रहता है।

अतएव सिद्ध हुआ कि – साधु, वन्दना-अवन्दना की कुछ परवा न करे और अपनी वृत्ति मे सम्यक्तया रखता हुआ संयम क्रिया साधन करे—जिससे पूर्णतया आत्म कल्याण होसके ॥ ३२ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, सरस आहार को गुरु श्री के समक्ष नहीं छिपाना चाहिए, यह कहते हैं—

सिआ एगइओ लद्धु, लोभेण विणिगूहइ ।
मामेय दाइय संत, दट्ठुण सयमायए ॥ ३३ ॥

स्यादेको लब्ध्वा, लोभेन विनिगूहते ।
मा ममेद दर्शितसत्, दृष्ट्वा स्वयमाददयात् ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थ—(सिया) कदाचित् (एगइओ) कोई एक जघन्य साधु (लद्धुं) सरस आहार प्राप्त करके (लोभेण) लोभसे (विणिगूहइ) नीरस आहार के द्वारा सरस आहार को ढांपता है, क्योंकि—वह विचारता है कि—(मेय) यह मुझे मिला हुआ आहार यदि (दाइअ संतं) गुरु को दिखाया गया तो गुरु (दट्ठुण) देखकर (मा सयमायए) ऐसा न हो कि—स्वय ही ले लेवें मुझे न देवें ॥३३॥

मूलार्थ—... यदि यह आहार गुरु श्री देख लेंगे तो स्वयं ही ले लेंगे

मुझे न देंगे, इस लोभ पूर्ण दूषित विचार से प्राप्त हुए सरस आहार को नीरस आहार से ढांपता है ॥ ३३ ॥

भाष्य—कोई साधु भिक्षा के लिये गाँव में गया। वहाँ फिरते हुए किसी घर से उसे सरस और सुन्दर भोजन मिला। तब वह रस लोलुपी लोभी साधु उस सरस आहार को अन्त-प्रान्त-नीरस आहार से ढांप लेता है और मन में यह विचारता है कि—यह आहार प्रत्यक्ष रूप में मुझे मिला है और बड़े कठिन परिश्रम से मिला है। सो यदि गुरु इसे देखलेंगे तो संभव है सबका सब स्वयं ही लेलें मुझे कुछ भी न दें। मैं सब कुछ कर कराकर अन्त में मुँह देखता ही रह जाऊँ। अतः मुझे जिस किसी रीति से इस आहार को छिपाना ही श्रेयस्कर है।

अस्तु-उपर्युक्त रीति से आहार के छिपाने का काम माया वृत्ति में शामिल है। अतः आत्मोन्नति की अभिलाषा रखने वाले, मुनियों का कर्तव्य है कि-वे भूलकर भी ऐसा अधम्य कार्य न करें।

यदि यहाँपर कोई आशङ्का करे कि—क्या सभी साधु ऐसा करते हैं जो इस बात का सूत्रकार ने मुख्य रूप मे उल्लेख किया है? उत्तर में कहना है कि—सभी साधु ऐसा नहीं करते। कोई अत्यन्त जघन्य भावों वाला ही ऐसा कार्य करता है। इसीलिए सूत्रकार ने 'एगइओ' यह पद दिया है—जिसका अर्थ होता है 'कोई एक'।

सर्वोत्कृष्ट वृत्ति वाले साधु तो सरस-आहार पर समान भाव रखते हुए जैसा आहार मिलता है, उसे वैसाही रखते हैं-लोभ से उलट पलट नहीं करते ॥ ३३ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, इस दुष्ट-क्रिया से क्या क्या दोष होते हैं? यह कहते हैं—

अत्तट्ठागुरुओ लुद्धो, बहु पावं पकुव्वइ ।
दुत्तोसओ अ सो होइ, निव्वाणं च न गच्छइ ॥ ३४ ॥

आत्मार्थगुरुको लुब्धः, बहुपापं प्रकरोति ।
दुस्तोषकश्च स भवति, निर्वाणं च न गच्छति ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ—(अत्तट्ठागुरुओ) जिसे केवल अपना स्वार्थ ही सबसे गुरु—बड़ा लगता है, ऐसा उदरभरि (लुद्धो) सुख-लोभी साधु (बहु पाव) बहुत अधिक पापकर्म (पकुव्वइ) करता है (अ) और (सो) वह (दुत्तोसओ) सन्तोष भाव से रहित (होइ) होजाता है। ऐसा साधु (निव्वाणं च) निर्वाण-मोक्ष भी (नगच्छइ) नहीं प्राप्त कर सकता है ॥ ३४ ॥

मूलार्थ—जिसे केवल अपना ही पेट भरना आता है, ऐसा पूर्व सूत्रोक्त रसलोलुप साधु, बहुत अधिक पाप कर्म का बंध करता है। यही नहीं, वह असन्तोषी, निर्वाण पद भी नहीं प्राप्त कर सकता ॥ ३४ ॥

भाष्य—इस गाथा में पूर्व सूत्रोक्त पाप क्रिया करने वाले साधु के दोनों लोकों में निम्नलिखित

द्वारा बतलाये गये हैं-

जो साधु जिह्वा लोभ के वशी भूत होकर सरस आहार के छिपाने की चेष्टा करता है, वह साधु साधु नहीं असाधु शिरोमणि है। यह केवल अपना ही पेट भरने का ध्यान रखता है। दूसरे गुरु जनों के विषय में उसे कुछ भी भक्ति भावना नहीं है।

ऐसा लालची साधु, जरा से भोजन सुख के कारण अनंत संसार बढ़ाकर तीव्र पाप कर्म का बंधन करलता है-जिससे फिर वह चिरकाल तक नाना प्रकार के एक से एक दुःख भोगता है जीभ की गुलामी करने वाला साधु चाहे जैसी कठिन से कठिन क्रियाएं करे, पर क्रियाओं का फल जो मोक्ष है वह उसे नहीं मिलता।

यह ऊपर पारलौकिक दोषों का कथन किया है। ऐहिक लौकिक दोष यह है कि-ऐसा रस लम्पटी साधु कदापि धैर्यवान नहीं हो सकता। भला जो एक भोजन जैसी मामूली चीज पर मूर्च्छित होकर विकल होजाता है वह कैसे अन्य संकटों के समय दृढ़ रह सकेगा?

ऐसी आत्माएं तो बस गिरती-गिरती अन्त में गिरही जाती हैं। इनके उभरने का काम फिर बड़ा ही मुश्किल हो जाता है। खेद है ऐसे क्षुद्र मनोवृत्ति वाले-मनुष्य नाम धारी सज्जन काम पड़ने पर जीभके लिये बड़े से बड़े अकृत्य करने को सहसा तैयार हो जाते हैं। गिरावट ही हुई तो फिर गिरावट की क्या सीमा है? कुछ नहीं।

कहने का तात्पर्य यह है कि—उन्नति की आशा रखने वाले साधुओं का दृढ़ कर्तव्य है कि—वे अपने आपको गिराने वाली-प्रस्तुत दुःशोक जैसी प्रारम्भ में नगण्य जचने वाली और अन्त में सर्वनाश

का भयंकर दृश्य दिखाने वाली—बातों पर पूरा-पूरा ध्यान दें। ऐसी बातों पर उपेक्षा के भाव रखने से सच्ची साधुता नहीं टिक सकती ॥ ३९ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, परोक्ष चोरी करने वाले, यानी सरस आहार को मार्ग में खालेने वाले साधुओं का जिक्र करते हैं—

सिआ एगइओ लद्धु , विविह पाणभोयण ।
भद्दग भद्दग भोच्चा , विवन्न विरसमाहरे ॥ ३५ ॥

स्यादेको लब्ध्वा , विविध पान भोजनम् ।
भद्रक भद्रक भुक्त्वा , विवर्ण विरस माहरेत् ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ—(सिआ) कदाचित् (एगइओ) कोई एक साधु (विविहं) नाना प्रकार के (पाण भोयणं) अन्न और पानी को (लद्धुं) प्राप्त कर (भद्दग भद्दगं) अच्छा-अच्छा (भुच्चा) खाकर (विवन्नं) वर्ण रहित एवं (विरसं) रस रहित निकृष्ट आहार (आहरे) उपाश्रय में ले आवे ॥ ३५ ॥

मूलार्थ—कोई विचार मूढ साधु ऐसा भी करता है कि—भिक्षा में नाना प्रकार का भोजन पानी मिलने पर अच्छे अच्छे सरस पदार्थ तो कहीं कहीं इधर-उधर बैठकर खा पी लेता है और

अवशिष्ट विवर्ण एवं विरस आहार उपाश्रय में लाता है ॥ ३५ ॥

भाष्य—साधु संघ एक समुद्र है। इसमें भाँति-भाँति की मनोवृत्ति वाले साधु होते हैं। कोई अच्छा होता है तो कोई बुरा। कोई लालची होता है तो कोई सन्तोषी। कोई कैसा है तो कोई कैसा होता है। बात यह है कि—अच्छों के साथ बुरे लगे हुए हैं।

यद्यपि सूत्रकारों ने उसी मनुष्य को साधु बनाने के लिये लिखा है जो भद्र हो, जो सन्तोषी हो जो सभी तरह पवित्र हो। फिर भी सर्वज्ञता के अभाव से, पवित्र साधु संघ में अपवित्र—पतित आत्माएँ यदा तदा आकर घुस ही जाती हैं।

ऐसेही पतित आत्माओं को शिक्षा देने के लिये, सूत्रकार कहते हैं कि— भिक्षा के लिये गाँव में गये हुए किसी क्षुद्र बुद्धि साधु को, भाँति-भाँति के सरस नीरस भोजन पदार्थ मिले। सरस पदार्थ के देखते ही साधु के मुंह में पानी भर आता है और विचार करता है कि—यदि मैं, यह सब आहार उपाश्रय में गुरु के समीप ले गया तो, संभव है—यह सरस पदार्थ मुझे मिले या न मिले-नहीं मिलेतो मैं क्या करूंगा ? बस ताकता ही रह जाऊंगा। अतः यही अच्छा है कि-मैं अच्छे-अच्छे पदार्थ यहीं खालूं और बचा हुआ विवर्ण रूपरंग रहित और विरस स्वादुता रहित भोजन उपाश्रय में ले चलूं।

अस्तु—इस विचार को कार्य रूप में परिणत करने वाला—यानी अच्छे अच्छे पदार्थ वहीं खाकर बुरे-बुरे पदार्थ उपाश्रय में लाने वाला साधु, ऐसा क्यों करता है और उसकी क्या अवस्था होती है ? यह अग्रिम सूत्रों में सूत्रकार स्वयं वर्णन करेंगे।

सूत्र में जो 'भद्दगं भद्दगं 'भद्रक भद्रक' शब्द लिखा है, उसका स्पष्ट भाव यह है कि—वे पदार्थ जो सब प्रकार से भद्र हैं अर्थात् कल्याण कारी हैं पथ्य वर्धक हैं। इसके विपरीत विवर्ण और विरस संभवतः प्रसिद्ध है ही ॥ २५ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, वह इस प्रकार क्यों करता है ? यह कहते हैं—

जाणतु ताइमे समणा , आययट्ठी अय मुणी ।
सतुट्ठो सेवए पंत , लूहवित्ती सुतोसओ ॥ २६ ॥

जानन्तु तावदिमे श्रमणा , आयतार्थी अयं मुनिः ।
सन्तुष्टः सेवते प्रान्तं , रूक्षवृत्तिः सुतोष्यः ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—(इमे) ये उपाश्रयस्थ (समणा) साधु (तु) निश्चयही (ता) प्रथम (जाणंतु) मुझे जान कि (अय) यह (मुणी) मुनि (सतुट्ठो) सन्तोष वृत्ति वाला है, इतना ही नहीं किन्तु (सुतोसओ) अन्त प्रान्त आहार के मिलने पर भी सदा ही सन्तोष वाला है तथा (लूहवित्ति) रूक्षवृत्ति वाला भी है, जो (पंत) इस प्रकार के असार पदार्थों का (सेवए) सेवन करता है— भोजन करता है, अस्तु (आययट्ठी) यह मुनि सच्चा मोक्षार्थी है ॥ २६ ॥

मूलार्थ—वह रस लम्पटी साधु, एम भाव रखता है कि—ये अन्य उपाश्रयी साधु मुझे प्रतिभाषी

हाँ ! न यह जानें कि—यह साधु कैसा सन्तोषी और मोक्षार्थी है? जो इस प्रकार के रूखे-सूखे आहार पानी पर ही सन्तोष करता है—जैसा मिल जाता है वैसा ही खा पीकर सन्तुष्ट हो जाता है साधारण का तो कभी मन में विचार तक नहीं लाता। क्यों नहीं, अपनी संयम क्रियाओं में पूर्ण सावधान रहता है ॥ ३८ ॥

भाष्य—वह मार्ग में ही अच्छा-अच्छा सरस पदार्थ खाने वाला पूर्वोक्त साधु, स्वमन में प्रतिष्ठा के भाव रखता हुआ यह विचारता है कि—क्या ही अच्छा काम बना है। स्वाद का स्वाद ले लिया और समाधि के सन्तोषी बने रहे। ये उपाश्रयी साधु मेरे इस अवशिष्ट-नीरस आहार को देख कर यही विचार करेंगे कि—देखो, यह कैसा आत्मार्थी उत्कृष्ट साधु है? लालच पर-रस लोलुपता का तो इसके काम ही नहीं। रूखा-सूखा, ठंडा-बासी, जैसा कुछ मिल जाता है, वैसा ही लेता है और अपने आनन्द के साथ सन्तोष वृत्ति से खा पी लेता है। सरस आहार की इच्छा से जहाँ तहाँ अधिक भ्रमण करना तो यह जानता नहीं। वास्तव में संयम वृत्ति यही है। चाहे लाभ हो—चाहे अलाभ हो पर इसका समभाव कभी भंग नहीं होता। ऐसी ही आत्माएं दुनियाँ में आने का कुछ लाभ उठा जाती हैं। धन्य हैं ऐसे महापुरुष ! धन्य ऐसी आत्माएं !

उपर्युक्त विचार, छल से युक्त और संयम से सर्वथा विरुद्ध हैं। अतः ऐसा कुत्सित विचारक साधु समाज में अपनी प्रतिष्ठा कभी नहीं करपाता ॥ ३६ ॥

उत्थानिका—अब, ऐसा छलनायुक्त भिक्षु पाप कर्म का बंध करता है? यह कहते हैं—

सूत्र में जो 'भद्दगं भद्दगं 'भद्रकं भद्रकं' शब्द लिखा है, उसका स्पष्ट भाव यह है कि—वे पदार्थ जो सब प्रकार से भद्र हैं अर्थात् कल्याण कारी हैं बल वर्धक हैं। इसके विपरीत विवर्ण और विरस सर्वतः प्रसिद्ध है ही ॥ ३५ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, वह इस प्रकार क्यों करता है ? यह कहते हैं—

जाणतु ताइमे समणा, आययट्ठी अय मुणी ।
संतुट्ठो सेवए पंतं, लूहवित्ती सुतोसओ ॥ ३६ ॥

जानन्तु तावदिमे श्रमणा, आयतार्थी अयं मुनिः ।
सन्तुष्टः सेवते प्रान्तं, रूक्षवृत्तिः सुतोष्यः ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थ—(इमे) ये उपाश्रयस्थ (समणा) साधु (तु) निश्चयही (ता) प्रथम (जाणंतु) मुझे जान कि (अयं) यह (मुणी) मुनि (संतुट्ठो) सन्तोष वृत्ति वाला है, इतना ही नहीं किन्तु (सुतोसओ) अन्त प्रान्त आहार के मिलने पर भी बड़ा ही सन्तोष वाला है तथा (लूहवित्ती) रूक्षवृत्ति वाला भी है, जो (पंतं) इस प्रकार के असार पदार्थों का (सेवए) सेवन करता है— भोजन करता है, अस्तु (आययट्ठी) यह मुनि सच्चा मोक्षार्थी है ॥ ३६ ॥

मूलार्थ—यह रस लम्पटी साधु, ऐसा भाव रखता है कि—ये अन्य उपाश्रयी साधु मुझे प्रतिष्ठाकी

अस्तु- उपर्युक्त तेरी इच्छाएँ करने वाला संयमी, प्रधान संक्लेश योग से अत्यंत भारी पाप कर्मों का बंधन करलेता है। इतनाही नहीं, वह उस माया रूप शल्य को भी करलेता है-जिसके होने से यह जीव अनंत काल पर्यंत संसार चक्र में इधर से उधर गेंदकी तरह मारा-मारा परिभ्रमण करता रहता है और वास्तविक स्थान मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

अतएव मोक्षाभिलाषी मुनियों का कर्तव्य है, कि वे उक्त छल प्रपंच की क्रिया न करें। यदि कभी प्रमाद वश करने में आगई होतो गुरुओं के समक्ष उस की स्पष्टता से सम्यगालोचना करके आत्म-विशुद्धि करें। इसी में सच्ची साधुता है ॥ ३० ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मद्यपान का निषेध करते हैं—

सुरं वा मेरगं वावि, अन्नं वा मज्जगं रसं ।
ससक्खं न पिवे भिक्खू, जसं सारक्खमप्पणो ॥ ३८ ॥

सुरां वा मेरकं वाऽपि, अन्यं वा माद्यं रसं ।
ससाक्षिकं न पिबेद्भिक्षु, यशः संरक्षन्नात्मनः ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ—(भिक्खू) साधु (अप्पणो) अपने (जसं) संयम की (सारक्खं) रक्षा करता हुआ (ससक्खं) जिसके परित्याग में, केवली भगवान् साक्षी हैं ऐसी (सुरं) पिष्ट आदि से तैयार की गई

पूयणट्ठा जसोकामी, माणसम्माणकामए ।
बहु पसवई पावं, मायासल्लं च कुव्वइ ॥ ३७ ॥

पूजार्थं यशस्कामी, मानसंमानकामुकः
बहु प्रसूते पापं, मायाशल्यं च करोति ॥ ३७ ॥

अन्वयार्थ—वह (पूयणट्ठा) पूजाका चाहने वाला (जसोकामी) यशका चाहने वाला तथा (माणसम्माणकामए) मान-सम्मानका चाहने वाला साधु (बहुंपावं) बहुत पाप कर्मों को (पसवई) उत्पन्न करता है (च) तथा (माया सल्लं) माया रूपी शल्य भी करता है ॥३७॥

मूलार्थ—पूजा, यश और मान-सम्मान की झूठी कामना करने वाला, पूर्व सूत्रोक्त क्रिया कारक साधु, अत्यन्त भयकर पापकर्मों को तथा मायारूपी शल्य को समुत्पन्न करता है ॥ ३७ ॥

भाष्य—इस गाथा में इस बात का वर्णन है कि-साधु, पूर्वोक्त कष्ट रूप क्रियाएं जो करता है, वह अपने मन में यही समझ कर करता है कि-इससे मेरी स्वपक्ष में तथा पर पक्ष में सामान्य रूप से पूजा प्रसिद्ध हो जायगी। लोग कहेंगे कि-आश्चर्य है। यह साधु, कैसी कठिन क्रियाएँ कर रहा है। धन्य है, शरीर को मिट्टी कर रक्खा है। तथा इस प्रकार सुयश में परिवृद्धि होकर मेरा वन्दना अभ्युत्थान रूप-मान और वस्त्र पात्रादि सत्कार रूप-संमान भी बढ़ेगा।

होता है कि वह अपने चतुर सेना नायक की तमाम आज्ञाओं का पालन करे। यह नहीं कि कुछ का तो पालन करे और कुछ का नहीं। साधु भी धर्म युद्ध का एक सैनिक है। अतः उसे भी अपने सेनापति रूप, पथप्रदर्शक महा पुरुषों की सभी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। यह कौनसी बात कि— अन्य आज्ञाएं तो पालन करता रहे और मादक द्रव्य प्रतिषेध की आज्ञा को मन मानी नीतिसे नष्ट भ्रष्ट करता रहे। जो सैनिक सेना पति की एक भी आज्ञा की अवहेलना करता है, उसका जीवन खतरे में है—यह ध्रुव धारणा प्रत्येक सैनिक के हृदय में निश्चय के वज्र लेख से अङ्कित रहनी चाहिए।

मादक द्रव्य के प्रतिषेध में टीकाकार भी यही कहते हैं सचाक्षिकं सदा परित्याग सारीकेमद्धि प्रतिषिद्ध न पिबन्द्रिशुः।

टीकाकार आगे चलकर इस सूत्रकी व्याख्या के अन्त में ऐसा भी लिखते हैं कि-यह सूत्र ग्लाना पवाद विषयक है, ऐसा अन्य आचार्य मानते हैं। तथा च पाठः— "अन्यतु ग्लानापवाद विषयमेतत्सूत्र मल्प सागारिक विधानेन व्याचक्षते। परन्तु अन्य आचार्यों का यह कथन सर्वथा विपरीत होने से सूत्र सम्मत नहीं है—अतः मान्य नहीं है। सूत्रकार के शब्दों से इस अपवाद की कहीं भी ध्वनि नहीं निकलती।

टीकाकार हरिभद्र सूरिभी अन्य आचार्यों के इस विपरीत मत से किंचित् भी सहमत नहीं है। उन्हों ने जो यहाँ अपनी टीका में इस मतका उल्लेख किया है, वह अपने टीकाकारके पदको अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए किया है। अन्य शब्द देकर टीकाकार स्पष्टतः कहते हैं कि—ऐसा और कोई

मदिरा (वा) अथवा (मेरगं) प्रसन्नाख्या मदिरा (वि) अपि शब्द से नाना प्रकार की मदिराएँ तथा (अन्नं) सुरा प्रायोग्य द्रव्य से उत्पन्न (मज्जग रसं) मादक रस सीधु आदि रूप—इन सब को (नपिवे) नहीं पीवे ॥ ३८ ॥

मूलार्थ—आत्म संयमी साधु–अपने संयम-रूप निर्मल यश की रक्षा करता हुआ, जिसके त्याग में सर्वज्ञ भगवान् साक्षी हैं ऐसे सुरा, मेरक आदि नाना विध मादक द्रव्यों का सेवन (पान) न करे ॥ ३८ ॥

भाष्य—साधु को यदि अपने संयम का विमल यश की सर्वथा रक्षा करनी है तो उसे मादक द्रव्यों का सेवन कभी नहीं करना चाहिए। क्योंकि–संयम ग्रहण करते समय सर्वज्ञ भगवान की साक्षी से मादक द्रव्यों के सेवन का सर्वथा परित्याग किया जाता है। सर्वज्ञ भगवान् त्रिकाल दर्शी हैं। अतः जिसके सामने पहले तो साक्षी मानकर प्रतिज्ञा करना और फिर उसी के सामने प्रतिज्ञा का भंग करना–कितना पशुता का कार्य है ? ऐसे को भी अपन को मनुष्य कह सकते हैं ? मनुष्य वही है जिसके हृदय में अपनी बात की लज्जा है।

तथा मादक द्रव्यों का इस लिए भी सेवन नहीं करना चाहिए कि–वीतरागी केवल-ज्ञानी भगवन्तों ने मादक द्रव्य के सेवन का पूरा-पूरा प्रतिषेध किया है। महान् ज्ञानी पुरुषों द्वारा प्रतिषिद्ध वस्तु के सेवन करने का अर्थ होता है—उन प्रतिषेधक पुरुषों का अपमान करना। लेकिन का कर्तव्य

मूलार्थ—गुरु कहते हैं-हे शिष्यो! जो साधु धर्म से विमुख होकर, एकान्त स्थान में छिपकर मद्यपान करता है और समझता है कि—मुझे यहाँ छिपे हुए को कौन देखता-भालता है, वह भगव दाज्ञा का लोपक होने से पहले सिरे का चोर है। उस मायाचारी के प्रत्यक्ष दोषों को तुम स्वय देखो और अदृष्ट मायारूप दोषों को मेरे से श्रवण करो ॥ ३९ ॥

भाष्य—गुरु श्री, शिष्यों को धर्मोपदेश करते हुए धर्म भ्रष्ट, मद्यपानी साधु के विषय में कहते हैं—हे शिष्यो! यदि साधु मद्यपान करता है, जो सदा हितैषी धर्म रूपी मित्र का साथ छोड़ देता है-उस से विरुद्ध होजाता है। जब तक धर्म मित्रका साथ बना रहता है, तब तक तो साधु से किसी भी काल में ऐसे निन्दनीय दुष्कार्य नहीं होसकते। अतः धर्म से विमुख होना बड़ाही बुरा है। धर्म से विमुख होना मानों अपने आत्मत्व से विमुख होना है।

अस्तु-ऐसा धर्म विमुख-नाम धारी-साधु, मद्यपानार्थ एकान्त गुप्तस्थान में छिपा हुआ यह विचार किया करता है कि-मद्यपान में और कुछ डरतो है ही नहीं। हाँ डर है तो वह एक अपयश का है। सो मैं ऐसे गुप्तस्थान में हूं कि मुझे कोई नहीं देख सकता। लोग देखेंगे जभीतो अपयश होगा वैसे तो होने से रहा।

अस्तु-इस प्रकार के भ्रमित विचार से मद्यपीने वाले साधु की चोर संज्ञा है। सो इस चोर बुद्धि वाले मायावी साधु के सभी निन्दनीय दोषों को-अयि धर्म प्रिय शिष्यो! तुम स्वय देखो, विचारो और उसकी छल क्रिया आदि का वर्णन मुझसे सुनो।

मानते हैं – हम नहीं। हमें तो बिना किसी अपवाद के एक रूपसे ही सर्वथा प्रतिषेध करना अभीष्ट है। देखिए, सपथ्य प्रतिषेध में स्वयं टीकाकार के वाक्य 'अनेन सर्वथा प्रतिषेध उक्तः सदा साक्षिभावात्'। इस गाथा में मद्यपान का सर्वथा निषेध किया है, क्यों कि–इस परित्याग में भगवान् की साक्षी है।

अतः युक्ति–युक्त सिद्ध हुआ कि अन्य आचार्यों का यह अपवाद विषयक कथन, सूत्र सम्मत न होने से किसी भी अंश में प्रमाण भूत नहीं है ॥ ३८ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मद्यपान के दोष बतलाते हैं—

पियए एगओ तेणो , न मे कोइ वियाणइ ।
तस्स पस्सह दोसाइं , नियडिं च सुणेह मे ॥ ३९ ॥

पिबति एककः स्तेन , न मां कश्चिदपि जानाति ।
तस्य पश्यत दोषान् , निकृतिं च शृणुत मम ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ—(एगओ) धर्म से रहित या एकान्तस्थान में (तेणो) भगवदाज्ञा लोपक चोर साधु (पियए) मद्य पीता है और मनमें यह विचारता है कि–मैं यहाँ ऐसा छिपा हुआ हूँ (मे) मुझे (कोइवि) कोईभी (न याणइ) नहीं जानता–नहीं देखता, अस्तु हे शिष्यो! तुम स्वयं (तस्स) उस मद्य पानी के (दोसाइं) दोषों को (पस्सह) देखो (च) और उसकी (नियडिं) मायारूप-निकृति को (मे) मेरे से (सुणेह) सुनो ॥ ३९ ॥

उसका अपयश भी सर्वत्र फैल जाता है (च) फिर सततमदिरापान के अभाव से (अनिव्वाणं) अतृप्ति की भी वृद्धि हो जाती है। किं बहुना मद्य पानी की (सययं) निरतर (असाहुआ) असाधुता ही बढती रहती है ॥ ४० ॥

मूलार्थ—मद्य पानी साधु के—लोलुपता, छल-कपट, झूँठ, अपयश, और अतृप्ति आदि दोष बढते जाते हैं। यानि उसकी निरतर असाधुता ही असाधुता बढती रहती है-साधुता का तो नाम भी नहीं रहता ॥ ४० ॥

भाष्य—मद्य समस्त दुर्गुणों का आश्रय स्थान है ऐसा कौनसा दुगुण है, जो मद्य पानी में नहीं आता। जिन सज्जनों की इच्छा-सब दुर्गुणों को एक ही स्थान पर देखने की हो-वे शौक से देखें सूत्रकार उन्हें मद्य पानी में दिखलाते हैं—

आसक्ता-मद्य पीने से प्रति दिन आसक्ति बढती ही रहती है-घटती नहीं। मद्यप साधु तो मद्य पान की लालसा मिटाने के लिये-यह चाहता है कि, किसी न किसी प्रकार से मद्य बढा चढाकर मैं अपनी तृप्ति करूँ। परन्तु होता क्या है? विपरीत। लालसा शान्त होने के स्थान मे उल्टी भयंकर रूप धारण करती चली जाती है। धँधकती हुई अग्नि में ज्यों-ज्यों घास फूस पड़ती जायगी त्यों-त्यों ही वह अधिकाधिक भीषण रूप पकड़ती चली जायगी। अग्नि, शान्त तभी हो सकती है, जब कि उस में फूस न गेरा जाय।

यदि कोई कहे कि मद्य पीने वालेको मद्यप कहते हैं—चोर नहीं, चोर तो उसे ही कहते हैं जो चोरी करता हो। सो यहाँ सूत्र में मद्य पीने वालेको चोर किस अभिप्राय से कहा? तो उससे कहना चाहिए कि—ठीक है, चोरी करने वाले को ही चोर कहते हैं किसी दूसरे को नहीं। सो बतलाइए, मद्य पीनेवाला भा तो चोरी ही करता है—कुछ साहूकारी तो नहीं? श्री भगवान ने साधुओं को मद्य पीने का सर्वथा निषेध किया है। अतः साधुवेष पहनकर, भगवदाज्ञा तोड़ने से—अन्य कदाचारी पुरुषों के कथन को मानने से-एवं लोगों को धोखे में डालकर स्वार्थ साधने से—मद्यपानी साधु को जितना भी चोर-शिरोमणि कहाजाय उतना ही सच्चा है कुछ भी झूंठ नहीं ॥ ३९ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मद्यपानी के लोलुपता आदि दुर्गुणों के विषय में कहते हैं—

> वड्ढई सुंडिआ तस्स , मायामोसं च भिक्खुणो ।
> अयसो अ अनिव्वाणं , सययं च असाहुआ ॥ ४० ॥
>
> वर्द्धते शौण्डिका तस्य , माया मृषा च भिक्षो ।
> अयशश्च अनिर्वाणं , सततं च असाधुता ॥ ४० ॥

अन्वयार्थ—(तस्स) उस मदिरा पानी (भिक्खुणो) भिक्षु का (सुंडिआ) आसक्त पना (वड्ढई) बढ़जाता है और इसी प्रकार (मायामोसं) माया तथा मृषावाद भी बढ़जाता है तथा (अयसो)

तो समझो साधु का सर्वस्व ही नष्ट होगया-साधु के पास सिवा साधुता के और रक्खाही क्या है ? जिस के बलपर वह ' हु ' कारका दम भर सके ?

उपर्युक्त आसक्ता माया मृषा आदि दुर्गुणों की तरफ लक्ष्य रहते हुए संयमी को मद्य से सर्वथा अलग-थलग रहना चाहिए। साधु वही है जो मादक द्रव्यों के पान को विषपान के समान समझता है—जिसे इनके नाम से घृणा आती है ॥ ४० ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मद्यप साधुकी अन्तिम समय की संवराराधना का निषेध कहते हैं—

निच्चुव्विग्गो जहा तेणो , अत्तकम्मेहिं दुम्मई ।
तारिसो मरणंतेवि , न आराहेइ संवरं ॥ ४१ ॥

नित्योद्विग्नो यथास्तेनः , आत्म कर्मभिर्दुर्मतिः ।
तादृशो मरणान्तेऽपि , नाराधयति सम्वरम् ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ (जहा) जैसे (तेणो) चोर (निच्चुव्विग्गो) सदा उद्विग्न घबराया हुआ रहता है ठीक वैसे ही (दुम्मई) दुर्बुद्धि साधु (अत्तकम्मेहिं) अपने दुष्ट कर्मों से सदा उद्विग्न रहता है (तारिसो) सो ऐसा दुष्कर्म कारक मद्यप साधु (मरणंतेवि) मरणांत दशा में भी (संवरं) सम्वरकी

माया मृषा—मद्यप साधु दगाबाजी और झूंठ का दोषण भी पूरा पूरा लगता है। क्योंकि समाजिक भय से प्रत्यक्ष में तो मद्य पी नहीं सकता अतः कहीं छुप-छिपकर सो प्रपंच लगाकर यह काम करना होता है। सो यह तो हुई माया। और दूसरे मद्यपान के पश्चात् होने वाली क्रियाओं से आशंकित लोगों के यह पूछने पर कि क्या तुम मद्य पीते हो? यही कहता है कि क्या कहा मद्य? नाम भी न लो। साधु और फिर मैं मद्य पीऊं? तुम्हें कहते हुए भी लज्जा नहीं आई? प्रत्यक्ष में तो क्या, ऐसा तो स्वप्नमें भी नहीं होता—यह हुआ झूंठ।

अपयश—मद्य पानी मनुष्यों का सभ्य संसार में कितना अपयश होता है? यहतो प्रसिद्ध है ही, और फिर उस में साधु-अपयश का कहना ही क्या? भला जिसका जीवन सबसे पवित्र माना जाय और वह ऐसा काम करे। ऐसे का अपयश नहीं तो फिर किस का हो?

अतृप्ति—अतृप्ति का अर्थ होता है 'अभिप्रेत वस्तु के न मिलने से होने वाला असंतोष—दुःख'। जो साधुका बेष खास। ऐसी गन्दी वस्तु भी चाहे तब नहीं मिलसकती-किसी निजी यार दोस्त के हाथ ही कभी कभी अवसरलगता है। अतः जब मद्य नहीं मिलेगा तब साधु को बहुत अधिक दुःख उठाना पड़ेगा। मद्य प्रेमी का शरीर उस थकी घोड़े के समान होजाता है-जो चाबुक की मार पड़ती रहती है, तब तक तो चलता रहता है और जहाँ चाबुक की मार बंद हुई नो, पड़ा हुआ ना।

असाधुता—संक्षिप्त में इसने का सार यह है कि-मद्यपान से ज्यों ज्यों बढती है त्यों असाधुताही बढ़ती रहती है। जहाँ असाधुता की वृद्धि होती है वहाँ बिचारी साधुता का रहना कैसा? साधुता का और असाधुता का तो परस्पर दिनरात जैसा स्वभावी वैर है। अस्तु—अब साधु की साधुता नष्ट होजाती

तो समझो साधु का सर्वस्व ही नष्ट होगया-साधु के पास सिवा साधुता के और रक्खाही क्या है ! जिस के बलपर वह 'हु' कारका दम भर सके !

उपर्युक्त आसक्ता माया मृषा आदि दुर्गुणों की तरफ लक्ष्य रखते हुए संयमी को मद्य से सर्वथा अलग-थलग रहना चाहिए। साधु वही है जो मादक द्रव्यों के पान को विषपान के समान समझता है—जिसे इनके नाम से घृणा आती है ॥ ४० ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मद्यप साधुकी अन्तिम समय की सवराराधना का निषेध करते हैं—

निच्चुव्विग्गो जहा तेणो , अत्तकम्मेहिं दुम्मई ।
तारिसो मरणंतेवि , न आराहेइ संवरं ॥ ४१ ॥

नित्योद्विग्नो यथास्तेनः , आत्म कर्मभिर्दुर्मतिः ।
तादृशो मरणान्तेऽपि , नाराधयति सम्वरम् ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ (जहा) जैसे (तेणो) चोर (निच्चुव्विग्गो) सदा उद्विग्न घबराया हुआ रहता है ठीक वैसे ही (दुम्मई) दुर्बुद्धि साधु (अत्तकम्मेहिं) अपने दुष्ट कर्मों से सदा उद्विग्न रहता है (तारिसो) सो ऐसा दुष्कर्म कारक मद्यप साधु (मरणंतेवि) मरणांत दशा में भी (संवर) संवरकी

(नाराहेइ) आराधना नहीं करसकता ॥ ४१ ॥

मूलार्थ—मद्यपानी दुर्बुद्धि साधु, अपने किये कुकर्मों से चोर के समान मन उद्विग्न—अशान्तचित्त रहता है। वह अन्तिम समय पर भी संवर चारित्र की आराधना नहीं करसकता ॥ ४१ ॥

भाष्य—जिस प्रकार चोर का चित्त सदैव उद्विग्न—अशान्त बना रहता है ठीक उसी प्रकार मदिरा पान करने वाले भिक्षु का चित्त भी सदा अशान्त बना रहता है। तथा वह अपने कर्मों द्वारा घोर कष्टों का सामना भी करता रहता है। इतना ही नहीं, किन्तु उसकी आत्मा दुर्मति से इतनी घनी मलिन हो जाती है, कि जिससे वह मृत्यु का समय समीप आजाने पर भी संवर-चारित्र मार्ग की समाराधना नहीं करसकता। जिनका हृदय सदा दुष्कर्म पङ्क से मलिन रहता है, उनके हृदय में संवर बीजका अङ्कुर प्रकट कैसे हो सकता है ? कभी नहीं।

सूत्रकारने जो चोरका दृष्टान्त दिया है, उसका कारण यह है कि-चोर दिन रात सदा उद्विग्न, भयभीत शङ्कित और प्रकंपित रहता है। ठीक उसी प्रकार मदिरा पान करने वाला साधु भी। वस्तुतः चोर के उदाहरण से मद्यप साधु का छिपा हुआ चित्र स्पष्टतः व्यक्त है ॥ ४१ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मदिरा पानी साधु की गृहस्थ लोग भी निन्दा करते हैं ? यह कहते हैं—

आयरिए नाराहेइ , समणे आवि तारिसो ।
गिहत्था वि ण गरिहति, जेण जाणति तारिस ॥ ४२ ॥

आचार्यान्नाराधयति, श्रमणांश्चापि तादृशान् ।
गृहस्था अप्येनं गर्हन्ते, येन जानन्ति तादृशम् ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ—(तारिसो) मदिरा पानी साधु (आयरिए) आचार्यों की आराधना नहीं करता तथा (समणे आवि) साधुओं की भी आराधना नहीं करता। अस्तु औरतो क्या (गिहत्था अवि) गृहस्थ भी (एण) इस साधु की (गरिहति) निन्दा करते हैं (जेण) जिससे कि वे (तारिसं) उस दुष्ट चारित्री को (जाणति) जानते हैं ॥ ४२ ॥

मूलार्थ—विचार मूढ मद्यप साधु से, नतो आचार्यों की आराधना होसकती है और न साधुओं की। ऐसे साधु की तो गृहस्थ-जो साधुओं के पूरे प्रेमी भक्त होते हैं—वे भी निन्दा ही करते हैं, क्योंकि वे उस दुष्कर्मी को अच्छी तरह जानते हैं ॥ ४२ ॥

भाष्य—इस गाथा में उक्त दुराचारी का पेह लौकिक फल वर्णन किया गया है-जैसे कि—वह मदिरा पान करनेवाला साधु, अपने शासक आचार्यों की आराधना नहीं करसकता। आचार्यों-

की ही नहीं किन्तु, साथी साधुओं की भी आराधना नहीं करसकता । सदैव काल उसके अशुभ भाव बने रहते हैं।

तथा उस दुराचारी मुनि की गृहस्थ लोगभी निन्दा करते हैं कि-'देखो, यह साधु कैसा नीच है? सिंह के वेष में गीदड़ के काम करता है।' लोग कहते भी हैं सचोकठ-जो जैसा देखता है ऐसा ही करता है। साधु तो समझता है कि मुझे ऐसा कौन जानता है, परन्तु गृहस्थ लोग उसकी सब काली करतूत जानते हैं। क्योंकि-चाहे कितनाही छिपाकर काम करो, पाप छिपा हुआ रह नहीं सकता-पाप का भंडा फूटकर ही रहता है।

मूल आशय यह है कि—दुराचारी साधु न तो धर्म की आराधना करसकता है और न धार्मिक महापुरुषों की। दुराचारता के कारण उसके मस्तक पर ऐसा कलंक का काला टीका लगजाता है जिससे वह जिस तरफ निकलता है, उसी तरफ उस पर लोगों की तिरस्कार सूचक उंगलियां उठती चली जाती हैं। निन्दित मनुष्यका भी कुछ जीवन में जीवन है-ऐसे जीवन से तो मृत्यु ही अच्छी है बहुत अच्छी है ॥ ४२ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, उक्त विषय का उपसंहार करते हैं—

एवं तु अगुणप्पेही , गुणाणं च विवज्जए ।
तारिसो मरणंतेवि , ण आराहेइ संवरं ॥ ४३ ॥

एवंतु अगुणप्रेक्षी, गुणाना च विवर्जकः ।
तादृशः मरणान्ते पि, नाराधयति सम्वरम् ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ—(एवंतु) उक्त प्रकार से (अगुणप्पेही) अवगुणों को देखने वाला धारण करने वाला (च) और (गुणाण) गुणों को छोड़ने वाला (तारिस) वह भेष धारी साधु (मरणंतेवि) मृत्यु समय में भी (सवरं) सम्वर का (णआराहेइ) आराधक नहीं होता ॥ ४२ ॥

मूलार्थ—ऐसा अवगुणों को धारण करने वाला और सद्गुणों को छोड़ने वाला मूढमति साधु, और तो क्या मृत्यु समय में भी सम्वर का आराधक नहीं हो सकता है ॥ ४२ ॥

भाष्य—केवल वेष परिधान से मुक्ति नहीं हो सकती वेष के साथ गुण अतीव आवश्यक हैं। वेष शरीर है, तो गुण जीवन है-बिना जीवन के शरीर मुर्दा है। कुछ कर नहीं सकता।

अस्तु—जो केवल वेष मात्र से उदर भरी भरने वाला है एवं क्षमा, दया, इन्द्रिय निग्रहता आदि सद्गुणों को छोड़कर भोग विलास आदि अवगुणों को स्वीकार करने वाला, हिताहित ज्ञान शून्य साधु है—वह अन्य समय में तो क्या, उस मृत्यु के समय भी धर्म का आराधन नहीं कर सकता, जिस समय धर्म का आराधन करना सभी शास्त्र सम्मत एवं बहुत आवश्यक है। अर्थात् उस भव पानी का अन्तसमय नहीं सुधरता।

की ही नहीं किन्तु, साथी साधुओं की भी आराधना नहीं करसकता। सदैव काल उसके अशुभ भाव बने रहते हैं।

तथा उस दुराचारी मुनि की गृहस्थ लोगभी निन्दा करते हैं कि-'देखो, यह साधु कैसा नीच है जो लिंग के वेष में नीचता के काम करता है।' लोग कहते भी हैं सचोवात-जो जैसा देखता है वैसा ही कहता है। साधुतो समझता है कि मुझे ऐसा कौन जानता है, परन्तु गृहस्थ लोग उसकी सब काली करतूत जानते हैं। क्योंकि-चाहे कितनाही छिपाकर काम करो, पाप छिपा हुआ रह नहीं सकता-पाप का भांडा फूटकर ही रहता है।

मूल आशय यह है कि—दुराचारी साधु न तो धर्म की आराधना करसकता है और न धार्मिक महा पुरुषों की। दुराचारता के कारण उसके मस्तक पर ऐसा कलंक का काला टीका लगजाता है जिससे वह जिस तरफ निकलता है, उसी तरफ उस पर लोगों की तिरस्कार सूचक उंगलियां उठती चली जाती हैं। निन्दित मनुष्यका भी कुछ जीवन में जीवन है-ऐसे जीवन से तो मृत्यु ही अच्छी है बहुत अच्छी है॥ ४२॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, उक्त विषय का उपसंहार करते हैं—

एवं तु अगुणप्पेही , गुणाणं च विवज्जए।
तारिसो मरणंतेवि , ण आराहेइ संवरं ॥ ४३ ॥

है और मद्यपान के प्रमाद से भी सर्वथा पराङ्मुख रहता है। तथा ऐसा यह तपस्वी साधु, घोर तपस्वी होकर भी कभी अपने तपस्वीपनका गर्व नहीं करता ॥ ४४ ॥

भाष्य—जो बुद्धि युक्त वा मर्यादावती साधु हैं वेसा सदैव काल १२ प्रकार के तपः कर्म में रक्त रहते हैं। यही नहीं-तप की पूर्ति के लिये स्निग्धरस का भी परित्याग कर देते हैं। साथ ही मद्य पान से सर्वथा विलग होकर-निर्घृस होकर परम तपस्वी भी होजाते हैं-तपस्वी भी ऐसे वैसे नहीं जिनके हृदय में कभी यह गर्व नहीं होता कि "मैं ही उत्कृष्ट तप करनेवाला पवित्र भिक्षु हूँ।"

मदिरा शब्द उपलक्षण है-अतः यह निषेध सभी मादक द्रव्यों के विषय में जानना चाहिए। मादक द्रव्यों में मद्य का प्रधान पद है, सो सूत्रकार प्रथम उत्कृष्ट-नामी पदार्थों के विषय में ही कह दिया करते हैं। सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्ना।

तथा सूत्रकार ने जो इसी सूत्र में 'मज्जप्पमाय विरओ' पद दिया है, उसका भी यही भाव होता है कि-साधु जितने भी मद उत्पन्न करने वाले पदार्थ हैं सभी से विरक्त रहे।

यदि यहाँ कोई ऐसा कहे कि, अन्न आदि के सेवन से भी तो कभी उन्मत्तता आजाती है, तो क्या इससे अन्न आदि पदार्थ भी नहीं खाने चाहिए? इसके उत्तर में कहना है कि—जिस प्रकारकी उन्मत्तता मदिरा पान आदि के आसेवन से होती है, उस प्रकार की अन्न आदि से कभी नहीं हो सकती। अन्नादि का सेवन सात्त्विक गुणवाला है और मदिरा आदि का सेवन तमो गुण वाला है। अस्तु दोनों का मुकाबला कैसा? मदिरा आदि राक्षसी पदार्थ होनेसे सर्वथा त्याज्य हैं और अन्न आदि

अतः जिस व्यक्ति की आत्मा, मादकीय उन्मत्तता के कारण सदा संक्लिष्ट रही है, उसे वे मे वस्तुतः कब धार्मिक क्रियाओं के पालन का ध्यान आसकता है। अन्तसमय प्रायः उसी का सुधरता है, जिसका पहला समय भी सुधरा हुआ आता है ॥ ४३ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मद्य पान के त्याग का महात्म्य वर्णन करते हैं—

तवं कुव्वइ मेहावी , पणीअं वज्जए रसं ।
मज्जप्पमायविरओ , तवस्सी अइ उक्कसो ॥ ४४ ॥

तपः करोति मेधावी , प्रणीतं वर्जयति रसम् ।
मद्यप्रमादविरतः , तपस्वी अत्युत्कर्षः ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ—(मेहावी) बुद्धिमान, मर्यादावर्ती साधु (तवं) उज्ज्वल तप (कुव्वइ) करता है तथा आहार में (पणीअं) स्निग्ध (रसं) रस (वज्जए) छोड़ता है। इतना ही नहीं किन्तु (मज्जप्पमाय विरओ) मद्य पानके प्रमाद से रहित (तवस्सी) तपस्वी है। तपस्वी भी कैसा (अइ उक्कसो) 'मैं तपस्वी हूँ' इस उत्कर्ष (अहंकार) से रहित-अर्थात् जो तपस्वीपने का किसी प्रकार का भी अहंभाव नहीं रखता ॥ ४४ ॥

मूलार्थ—बुद्धिमान साधु वही है-जो सदा तपक्रियाएँ करता है- कामोत्पादक स्निग्धरस छोड़ता

है और मद्यपान के प्रमाद से भी सर्वथा पराङ्मुख रहता है। तथा ऐसा यह तपस्वी साधु, घोर तपस्वी होकर भी कभी अपने तपस्वीपनका गर्व नहीं करता ॥ ४४ ॥

भाष्य—जो बुद्धि युक्त या मर्यादावर्ती साधु हैं वेता सदैव काल १२ प्रकार के तपः कर्म में रक्त रहते हैं। यही नहीं-तप की पूर्ति क लिये स्निग्धरस का भी परित्याग कर देते हैं। साथ ही मद्य पान से सर्वथा विलग होकर निर्वृत्त होकर परम तपस्वी भी होजाते हैं-तपस्वी भी ऐसे वैसे नहीं जिनक हृदय में कभी यह गर्व नहीं होता कि "मैं ही उत्कृष्ट तप करनेवाला पवित्र भिक्षु हूँ।"

मदिरा शब्द उपलक्षण है-अतः यह निषेध सभी मादक द्रव्यों के विषय में जानना चाहिए। मादक द्रव्यों में मद्य का प्रधान पद है, सो सूत्रकार प्रथम उत्कृष्ट-नामी पदार्थों के विषय में ही कह दिया करते हैं। 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्ना।'

तथा सूत्रकार ने जा इसी सूत्र में "मज्जप्पमाय विरओ पद दिया है, उसकाभी यही भाव होता है कि-साधु जितने भी मद उत्पन्न करने वाले पदार्थ हैं, सभी से विरक्त रहे। ॥

यदि यहाँ कोई ऐसा कहे कि, अन्न आदि के सेवन से भी तो कभी उन्मत्तता आजाती है, तो क्या इससे अन्न आदि पदार्थ भी नहीं खाने चाहिए? इसके उत्तर में कहना है कि—जिस प्रकारकी उन्मत्तता मदिरा पान आदि के आसेवन से होती है, उस प्रकार की अन्न आदि से कभी नहीं हो सकती। अन्नादि का सेवन सात्विक गुणवाला है और मदिरा आदि का सेवन तमो गुण वाला है। भला दोनों का मुकाबला कैसा? मदिरा आदि राक्षसी पदार्थ होनेसे सर्वथा त्याज्य हैं और अन्न आदि

मानुषी पदार्थ होने से संयम रक्षार्थ मान्य हैं। हाँ, अशनादि का सेवन भी प्रमाण से बाहिर नहीं होना चाहिए।

उत्थानिका—अबफिर इसी विषय में कहा जाता है–

तस्स पस्सह कल्लाण , अणेगसाहुपूइअं ।
विउल अत्थ सजुत्त , कित्तइस्स सुणेह मे ॥ ४५ ॥

तस्य पश्यत कल्याण , अनेक साधु पूजितम् ।
विपुलमर्थ सयुक्त , कीर्तयिष्ये शृणुत मे ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थ—(तस्स) उस साधुके (अणेग साहु पूइअं) अनेक साधुओं से पूजित फिर (विउलं) मोक्षका अवगाहन करने से विपुल (अत्थसजुत्त) मोक्ष के अर्थ से युक्त (कल्लाण) कल्याण रूपको (पस्सह) देखो, मैं उसके गुणों का (कित्तइस्सं) कीर्तन करूँगा सो (मे) मुझ से (सुणेह) तुम श्रवण करो ॥ ४५ ॥

मूलार्थ—हे शिष्यो! तुम उस साधु के कल्याण रूप सयम को देखो-जो अनेक साधुओं से पूजित है-मोक्षका अवगाहन करने वाला है, तथा मोक्ष के अर्थ का साधक है। उसके गुणों का मैं कीर्तन करूँगा-सो तुम मुझसे सावधान होकर सुनों ॥ ४५ ॥

भाष्य—गुरु कहते हैं कि-हे शिष्यो ! तुम उस साधु के गुण संपदा रूप संयम को देखो-जो अनेक साधुओं द्वारा पूजित है आसेवित है। और जो मोक्षका अवगाहन करनेवाला है अतः विपुल है। तथा जो असार पौद्गलिक सुखोंका साधक न होकर-परम सार निरुपम मोक्ष सुखका साधक है। उस पवित्र मुनि के गुणों का मैं कीर्तन करूगा सो तुम दत्तचित्त होकर मुझ से श्रवण करो।

गुण सागर मुनियों के गुणों के श्रवण से आत्मा में वह अद्भुत क्रान्ति होती है जिस से पामर नगण्य मनुष्य भी एकदिन त्रिलोक वद्य हो जाते हैं।

इस गाथा के देखने से यह निश्चय हुए बिना नहीं रहता कि-जिस आत्मा ने मद्यपान और प्रमाद का परित्याग करदिया है, उस आत्मा में निश्चय ही अनेक एकसे एक उत्तरोत्तर सुन्दर गुण एकत्र होजाते हैं। जिससे वह अनेक साधुओं का पूजित होजाता है। इतना ही नहीं, किन्तु दुष्प्राप्य मोक्षका भी साधक बनजाता है ॥ ४५ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, सद्गुणी साधुकी सवराराधना की सफलता के विषय में कहते हैं—

एव तु स गुणाप्पेही , अगुणाण च विवज्जए ।

तारिस मरणंतेवि , आराहेइ सवर ॥ ४६ ॥

मोज्ञुपी पदार्थ होने से संयम यथार्थ मात्र हैं। हाँ अन्नादि का सेवन भी प्रमाण से बाहिर नहीं होना चाहिए।

उत्थानिका—अबफिर इसी विषय में कहा जाता है—

तस्स पस्सह कल्लाण , अणेगसाहुपूइअ ।
विउल अत्थ सजुत्त , कित्तइस्स सुणेह मे ॥ ४५ ॥

तस्य पश्यत कल्याण , अनेक साधु पूजितम् ।
विपुलमर्थ सयुक्त , कीर्तयिष्ये शृणुत मे ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थ—(तस्स) उस साधुके (अणेग साहु पूइअ) अनेक साधुओं से पूजित फिर (विउलं) मोक्षका अवगाहन करने से विपुल (अत्थसजुत्तं) मोक्ष के अर्थ से युक्त (कल्लाणं) कल्याण रूपको (पस्सह) देखो, मैं उसके गुणों का (कित्तइस्स) कीर्तन करूँगा सो (मे) मुझ से (सुणेह) तुम श्रवण करो ॥ ४५ ॥

मूलार्थ—हे शिष्यो! तुम उस साधु के कल्याण रूप सयम को देखो-जो अनेक साधुओं से पूजित है-मोक्षका अवगाहन करने वाला है, तथा मोक्ष के अर्थ का साधक है। उसके गुणों का मैं कीर्तन करूँगा-सो तुम मुझसे सावधान होकर सुनो ॥ ४५ ॥

सूत्रगत 'गुण' और अवगुण' शब्द से क्रमशः अप्रमाद, क्षमा, दया, सत्यता, सरलता, इन्द्रिय निग्रहता आदि और प्रमाद, अविनय, क्रोध, मसाय रस लोलुपता विकथा प्रियता आदि का ग्रहण है ॥ ४६ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, सद्गुणी साधु की पूजा-प्रतिष्ठा के विषय में कहते हैं—

आयरिए आराहेइ, समणे आवि तारिसो।
गिहत्थावि णपूयंति, जेण जाणंति तारिस ॥ ४७ ॥

आचार्यानाराधयति, श्रमणांश्चापि तादृश।
गृहस्था अप्येनं पूजयन्ति, ये न जानन्ति तादृशम् ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थ—(तारिसो) ऐसा गुणवान् साधु (आयरिए) आचार्यों की (आराहेइ) शुद्ध भावसे कल्याण कारी आराधना करता है, इसी प्रकार (समणे आवि) सामान्य साधुओं की भी आराधना करता है तथा (गिहत्थावि) गृहस्थ लोग भी (णं) इस पवित्र साधु की (पूयंति) पूजा करते हैं (जेण) जिस कारण से गृहस्थ लोग (तारिस) तादृश-शुद्ध धर्मी को (जाणंति) जानते हैं ॥ ७ ॥

मूलार्थ—गुणवान् साधु, आचार्यों की एवं अन्य सामान्य साधुओं की भी सम्यक्तया आराधना

एव तु स गुणप्रेक्षी , अगुणानां च विवर्जकः ।
तादृशो मरणान्तेऽपि, आराधयति सम्वरम् ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थ—(एवंतु) उक्त प्रकार से (स) वह (गुणप्पेही) गुणों को देखने वाला (च) तथा (अगुणाण) अवगुणों को (विवज्जए) छोड़ने वाला (तारिसो) तादृश शुद्धाचारी साधु (मरण तेवि) मृत्यु के समय पर भी निश्चय ही (सवंर) चारित्र धर्म की (आराहेइ) आराधना करलेता है ॥४६॥

मूलार्थ—उक्त प्रकार से जो साधु, सद्गुणों को धारण करने वाला और दुर्गुणों को छोड़ने वाला है, वह अन्तिम-मृत्यु समय में भी स्वीकृत चारित्र की सम्यक् आराधना करता है ॥४६॥

भाष्य—जो साधु सद् गुणों का धारक, दुर्गुणों का परिहारक एवं सदैव काल मनः करण की शुद्ध वृत्ति का संरक्षक है, वह अन्य समय तो क्या–जो समय उद्विग्नता-विकलता का होता है उस मृत्यु के समय में भी चारित्र धर्म की पूर्णतया समाराधना करलेता है।

कारण कि- सदैव काल शुद्ध-बुद्धि बनी रहने से हृदय में चारित्र धर्म का बीज इस प्रकार दृढ़ता के साथ अंकुरित होजाता है–जो आगे-आगे अधिकाधिक पल्लवित होता रहता है। उसे घोर से घोर मृत्यु-जैसे संकट की प्रचंड आँधी भी नष्ट नहीं कर सकती।

इसी लिये सूत्रकारने सूत्र में 'तारिसो'—'तादृशः' पद पढ़ा है कि-उक्त गुणोपेत, शुद्ध संयम धारी मुनि संवर—चारित्र धर्म का पूर्ण आराधक हो जाता है।

सूत्रगत 'गुण और अवगुण' शब्द से क्रमशः अप्रमाद, क्षमा, कृपा, सत्यता सरलता, इन्द्रिय निग्रहता आदि और प्रमाद, अविनय, क्रोध, मत्सर, रस लोलुपता विकथा प्रियता आदि का ग्रहण है ॥ ४६ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, सद्गुणी साधु की पूजा-प्रतिष्ठा के विषय में कहते हैं—

आयरिए आराहेइ, समणे आवि तारिसो।
गिहत्थावि णपूयंति, जेण जाणंति तारिसं ॥ ४७ ॥

आचार्यानाराधयति, श्रमणांश्चापि तादृशः।
गृहस्था अप्येनं पूजयन्ति, ये न जानन्ति तादृशम् ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थ—(तारिसो) ऐसा गुणवान् साधु (आयरिए) आचार्यों की (आराहेइ) शुभ भावसे कल्याण करी आराधना करता है, इसी प्रकार (समणे आवि) सामान्य साधुओं की भी आराधना करता है तथा (गिहत्थावि) गृहस्थ लोग भी (एणं) इस पवित्र साधु की (पूयंति) पूजा करते हैं (जेण) जिस कारण से गृहस्थ लोग (तारिसं) तादृश-शुद्ध धर्मी को (जाणंति) जानते हैं ॥ ७ ॥

मूलार्थ—गुणवान् साधु, आचार्यों की एवं अन्य सामान्य साधुओं की भी सम्यक्तया आराधना

करलेता है। ऐसे गुणी साधु की गृहस्थ लोग भी भक्ति भावसे पूजा-सेवा करते हैं, क्योंकि गृहस्थ उस शुद्धसंयमधारी को भले प्रकार जानते हैं ॥ ४७ ॥

भाष्य—गुणवान् साधु, आज्ञा पालन द्वारा अपने धर्माचार्यों की आराधना करता है, ठीक इसी प्रकार विनय भक्ति सेवा शुश्रूषा द्वारा अन्य साथी साधुओं की भी सम्यकया आराधना करलेता है। उस में इतना अधिक नम्रता का गुण होता है कि जिससे वह भूलकर भी कभी यह नहीं विचार करता कि 'ये साधु मेरे से अधिक क्या गुण रखते हैं मैं इनकी क्यों सेवा करू।' वह सदैव यही विचारता है कि इस नश्वर शरीर से जितनी भी सेवा कीजाय उतनीही थोड़ी। शरीर अमर नहीं सेवा अमर है।

ऐसे गुणवान साधु की गृहस्थ लोक भी पूजा—वन्दना नमस्कार करते हैं और समक्ति भाव वस्त्र पात्रादि मुनियोग्य वस्तु की निमंत्रणा भी करते हैं। कारण कि वे मुनि को जिस प्रकार से गुणवान् देखते हैं, उसी प्रकार से पूजा-सत्कार करते हैं।

इस गाथा से यह भली भाँति सिद्ध होजाता है कि—वस्तुतः गुणोंकाही पूजन है-किसी भेषका मामला तथा सम्बन्ध का नहीं। "गुणाः पूजास्थानं गुणिषुनच लिङ्ग न च वयः।"

इसलिये समस्त मुनियों को योग्य है कि वे अपनी मुनिवृत्ति में यदि कभी किसी प्रकार की न्यूनता देखें तो झट पट उस न्यूनता को दूर कर स्ववृत्ति की पूर्ति करें—अन्यथा गृहस्थों से तिरस्कृत अपमानित होना पड़ेगा। एक पूज्य अपना कर्तव्य न पालन करने के कारण अपने पुजारी से तिरस्कृत

जाव—यह कितनी लज्जाजनी बात है ? ॥ ४७ ॥

उत्थानिका—अब कुछ अन्य चोर साधुओं के विषय में कहते हैं—

तवतेणे वयतेणे , रूवतेणे य जे नरे ।
आयारभावतेणे य, कुव्वइ देवकिव्विसं ॥ ४८ ॥

तप स्तेन वच स्तेन , रूपस्तेनस्तु यो नरः ।
आचार भावस्तेनश्च , करोति देवकिल्विषि कम् ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (नरे) मनुष्य (तवतेणे) तपका चोर (वय तेणे) वचन का चोर (य) तथा (रूवतेणे) रूप का चोर (य) तथा (आयार भाव तेणे) आचार और भावका चोर होता है, वह (देवकिव्विसं) किल्विष देवत्व की (कुव्वइ) प्राप्ति करता है अर्थात् वह अत्यन्त नीच जो किल्विषदेव हैं, उन में पैदा होता है ॥ ४८ ॥

मूलार्थ—जो साधु, तपका चोर, वचन का चोर, रूपका चोर, आचार का चोर तथा भाव का चोर होता है , वह परभव में अत्यन्त नीच योनि-किल्विष देवों में उत्पन्न होता है ॥ ४८ ॥

भाष्य—संसार में चौर्य कर्म का त्याग करना बड़ा कठिन है। मनुष्य, सावधानी रखता हुआ

भी किसी न किसी प्रकार की भावावेश में आकर चोरी करही बैठता है। क्योंकि, चोरी कोइ एक तरह की नहीं होती-चोरी के भेद-प्रभेद बहुत अधिक संख्या में हैं। जिन्होंने जैनागमों का पूर्ण अभ्यास किया है, वेही इसके भेद-प्रभेदों को जानते हैं और वेही इस पाप पङ्क से साफ—साफ बचते हैं।

अब सूत्रकार यहाँ प्रसंगोचित फल वर्णन के साथ साधु वेष में किस किस प्रकार की चोरियों की संभावना है—जिन से साधु हमेशां बचता रहे।

तपचोर—कोई साधु स्वभावतः दुबला-पतला निर्बल शरीर वाला है। किसी भावुक गृहस्थ ने उसको देखकर पूछा कि हे भगवन्! वे मास क्षमण आदि महान् तपस्या के करने वाले, क्या आपही तपो मूर्ति अनगार हैं। ' तब साधु अपनी पूजा की इच्छा से यदि यह कहेकि-'हाँ, वह तपस्वी मैं ही हूं तो वह साधु तपका चोर है। क्योंकि-वह कभी 'मास' आदि तप तो करता नहीं, किन्तु असत्य भाषा बोलकर झूठ मूठ तपस्वी बनना चाहता है।

तथा ऐसे कहेकि-हाँ भाई! साधुलोग तप किया ही करते हैं। साधुओं के तप का क्या पूछना! तथा मौन मात्र ही अवलंबन करले-जिससे गृहस्थ जानजाए कि-यही महामुनि वे घोर तपस्वी हैं। अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करना नहीं चाहते। 'हीरा मुखसे ना कहे मेरा इतना मोल'। इसी प्रकार अगले प्रश्नों के विषय में भी विशेष रूप से जान लेना चाहिए।

वचस्तेन—कोई साधु व्याख्यान देने में बड़ाही निपुण है। उसकी समाज में बड़ी प्रशंसा है। अस्तु कोई अन्य व्याख्यानी साधु अपरिचित स्थान में गया। कोण उसी प्रसिद्ध व्याख्यानी साधु के भ्रम से उससे पूछे कि- क्या अमुक शास्त्र विशारद व्याख्यानी साधु आपही हैं। तब मुनि यदि

उत्तर में यह कहे कि हाँ वह मैं ही हूँ—अथवा साधु व्याख्यानी हुआ ही करते हैं—अथवा मौन धारण करजायतो वह साधु वचन का चोर है।

रूप चोर—कोई रूपवान् राजकुमार दीक्षित होगया। तब उसके रूपके समान किसी अन्य साधु से कोई पूछे कि 'क्या वे आपही राजकुमार हैं जो बड़े रूपवान हैं—जो अभी दीक्षित हुए हैं।' तब साधु उत्तर में स्पष्ट कहे या वाक छलसे 'हाँ साधु राज्य वैभव को छोड़करही साधुत्व लेते हैं वैराग्य धन के सामने यह धन क्या चीज है? ' यह कहे या मौन रहजाय तो वह साधु रूप का चोर माना जाता है।

आचार चोर—कोई साधु व्यवहार मात्र से बाह्य आचार विचार में खूबही तत्पर रहता है। तब कोई प्रश्न करेकि हे भगवन् क्या अमुक आचार्य के क्रिया पात्र शिष्य आपही हैं।' तब साधु उत्तर में कहे कि—साधु स्वीकृत क्रियाओं का पालन करतेही हैं—या स्पष्ट हाँ भरले या मौनावलंबनसे कुछ वैसा ही व्यक्त करे तो वह साधु आचार का चोर होता है।

भाव चोर—किसी साधु के हृदय में किसी शास्त्र का गूढार्थ नहीं बैठता है। अतः उसने किसी अन्य साधु से पूछा कि— "इस पद का आप क्या अर्थ करते हैं।' तब उस मुनिने जो कुछ उसका भाव था वह बतला दिया तब वह पृच्छक मुनि, अहं मन्यता से कहे कि—हाँ मेरे भी इसका यही अर्थ बैठा हुआ है-यहतो मैं आपकी परीक्षा ले रहा था' तो वह पृच्छक साधु भाव चोर होता है।

तात्पर्य यह है कि-अपनी पूजा-प्रतिष्ठा के लिये किसी अन्य का नाम छिपाकर असत्य वचन बोलना तथा मानावलंबन कर लेना तथा वाक छल से उत्तर देना-ये सब चोरी में शामिल हैं।

भी किसी न किसी प्रकार की भावावेश में आकर चोरी करही बैठता है। क्योंकि, चोरी कोई एक तरह की नहीं होती-चोरी के भेद-प्रभेद बहुत अधिक संख्या में हैं। जिन्होंने जैनागमों का पूर्ण अभ्यास किया है, वेही इसके भेद-प्रभेदों को जानते हैं और वेही इस पाप पङ्क से साफ—साफ बचते हैं।

अब सूत्रकार यहाँ प्रसंगोचित फल वर्णन के साथ साधु वेष में किस किस प्रकार की चोरियों की संभावना है—जिन से साधु हमेशां बचता रहे।

तपस्तेन—कोई साधु स्वभावतः दुबला-पतला निर्बल शरीर वाला है। किसी भावुक गृहस्थ ने उसको देखकर पूछा कि 'हे भगवन्! व मास क्षमण आदि महान् तपस्या के करने वाले, क्या आपही तपो मूर्ति अनगार हैं।' तब साधु अपनी पूजा की इच्छा से यदि यह कहेकि-'हाँ, वह तपस्वी मैं ही हूं' तो वह साधु तपका चोर है। क्योंकि-वह कभी 'मास' आदि तप तो करता नहीं, किन्तु असत्य भाषा बोलकर झूठ मूठ तपस्वी बनना चाहता है।

तथा ऐसे कहेकि-हाँ भाई! साधुलोग तप किया ही करते हैं। साधुओं के तप का क्या पूछना! तथा मौन भाव हा मयलपन करस जिससे गृहस्थ जानजाए कि-यही महामुनि वे घोर तपस्वी हैं। अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करना नहीं चाहते। 'हीरा मुखसे ना कहे मेरा इतना मोल। इसी प्रकार अगले प्रश्नों के विषय में भी विशेष रूप से जान लेना चाहिए।

वचस्तेन—कोई साधु व्याख्यान देने में बड़ाही निपुण है। उसकी समाज में बड़ी प्रशंसा है। अस्तु, कोई अन्य व्याख्यानी साधु अपरिचित स्थान में गया। लोग उसी प्रसिद्ध व्याख्यानी साधु के भ्रम से उससे पूछें कि-'क्या अमुक शास्त्र विशारद व्याख्यानी साधु आपही हैं।' तब मुनि यदि

भाष्य—यदि वह चोरी करने वाला व्यक्ति, तथा विध क्रिया के पालन से किल्बिष देवों में पैदा भी होगया तो भी वह यह नहीं जानता कि-मैं कौनसी दुष्क्रिया के फल से नीच किल्बिष देव बनाहूं। कारण कि—देव, विशिष्ट अवधि ज्ञान के बल से अपने पूर्व भवकी ठीक स्मृति करलेते हैं, किन्तु वह विशिष्ट अवधिज्ञान के न होने से अपने पूर्व जन्म के वृत्तान्त को नहीं जान सकता। पूर्वोक्त छल क्रियाओं के करने से उसे विशिष्ट अवधि प्राप्त नहीं होता।

तथा मन्द क्रियाओं के करने से ही उक्त देव नीच भाव प्राप्त करता है। कारण कि-विशिष्ट तप संयम का फल तो विशिष्ट देव भाव प्राप्त कराता है तथा मोक्षपद प्राप्त कराता है। किन्तु मन्द क्रियाओं का फल मन्द गति प्राप्त होना ही है। इसी वास्ते सूत्रकारने स्वयं नीच गति का वर्णन किया है।

सूत्रकारने जो पूर्वजन्मकृत कर्मों के ज्ञानका निषेध किया है। उससे यह आशय है कि—पूर्व कृत कर्मों का संस्मरण होने से जीवात्मा को पश्चात्ताप द्वारा कुछ समझनेका अवसर मिलजाता है। परन्तु उस पापी चोर साधु को तो यह अवसर भी नहीं मिलता। चौर्य कर्म प्रेमी प्राणी का अधः पतन निःसीम होता है ॥ ४९ ॥

उत्थनिका—अब, उस किल्बिष देव दशा से भी च्युत होकर वह कहाँ जाता है? यह कहते हैं—

तत्तोवि से चइत्ताण, लब्भिही एलमूअगं।

नरगं तिरिक्खजोणिं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥ ५० ॥

इसी लिए इसी प्रकार की क्रियाओं के करने वाले साधु किल्विष देवों के कर्मों की उपार्जना करते हैं अर्थात् वे मर कर नीच किल्विष देवों में उत्पन्न होते हैं ॥ ४८ ॥

उत्थानिका—अब वे किल्विष देव कैसे होते हैं ? यह कहाजाता है—

लद्धूण वि देवत्तं , उववन्नो देवकिब्बिसे ।
तत्थावि से न याणाइ , किं मे किच्चा इमं फलं ॥ ४९ ॥

लब्ध्वाऽपि देवत्वं , उपपन्नो देवकिल्विषे ।
तत्राऽपि स न जानाति , किं मे कृत्वा इदं फलम् ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थ—(देवकिब्बिसे) किल्विष देव जाति में (उववन्नो) उत्पन्न हुआ (देवत्तं) देवत्व को (लद्धूणवि) प्राप्त करके भी (से) वह (तत्थावि) निश्चय से ही वहाँ (नयाणाइ) नहीं जानता कि (मे) मैंने (किं किच्चा) कौनसी क्रिया करके (इमंफलं) यह किल्विषि देवत्व का फल प्राप्त किया ॥ ४९ ॥

मूलार्थ—वह पूर्वसूत्रोक्त चोर साधु, किल्विष देव जाति में—देवरूप में उत्पन्न होकर भी यह नहीं जानता कि—मैं किस कर्म के फल से इस नीच किल्विष देव जाति में उत्पन्न हुआ ॥ ४९ ॥

भाष्य—यदि वह चोरी करने वाला व्यक्ति, तथा विध क्रिया के पालन से किल्विष देवों में पैदा भी होगया तो भी वह यह नहीं जानता कि-मैं कौनसी दुष्क्रिया के फल से नीच किल्विष देव बनाहूं। कारण कि—देव विशिष्ट अवधि ज्ञान के बल से अपने पूर्व भवको ठीक स्मृति करलेते हैं, किन्तु वह विशिष्ट अवधिज्ञान के न होने से अपने पूर्व जन्म के वृत्तान्त को नहीं जान सकता। पूर्वोक्त छल क्रियाओं के करने से उसे विशिष्ट अवधि ज्ञान नहीं होता।

तथा मन्द क्रियाओं के करने से ही उक्त देव नीच भाव प्राप्त करता है। कारण कि-विशिष्ट तप संयम का फल तो विशिष्ट देव भाव प्राप्त कराता है तथा मोक्षपद प्राप्त कराता है। किन्तु मन्द क्रियाओं का फल मन्द गति प्राप्त होना ही है। इसी वास्ते सूत्रकारने स्वयं नीच गति का वर्णन किया है।

सूत्रकारने जो पूर्वजन्मकृत कर्मों के ज्ञानका निषेध किया है। उससे यह आशय है कि—पूर्व कृत कर्मों का संस्मरण होने से जीवात्मा को पश्चात्ताप द्वारा कुछ सम्भलनेका अवसर मिलजाता है। परन्तु उस पापी चोर साधु को तो यह अवसर भी नहीं मिलता। चौर्य कर्म प्रेमी प्राणी का अधः पतन निःसीम होता है ॥ ४९ ॥

उत्थनिका—अब, उस किल्विष देव दशा से भी च्युत होकर वह कहाँ जाता है? यह कहते हैं—

तत्तोवि से चइत्ताण, लब्भिही एलमूअअं।
नरग तिरिक्खजोणिं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥ ५० ॥

ततोऽपि स च्युत्वा , लभ्यते एलमूकताम् ।
नरकं तिर्यग्योनिंवा , बोधिर्यत्र सुदुर्लभा ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ—(तत्तोवि) वहाँ से भी-देवलोक से भी (से) वह (चइत्ताण) च्यवकर (एलमूअयं) मेष की भाषा के समान अस्पष्ट मूक भाषा भाषी मनुष्य भवको (लब्भिही) प्राप्त करेगा (वा) अथवा (नरगं तिरिक्ख जोणिं) नरक, तिर्यंच योनि को प्राप्त करेगा (जत्थ) जहाँ पर (बोही) जिन धर्म की प्राप्ति (दुलहा) दुर्लभ है ॥ ५० ॥

मूलार्थ—वह चोर साधु, देवलोक से च्यवकर मेष के समान मूकभाषा बोलने वाला मनुष्य होता है, अथवा पराधीन नरक तिर्यंच योनिको प्राप्त करता है, जहाँ जिन धर्म की प्राप्ति अतीव दुर्लभ है ॥ ५० ॥

भाष्य—इस गाथा में यह प्रतिपादन किया है कि—वह चौर्य कर्म करनेवाला वेषधारी साधु, किल्विष देवभवको भोगकर यदि मनुष्य गति का भी प्राप्त होगा तो जैसे बकरा वाणी बोलता है, वैसी ही वाणी बोलनेवाला गूंगा मनुष्य होगा । (बहुत से अर्थकार यह कहते हैं कि—वह बकरा ही बनेगा यह भी ठीक है) । इतनाही नहीं किन्तु संसार चक्र में परिभ्रमण करता हुआ कभी वह नरक में जायगा और कभी तिर्यंच में जायगा । ऐसे जीव पुरुषों को जल्दी से छुटकारा नहीं मिलता ।

मतलब यह है कि वह जहाँ आयगा वहाँ अशांति-दुःख पीड़ित ही रहेगा। उसे शान्तिप्रद जिन धर्म की प्राप्ति होनी अतीव दुर्लभ है। क्योंकि जिन धर्म की प्राप्ति आर्जव भावों के आश्रित है-वक्र भावों के नहीं।

सूत्रकार ने यह स्तेनभाव का वर्णन भली भाँति करदिया है और साथही उसके फलका भी दिग्दर्शन किया है। जिसका स्पष्ट भाव है कि उक्त मायाचारकी क्रियाओं के करने से संसार की वृद्धि होजाती है। अतः प्रत्येक मुनिका कर्तव्य है कि वह ऐसे मलिन कार्यों से अपनी शुद्ध आत्मा का सदा बचाव रक्खे ॥ ५० ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, प्रकृत विषयका उपसंहार करते हैं—

एअं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासियं।
अणुमायंपि मेहावी, मायामोसं विवज्जए ॥ ५१ ॥

एतं च दोषं दृष्ट्वा, ज्ञातपुत्रेण भाषितम्।
अणुमात्रमपि मेधावी, मायां मृषावादं विवर्जयेत् ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थ—(मेहावी) मर्यादावर्ती साधु (नायपुत्तेण) ज्ञात पुत्रसे (भासियं) कहेगये (एअं) इस पूर्वोक्त (दोसं) दोष को (दट्ठूण) देखकर (अणुमायंपि) स्तोक मात्र भी (मायामोसं)

ततोऽपि सः च्युत्वा , लभ्यते एलमूकताम् ।
नरकं तिर्यग्योनिंवा , बोधिर्यत्र सुदुर्लभा ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ—(तत्तोवि) वहाँ से भी-देवलोक से भी (से) वह (चइत्ताण) च्यवकर (एल-मूअयं) मेष की भाषा के समान अस्पष्ट मूक भाषा भाषी मनुष्य भवको (लब्भिहीं) प्राप्त करेगा (वा) अथवा (नरगं तिरिक्ख जोणिं) नरक, तिर्यंच योनि को प्राप्त करेगा (जत्थ) जहाँ पर (बोही) जिन धर्म की प्राप्ति (दुल्लहा) दुर्लभ है ॥ ५० ॥

मूलार्थ—वह चोर साधु, देवलोक से च्यवकर मेष के समान मूकभाषा बोलने वाला मनुष्य होता है, अथवा पराधीन नरक तिर्यंच योनिको प्राप्त करता है, जहाँ जिन धर्म की प्राप्ति अतीव दुर्लभ है ॥ ५० ॥

भाष्य—इस गाथा में यह प्रतिपादन किया है कि-वह चौर्य कर्म करनेवाला वेषधारी साधु, किल्विष देवभावको भोगकर यदि मनुष्य गति को भी प्राप्त होगा तो जैसे बकरा वाणी बोलता है, वैसी ही वाणी बोलनेवाला गूंगा मनुष्य होगा। (बहुत से अर्थकार यह कहते हैं कि—वह बकरा ही बनेगा यह भी ठीक है)। इतनाही नहीं किन्तु संसार-चक्र में परिभ्रमण करता हुआ कभी-वह नरक में जायगा और कभी तिर्यंच में जायगा। ऐसे जीव पुरुषों को कभी से छुटकारा नहीं मिलता।

उक्त सूत्र में जो 'नायपुत्तेण भासियं'×पद दिया हुआ है। उसका यह भाव है कि-यह सत्योपदेश श्री भगवान् महावीर स्वामी का है, नकि किसी अन्य साधारण व्यक्ति का। सर्वज्ञ वचनों में ही पूर्ण सत्यता एवं पूर्ण हितावहता होती है ॥ ५१ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, इस अन्तिम गाथा द्वारा अध्ययन का उपसंहार करते हुए शिक्षा देते हैं-

सिक्खिऊण भिक्खेसणसोहिं, संजयाण बुद्धाण सगासे।
तत्थ भिक्खू सुप्पणिहिइन्दिए, तिव्वलज्ज गुणवं विहरिज्जासि ॥ ५२ ॥ त्तिबेमि

शिक्षित्वा भिक्षैषणाशुद्धिं, संयतेभ्यः बुद्धेभ्यः सकाशात्।
तत्रभिक्षु सुप्रणिहितेन्द्रियः, तीव्रलज्जः गुणवान् विहरेत् ॥५२॥ इति ब्रवीमि।

× अन्य तीर्थंकरों की साक्षी न देकर भगवान महावीर की ही साक्षी देने का यह आशय है कि-आधुनिक साधु संघ, जगद् गुरु भगवान महावीर का शिष्य है। धार्मिक दृष्टि से गुरु, पिता है और शिष्य पुत्र। 'पुत्ताय सीसाय समं भवित्ता'। अन्थ-कार कहते हैं कि ऐ साधु ओ! यह तो तुम्हारे पिता का कथन है। इसे अवश्य मानो। तभी दुनिया में सपूत कहलाओगे-नहीं तो देखलो कपूतपन का लांछन तुम्हारे लगे बिना नहीं रहेगा। कपूत उभयलोक भ्रष्ट होता है।

छल पूर्वक असत्य बोलने का (विवज्जए) परित्याग करे ॥ ५१ ॥

मूलार्थ—बुद्धिमान् मर्यादा बद्ध साधु, ज्ञातपुत्र भाषित इन पूर्वोक्त दोषों को सम्यक्तया देख कर, स्तोक मात्र भी माया मृषा भाषण न करे ॥ ५१ ॥

भाष्य—चोर्य कर्म करने वाले मुनि, सद्गति नहीं पाते। वे साधु क्रिया करते हुए भी किल्बिषिक देव होते हैं। वहाँ से भी व नरक तिर्यञ्च योनियों में चिरकाल तक परि भ्रमण करते हैं। इत्यादि जिन दोषों का वर्णन श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने किया है, उन दोषों को आगम से भली भाँति देखकर-जानकर साधुओं को किसी भी अवस्था में अणु मात्र भी माया-मृषा का दोष नहीं लगाना चाहिए।

कारणकि-जब अणुमात्र का भी इतना भीषण फल वर्णन किया गया है, तो फिर प्रभूत के फल का तो कहना ही क्या है ? ' अधिकस्याधिकं फलम्।

अतः सिद्धान्त यह निकलाकि—छल और असत्य कदापि नहीं करना चाहिए। इसका परिणाम भवसन्तति की वृद्धि होना है—इस क्रिया के करते रहते चाहें कुछ भी करो आत्मविकास कभी नहीं होसकता। परम पवित्र सत्य और मार्दव भाव से ही आत्मा स्वविकास की ओर झुकता है, और फिर शनैः शनैः विकसित होते होते पूर्ण विकसित होजाने पर, शिव-अचल-अरुज-अनन्त-अक्षय निर्वाण पद प्राप्त करलेता है।

उक्त सूत्र में जो 'ज्ञात पुत्रेण भाषितं'×पद दिया हुआ है। उसका यह भाव है कि-यह सत्योपदेश भी भगवान् महावीर स्वामी का है, नकि किसी अन्य साधारण व्यक्ति का। सर्वज्ञ वचनों में ही पूर्ण सत्यता एवं पूर्ण हितावहता होती है ॥ ५१ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, इस अन्तिम गाथा द्वारा अध्ययन का उपसंहार करते हुए शिक्षा देते हैं-

सिक्खिऊण भिक्खेसणसोहिं, संजयाण बुद्धाण सगासे।
तत्थ भिक्खू सुप्पणिहिइन्दिए, तिव्वलज्ज गुणव विहरिज्जासि ॥ ५२ ॥ त्तिबेमि

शिक्षित्वा भिक्षैषणाशुद्धिं, संयतेभ्यः बुद्धेभ्यः सकाशात्।
तत्रभिक्षु सुप्रणिहितेन्द्रियः, तीव्रलज्जः गुणवान् विहरेत् ॥५२॥ इति ब्रवीमि।

× अन्य तीर्थंकरों की साक्षी न देकर भगवान महावीर की ही साक्षी देने का यह अभिप्राय है कि—आधुनिक साधु संघ, जगद् गुरु भगवान महावीर का शिष्य है। धार्मिक दृष्टि से गुरु, पिता है और शिष्य पुत्र। 'पुत्ताय सीसाय समं भवित्ता।' अन्तु-अन्य कार कहते हैं कि ऐ साधु ओ! यह तो तुम्हारे पिता का कथन है। इसे अवश्य मानो। तभी दुनिया में सपूत कहलाओगे—नहीं तो वैसलो कपूतपन का लांछन तुम्हारे अंग बिना नहीं रहेगा। कपूत उभयलोक भ्रष्ट होता है।

छल पूर्वक असत्य बोलने का (विवर्जन) परित्याग करे ॥ ५१ ॥

मूलार्थ—बुद्धिमान् मर्यादा बद्ध साधु, ज्ञातपुत्र भाषित इन पूर्वोक्त दोषों को सम्यक्तया देख कर, स्तोक मात्र भी माया मृषा भाषण न करे ॥ ५१ ॥

भाष्य—चौर्य कर्म करने वाले मुनि, सद्गति नहीं पाते। वे साधु क्रिया करते हुए भी किल्बिषी होते हैं। वहाँ से भी व नरक तिर्यच योनियों में चिरकाल तक परि भ्रमण करते हैं। इत्यादि जिन दोषों का वर्णन श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने किया है, उन दोषों को आगम से भली भाँति देखकर-जानकर साधुओं को किसी भी अवस्था में अणु मात्र भी माया-मृषा का दोष नहीं लगाना चाहिए।

कारणकि-जब अणुमात्र का भी इतना भीषण फल वर्णन किया गया है, तो फिर प्रभूत के फल का तो कहना ही क्या है? 'अधिकस्याधिकं फलम्।

अतः सिद्धान्त यह निकला कि—छल और असत्य कदापि नहीं करना चाहिए। इसका परिणाम भवसन्तति की वृद्धि होना है—इस क्रिया के करते रहते चाहें कुछ भी करो आत्मविशुद्धता कभी नहीं होसकती। परम पवित्र सत्य और आर्जव भाव से ही आत्मा स्वविशुद्धता की ओर झुकता है, और फिर शनैः शनैः विशुद्ध होते होते पूर्ण विशुद्ध होजाने पर, शिव-अचल-अरुज-अनन्त-अक्षय निर्वाण पद प्राप्त करलेता है।

'अप्पार्ण मायेमाये' विचरे। क्योंकि शुद्ध समाचारी के पालन से ही साधु की चंचल इन्द्रियाँ समाधि में स्थित रह सकेंगी।

इस अध्ययन के कथन करने का यह भाव है कि–साधु को सब से प्रथम भिक्षैषणा के ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है। क्यों कि भिक्षैषणा के ज्ञान से ही आहार की शुद्धि होती है। और शुद्ध आहार से ही प्रायः शुद्ध मन रह सकता है। सो जब मलिन मन शुद्ध होगया तो चञ्चल इन्द्रियाँ अपने आप कुमार्ग गमन से रुकगई। जब इन्द्रियाँ कुमार्ग गमन से रुकगई तो फिर मोक्ष अपने हाथ में ही है। जी चाहे तब लेलो।

प्रस्तुत सूत्र में जो सिक्खिया पद दिया है। उसका यह भाव है कि–जो विधि गुरु मुख से सीखी हुई होती है, वही फलवती होता है। यदि वह विधि देखा देखी सीखी जायतो-कभी फलवती नहीं होती। फलवती क्या? पूरी-पूरी अनर्थ कारिणी होती है। क्योंकि गुरु शिक्षण के बिना देखा देखी के कार्य में चाहे कितनी ही चतुरता करो त्रुटियाँ रह ही जाती हैं। देखा देखी साधे जोग छीजे काया बाढ़े रोग। अस्तु कहनेका आशय यह कि-निर्दोष एवं प्रशस्यक होने से प्रत्येक विधि गुरु मुख से ही सीखनी चाहिए। यही मार्ग सत्य है-शिव है-सुन्दर है ॥ ५२ ॥

"श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे वत्स! श्रमण भगवान महावीर स्वामी के मुखारविन्द से जैसा अर्थ इस अध्ययन का सुना है, वैसाही मैंने। तेरे से कहा है। अपनी बुद्धि से कुछ भी नहीं कहा।"

अन्वयार्थ—(सुप्पणिहिइन्दिए) भली भाँति वशकी हैं इन्द्रिया जिसने ऐसा (तिव्वलज्ज अनाचारसे अत्यन्त लज्जा रखन वाला (गुणवं) गुणवान् (भिक्खू) साधु (बुद्धाणं) तत्व के जानने वाले (मजयाण) गीतार्थ साधुओं के (सगासे) पास में (भिक्खेसणसोहिं) भिक्षैषणा की शुद्धिको (सिक्खिउंण) सम्यक्तया सीखकर (तस्य) उस एषणा समिति के विषय में (विहरे) सानन्द विचरण करे ॥ ५२ ॥

(त्तिबेमि) इस प्रकार, मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—भले प्रकार इन्द्रियों को निग्रह करनेवाला, अनाचार सेवन से तीव्र लज्जा रखनेवाला, संपतोचित श्रेष्ठ गुणोंवाला संयमी, तत्वज्ञ मुनियों के पास में विनय भक्ति से भिक्षैषणा शुद्धि का सम्यग् ज्ञान प्राप्त कर, एषणा समिति की समाचारी का विशुद्ध रूपसे पालन करता हुआ सानन्द संयम-क्षेत्र में विहरे ॥ ५२ ॥

भाष्य—इस अन्तिम गाथा में अध्ययन का उप संहार करते हुए आचार्यश्री कहते हैं। साधु का कर्तव्य है कि वह तत्ववेत्ता शुद्धाचारी विद्वान् मुनियों के पास विनय पूर्वक भिक्षा की एषणा शुद्धि को सीख कर भलीभाँति इन्द्रियों को वश में करता हुआ—उत्कृष्ट संयम का पालन करता हुआ-श्रेष्ठ गुणों को धारण करता हुआ एवं भिक्षैषणा की समाचारी का पालन करता हुआ

'अप्पाणं भावेमाणे' विचरे। क्योंकि शुद्ध समाचारी के पालन से ही साधु की चंचल इन्द्रियाँ समाधि में स्थित रह सकेंगी।

इस अध्ययन के कथन करने का यह भाव है कि- साधु को सब से प्रथम भिक्षैषणा के ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है। क्यों कि भिक्षैषणा क ज्ञान से ही आहार की शुद्धि होती है। और शुद्ध आहार स ही प्रायः शुद्ध मन रह सकता है। सो जब मलिन मन शुद्ध होगया तो चंचल इन्द्रियाँ अपने आप कुमार्ग गमन स रुकगई। जब इन्द्रियाँ कुमार्ग गमन से रुकगई तो फिर मोक्ष अपने हाथ में ही है। जी चाहे तब ललो।

प्रस्तुत सूत्र में जो शिक्षिया पद दिया है। उसका यह भाव है कि-जो विधि गुरु मुख से सीखी पूर्ण होती है, वही फलवती होता है। यदि वह विधि देखा देखी सीखी जायतो-कभी फलवती नहीं होती। फलवती क्या? पूरी-पूरी अनर्थ कारिणी होती है। क्योंकि गुरु शिक्षणा के बिना देखा देखी क कार्य में चाहे कितनी ही चतुरता करो त्रुटियाँ रह ही जाती हैं। देखा देखी साधे जोग छीजे काया बाढे रोग। अस्तु कहनेका आशय यह कि-निर्वाण पद प्रदायक होने से प्रत्येक विधि गुरु मुख से ही सीखनी चाहिए। यही मार्ग सत्य है-शिव है-सुन्दर है ॥ ५२ ॥

"श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे वत्स! श्रमण भगवान महावीर स्वामी के मुखारविन्द स जैसा अर्थ इस अध्ययन का सुना है, वैसाही मैंने तेरे से कहा है। अपनी बुद्धि से कुछ भी नहीं कहा।"

इअ पिंडेसणा णाम पञ्चमज्झयण ।

इति पिण्डैषणा नाम पंचममध्ययन समाप्तम् ।

इति श्री दशवैकालिक सूत्र के पिण्डैषणा नामक पंचम अध्ययन की 'आत्म ज्ञान प्रकाशिका' नामक हिन्दी भाषा टीका समाप्त हुई ।

अलौकिक मारक होते हैं, मला वह अन्य बाहिरी मारे मारकों को क्यों देखने लगा ? सच्चा मानंद, मारम क्षेत्र विजैषा होने में ही है ॥ १० ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, राग-द्वेष में समभाव रखने का सदुपदेश देते हैं—

गुणेहिं साहू अगुणेहिंऽसाहू, गिण्हाहि साहू गुण मुचऽसाहू ।
विआणिआ अप्पगमप्पएण, जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥ ११ ॥

गुणैः साधुरगुणैरसाधुः, गृहाण साधुगुणान् मुञ्च असाधून् (असाधुगुणान्)
विज्ञापयति आत्मानमात्मना, यो राग-द्वेषयोः समः सः पूज्यः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—मनुष्य (गुणेहिं) गुणों से (साहू) साधु और (अगुणेहिं) अगुणों से (असाहू) असाधु होता है। अतः हे शिष्य ! (साहूगुण) साधु योग्य गुणों को (गिण्हाहि) ग्रहण करले और (असाहू) असाधु योग्य अवगुणों को (मुच) छोड़दे, क्योंकि जो (अप्पएणं) अपनी आत्मा द्वारा ही (अप्पगं) अपनी आत्मा को (विआणिआ) नानाप्रकार से बोधित करता है तथा (रागदोसेहिं) राग और द्वेष में (समो) समभाव रखता है (स) वह (पुज्जो) पूजने योग्य है ॥ ११ ॥

मूलार्थ—अयि शिष्य ! गुणों से साधु और अगुणों से असाधु होता है। अत एव तुम

साधु-गुणों को तो ग्रहण करना चाहिए और असाधु-अगुणों को छोड़देना चाहिये; क्योंकि अपनी
आत्मा को अपनी आत्मा से ही समझाने वाले तथा राग द्वेष में समभाव रखने वाले गुणी साधु ही
पूज्य होते हैं ॥ ११ ॥

भाष्य—इस काव्य में साधु और असाधु के विषय में वर्णन किया गया है। यथा—क्षमा,
दया, सत्य, शील, सन्तोष आदि सद्गुणों को पूर्णतया धारण करने से साधुता प्राप्त होती है और
अविनय, क्रोध, झूठ आदि दुर्गुणों के धारण करने से असाधुता प्राप्त होती है। साधुता और
असाधुता इस प्रकार गुणों और अवगुणों पर अवलम्बित है, वेष-भूषा पर नहीं। अस्तु गुरुश्री
कहते हैं कि—हे शिष्य ! यदि तुझे साधुता से प्रेम और असाधुता से घृणा है तो तू साधुओं के
क्षमा आदि गुणों को दृढ़ता से धारण कर, और असाधुओं के क्रोध कपट आदि दुर्गुणों का परित्याग
कर। क्योंकि निर्वाण पद प्राप्त करने का एक यही मार्ग है। जो इस मार्ग पर चलते हैं वे तो ठेठ
अचल स्थान पर पहुँच जाते हैं, और जो इस मार्ग पर नहीं चलते हैं, वे संसार में ही इधर-उधर
धक्के खाते फिरते हैं।

गुरुश्री फिर उपदेश देते हैं कि—हे शिष्य ! तुम अपनी आत्मा को अपनी आत्मा द्वारा ही
शिक्षा दो। क्योंकि—जबतक अपने को अपने द्वारा उपदेश नहीं दिया जाता तबतक कोई कार्य
सिद्ध नहीं हो सकती। 'उद्धरेदात्म नात्मानम् नात्मानमवसादयेत्'। तथा तुम्हें किसी पर राग द्वेष
भी नहीं करना चाहिये। चाहे कोई तुम से राग रक्खे-चाहे कोई तुम से द्वेष रक्खे-तुम्हें दोनोंपर

परकी भिक्षा की रुचि रखना ही उचित है। यही पद्धति वास्तविक पूज्य पद प्राप्त करने की है।

सूत्रगत 'अगुणेहिंऽसाहू' और 'गुणऽसाहू' इन दोनों पदों में 'लुक्' इस प्राकृत व्याकरण के सूत्र द्वारा मकार का लोप किया गया है। यदि ऐसा लोप न माना जाय तो अर्थ संगति कदापि नहीं बैठ सकती। इसी भाँति 'विज्ञपयिआ' पद से 'विज्ञापयति' क्रियारूप भी प्राकृत शैली से सिद्ध है॥११॥

उत्थानिका—अब, निन्दा—परित्याग का उपदेश देते हैं—

> तहेव डहरं च महल्लगं वा, इत्थिं पुमं पव्वइअं गिहिं वा।
> नो हीलए नो विअ खिंसइज्जा, थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥१२॥

> तथैव डहरं च महल्लकं वा, स्त्रियं पुमांसं प्रव्रजितं गृहिणं वा।
> न हीलयति नापि च खिंसयति, स्तम्भं च क्रोधं च त्यजति सः पूज्यः ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(तहेव) तथैव साधु (डहरं) बालक की (च) तथा (महल्लगं) वृद्ध की (वा) तथा (इत्थिं) स्त्री की (पुमं) पुरुष की (पव्वइअं) दीक्षित की (वा) और (गिहिं) गृहस्थ की (नो हीलए) एक बार हीलना न करे (अवि अ) तथा, (नोखिंसइज्जा) पुनः पुनः हीलना न करे। क्योंकि जो (थंभं) अहंकार को (च) तथा (कोहं) क्रोध को (चए) छोड़देता है (स) वह (पुज्जो) पूजने योग्य होता है ॥ १२ ॥

मूलार्थ—जो साधु बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, दीक्षित और गृहस्थ आदि की हीलना-खिसना नहीं करता है, तथा क्रोध, मान के दोषों से पृथक् रहता है, वह पूज्य है ॥ १२ ॥

भाष्य—इस काव्य में साधु को निन्दा करने का निषेध किया है। यथा-जो मुनि बालकों की, वृद्धों की तथा उपलक्षण से मध्यम अवस्था वालों की, स्त्रियों की, पुरुषों की तथा उपलक्षण से नपुंसकों की, साधुओं की, गृहस्थों की तथा उपलक्षण से अन्यमार्गावलम्बी जनों की, एकबार तथा बारबार निन्दा नहीं करता है और जो अहंकार एवं क्रोध की पापमयकालिमा से अपने को सर्वथा अलग रखता है, वह सभी पुरुषों द्वारा पूजा जाता है।

जैन सूत्रों में एकबार निन्दा करने का नाम 'हीलना' और बारंबार निन्दा करने का नाम 'खिसना' बतलाया है। अस्तु जो महापुरुष उक्त दोनों ही प्रकार की निंदा का परित्याग करते हैं, वे ही वस्तुतः पूज्य बनते हैं। क्योंकि निदान के एवं उक्त कार्य के त्याग से ही पूज्यता प्राप्त होती है ॥१२॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, शिष्य को कन्या की उपमा देकर आचार्यजी की इज्जत करने का प्रत्यक्ष फल बतलाते हैं-

जे माणिआ सययं माणयंति, जत्तेण कन्नं व निवेसयंति।
ते माणए माणरिहे तवस्सी, जिइंदिए सच्चरए स पुज्जो ॥ १३ ॥

परस्पर मित्रता की रुचि रखना ही उचित है। यही पद्धति वास्तविक पूज्य पद प्राप्त करने की है।

सूत्रगत 'अगुणेहिऽसाहू' और 'गुणऽसाहू' इन दोनों पदों में 'लुक्' इस प्राकृत व्याकरण के सूत्र द्वारा अकार का लोप किया गया है। यदि ऐसा लोप न माना जाए तो अर्थ संगति कदापि नहीं बैठ सकती। इसी भाँति 'वियाणिया' पद से 'विजानाति' क्रियारूप भी प्राकृत शैली से सिद्ध है ॥११॥

उत्थानिका—अब, निन्दा-परित्याग का उपदेश देते हैं—

तहेव डहरं च महल्लगं वा, इत्थिं पुमं पव्वइअं गिहिं वा।
नो हीलए नो विअ खिंसइज्जा, थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥१२॥

तथैव डहरं च महल्लकं वा, स्त्रियं पुमांसं प्रव्रजितं गृहिणं वा।
न हीलयति नापि च खिंसयति, स्तम्भं च क्रोधं च त्यजति सः पूज्यः ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(तहेव) तथैव साधु (डहरं) बालक को (च) तथा (महल्लगं) वृद्ध को (वा) तथा (इत्थिं) स्त्री को (पुमं) पुरुष को (पव्वइअं) दीक्षित को (वा) और (गिहिं) गृहस्थ को (नो हीलए) एक बार हीलना न करे (अवि अ) तथा, (नोखिंसइज्जा) पुनः पुनः हीलना न करे। क्योंकि जो (थंभं) अहंकार को (च) तथा (कोहं) क्रोध को (चए) छोड़देता है (स) वह (पुज्जो) पूजने योग्य होता है ॥ १२ ॥

मूलार्थ—जो साधु बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, दीक्षित और गृहस्थ आदि की हीलना—खिंसना नहीं करता है, तथा क्रोध, मान के दोषों से पृथक् रहता है, वह पूज्य है ॥ १२ ॥

भाष्य—इस काव्य में साधु को निन्दा करने का निषेध किया है। यथा-जो मुनि बालकों की, वृद्धों की तथा उपलक्षण से मध्यम अवस्था वालों की स्त्रियों की, पुरुषों की तथा उपलक्षण से नपुंसकों की; साधुओं की गृहस्थों की तथा उपलक्षण से अन्यमार्गावलम्बी जनों की, एकबार तथा बारबार निन्दा नहीं करता है और जो अहंकार एवं क्रोध की पापमयकालिमा से अपने को सर्वथा अलग रखता है, वह सभी पूज्यों द्वारा पूजा जाता है।

जैन सूत्रों में एकबार निन्दा करने का नाम हीलना और बारंबार निन्दा करने का नाम 'खिंसना' बतलाया है। अस्तु जो सत्पुरुष उक्त दोनों ही प्रकार की निंदा का परित्याग करते हैं, व ही वस्तुतः पूज्य बनते हैं। क्योंकि निदान के एवं उक्त कार्य के त्याग से ही पूज्यता प्राप्त होती है ॥१२॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, शिष्य को कन्या की उपमा देकर आचार्यजी की इज्जत करने का प्रत्यक्ष फल बतलाते हैं—

जे माणिआ सयय माणयति, जत्तेण कन्न व निवेसयति ।
ते माणए माणरिहे तवस्सी, जिइंदिए सच्चरए स पुज्जो ॥ १३ ॥

जे माणिया सययं माणयन्ति, जत्तेण कन्नंव निवेसयन्ति ।
ते माणए माणरिहे तवस्सी, जिइन्दिए सच्चरए स पुज्जो ॥ १३ ॥

ये मानिताः सततं मानयन्ति, यत्नेन कन्यामिव निवेशयन्ति ।
तान् मानयन्ति मानार्हान् तपस्वी, जितेन्द्रियः सत्यरतः सः पूज्यः ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (माणिया) सत्कार आदि से सम्मानित हुये, अपने शिष्यों को भी (सययं) सदा (माणयन्ति) अध्ययन आदि क्रियाओं द्वारा सम्मानित करते हैं, और (जत्तेण) यत्न से (कन्नं व) कन्या के समान (निवेसयन्ति) श्रेष्ठ स्थान में स्थापित करते हैं (ते) उन (माणरिहे) मान योग्य आचार्यों का जो (तवस्सी) तपस्वी (जिइन्दिए) जितेन्द्रिय (सच्चरए) सत्यवादी साधु (माणए) विनयादि से सम्मान करता है (स) वह (पुज्जो) पूज्य होता है ॥ १३ ॥

मूलार्थ—जो शिष्य, आचार्य को विनय भक्ति आदि से सम्मानित करते हैं, वे स्वयं भी आचार्य से विद्यादान द्वारा सम्मानित होते हैं, और यत्न से कन्या के समान श्रेष्ठ-स्थान पर स्थापित होते हैं। अस्तु जो सत्यवादी, जितेन्द्रिय और तपस्वी साधु, ऐसे सम्मान योग्य आचार्यों का सम्मान करते हैं, वे संसार में सच्ची पूजा-प्रतिष्ठा पाते हैं ॥ १३ ॥

भाष्य—इस काव्य में विनय धर्म के प्रत्यक्ष गुण दिखलाये गये हैं। यथा—जो शिष्य, आचार्य आदि गुरुजनों का विनय-भक्ति द्वारा सत्कार करते हैं सो यह उनका भक्ति-कार्य व्यर्थ नहीं जाता। इस भक्ति के बदले में आचार्य श्री की तरफ से शिष्यों को सुमधुर श्रुतोपदेश मिलता है। यही नहीं,

किन्तु जिस प्रकार योग्य माता पिता अपनी कन्या का गुणों और अवस्था से प्रयत्न पूर्वक पालते-पोषते हैं और फिर सुयोग्य पति को दे कर सुखस्थान में निविष्ट कर देते हैं; ठीक इसी प्रकार आचार्य भी अपने भक्त-शिष्यों को सूत्रार्थ ज्ञाता बनाकर, आचार्य पद जैसे महान् ऊंचे पदोंपर प्रतिष्ठित करदेते हैं। अतएव घोर तप करने वाले, चंचल इन्द्रियों के जीतने वाले एवं सदा सत्य वचन बोलने वाले प्रधान धार्मिक पुरुषों का भी परम कर्तव्य है कि—वे आचार्य श्री की अभ्युत्थान-वन्दनादि से से सभक्ति-भाव सेवा-शुश्रूषा करें। क्योंकि—पूज्य पुरुषों की सेवा करने से ही मनुष्य पूज्य होता है।

सूत्रमें जो शिष्य के लिये कन्या की उपमा दी गई है, वह बड़े ही महत्त्व की है। इससे प्राचीन काल की पवित्र पद्धति का पूर्ण रूप से पता चलता है। प्राचीन काल के भारतीय माता-पिता अपनी कन्याओं को बाल्यावस्था में शिक्षा-दीक्षा द्वारा सुयोग्य करते थे और फिर उनका यौवनावस्था में सुयोग्य वर से विवाह-सम्बन्ध करते थे, जिससे उनकी विदुषी एवं सदाचारिणी पुत्रियों को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता था। वे आनन्द पूर्वक अपने गृहस्थ धर्म का पालन किया करती थी। इस सूत्रसे आजकल के स्त्री शिक्षा-विरोधी सज्जनों को ध्यान देना चाहिये और पुत्रों के समान ही पुत्रियाँ भी सुशिक्षिता बनानी चाहिये ॥ १३ ॥

उत्थानिका—अब, फिर इसी विषय पर कहते हैं—

तेसिं गुरूण गुणसायराण, सुच्चा ण मेहावि सुभासिआइं ।

ये मानिताः सततं मानयन्ति, यत्नेन कन्यामिव निवेशयन्ति ।
तान् मानयन्ति मानार्हान् तपस्वी, जितेन्द्रियः सत्यरतः सः पूज्यः ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (माणिआ) सत्कार आदि से सम्मानित हुये, अपने शिष्यों को भी (सयं) सदा (माणयंति) अध्ययन आदि क्रियाओं द्वारा सम्मानित करते हैं, और (जत्तेण) यत्न से (कन्न व) कन्या के समान (निवेसयंति) श्रेष्ठ स्थान में स्थापित करते हैं (ते) उन (माणरिहे) मान योग्य आचार्यों का जो (तवस्सी) तपस्वी (जिइन्दिए) जितेन्द्रिय (सच्चरए) सत्यवादी साधु (माणए) विनयादि से सम्मान करता है (स) वह (पुज्जो) पूज्य होता है ॥ १२ ॥

मूलार्थ—जो शिष्य, आचार्य को विनय भक्ति आदि से सम्मानित करते हैं, वे स्वयं भी आचार्य से विद्यादान द्वारा सम्मानित होते हैं, और यत्न से कन्या के समान श्रेष्ठ-स्थान पर स्थापित होते हैं। अस्तु जो सत्यवादी, जितेन्द्रिय और तपस्वी साधु; ऐसे सम्मान योग्य आचार्यों का सम्मान करते हैं, वे संसार में सच्ची पूजा-प्रतिष्ठा पाते हैं ॥ १२ ॥

भाष्य—इस काव्य में विनय धर्म के प्रत्यक्ष गुण दिखलाये गये हैं। यथा—जो शिष्य, आचार्य आदि गुरुजनों का विनय-भक्ति द्वारा सत्कार करते हैं सो यह उनका भक्ति-कार्य व्यर्थ नहीं जाता। इस भक्ति के बदले में आचार्य श्री की तरफ से शिष्यों को सुमधुर श्रुतोपदेश मिलता है। यही नहीं,

तुम्हें वस्तुतः पूज्यपद प्राप्त करने की उत्कंठा है तो प्रथम ज्ञान का पूर्ण रूपेण अभ्यास करो और फिर अहिंसा आदि पंच महाव्रतों को एवं मनो गुप्ति आदि तीनों गुप्तियों को धारण करो; पश्चात् क्रोध, मान माया और लोभ इन चारों महादोष रूप कषायों को समूल नष्ट करो, इससे तुम सच्चे पूज्य बन सकोगे। क्योंकि—जो शिष्य, समुद्र के समान अनन्त गुणों के धारक आचार्य श्रीजी के सुभाषित वचनों को श्रद्धा पूर्वक श्रवण करते हैं और तदनुसार चारित्र धर्म का समाचरण करते हैं, वे सर्वोच्च श्रेणी के पूज्य होते हैं।

सूत्रमें जो गुरुश्री के लिये गुणसागराणं पद दिया है, उसका यह भाव है कि—यथा संसार तारक गुरु वही होता है, जो ज्ञान और चारित्र गुणों में समुद्र के समान असीम होता है। वस्तुतः ऐसे गुरुओं की ही आज्ञा शिरोधार्य करनी चाहिये नाम धारी गुरुओं की आज्ञा से कोई लाभ नहीं॥ १४॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, विनय धर्म से मोक्ष प्राप्ति बतलाते हुये प्रस्तुत उद्देश का उपसंहार करते हैं—

गुरुमिह सयय पडिअरिअ मुणी, जिणमयनिउणे अभिगमकुसले।
धुणिअ रयमलं पुरेकडं भासुरमउलं गइं वइ ॥ १५ ॥ त्तिबेमि।

गुरुमिह सततं परिचर्य मुनिः, जिनमतनिपुणः अभिगमकुशलः।
विधूय रजोमलं पुराकृतं, भास्वरामतुलां गतिं व्रजति ॥१५॥ इति ब्रवीमि।

चरे मुणी पचरए तिगुत्तो , चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥ १४ ॥

तेषां गुरूणां गुणसागराणां , श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि ।
चरति मुनिः पञ्चरत त्रिगुप्तः , चतुष्कषायापगतः स पूज्यः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—जो (मुणी) मुनि (मेहावि) बुद्धिमान् (पंचरए) पंचमहाव्रतपालक (तिगुत्तो) त्रिगुप्तिधारी और (चउक्कसायावगए) चारों कषायों से रहित होता है, तथा (तेसिं) उन (गुणसागराण) गुण समुद्र (गुरूणं) गुरुओं के (सुभासियाणि) सुभाषित-वचनों को (सुच्चा) सुनकर (चरे) तदनुसार आचरण करता है (स) वह (पुज्जो) सब का पूजनीय होता है ॥ १४ ॥

मूलार्थ—जो मुनि पूर्ण बुद्धिमान्, पाँच महाव्रतों के पालक, तीनों गुप्तियों के धारक एवं चारों कषायों के नाशक होते हैं, तथा गुण सागर गुरुजनों के सुभाषित वचनों को श्रवण कर, तदनुसार आचरण करने वाले होते हैं, वे मुनियों में पूज्यों के भी पूज्य होते हैं ॥ १४ ॥

भाष्य—संसार के सभी लोग पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा करते हैं, परन्तु पूजा-प्रतिष्ठा किसी को नहीं मिलती। बहुत से मनुष्य तो ऐसे मिलते हैं, जो बड़े होने की लालसा में पड़कर 'चौबेजी गये थे छब्बे जी होने को किन्तु दो गाँठ की और खोकर बनके दुबे जी ही रह गये' की लोकोक्ति के समान दूने-दूने हास्यास्पद हुए हैं। अस्तु प्रस्तुत, अन्य जीवों को [illegible]

तुम्हें वस्तुतः पूज्यपद प्राप्त करने की उत्कंठा है तो प्रथम ज्ञान का पूर्ण रूपेण अभ्यास करो और फिर अहिंसा आदि पंच महाव्रतों को एवं मनो गुप्ति आदि तीनों गुप्तियों को धारण करो, पश्चात् क्रोध मान माया और लोभ इन चारों महादोष रूप कषायों को समूल नष्ट करो, इससे तुम सच्चे पूज्य बन सकोगे। क्योंकि—जो शिष्य, समुद्र के समान अनन्त गुणों के धारक आचार्य श्रीजी के सुभाषित वचनों को श्रद्धा पूर्वक श्रवण करते हैं और तदनुसार चारित्र धर्म का समाचरण करते हैं वे सर्वोच्च श्रेणी के पूज्य होते हैं।

सूत्रमें जो गुरुजी के लिये 'गुणसायराणं' पद दिया है, उसका यह भाव है कि—यथा संसार तारक गुरु वही होता है, जो ज्ञान और चारित्र गुणों में समुद्र के समान असीम होता है। वस्तुतः ऐसे गुरुओं की ही आज्ञा शिरोधार्य करनी चाहिये नाम धारी गुरुओं की आज्ञा से कोई लाभ नहीं॥ १४॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, विनय धर्म से मोक्ष प्राप्ति बतलाते हुये प्रस्तुत उद्देश का उपसंहार करते हैं—

गुरुमिह सयय पड़िअरिअ मुणी , जिणमयनिउणे अभिगमकुसले ।
धुणिअ रयमलं पुरेकडं भासुरमउलं गइं वइ ॥ १५ ॥ त्तिबेमि ।

गुरुमिह सततं परिचर्य मुनिः, जिनमतनिपुणः अभिगमकुशलः ।
विधूय रजोमलं पुराकृतं , भास्वरामतुलां गतिं व्रजति ॥१५॥ इति ब्रवीमि ।

अन्वयार्थ—(जिणमयनिउणे) जिन धर्म के तत्त्वों का ज्ञाता (अभिगमकुसले) अतिथि साधुओं का सुचतुर सेवक (मुणी) साधु (गुरुं) गुरु की (इह) इस लोक में (सयय) निरन्तर (पडिअरिअ) सेवा करके (पुरेकडं) पूर्वकृत (रयमलं) कर्मरज को (धुणिअ) क्षय करके (भासुरं) दिव्य धाम—ज्ञान ज्योतिः स्वरूप (अउलं) सर्वोत्कृष्ट (गइं) सिद्ध गति को (वइ) प्राप्त करता है (त्तिबेमि) इस प्रकार मैं कहता हूँ ॥ १५ ॥

मूलार्थ—जैनागम के तत्त्वों को पूर्ण रूपसे जानने वाला एवं अतिथि साधुओं की दत्तचित से सेवा—भक्ति करने वाला सच्चा साधु , इस संसार में अव्याहत रूपसे गुरुजी की सेवा करके पूर्वकृत कर्मों को तो क्षय कर देता है और ज्ञान—तेजोमयी अनुपम सिद्धगति को प्राप्त कर लेता है ॥ १५ ॥

भाष्य—इस काव्य में तृतीय उद्देश का उपसंहार किया गया है। यथा—जो साधु , जैन धर्म के आगमतत्त्वों का पूर्ण मर्मज्ञ होता है तथा अपने पास में आने वाले अतिथि—साधुओं की सम्यक्तया यथोचित सेवा भक्ति करता है, वह संसार में अवतार लेने का वस्तुतः लाभ उठा लेता है और भक्ति पूर्वक गुरुजी की सेवा करके अनादिकालीन कर्म शत्रुओं को समूल नष्ट कर देता है। वस्तुतः जब आत्मा कलुषित कर्ममल से मुक्त होकर सर्वथा शुद्ध बन गई तो फिर संसार में कैसा रहना ? फिर तो आत्मा [illegible]

यदि कुछ कर्म अवशिष्ट रहजाते हैं तो देवगति में जन्म होता है और फिर वहाँ से मनुष्य योनि में जन्म लेकर जप तप करके, मोक्ष पाता है।

इस उद्देश में गुरु-भक्ति का विशद रूप से स्पष्टीकरण किया गया है और बतलाया गया है कि—आत्मा गुरुभक्ति द्वारा ही निर्वाण पद प्राप्त कर सकती है, लोक परलोक दोनों लोकों की सुधारने वाली संसार में एक गुरु-भक्ति ही है॥ १५॥

'श्री सुधर्माजी जम्बूजी से कहते हैं कि हे वत्स! मैंने जैसा अर्थ इस नवमाध्ययनान्तर्वर्ती तृतीय उद्देश का सुनाया, वैसा ही तेरे को बतलाया है।"

इति नवमाध्ययने तृतीय उद्देशक समाप्त ।

अन्वयार्थ—(जिणमयनिउणे) जिन धर्म के तत्त्वों का ज्ञाता (अभिगमकुसले) अतिथि साधुओं का चतुर सेवक (मुणी) साधु (गुरुं) गुरु की (इह) इस लोक में (सययं) निरन्तर (पडियरिय) सेवा करके (पुरेकडं) पूर्वकृत (रयमलं) कर्मरज को (खविय) क्षय करके (भासुरं) दिव्य धाम—ज्ञान ज्योतिः स्वरूप (अउलं) सर्वोत्कृष्ट (गइं) सिद्ध गति को (वइ) प्राप्त करता है (त्तिबेमि) इस प्रकार मैं कहता हूँ ॥ १५ ॥

मूलार्थ—जैनागम के तत्त्वों को पूर्ण रूपसे जानने वाला एवं अतिथि साधुओं की उचित से सेवा—भक्ति करने वाला सच्चा साधु, इस संसार में अव्याहत रूपसे गुरुश्री की सेवा करके पूर्वकृत कर्मों को तो क्षय कर देता है और ज्ञान—तेजोमयी अनुपम सिद्धगति को प्राप्त कर लेता है ॥ १५ ॥

भाष्य—इस काव्य में तृतीय उद्देश का उपसंहार किया गया है। यथा—जो साधु, जैन धर्म के आगमतत्त्वों का पूर्ण मर्मज्ञ होता है तथा अपने पास में आने वाले अतिथि-साधुओं की समस्त यथोचित सेवा भक्ति करता है, वह संसार में अवतार लेने का वस्तुतः लाभ उठा लेता है और भक्ति पूर्वक गुरुजी की सेवा करके अनादिकालीन कर्म शत्रुओं को समूल नष्ट कर देता है। जब आत्मा कलुषित कर्ममल से मुक्त होकर सर्वथा शुद्ध बन गई तो फिर संसार में कैसा रहना? फिर तो आत्मा [illegible]

विनय समाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि ।

कतराणि खलु तानि स्थविरैः भगवद्भिः चत्वारि विनयसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि ।

कतराणि खलु तानि स्थविरैः भगवद्भिः चत्वारि विनयसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा

अमूनि खलु तानि स्थविरैः भगवद्भिः चत्वारि विनयसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि ।

(१) विनय समाधि (२) श्रुतसाधि (३) तप समाधि (४) आचार समाधिः—

विनये श्रुते च तपसि, आचारे नित्यं पण्डिता ।

अभिरामयन्ति आत्मान, ये भवन्ति जितेन्द्रिया ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—गुरु कहते हैं (आउस) हे आयुष्मन् शिष्य (मे) मैंने (सुअ) सुना है (तेणं) उस (भगवया) भगवान् ने (एव) इस प्रकार (अक्खायं) प्रतिपादन किया है – (इह) इस जिन सिद्धांत में (खलु) निश्चयसे (भगवतेहिं) ज्ञानादिसे युक्त (थेरेहिं) स्थविरोंने (चत्तारि) चार प्रकारके (विणय समाहिठाणा) विनय समाधिके स्थान (पन्नत्ता) प्रतिपादन किये हैं—

शिष्य प्रश्न करता है हे पूज्य ! (थेरहिं) स्थविर (भगवतेहिं) भगवन्तों ने (ते) वे (चत्तारि) चार प्रकार के (विणयसमाहिठाणा) विनयसमाधिस्थान (कयरे) कौनसे (खलु) निश्चयात्मक रीति से (पन्नत्ता) प्ररूपित किये हैं ?—

गुरुश्री उत्तर देते हैं (इमे) ये वक्ष्यमाण (खलु) निश्चय स (ते) वे (थेरेहिं) स्थविर (भगवतेहिं)

अथ नवमाध्ययने चतुर्थ उद्देशः ।

उत्थानिका—तृतीय उद्देश में विनय धर्म का सामान्य रूप से वर्णन किया गया, अब इस चतुर्थ उद्देश में विशेष रूप से वर्णन किया जाता है—

सुअं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं, इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिठाणा पन्नत्ता ।

कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिठाणा पन्नत्ता ?

इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिठाणा पन्नत्ता । तंजहा (१) विणय समाही (२) सुअसमाही (३) तवसमाही (४) आयार समाही

विणए सुए अ तवे , आयारे निच्च पंडिआ ।
अभिरामयंति अप्पाणं , जे भवंति जिइन्दिया ॥ १ ॥

श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम् इह खलु स्थविरैः भगवद्भिः चत्वारि

जो जितेन्द्रिय मुनि विनयसमाधि, श्रुतसमाधि, तपःसमाधि, और आचार समाधि में अपनी आत्मा को सर्वतोभावेन संनिविष्ट करते हैं, वे ही परमार्थत पण्डित होते हैं ॥ १ ॥

भाष्य—इस चतुर्थ उद्देश का प्रारम्भ, गुरु-शिष्य के प्रश्नोत्तर द्वारा किया गया है; सो इस से यह ध्वनित होता है कि—सैद्धान्तिक तत्त्वों का गूढ रहस्य प्रश्नोत्तर की पद्धति से बहुत अच्छी तरह परिस्फुट हो सकता है। यह प्रश्नोत्तर की पद्धति, अन्य सब विवेचनात्मक पद्धतियों से सर्वोपरि उत्कृष्ट है। क्योंकि इसमें प्रश्नकर्ता एवं उत्तर दाता दोनों ही का हृदय विशुद्ध होता है। विशुद्ध हृदय, सफलता लाता ही है।

गद्य सूत्र में जो स्थविर=गणधर प्रमुख पुरुषों के लिए भगवान् शब्द का प्रयोग किया है। सो इससे भगवान् शब्द को पूज्य पुरुषों के प्रति अव्यवहार्य समझने वाले सज्जनों को कुछ समझना चाहिये। भगवान् शब्द ऐश्वर्य का वाचक है। अतः शिष्यों का कर्तव्य है कि बोल-चाल में गुरु-जनों के प्रति भगवान् शब्द का प्रयोग करें।

गुरुश्री ने जो विनय, श्रुत तप और आचार नामक चार समाधि स्थान बतलाए हैं, सो यहाँ 'समाधि' से तात्पर्य 'समाधान' से है। भाव यह है कि—परमार्थ रूप से आत्मा को हित सुख और स्वास्थ्य भावों की प्राप्ति होना ही 'समाधि' है। तथा उक्त चारों प्रकार की क्रियाओं में अत्यधिक तल्लीनता होजाने को भी 'समाधि' कहते हैं। यथा—विनय में वा विनय से आत्मा में जो उत्कृष्ट सम्भावों की उत्पत्ति होती है, उसे 'विनय समाधि' कहते हैं। इसी प्रकार अन्य श्रुत, तप आदि के विषय में भी जान लेना चाहिये।

भगवतो मे (चत्तारि) चार (विणयसमाहिठाणा) विनय समाधि के स्थान (पन्नत्ता) प्रतिपादन किये हैं-(तंजहा) जैसे कि (विणयसमाही) विनय समाधि १, (सुअसमाही)श्रुतसमाधि २, (तवसमाही) तपःसमाधि ३, (आयार समाही) आचार समाधि ४।—

(जे) जो (जिइंदिआ) जितेन्द्रिय साधु (विणए) विनय में (सुए) श्रुत में (तवे) तप में (अ) और (आयारे) आचार में (सया) सदैव काल (अप्पाणं) अपनी आत्मा को (अभिरामयंति) रमण करते हैं, वेही (पंडिआ) सच्चे पंडित कहलाते हैं ॥ १ ॥

मूलार्थ—गुरुश्री कहते हैं हे ! आयुष्मन्–शिष्य ! मैंने सुना है, उस भगवान् ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है–इस जैन धर्म में निश्चय ही स्थविर भगवन्तों ने विनय समाधि के चार स्थान कथन किये हैं—

शिष्य प्रश्न करता है, हे भगवन् ! स्थविर भगवन्तों द्वारा प्रतिपादित वे चार प्रकार के विनय समाधि के स्थान कौन से हैं, कृपया बतलाइये–

गुरु श्री उत्तर देते हैं, हे वत्स ! स्थविर भगवन्तों द्वारा प्रतिपादित वे चार प्रकार के विनय-समाधिस्थान ये वक्ष्यमाण हैं। यथा–विनय समाधि १ श्रुत समाधि २ तपःसमाधि ३

जो जितन्द्रिय मुनि विनयसमाधि , श्रुतसमाधि , तपःसमाधि , और आचार समाधि में अपनी आत्मा को सर्वतोभावेन सन्निविष्ट करते हैं , वे ही परमार्थत पण्डित होते हैं ॥ १ ॥

भाष्य—इस चतुर्थ उद्देश का प्रारम्भ , गुरु-शिष्य के प्रश्नोत्तर द्वारा किया गया है ; सो इस से यह ध्वनित होता है कि—सैद्धान्तिक तत्त्वों का गूढ रहस्य प्रश्नोत्तर की पद्धति से बहुत अच्छी तरह परिस्फुट हो सकता है। यह प्रश्नोत्तर की पद्धति , अन्य सब विवेचनात्मक पद्धतियों से अतीव उत्कृष्ट है , क्योंकि इसमें प्रश्नकर्ता एवं उत्तर दाता दोनों ही का हृदय विशुद्ध होता है। विशुद्ध हृदय , सफलता लाता ही है।

गद्य सूत्र में जो स्थविर = गणधर प्रमुख पुरुषों के लिये भगवान् शब्द का प्रयोग किया है। सो इससे भगवान् शब्द को पूज्य पुरुषों के प्रति अभ्यवहार्य समझने वाले सज्जनों को कुछ समझना चाहिये। भगवान् शब्द ऐश्वर्य का वाचक है , अतः शिष्यों का कर्तव्य है कि बोल-चाल में गुरु-जनों के प्रति भगवान् शब्द का प्रयोग करें।

गुरुश्री ने जो विनय , श्रुत तप और आचार नामक चार समाधि स्थान बतलाये हैं , सो यहाँ समाधि से तात्पर्य समाधान ' से है। भाव यह है कि—परमार्थ रूप से आत्मा को हित सुख और स्वास्थ्य भावों की प्राप्ति होना ही ' समाधि ' है। तथा उक्त चारों प्रकार की क्रियाओं में अत्यधिक तल्लीनता होजाने को भी ' समाधि ' कहते हैं। यथा—विनय में वा विनय से आत्मा में जो उत्कृष्ट समभावों की उत्पत्ति होती है , उसे विनय समाधि ' कहते हैं। इसी प्रकार अन्य श्रुत, एवं तप आदि के विषय में भी ध्यान देना चाहिये।

संसार में जितने भी कार्य होते हैं वे सबके सब किसी न किसी प्रयोजन को लेकर ही होते हैं। बिना प्रयोजन के मूर्ख से मूर्ख पागल से पागल भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। अस्तु गुरुश्री शिष्य को विनय समाधि स्थानों का प्रयोजन भी बतलाते हैं—हे धर्म प्रिय ! शिष्य ! जो धर्मप्रिय आदि भाव शत्रुओं के जीतने वाले मुनि अपनी आत्मा को चारों समाधि स्थानों में प्रयुक्त करते हैं वे ही वस्तुतः सच्चे पंडित होते हैं।

पण्डित पद, एक बहुत ही ऊंचा एवं सर्वप्रिय पद है। इस पद की प्राप्ति के लिये मनुष्य, अनेकानेक घोर कष्टों का भार सिर पर उठाते हैं, परन्तु इसे पा नहीं सकते। क्योंकि इस पद का प्राप्त करना कुछ हंसी-खेल नहीं है। कई लोगों का ध्यान है कि शास्त्रों के पढ लेने से मनुष्य पण्डित बन सकता है किन्तु यह बात नहीं, पंडिताई का घर बहुत दूर है। सच्चा पंडित तो सूत्रोक्त चारों समाधि स्थानों के धारण करने से ही बना जा सकता है। आज कल के पण्डितपदप्रिय महानुभाव, ध्यान दें, पण्डित पद पर कितना उत्तरदायित्व है।

गाथासूत्र में जो 'अभिरामयन्ति' क्रियापद दिया है, सो यह 'रमु' धातु, यहाँ 'युज्' धातु के अर्थ में गृहीत है। क्यों कि धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं।

उत्थानिका—अब विनयके भेदों के विषयमें कहते हैं—

चउव्विहा खलु विणयसमाही, तंजहा— अणुसासिज्जंतो सुस्सूसइ (१) सम्मं संपडिवज्जइ (२) वेयमाराहइ (३) न य भवइ अत्तसंपग्गहिए (४) चउत्थं

पय भवइ । भवइ अ इत्य सिलोगो —

पेहेइ हिआणुसासण , सुस्सूसई त च पुणो अहिट्ठिए ।
न य माणमएण मज्जई , विणयसमाहि आययट्ठिए ॥२॥

चतुर्विध खलु विनय समाधिर्भवति, तद्यथा-अनुशास्यमानः शुश्रूषति (१) सम्यक् सम्प्रतिपद्यते (२) वेदमाराधयति (३) न च भवति आत्म-सम्प्रगृहीतः (४), चतुर्थं पद भवति। भवति च अत्र श्लोक,-

प्रार्थयते हितानुशासन , शुश्रूषति तच्च पुनरधितिष्ठति ।
न च मान-मदेन माद्यति , विनयसमाधौ आयतार्थिकः ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(विणयसमाही) विनय समाधि (खलु) निश्चय से (चउव्विहा) चार प्रकार की (भवइ) होती है, (तजहा) जैसे कि-(अणुसासिज्जंतो) गुरु द्वारा अनुशासित किया हुआ +(सुस्सूसई) गुरुश्री के वचनों को सुनने की इच्छा करे १, (सम्मं) सम्यक् प्रकार से गुरुवचनों को (सपडिवज्जइ) समझे २, (वेय) श्रुतज्ञान की (आराहइ) आराधना करे ३, (च) तथा

+ यह शुश्रूषति क्रियापद, यहां सम्यक् ज्ञान के अर्थमें लिया है। कारण कि धातुएँ अनेकार्थक होती हैं।

संसार में जितने भी कार्य होते हैं वे सबके सब किसी न किसी प्रयोजन को लेकर ही होते हैं। बिना प्रयोजन के मूर्ख से मूर्ख पागल से पागल भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। अस्तु गुरुश्री शिष्य को विनय समाधि स्थानों का प्रयोजन भी बतलाते हैं—हे धर्म प्रिय! शिष्य! जो मोक्षप्रिय आदि भव्य साधुओं के जीतने वाले मुनि अपनी आत्मा को चारों समाधि स्थानों में प्रयुक्त करते हैं वे ही वस्तुतः सच्चे पंडित होते हैं।

पण्डित पद, एक बहुत ही ऊंचा एवं सर्वप्रिय पद है। इस पद की प्राप्ति के लिए मनुष्य, अनेकानेक घोर कष्टों का भार सिर पर उठाते हैं, परन्तु इसे पा नहीं सकते। क्योंकि इस पद का प्राप्त करना कुछ हंसी-खेल नहीं है। कई लोगों का ध्यान है कि शास्त्रों के पढ लेने से मनुष्य पण्डित बन सकता है, किन्तु यह बात नहीं, पंडिताई का घर बहुत दूर है। सच्चा पंडित तो सूत्रोक्त चारों समाधि स्थानों के धारण करने सेही बना जा सकता है। आज कल के पण्डितपदप्रिय महानुभाव, ध्यान दें, पण्डित पद पर कितना उत्तरदायित्व है।

गाथासूत्र में जो 'अभिरामयन्ति' क्रियापद दिया है, सो यह 'रमु धातु, यहाँ 'युज्' धातु के अर्थ में गृहीत है। क्यों कि धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं।

उत्थानिका—अब विनयके भेदों के विषयमें कहते हैं—

चउव्विहा खलु विणयसमाही, तंजहा— अणुसासिज्जंतो सुस्सूसइ (१) सम्मं संपडिवज्जइ (२) वेयमाराहइ (३) न य भवइ अत्तसंपग्गहिए (४) चउत्थं

भाष्य—इस सूत्र-पाठमें विनय समाधि के चार भेद वर्णन किये गये हैं। यथा—जब गुरुश्री सदुपदेश दें तब शिष्य को गुरुश्री का सदुपदेश इच्छा पूर्वक सुनना चाहिये और सुनकर विचार विनिमय द्वारा उस उपदेश के तत्त्वको सम्यक प्रकार से समझना चाहिये, क्यों कि बिना समझ के सुनना व्यर्थ होता है। समझ लेने मात्र से भी कुछ कार्य सिद्धि नहीं होजाती समझ लेने के बाद श्रुतज्ञान की आराधना करनी चाहिये अर्थात् जैसे सुने और समझे वैसेही क्रियाकाण्ड करके श्रुतज्ञान को सफली भूत करना चाहिये। क्रिया काण्ड करने से भी कुछ नहीं होता यदि क्रिया के साथ अभिमान का पिशाच लगा हुआ हो, अतएव श्रुतानुसार क्रियाकाण्ड करते समय अपनी करनी का गर्व भी नहीं करना चाहिये कि—एक मैं ही विनीत साधु हूं, अन्य सब साधु मुझसे अधिक हीन हैं आदि। अहंकार के करने से विनय धर्म समूल नष्ट हो जाता है।

संक्षिप्त रूपसे विनयसमाधि की सिद्धि का श्लोक रूपमें कहा हुआ यह भाव है कि—आचार्य और उपाध्याय आदि गुरुजनों के पास उभयलोक कल्याणकारिणी शिक्षाओं के सुननेकी प्रार्थना करनी चाहिये, और फिर उस शिक्षाको सम्यक् प्रकार से समझना चाहिये। इतनाही नहीं किन्तु, समझ लेने के पश्चात् यथोक्त रूपसे क्रियाओं का अनुष्ठान करना चाहिये और साथही अपने चारित्र का किसी भी प्रकार से अभिमान भी नहीं करना चाहिये। क्यों कि जो विनयसमाधि की कथित नीति पर चलता है वही आत्मार्थी होता है।

सूत्रकारने जो 'पेहमाराधयति' पद दिया है, उस पर यदि यह शङ्का उठायी जाय कि, क्या यहाँ पेह शब्द से लौकिक वेदों का ग्रहण है तो उत्तरमें कहना है कि—यहाँ सूत्रमें लौकिक वेदोंका कोई

(अपसपग्गहीए) आत्म प्रशंसक भी (न भवइ) न होवे। (चउत्थपयं) यह चतुर्थ पद (भवइ) होता है (अ) और (इत्थ) इस पर (सिलोगो) यह श्लोक (भवइ) है—

(आययट्ठिए) मोक्षार्थी साधु (हिआणुसासणं) हितकारी अनुशासन की (पेहेइ) आचार्य और उपाध्याय से प्रार्थना करे, (च) तथा (तं) आचार्योक्त उपदेश को (सुस्सूसइ) तथ्यरूप से प्रमाणीभूत जाने, (पुणो) तथा (अहिट्ठिए) जैसा जाने वैसा आचरण करे, किन्तु आचरण करता हुआ (विणयसमाहि) विनय समाधि में (माणमएण) अभिमान के मद से (न मज्जइ) उद्धत न होवे ॥२॥

मूलार्थ—विनय समाधि चार प्रकार की होती है। यथा—गुरुद्वारा शासित हुआ, गुरुश्री के सुभाषित वचनों को सुनने की इच्छा करे १, गुरु वचनों को सम्यक् प्रकार से समझ-बूझे २, श्रुत ज्ञान की पूर्णतया आराधना करे ३, तथा गर्व से आत्म-प्रशंसा न करे ४। यह चतुर्थ पद है, इस पर एक श्लोक है—

जो मुनि, गुरु-जनों से कल्याणकारी शिक्षण के सुनने की प्रार्थना करता है; सुनकर उसका यथार्थ रूप से परिबोध करता है; तथा श्रवण एवं परिबोध के अनुसार ही आचरण करता है, साथ ही आचरण करता हुआ विनय समाधि के विषय में किसी प्रकार का गर्व भी नहीं करता है, वही सच्चा आत्मार्थी-मोक्षार्थी होता है ॥ २ ॥

भाष्य—इस सूत्र-पाठमें विनय समाधि के चार भेद वर्णन किये गये हैं। यथा—जब गुरुजी सदुपदेश दें तब शिष्य को गुरुजी का सदुपदेश इच्छा पूर्वक सुनना चाहिये और सुनकर विचार विनिमय द्वारा उस उपदेश के तत्वको सम्यक् प्रकार से समझना चाहिये, क्यों कि बिना समझ के सुनना व्यर्थ होता है। समझ लेने मात्र से भी कुछ कार्य सिद्धि नहीं होजाती समझ लेने के बाद श्रुतज्ञान की आराधना करनी चाहिये अर्थात् जैसे सुने और समझे वैसेही क्रियाकाण्ड करके श्रुतज्ञान को सफली भूत करना चाहिये। क्रिया काण्ड करने से भी कुछ नहीं होता यदि क्रिया के साथ अभिमान का पिशाच लगा हुआ हो; अतएव श्रुतानुसार क्रियाकाण्ड करते समय अपनी करनी का गर्व भी नहीं करना चाहिये कि—एक मैं ही विनीत साधु हूँ अन्य सब साधु मुझसे अधम हीन हैं आदि। अहंकार के करने से विनय धर्म समूल नष्ट हो जाता है।

संक्षिप्त रूपसे विनयसमाधि की सिद्धि का श्लोक रूपमें कहा हुआ यह भाव है कि—आचार्य और उपाध्याय आदि गुरुजनों के पास उभयलोककल्याणकारिणी शिक्षाओं के सुननेकी प्रार्थना करनी चाहिये, और फिर उस शिक्षाको सम्यक् प्रकार से समझना चाहिये। इतनाही नहीं किन्तु, समझ लेने के पश्चात् यथोक्त रूपसे क्रियाओं का अनुष्ठान करना चाहिये और साथही अपने चारित्र का किसी भी प्रकार से अभिमान भी नहीं करना चाहिये। क्यों कि जो विनयसमाधि की कथित नीति पर चलता है वही आत्मार्थी होता है।

सूत्रकारने जो 'वेदमाराधयति' पद दिया है, उस पर यदि यह शङ्का उठायी जाय कि, क्या यहाँ वेद शब्द से लौकिक वेदों का ग्रहण है तो उसमें कहना है कि—यहाँ सूत्रमें लौकिक वेदोंका कोई

(अत्तसंपग्गहीए) आत्म प्रशंसक भी (न भवइ) न होवे। (चउत्थपयं) यह चतुर्थ पद (भवइ) होता है (अ) और (इत्थ) इस पर (सिलोगो) यह श्लोक (भवइ) है—

(आययट्ठिए) मोक्षार्थी साधु (हिआणुसासणं) हितकारी अनुशासन की (पेहेइ) आचार्य और उपाध्याय से प्रार्थना करे, (च) तथा (तं) आचार्योक्त उपदेश को (सुस्सूसइ) तथ्यरूप से प्रमाणीभूत जाने, (पुणो) तथा (अहिट्ठिए) जैसा जाने वैसा आचरण करे; किन्तु आचरण करता हुआ (विणयसमाहि) विनय समाधि में (माणमएण) अभिमान के मद से (न मज्जइ) उद्धत न होवे ॥२॥

मूलार्थ—विनय समाधि चार प्रकार की होती है। यथा—गुरुद्वारा शासित हुआ, गुरुश्री के सुभाषित वचनों को सुनने की इच्छा करे १, गुरु वचनों को सम्यक् प्रकार से समझे-बूझे २, श्रुत ज्ञान की पूर्णतया आराधना करे ३, तथा गर्व से आत्म-प्रशंसा न करे ४। यह चतुर्थ पद है, इस पर एक श्लोक है—

जो मुनि, गुरु-जनों से कल्याणकारी शिक्षण के सुनने की प्रार्थना करता है, सुनकर उसको यथार्थ रूप से परिबोध करता है; तथा श्रवण एवं परिबोध के अनुसार ही आचरण करता है; साथ ही आचरण करता हुआ विनय समाधि के विषय में किसी प्रकार का गर्व भी नहीं करता है; वही सच्चा आत्मार्थी-मोक्षार्थी होता है ॥ २ ॥

चतुर्विधः खलु श्रुतसमाधि भवति, तद्यथा-श्रुत मे भविष्यतीति अध्येतव्यं भवति (१) एकाग्र चित्तो भविष्यामीति अध्येतव्यं भवति (२) आत्मान स्थापयिष्यामीति अध्येतव्य भवति (३) स्थितः परं स्थापयिष्यामीति अध्येतव्य भवति (४), चतुर्थ पद भवति, भवति चात्र श्लोक,-

ज्ञानमेकाग्रचित्तश्च , स्थितश्च स्थापयति परम् ।
श्रुतानि च अधीत्य , रत श्रुतसमाधौ ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(सुअसमाही) श्रुत समाधि (खलु) निश्चय से (चउव्विहा) चार प्रकार की (भवइ) होती है, (तजहा) जैसे कि-(मे) मुझे (सुअ) आचारांगादि श्रुतज्ञान (भविस्सइ) प्राप्त होगा (त्ति) अत (अज्झाइअव्वय) अध्ययन करना उचित (भवइ) है, श्रुतज्ञान से (एगग्गचित्तो) मैं एकाग्रचित्त वाला (भविस्सामि) होजाऊँगा (त्ति) अत (अज्झाइअव्वय) अध्ययन करना (भवइ) होता है, एकाग्रचित्तता से (अप्पाण) अपनी आत्मा को (ठावइस्सामि) स्वधर्म में स्थापित करूँगा (त्ति) अतः (अज्झाइअव्वय) अध्ययन करना (भवइ) ठीक है, तथा (ठिओ) स्वधर्म में स्थित हुआ मैं (पर) अन्य को भी धर्म के विषय में (ठावइस्सामि) स्थापित करूँगा (त्ति) अतः (अज्झाइअव्वय) अध्ययन करना उचित (भव) है। यह अन्तिम (चउत्थं) चतुर्थ (पदं) पद (भवइ) है (अ) एव (इत्थ) इसपर (सिलोगो) एक श्लोक (भवइ) है;—

अधिकार नहीं है, किन्तु प्रस्तुत विषय लोकोत्तर होनेसे 'वेद' शब्द से यहाँ श्रुतज्ञान का ही ग्रहण है। क्यों कि—"वेद्यते ऽनेनेति वेदः श्रुतज्ञानं, तद् यथावदनुष्ठानपरतया सफलीकरोति"—जिससे जीवाजीवादि पदार्थ सम्यक् रूपसे जान जायं, वही वेद है, उसीका अपर नाम श्रुत-ज्ञान है, इस उपर्युक्त वेद शब्द व्युत्पत्ति से यावन्मात्र श्रुतज्ञान सब वेद हैं। अस्तु श्रुतज्ञान सम्बन्धी समस्त पुस्तकें वेद संज्ञक हो सकती हैं अथवा आचारांग वेद, सूत्रकृतांग वेद, स्थानांग वेद—इस भाँति सभी सूत्रों के विषयमें वेद शब्द को प्रयुक्त कर सकते हैं ॥२॥

उत्थानिका—अब, श्रुत-समाधिके विषय में कहा जाता है—

चउव्विहा खलु सुअसमाही भवइ, तजहा—सुअं मे भविस्सइत्ति अज्झाइअव्वं भवइ (१) एगग्गचित्तो भविस्सामित्ति अज्झाइअव्वय भवइ (२) अप्पाणं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइअव्वय भवइ (३) ठिओ परं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइअव्वय भवइ (४), चउत्थं पयं भवइ, । भवइ अ इत्थ सिलोगो ।

नाणमेगग्गचित्तो अ , ठिओ अ ठावई परं ।
सुआणि अ अहिज्जित्ता , रओ सुअसमाहिए ॥ ३ ॥

चतुर्विधः खलु श्रुतसमाधि भवति, तद्यथा-श्रुत मे भविष्यतीति अध्येतव्य भवति (१) एकाग्र चित्तो भविष्यामीति अध्येतव्यं भवति (२) आत्मान स्थापयिष्यामीति अध्येतव्य भवति (३) स्थितः पर स्थापयिष्यामीति अध्येतव्य भवति (४), चतुर्थ पद भवति, भवति चात्र श्लोक,–

ज्ञानमेकाग्रचित्तश्च , स्थितश्च स्थापयति परम् ।
श्रुतानि च अधीत्य , रत श्रुतसमाधौ ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(सुअसमाही) श्रुत समाधि (खलु) निश्चय से (चउव्विहा) चार प्रकार की (भवइ) होती है, (तजहा) जैसे कि–(मे) मुझे (सुअं) आचारांगादि श्रुतज्ञान (भविस्सइ) प्राप्त होगा (त्ति) अत (अज्झाइअव्वय) अध्ययन करना उचित (भवइ) है, श्रुतज्ञान से (एगग्गचित्तो) मै एकाग्रचित्त वाला (भविस्सामि) होजाऊँगा (त्ति) अत (अज्झाइअव्वय) अध्ययन करना (भवइ) होता है, एकाग्रचित्तता से (अप्पाण) अपनी आत्मा को (ठावइस्सामि) स्वधर्म में स्थापित करूँगा (त्ति) अतः (अज्झाइअव्वय) अध्ययन करना (भवइ) ठीक है, तथा (ठिओ) स्वधर्म में स्थित हुआ मै (पर) अन्य को भी धर्म के विषय में (ठावइस्सामि) स्थापित करूँगा (त्ति) अतः (अज्झाइअव्वय) अध्ययन करना उचित (भव) है । यह अन्तिम (चउत्थं) चतुर्थ (पदं) पद (भवइ) है (अ) एव (इत्थ) इसपर (सिलोगो) एक श्लोक (भवइ) है;–

अधिकार नहीं है किन्तु प्रस्तुत विषय लोकोत्तर होनेसे 'वेद' शब्द से यहाँ श्रुतज्ञान का ही ग्रहण है। क्योंकि-'वेद्यतेऽनेनेति वेदः श्रुतज्ञानं, तद् यथाकानुष्ठानपरतया सफलीकरोति'—जिससे जीवाजीवादि पदार्थ सम्यक् रूपसे जाने जायं, वही वेद है, उसीका अपर नाम श्रुत-ज्ञान है, इस उपर्युक्त वेदकी व्युत्पत्ति से यावन्मात्र श्रुतज्ञान सब वेद हैं। अस्तु श्रुतज्ञान सम्बन्धी समस्त पुस्तकें वेद वाचक होने से आचाराङ्ग वेद सूत्रकृताङ्ग वेद, स्थानाङ्ग वेद-इस भाँति सभी सूत्रों के विषयमें वेद शब्द को प्रयुक्त कर सकते हैं ॥२॥

उत्थानिका—अब, श्रुत-समाधिके विषय में कहा जाता है—

चउव्विहा खलु सुअसमाही भवइ, तजहा—सुअं मे भविस्सइत्ति अज्झाइअव्वं भवइ (१) एगग्गचित्तो भविस्सामित्ति अज्झाइअव्वयं भवइ (२) अप्पाणं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइअव्वयं भवइ (३) ठिओ परं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइअव्वयं भवइ(४), चउत्थं पयं भवइ, । भवइ अ इत्थ सिलोगो।

नाणमेगग्गचित्तो अ, ठिओ अ ठावई परं।
सुआणि अ अहिज्जित्ता, रओ सुअसमाहिए ॥३॥

चतुर्विधः खलु श्रुतसमाधि भवति, तद्यथा-श्रुत मे भविष्यतीति अध्येतव्यं भवति (१) एकाग्र चित्तो भविष्यामीति अध्येतव्यं भवति (२) आत्मान स्थापयिष्यामीति अध्येतव्य भवति (३) स्थितः पर स्थापयिष्यामीति अध्येतव्य भवति (४), चतुर्थ पद भवति, भवति चात्र श्लोकः,-

ज्ञानमेकाग्रचित्तश्च , स्थितश्च स्थापयति परम् ।
श्रुतानि च अधीत्य , रत श्रुतसमाधौ ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(सुअसमाही) श्रुत समाधि (खलु) निश्चय से (चउव्विहा) चार प्रकार की (भवइ) होती है, (तजहा) जैसे कि-(मे) मुझे (सुअ) आचारांगादि श्रुतज्ञान (भविस्सइ) प्राप्त होगा (त्ति) अत (अज्झाइअव्वय) अध्ययन करना उचित (भवइ) है, श्रुतज्ञान से (एगग्गचित्तो) मै एकाग्रचित्त वाला (भविस्सामि) होजाऊँगा (त्ति) अत (अज्झाइअव्वय) अध्ययन करना (भवइ) होता है, एकाग्रचित्तता से (अप्पाण) अपनी आत्मा को (ठावइस्सामि) स्वधर्म में स्थापित करूँगा (त्ति) अतः (अज्झाइअव्वय) अध्ययन करना (भवइ) ठीक है, तथा (ठिओ) स्वधर्म में स्थित हुआ मैं (पर) अन्य को भी धर्म के विषय में (ठावइस्सामि) स्थापित करूँगा (त्ति) अतः (अज्झाइअव्वय) अध्ययन करना उचित (भव) है। यह अन्तिम (चउत्थ) चतुर्थ (पद) पद (भवइ) है (अ) एथ (इत्थ) इसपर (सिलोगो) एक श्लोक (भवइ) है,-

जो साधु नित्यप्रति श्रुतज्ञान का अध्ययन करने वाला है, वह (नाण) सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति करता है, (एगग्गचित्तो) चित्त को एकाग्र करता है (ठिओ) अपने आत्मिक—धर्म में स्थित होता है, तथा (पर) दूसरे को भी (ठावयइ) धर्म में स्थापन करता है, और (सुआणि) नानाविध श्रुतज्ञान का (अहिज्जित्ता) अध्ययन कर (सुसमाहिए) श्रुतसमाधि के विषय में (रओ) रत रहता है। अतः मुनि को श्रुताध्ययन अवश्यमेव करना चाहिये ॥ ६ ॥

मूलार्थ—श्रुतसमाधि चतुर्विध होती है। यथा—मुझे वास्तविक श्रुतज्ञान की प्राप्ति होगी, अतः मुझे अध्ययन करना चाहिये १, मेरा चचल चित्त एकाग्र हो जायगा, अतः मुझे अध्ययन करना उचित है २, मैं अपनी आत्मा को आत्मिकधर्म में स्थापित कर सकूँगा, अतः मुझे श्रुत का अभ्यास करना चाहिये ३, मैं स्वय धर्म में स्थित होकर दूसरे भव्य जीवों को भी धर्म में स्थापन करूँगा, एतदर्थ मुझे शास्त्र का पठन करना ठीक है। यह चतुर्थ पद हुआ, इसपर एक श्लोक भी है-

जो मुनि शास्त्राध्ययन करते हैं, उनका ज्ञान विस्तीर्ण होता है, चित्तकी एकाग्रता होती है, तथा वे धर्म में स्वय स्थिर होते हैं और दूसरों को भी धर्म में स्थिरीभूत करते हैं। शास्त्राभ्यासी मुनि, नाना प्रकार के श्रुतों का सम्यग् अध्ययन कर के, श्रुतसमाधि के विषय में पूर्ण अनुरक्त हो जाते हैं ॥३॥

भाष्य—अब सूत्रकार विनय समाधि के कथन के पश्चात् श्रुत-समाधि के विषय में वर्णन करते हैं। यथा—शास्त्रोंका अध्ययन करने से आचारांग आदि सूत्र पूर्णतया एवं अस्खलित हो जाते हैं। तथा चित्तवृत्ति अचल होकर एकाग्र होजाती है। तथा आत्मा अहिंसा सत्य आदि आत्मिक धर्म में पूर्णतः स्थिर हो जाती है। तथा धर्म से डिगते हुये या डिगे हुये अन्य जीवों को भी धर्म में पुनः स्थिर करने का सामर्थ्य हो जाता है। अतएव शिष्य का कर्तव्य है कि—वह अन्य सभी आवश्यक कार्यों से योग्य अवकाश काट कर स्वमत परमत के पूर्ण ज्ञाता आचार्यों के पास विनय पूर्वक श्रुत शास्त्रों का अध्ययन करे।

सूत्रकारने जो ये ऊपर चार बातें शास्त्राध्ययन के लिये बतलाई हैं, सो बड़ा ही महत्त्व पूर्ण हैं। इन के ऊपर वाचक वृन्द को मनन पूर्वक पूरा-पूरा लक्ष्य देना चाहिये। बिना अध्ययन के मनुष्य, मनुष्यत्व शून्य होता है। वह प्राचीन शास्त्रों के गूढ़रहस्यों को नहीं समझ सकता। कभी कभी वह अपनी अज्ञता की अहं मन्यता में आकर ऐसा अर्थ का अनर्थ कर डालता है कि जिससे स्वय भी डूबता है और साथ ही अपने साथियों को भी ले डूबता है। अज्ञानी मनुष्य का कोई निश्चित ध्येय भी नहीं होता है। वह लोगों की देखा-देखी पर ही अपना ध्येय रखता है। उसकी हालत इधर उधर लुढ़क जाने वाले बिना पैंदी के बधने जैसी होती है। अध्ययनहीन प्राणी धर्म करता हुआ भी धर्म में स्थिर नहीं होता। वह किसी आकस्मिक विपत्ति या प्रलोभन के आनेपर सहसा धैर्यच्युत होजाता है और धर्म कर्म से सर्वथा भ्रष्ट होकर पापपङ्क से मलिन होजाता है। अस्तु, जब अज्ञानी स्वय ही धर्मकर्म की मर्यादा पर ध्रुव रूप से स्थिर नहीं रह सकता तो भला फिर वह दूसरों को किस

जो साधु नित्यप्रति श्रुतज्ञान का अध्ययन करने वाला है, वह (नाण) सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति करता है, (एगग्गचित्तो) चित्त को एकाग्र करता है (ठिओ) अपने आत्मिक-धर्म में स्थित होता है, तथा (परं) दूसरे को भी (ठावयइ) धर्म में स्थापन करता है, और (सुआणि) नानाविध श्रुतज्ञान का (अहिज्जित्ता) अध्ययन कर (सुसमाहिए) श्रुतसमाधि के विषय में (रओ) रत रहता है। अतः मुनि को श्रुताध्ययन अवश्यमेव करना चाहिये ॥ ३ ॥

मूलार्थ—श्रुतसमाधि चतुर्विध होती है। यथा—मुझे वास्तविक श्रुतज्ञान की प्राप्ति होगी, अतः मुझे अध्ययन करना चाहिये १, मेरा चंचल चित्त एकाग्र हो जायगा, अतः मुझे अध्ययन करना उचित है २, मैं अपनी आत्मा को आत्मिकधर्म में स्थापित कर सकूँगा, अतः मुझे श्रुत का अभ्यास करना चाहिये ३, मैं स्वय धर्म में स्थित होकर दूसरे भव्य जीवों को भी धर्म में स्थापन करूँगा, एतदर्थ मुझे शास्त्र का पठन करना ठीक है। यह चतुर्थ पद हुआ, इसपर एक श्लोक भी है-

जो मुनि शास्त्राध्ययन करते हैं, उनका ज्ञान विस्तीर्ण होता है, चित्तकी एकाग्रता होती है, तथा वे धर्म में स्वय स्थिर होते हैं और दूसरों को भी धर्म में स्थिरीभूत करते हैं। शास्त्राभ्यासी मुनि, नाना प्रकार के श्रुतों का सम्यग् अध्ययन कर के, श्रुतसमाधि के विषय में पूर्ण अनुरक्त हो जाते हैं ॥३॥

...य समाधि के कथन के पश्चात् श्रुत-समाधि के विषय में वर्णन करते
भाष्य—अब सूत्रकार, ...य समाधि के कथन के पश्चात् श्रुत-समाधि के विषय में वर्णन करते हैं। यथा—शास्त्रोंका अध्ययन करने से आचाराङ्ग आदि सूत्र पूर्णतया पक्व एवं अस्खलित हो जाते हैं। तथा चित्तवृत्ति अचल होकर एकाग्र होजाती है। तथा आत्मा अहिंसा सत्य आदि आत्मिक धर्म में पूर्णतः स्थिर हो जाती है। तथा धर्म से डिगते हुये या डिगे हुये अन्य जीवों को भी धर्म में पुनः स्थित करने का सामर्थ्य हो जाता है। अतएव शिष्य का कर्तव्य है कि—वह अन्य सभी आवश्यक कार्यों से योग्य अवकाश काढ कर, स्वमत परमत के पूर्ण ज्ञाता आचार्यों के पास विनय पूर्वक श्रुत शास्त्रों का अध्ययन करे।

सूत्रकारने जो ये ऊपर चार बातें शास्त्राध्ययन के लिये बतलाई हैं, सो बड़ी ही महत्त्व पूर्ण हैं। इन के ऊपर पाठक वृन्द को मनन पूर्वक पूरा-पूरा लक्ष्य देना चाहिये। बिना अध्ययन के मनुष्य, मनुष्यत्व शून्य होता है। वह प्राचीन शास्त्रों के गूढ़रहस्यों को नहीं समझ सकता। कभी कभी वह अपनी अज्ञता की अहंमन्यता में आकर ऐसा अर्थ का अनर्थ कर डालता है कि जिससे स्वयं भी डूबता है और साथ ही अपने साथियों को भी ले डूबता है। अज्ञानी मनुष्य का कोई निश्चित ध्येय भी नहीं होता है। वह लोगों की देखा-देखी पर ही अपना ध्येय रखता है। उसकी हालत इधर उधर लुढ़क जाने वाले बिना पेंदी के बधने जैसी होती है। अध्ययनहीन प्राणी धर्म करता हुआ भी धर्म में स्थिर नहीं होता। वह किसी आकस्मिक विपत्ति या प्रलोभन के आनेपर सहसा धैर्यच्युत होजाता है और धर्म कर्म से सर्वथा भ्रष्ट होकर पापपङ्क से मलिन होजाता है। अस्तु, जब अज्ञानी स्वय ही धर्मकर्म की मर्यादा पर ध्रुव रूप से स्थिर नहीं रह सकता तो भला फिर वह दूसरों को किस

प्रकार स्थिर कर सकेगा। जो स्वय तैरना नहीं जानता, वह कैसे दूसरों को तैरना सिखा सकता है। अस्तु, उपर्युक्त समग्र विचारों को लेकर आत्मार्थी जीवों को रुचता से श्रुताभ्यास करना चाहिए।

सूत्रकर्त्ता ने जो ये अध्ययन के फल बतलाए हैं, इससे यह भाव भी निकलता है कि—जिज्ञासु को इन्हीं शुभ उद्देशों को लेकर शास्त्राध्ययन करना चाहिए। मान-प्रतिष्ठा के फेर में कदापि नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि—शास्त्राध्ययन जैसे महापरिश्रम का फल मान-प्रतिष्ठा माँगना, मानों महा मूल्यवान् हीरे के बदले फूटी कौड़ी माँगना है॥ ३॥

उत्थानिका—अब, तपः समाधि के विषय में कहते हैं—

चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ, तंजहा—नो इह लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा (१) नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा (२) नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा (३) नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा (४), चउत्थपयं भवइ। भवइ अ इत्थ सिलोगो—

विविहगुणतवोरए, निच्चं भवइ निरासए निज्जरट्ठिए।
तवसा धुणइ पुराणपावगं, जुत्तो सया तवसमाहिए॥ ४॥

चतुर्विधः खलु तपः समाधि र्भवति; तद्यथा न इह लोकार्थं तपोऽधितिष्ठेत् (१) न परलोकार्थं तपोऽधितिष्ठत् (२) न कीर्ति वर्ण शब्द श्लाघार्थं तपोऽधितिष्ठेत् (३) नान्यत्र निर्जरार्थं तपोऽधितिष्ठेत्, (४) चतुर्थं पद भवति । भवति चात्र श्लोकः,—

विविधगुणतपोरतः , नित्य भवति निराश निर्जरार्थिकः ।
तपसा धुनोति पुराणपाप , युक्तः सदा तपः समाधौ ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(**तवसमाही**) तप समाधि (**खलु**) निश्चय से (**चउव्विहा**) चार प्रकार की (**भवइ**) होती है, (**तजहा**) जैसे कि (**इहलोगट्ठयाए**) इस लोक के वास्ते (**तव**) तप (**नो अहिट्ठिज्जा**) न करे, तथा (**परलोगट्ठयाए**) परलोक के वास्ते भी (**तव**) तप (**नो अहिट्ठिज्जा**) नहीं करे, तथा (**कित्ति वण्णसद्दसिलोगट्ठयाए**) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के वास्ते भी (**तवं**) तप (**नो अहिट्ठिज्जा**) न करे, भाव यह है कि (**अन्नत्थनिज्जरट्ठयाए**) कर्म निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य के वास्ते भी (**तव**) तप (**नो अहिट्ठिज्जा**) न करे (**चउत्थ पद**) यह चतुर्थ पद (**भवइ**) होता है (**अ**) और (**इत्थ**) इस विषय पर (**सिलोगो**) एक श्लोक है—

जो (**तवसमाहीए**) तप समाधि के विषय में (**सया**) सदा (**जुत्तो**) युक्त रहने वाला (**विविह गुणतवोरए**) विविधगुणयुक्त तप में रत रहने वाला (**निरासए**) इस लोक और परलोक की आशा-

नहीं रखने वाला, तथा (निज्जरट्ठयाए) निर्जरा का अर्थी (भवइ) होता है, वह (तवसा) तप से (पुराणपावगं) पुरातन पाप कर्मों को (धुणइ) दूर करदेता है ॥ ४ ॥

मूलार्थ—तप समाधि चतुर्विध होती है। यथा-तपस्वी साधु इहलौकिक सुखों के लिये तप न करे १, पारलौकिक स्वर्गादि सुखों के लिये तप न करे २, कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के लिये भी तप न करे ३, बस केवल एक सञ्चित कर्मों की निर्जरा के लिये ही तप करे ४। यह चतुर्थ पद है, इस पर एक संग्रह श्लोक भी कहागया है—

जो मुनि तप समाधि के विषय में सदा युक्त रहता है, नानाविध गुणोंवाली उग्रतपश्चर्या में रत रहता है, किसी प्रकार की लौकिक एवं पारलौकिक आशा भी नहीं रखता है, केवल एक कर्म-निर्जरा का ही लक्ष्य रखता है, वही पुराने पापकर्मों को नष्ट कर अपनी आत्मा को परम विशुद्ध करता है ॥ ४ ॥

भाष्य—श्रुतसमाधि के पश्चात् अब सूत्रकार, तपः समाधि के विषय में विवेचन करते हैं। यथा—तपस्वी साधु को इस लोक की आशा रख कर तप नहीं करना चाहिए; जैसे कि—इस तप से मुझे तेजोलेश्या आदि लब्धि की प्राप्ति हो जायगी या मेरा अमुक कार्य सिद्ध हो जायगा। तथा परलोक की आशा रखकर भी तप नहीं करना चाहिये, जैसे कि मुझे आगामी जन्म में इससे सांसारिक

सुखोपभोगों की प्राप्ति होगी। तथैव यश कीर्ति आदिके लिये भी तप नहीं करना चाहिये, क्यों कि
ऐसा करने से आत्मा में दुर्बलता आती है और आत्मा में दुर्बलता के आते ही मनुष्य लक्ष्यभ्रष्ट हो
जाता है। जब लक्ष्यभ्रष्टता आगई तो फिर मनुष्यता कहाँ? क्यों कि लक्ष्यभ्रष्टताका मनुष्यता के
साथ घोर विरोध है और पिशुनता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध।

अब प्रश्न होता है कि—यदि इस हेतु तप नहीं करना तो फिर किस हेतु करना? आखिरकार
कोई न कोई हेतु तो होता ही है? बिना किसी हेतु के कोई किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होसकता।
सूत्रकार उत्तर देते हैं कि हमेशा कर्मों की निर्जरा के लिये ही तप करना चाहिये। क्योंकि इसी से
वास्तविक मोक्ष सुख प्राप्त होता है। जो लोग किसी सांसारिक सुखों की आशा से तप करते हैं,
उनकी आशा तो अवश्यमेव पूर्ण होजाती है किन्तु वे अनन्त स्थायी निर्वाण पद प्राप्त न करके संसार
चक्र में ही परिभ्रमण करते हैं। उनकी दशा ठीक ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के समान होती है जिसने
तपोबल से पौद्गलिक सुख तो खूब प्राप्त किये; किन्तु अन्त में नर्क यातना से नहीं बच सका।

सूत्र में जो कीर्ति, वर्ण शब्द और श्लोक शब्द दिये हैं उनका क्रमशः यह तात्पर्य है—(१)
समस्त दिग्व्यापी यशोवाद को कीर्ति कहते हैं (२) एक दिग्व्यापी यश को वर्ण कहते हैं। (३)
अर्द्ध दिग्व्यापी यश को शब्द कहते हैं। (४) उसी स्थान पर होने वाले यश को श्लोक कहते हैं-
इन चारों बातों के लिये तप करना निषिद्ध किया है॥ ४॥

उत्थानिका—अब, आचार समाधि के विषय में कहते हैं—

चउव्विहा खलु आयारसमाही भवइ, तंजहा—नो इह लोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा (१) नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा (२) नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा (३) नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा (४) चउत्थं पयं भवइ। भवइ अ इत्थ सिलोगो—

जिणवयणरए अतिंतिणे, पडिपुन्नाययमाययट्ठिए।
आयारसमाहिसंवुडे, भवइ अ दंते भावसंधए॥ ५॥

चतुर्विधः खलु आचारसमाधि भवति तद्यथा—नेह लोकार्थमाचारमधितिष्ठेत् (१) न परलोकार्थमाचारमधितिष्ठेत् (२) न कीर्तिवर्णशब्दश्लोकार्थमाचारमधितिष्ठेत् (३) नान्यत्र आर्हतैर्हेतुभिराचारमधितिष्ठेत् (४) चतुर्थं पदं भवति। भवति चात्र श्लोकः,-

जिनवचनरतः अतिन्तिनः, प्रतिपूर्णः आयतमार्थिकः।
आचारसमाधिसंवृतः, भवति च दान्तः भावसन्धकः॥ ५॥

अन्वयार्थ—(आयारसमाही) आचार समाधि (खलु) निश्चयसे (चउव्विहा) चतुर्विध

(भवइ) होती है (तंजहा) जैसे कि (इहलोगट्ठयाए) इस लोक के वास्ते (आयार) आचार का (नो अहिट्ठिज्जा) न करे, तथा (परलोगट्ठयाए) पर लोक के वास्ते (आयार) आचार पालन (नो अहिट्ठिज्जा) न करे, तथा (कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए) कीर्ति, वर्ण शब्द और श्लाघा के वास्ते भी (आयार) आचार का (नो अहिट्ठिज्जा) आराधन न करे, तथा (आरहंतेहिंहेऊहिं) अर्हत् प्रणीत सैद्धान्तिक हेतुओं के विना (आयार) आचार का (नो अहिट्ठिज्जा) अनुष्ठान न करे यानी आर्हत हेतुओं को लेकर ही आचार-पालन करे (चउत्थं पयं) यह चतुर्थ पद (भवइ) होता है (अ) तथा (इत्थ) इस विषय पर (सिलोगो) एक श्लोक (भवइ) है—

(जिणवयणरए) जिन वचनों में रत रहने वाला (अतिंतिणे) कटु वचनों पर किसी प्रकार का कटु उत्तर नहीं देने वाला (पडिपुन्न)सूत्रों को पूर्ण रूप से जानने वाला (आययं) अतिशय पूर्वक (आययट्ठिए) मोक्ष का चाहने वाला (दंते) मन और इन्द्रियों को वश में रखने वाला (आयारसमाहीसंवुडे) आचार समाधि द्वारा आश्रव का निरोध करने वाला मुनि (भावसंधए) मोक्ष गामी होता है ॥ ५ ॥

मूलार्थ—आचार समाधि के चार भेद वर्णित किये हैं। यथा—इस लोक के लिये चारित्र का पालन नहीं करना चाहिये १, परलोक के लिये चारित्र पालन नहीं करना चाहिये २, तथा कीर्ति,

वर्ण, शब्द और श्लोक के लिये भी आचारपालन नहीं करना चाहिये ३, केवल अर्हत् पद की प्राप्ति के लिये ही आचार पालन करना चाहिये ४, यही चतुर्थ पद है। इसपर एक गाथा भी कही गई है—

जिनप्रवचनों पर अटल श्रद्धा रखने वाला, निन्दक मनुष्यों को कभी कडुआ उत्तर नहीं देने वाला, शास्त्रों के गूढरहस्यों को प्रतिपूर्ण रूप से समझने वाला, मोक्ष को अतिशय पूर्वक चाहने वाला; आचारसमाधि द्वारा आश्रवों के प्रबल वेग को रोकने वाला एवं चञ्चल इन्द्रियों को स्व-वश वर्ती करने वाला मुनि; अपनी आत्मा को अक्षय मोक्ष मन्दिर में लेजाता है ॥ ५ ॥

भाष्य—अब सूत्रकार, तृतीय तपः समाधि के बाद चतुर्थ आचार समाधि का वर्णन करते हैं। यथा-साधु वृत्ति के मूल एवं उत्तर भेद से दो प्रकार के नियम होते हैं, सो साधु इन दोनों ही प्रकार के नियमों को इस लोक के क्षणिक सुखों के लिये, तथा परलोक के स्वर्ग आदि सुखों के लिये, तथा कीर्ति वर्ण, आदि के लिये भी कदापि पालन न करे। क्योंकि ये सुख, सुख नहीं, किन्तु दुःख हैं। ये सुख उस किम्पाक फल के समान होते हैं, जो खाने में तो बहुत मीठा एवं स्वादिष्ट लगता है, परन्तु पीछे से प्राणों का अपहरण करलेता है।

उपर्युक्त हेतुओं को लेकर आचार-पालन नहीं करना तो फिर किस हेतु को लेकर करना? अब इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि—केवल अर्हत्प्रणीत शास्त्रों में जिस आचार द्वारा जीव का आस्रव से रहित होना बतलाया है, जो कर्मों आस्रव निरोध के लिये आचार पालन करना चाहिये

अर्थात् अर्हत् पद की प्राप्ति के लिये ही आचार-पालन करना योग्य है। वृत्तिकार भी यही कहते हैं। तथाहि—"आर्हतैः—अर्हत् सम्बन्धिभिर्हेतुभिरनाश्रवत्वादिभिः आचारं-मूलगुणोत्तरगुणमयमधितिष्ठेत् निरीहसन् यथा मोक्षपद भवतीति चतुर्थं पदं भवति।"

सूत्रकारने आचारसमाधि की पूर्णता के लिये मोक्षपद प्राप्ति में सहायभूत अन्य बातें भी बतलाई हैं। यथा—साधु को अरिहन्तों के वचनों पर अडिग श्रद्धा रखनी चाहिये; कोई किसी कारण से कटु वचन भी कहे तो असूयावश होकर कोई कठोर प्रत्युत्तर नहीं देना चाहिये; पाँचों इन्द्रियों को एवं छट्ठ मन को अपने वश में रखना चाहिये; एवं सूत्र-सिद्धान्तों का भी पूर्ण ज्ञान करके आश्रवों का निरोध करना चाहिये। ये साधन मोक्ष प्राप्ति के उत्कृष्ट साधन हैं। इन के बल से अनेकों जीव अजर-अमर पद पर प्रतिष्ठित हो चुके हैं। यह प्रयोग कोई किताबी नहीं है, पूर्ण अनुभूत है॥ ५॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, सभी समाधियों के फल के विषय में कहते हैं—

अभिगम चउरो समाहिओ, सुविसुद्धो सुसमाहिअप्पओ।
विउलहिअ सुहावह पुणो, कुव्वई सो पयक्खेममप्पणो॥ ६॥

अभिगम्य चतुरः समाधीन्, सुविशुद्ध सुसमाहितात्मा।
विपुलहितसुखावह पुनः, करोति च सः पदक्षेममात्मनः॥ ६॥

अन्वयार्थ—(विसुद्धो) परमविशुद्ध (सुसमाहिअप्पओ) संयम में अच्छीतरह अपने को स्थिर

रखने वाला (सो) वह साधु (पउरो) चारों (समाहिओ) समाधियों को (अभिगम) जानकर (अप्पणो) अपने (विउल) विपुल-पूर्ण (हिअ) हितकारी (सुखावह) सुखदायक (पुणो) तथा (खेम) कल्याणकारी (पयं) निर्वाणपद को (कुव्वई) प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

मूलार्थ—स्वच्छ-निर्मल चित्त वाला एवं अपने आप को संयम में पूर्णतः स्थिर रखने वाला साधु, चारों प्रकार के समाधिभेदों को भले प्रकार जानकर परम हितकारी, परम सुखकारी और परम कल्याणकारी सिद्ध पद को प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

भाष्य—इस गाथा में चारों समाधियों के फल का कथन किया गया है। यथा—जो मुनि विनय, श्रुत तप और आचार नामक चारों समाधियों के स्वरूप को भले प्रकार जानता है, तथा मन, वचन और शरीर को पापपङ्क से बचाकर पूर्ण विशुद्ध रखता है, तथा सतरह प्रकार के संयम में अपनी आत्मा को सुदृढ करता है, वह अपने उस वास्तविक सिद्ध पद को प्राप्त करता है-जो परम हितकारी है, अतीव सुखकारी है, तथा अव्याबाध क्षेमकारी है।

सूत्रकारने मुक्ति के लिये हित सुख और क्षेम ये तीन विशेषण दिये हैं। सो ये तीनों ही मुक्ति के वास्तविक स्वरूप को उद्घाटन करने वाले हैं। विचार शील पाठकों को इन तीनों विशेषणों पर-मनन पूर्वक गम्भीर विचार करना चाहिये ॥ ६ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, विनय का फल बतलाते हुये नवम अध्ययनको समाप्त करते हैं—

जाइमरणाओ मुच्चइ , इत्थथ च चएइ सव्वसो ।
सिद्धे वा हवइ सासए, देवे वा अप्परए महड्ढिए ॥७॥ त्तिबेमि।

जातिमरणात् मुच्यते , इत्थस्थ च त्यजति सर्वश ।
सिद्धो वा भवति शाश्वतः, देवो वा अल्परत महर्द्धिकः ॥७॥ इति ब्रवीमि।

अन्वयार्थ—उक्त गुण वाला साधु (**जाइमरणाओ**) जन्म और मरण से (**मुच्चइ**) छुट जाता है (च) तथा (**इत्थथ**) नर्क आदि के भावों को (**सव्वसो**) सर्व प्रकार से (**चएइ**) छोड़ देता है (**वा**) तथा (**सासए**) शाश्वत (**सिद्धे**) सिद्ध (**हवइ**) होजाता है (**वा**) अथवा कर्मशेषता से (**अप्परए**) अल्प मोहनीय कर्म वाला (**महड्ढिए**) महर्द्धिक (**देवे**) देव (**हवइ**) होजाता है ॥ ७ ॥
(**त्तिबेमि**) इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जो मुनि पूर्व सूत्रोक्त समाधि गुणों को धारण करते हैं, वे जन्म-मरण के फन्दे से छुट जाते हैं—नर्क आदि पर्यायों से मुक्त होजाते हैं—तथा अविनाशी सिद्धपद को प्राप्त कर लेते हैं। यदि कुछ कर्म शेष रह जाते हैं, तो अल्प काम विकार वाले महर्द्धिक देव होते हैं ॥ ७ ॥

भाष्य—इस गाथा में पूर्वविषय का ही स्पष्टीकरण किया गया है। **यथा—जो साधु पूर्वोक्त**

रखने वाला (सो) वह साधु (चउरो) चारों (समाहिओ) समाधियों को (अभिगम) जानकर (अप्पणो) अपने (विउल) विपुल-पूर्ण (हिअ) हितकारी (सुहावह) सुखदायक (पुणो) तथा (खेम) कल्याणकारी (पयं) निर्वाणपद को (कुव्वई) प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

मूलार्थ—स्वच्छ-निर्मल चित्त वाला एवं अपने आप को संयम में पूर्णतः स्थिर रखने वाला साधु, चारों प्रकार के समाधिभेदों को भले प्रकार जानकर परम हितकारी, परम सुखकारी और परम कल्याणकारी सिद्ध पद को प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

भाष्य—इस गाथा में चारों समाधियों के फल का कथन किया गया है। यथा—जो मुनि विनय, श्रुत, तप और आचार नामक चारों समाधियों के स्वरूप को भले प्रकार जानता है, तथा मन, वचन और शरीर को पापपङ्क से बचाकर पूर्ण विशुद्ध रखता है, तथा सतरह प्रकार के संयम में अपनी आत्मा को सुस्थिर करता है, वह अपने उस वास्तविक सिद्ध पद को प्राप्त करता है-जो परम हितकारी है, अतीव सुखकारी है, तथा अव्याबाध क्षेमकारी है।

सूत्रकारने मुक्ति के लिये हित सुख और क्षेम ये तीन विशेषण दिये हैं। सो ये तीनों ही मुक्ति के वास्तविक स्वरूप को उद्घाटन करने वाले हैं। विचार शील पाठकों को इन तीनों विशेषणों पर-मनन पूर्वक गम्भीर विचार करना चाहिये ॥ ६ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, विनय का फल बतलाते हुये नवम अध्ययनको समाप्त करते हैं—

नवम विणयसमाही णाम णवमज्झयण ।

इति 'विनय समाधि' नाम नवममध्ययनम् ।

इति श्री दशवैकालिक सूत्र के विनय समाधि नामक नौवें अध्ययन की 'आत्म ज्ञान प्रकाशिका' नामक हिन्दी भाषाटीका समाप्त हुई ।

चारों समाधियों के विषय में तल्लीन होजाता है, वह जन्म मरण की शृंखला को झटाक से तोड़ देता है और साथही जो अपनी आत्मा नाना प्रकार के कर्मों द्वारा नाना प्रकार की योनियों में नाना प्रकार के रूपों को धारण करती थी उससे भी मुक्त होजाता है। अर्थात् नरकादि चारों गतियों के वश से निकल कर शाश्वत स्थान मोक्ष में 'सकल—कर्म—कलङ्क—विमुक्त—चेतन—सिद्ध हो जाता है।

यदि कुछ पुण्य कर्मांश शेष रह जाते हैं तो देवयोनि प्राप्ति करता है। सो भी साधारण नहीं किन्तु वह महर्द्धिक एवं प्रधान देव होता है, जिसके काम विकार की अधिक उत्पत्ति नहीं होती। जैसे कि—अनुत्तर विमानों के वासी देवता उपशमवेदी माने गये हैं। वह देव, वहाँ से अपनी भवस्थिति क्षय करके भी अन्य देवों की भाँति फिर संसार में नहीं रुलता। वह शीघ्र ही अनुक्रम से तप तप करके निर्वाण पद प्राप्त कर लेता है।

अतएव प्रत्येक मोक्षाभिलाषी का परम कर्तव्य है कि-वह उक्त चारों ही प्रकार की समाधियों को अवश्यमेव पालन करे। क्योंकि वे सदा के लिये सब दुःखों से छुड़ाने वाली हैं ॥ ७ ॥

" श्रीसुधर्मा स्वामीजी जम्बू स्वामीजी से कहते हैं कि—हे वत्स ! इस विनय समाधि नामक नवम अध्ययन का जैसा अर्थ, मैंने वीर प्रभु से सुना था, वैसाही तेरे को बतलाया है, अपनी बुद्धि से इसमें कु— — — ।"

इअ विणयसमाही णाम णवमज्झयण ।

इति 'विनय समाधि' नाम नवममध्ययनम् ।

इति श्री दशवैकालिक सूत्र के विनय समाधि नामक नौवें अध्ययन की 'आत्म ज्ञान प्रकाशिका' नामक हिन्दी भाषाटीका समाप्त हुई ।

अह सभिक्खु णाम दसमज्झयणं ।

अथ सभिक्षु नाम दशममध्ययनम् ।

उत्थानिका—नवम अध्ययन में इस बात का वर्णन किया गया है कि जो शुद्ध आचार वाला होता है, वही वास्तव में विनयवान् होता है। और जो पूर्वोक्त नवों अध्ययनों में कथन किये हुये आचार को पालन करता है, वही वास्तव में भिक्षु होता है। अत अब दशम अध्ययन के विषय में भिक्षु का वर्णन किया जाता है। यही नौवें और दशवें अध्ययन का परस्पर सम्बन्ध है—

निक्खम्मे माणाइ अ बुद्धवयणे , निच्च चित्तसमाहिओ हविज्जा ।
इत्थीणवस न आवि गच्छे , वत नो पडिआयइ जे स भिक्खू ॥ १ ॥

निष्क्रम्य आज्ञया च बुद्धवचने , नित्य चित्तसमाहितो भवेत् ।
स्त्रीणां वश न चापि गच्छेत् , वान्त न प्रत्यापिबति य सः भिक्षुः ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (आणाइ) भगवान् की आज्ञा से (निक्खम्म) दीक्षा लेकर (बुद्धवयणे) सर्वज्ञ वचनों के विषय में (निच्चं) सदा (चित्तसमाहिओ) चित्त से प्रसन्न (हविज्जा) होता है (च) तथा (इत्थीण वसं) स्त्रियों के वश में (न आवि गच्छे) नहीं आता है, तथा (वंत) वमन किये हुए विषय भोगों को (नोपडिआयइ) फिर सेवन नहीं करता है (स) वह (भिक्खू) भिक्षु होता है ॥ १ ॥

मूलार्थ—श्री भगवदाज्ञा से दीक्षा ग्रहण कर सर्वज्ञ वचनों में सदा प्रसन्न चित्त रहने वाला—स्त्रियों के वश में नहीं आने वाला—परित्यक्त विषय भोगों को फिर आसेवन नहीं करने वाला—व्यक्ति ही सच्चा भिक्षु होता है ॥ १ ॥

भाष्य—पूर्व कथित नवों अध्ययनों के अनुसार जो अपना जीवन व्यतीत करता है, उस महापुरुष की भिक्षु संज्ञा होती है। यद्यपि निरुक्त के मत से भेदन करने वाले को—काष्ठ भेदक बढ़ई आदि को—तथा भिक्षा शील को-भिखमंगे को—भी भिक्षु कह सकते हैं, किन्तु वह द्रव्य भिक्षु है। अतः यहाँ उसका ग्रहण नहीं है। यहाँ तो भाव भिक्षु का ही ग्रहण है, क्योंकि उसी का अधिकार है। यहाँ पर 'भिक्षु' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'यः शास्त्र-नीत्या तपसा कर्म भिनत्ति स भिक्षुरिति'—जो शास्त्र की नीति से तपः कर्म द्वारा संचित कर्मों को भेदन करता है—नष्ट करता है, वही भिक्षु है।

प्राचीन शास्त्रों में भिन्न-भिन्न पद्धति से भिन्न-भिन्न भावों को लेकर, भिक्षु के अनेक नाम कथन किये हैं, सो वे सब के सब अतीव उच्च कोटि के एवं गम्भीरार्थक हैं। पाठकों की ज्ञान कारी के लिये

कुछ व्युत्पत्ति सहित नाम यहाँ प्रसंगोपात्त दिये जाते हैं—(१) निर्वाणसाधकयोगसाधनात् साधु। (२) क्षपयति यत् यस्मात् वा क्षपं कर्म, तस्मात् क्षपणः। (३) समयतपसोति संयमप्रधान तपः, तस्मिन् विद्यमान तपस्वी, (४) तायन्ते त्रायते विशुद्ध सम्यग् दर्शनादि लाभात् भवार्णवम्। तायोऽस्यास्तीति तायी। (५) द्रव्य राग द्वेष रहितः। (६) हिंसादि विरतः मता। क्षमां करोति, इति क्षान्तः (७) इन्द्रियादि दम करातीति दान्तः। (८) विषयसुखनिस्पृहः, विरतः। (९) मन्यते जगत त्रिकालावस्थामिति मुनिः। (१०) तपः प्रधानस्तापसः। (११) अपवर्गमार्गस्यप्ररूपकः प्रज्ञापक (१२) मायारहितः ऋजुः (१३) अन्तगततत्त्व बुद्धः (१४) संयमोस्यास्तीति संयमी (१५) पण्डा बुद्धिः सञ्जाताऽस्येति पण्डितः (१६) उत्तमाश्रमो यति (१७) पापाद्विनिष्क्रान्तः प्रव्रजितः (१८) द्रव्य भावागार शून्यः अनगारः (१९) पाशाद्दीनः पाखंडी (२०) पापवर्जकः परिव्राजकः। इसी प्रकार माहण, ब्रह्मचारी, श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि नाम भी जान लेने चाहिएँ।

सूत्रकार ने जो भिक्षुलक्षण रूप प्रथम सूत्र दिया है, उसका स्पष्ट भाव यह है कि—श्री तीर्थंकर देवों के या गणधर देवों के उपदेश से अपनी योग्यता को देखकर जो पुरुष दीक्षित होजाए, उसका कर्तव्य है कि—वह श्री बुद्धों (तीर्थंकर देव या गणधर) के परम हितकारी प्रवचनों में पूर्ण प्रसन्न रहे। इतना ही नहीं, किन्तु सदैव काल उनके वचनों का मनन पूर्वक अभ्यास करता रहे। क्यों कि—ये वचन संकट के पड़ने पर मित्र की भाँति अपनी रक्षा करने वाले होते हैं। तथा स्त्रियों के वश में भी कदापि न पड़े; क्यों कि स्त्रियों के वश में पड़ने से भिक्षुक ही वमन किये हुये विषय फिर पुनः पान करने होते हैं जो श्रेष्ठ जनों को सर्वथा अयोग्य है। संक्षिप्त सार यह है कि श्री वान्त

भोगों को फिर से भोगने की इच्छा नहीं करता वही वास्तव में सच्चा भिक्षु होता है ॥ १ ॥

उत्थानिका—अब, पृथ्वी जल एव अग्नि की रक्षा के विषय में कहते हैं—

पुढविं न खणे न खणावए, सीओदग न पिए न पिआवए ।
अगणिसत्थ जहा सुनिसिअ, त न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥ २ ॥

पृथिवीं न खनति न खानयति, शीतोदकं न पिबति न पाययति ।
अग्निशस्त्र यथा सुनिशितं, त न ज्वालयति न ज्वालयति य स भिक्षुः ॥२॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (पुढविं) पृथिवी काय को (नखणे) स्वय नहीं खोदता, तथा (नखणावए) औरों से नहीं खुदवाता (सीओदग) कच्चा जल (न पिए) न स्वय पीता, और (न पिआवए) न औरों को पिलाता (सुनिसिअ) तीक्ष्ण (सत्थं जहा) खड्ग आदि शस्त्र के समान (अगणिं) अग्नि को (न जल) न स्वय जलाता, तथा (न जलावए) औरों से भी नहीं जलवाता (स) वह (भिक्खू) भिक्षु होता है ॥ २ ॥

मूलार्थ—जो व्यक्ति, सचित्त पृथिवी को न स्वय खनता और न दूसरों से खनवाता, तथा सचित्त जल न स्वयं पीता और न दूसरों को पिलाता, तथा तीक्ष्णशस्त्र तुल्य अग्नि को न स्वय सिलगाता

और न दूसरों से सिखवाता, वही भिक्षु कहलाता है ॥ २ ॥

भाष्य—जो सचित्त पृथिवी का अपने आप खनन नहीं करता और लोगों से प्रेरणा द्वारा खनन नहीं करवाता एवं स्वयमेव खनन करने वाले अन्य लोगों का अनुमोदन भी नहीं करता। तथा जो सचित्त जल का स्वयं पान नहीं करता, औरों से पान नहीं करवाता एवं स्वयमेव पान करने वाले औरों का अनुमोदन भी नहीं करता। तथ जो खड्गादि शस्त्रों के समान अतीव तीक्ष्ण अग्नि का स्वय प्रज्वलित नहीं करता औरों से प्रज्वलित नहीं करवाता एवं स्वयमेव प्रज्वलित करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करता-अर्थात् जो पृथिवी, जल एवं अग्नि की तीन करण और तीन योग से हिंसा नहीं करता वह संसार में सच्चा साधु होता है।

यदि यहाँ यह शङ्का की जाय कि—जो यह षट् काय का विषय सभी अध्ययनों में प्रतिपादन किया गया है, तो क्या पुनरुक्ति दोष नहीं है ? उत्तर में कहना है कि—षट्कायानुष्ठान में पूर्णतया तत्पर होने से ही भिक्षु होता है, तो भिक्षु-भाव की स्पष्टता सिद्धि के लिये ही उक्त विषय का बार-बार कथन किया है। अत यहाँ अणुमात्र भी पुनरुक्ति दोष नहीं है ॥ २ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, वायुकाय और वनस्पति काय की यत्ना के विषय में कहते हैं—

अनिलेण न वीए न वीयावए , हरियाणि न छिंदे न छिंदावए ।
बीआणि सया विवज्जयंतो , सच्चित्त नाहारए जे स भिक्खू ॥ ३ ॥

अनिलेन न वीजयति न वीजयति , हरितानि न छिनत्ति न छेदयति ।
बीजानि सदा विवर्जयेत् , सचित्त नाहारयति य सः भिक्षुः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (अनिलेण) वायुव्यजक आदि पखे से (न वीए) स्वय हवा नहीं करता (न वीआवए) औरों से हवा नहीं करवाता, तथा जो (हरिआणि) हरित काय का (न छिंदे) स्वयं छेदन नहीं करता (न छिंदावए) औरों से छेदन नहीं करवाता, तथा जो (बीआणि) बीजों को (सया) सदैव काल (विवज्जयंतो) वर्जता हुआ (सचित्त) सचित्त पदार्थ का (नाहारए) आहार नहीं करता (स) वही (भिक्खू) भिक्षु होता है ॥ ३ ॥

मूलार्थ—जो पखे आदि से न स्वयं हवा करता है एव न औरों से करवाता है , तथा जो बीजादिका सचित हरित काय का न स्वयं छेदन करता है एव न औरों से करवाता है , तथा जो सचित आहार न स्वय करता है एव न औरों से करवाता है , वही सच्चा भिक्षु कहलाने योग्य होता है ॥ ३ ॥

भाष्य—जो महानुभाव, महापुरुष बनने की इच्छा से भिक्षुपद धारण करते हैं , उनका कर्तव्य है कि—व न तो स्वय किसी पखे आदि से हवा करें , न औरों से करवावें , न अनुमोदन करें । तथा वनस्पति काय का न स्वय छेदन करें , न औरों से करवावें न अनुमोदन करें । तथा यावन्मात्र

और न दूसरों से जलवाता, वही भिक्षु कहलाता है ॥ २ ॥

भाष्य—जो सचित्त पृथिवी का अपने आप खनन नहीं करता, और लोगों से प्रेरणा द्वारा खनन नहीं करवाता एवं स्वयमेव खनन करने वाले अन्य लोगों का अनुमोदन भी नहीं करता। तथा जो सचित्त जल का स्वय पान नहीं करता, औरों से पान नहीं करवाता एवं स्वयमेव पान करने वाले औरों का अनुमोदन भी नहीं करता। तथा जो शस्त्रादि शस्त्रों के समान अतीव तीक्ष्ण अग्नि का स्वय प्रज्वलित नहीं करता औरों से प्रज्वलित नहीं करवाता एवं स्वयमेव प्रज्वलित करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करता-अर्थात् जो पृथिवी, जल एवं अग्नि की तीन करण और तीन योग से हिंसा नहीं करता वह संसार में सच्चा साधु होता है।

यदि यहाँ पर शङ्का की जाय कि—जो षट् काय का विषय सभी अध्ययनों में प्रतिपादन किया गया है, तो क्या पुनरुक्ति दोष नहीं है? उत्तर में कहना है कि—तदुक्तानुष्ठान में पूर्णतया तत्पर होने से ही भिक्षु होता है, सो भिक्षु-भाव की स्पष्टतः सिद्धि के लिये ही एक विषय का बार-बार कथन किया है। अतः यहाँ अणुमात्र भी पुनरुक्ति दोष नहीं है ॥ २ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, वायुकाय और वनस्पति काय की यत्ना के विषय में कहते हैं—

अनिलेण न वीए न वीयावए , हरियाणि न छिंदे न छिंदावए ।
बीआणि सया विवज्जयंतो , सच्चित्त नाहारए जे स भिक्खू ॥ ३ ॥

अनिकेन न वीजयति न वीजयति , हरितानि न छिनत्ति न छेदयति ।
बीजानि सदा विवर्जयेत् , सचित्त नाहारयति यः सः भिक्षुः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (अनिलेण) वायुव्यजक आदि पखे से (न वीए) स्वय हवा नहीं करता (न वीआवए) औरों से हवा नहीं करवाता, तथा जो (हरिआणि) हरित काय का (न छिंदे) स्वयं छ्दन नहीं करता (न छिंदावए) औरों से छेदन नहीं करवाता, तथा जो (बीआणि) बीजों को (सया) सदैव काल (विवज्जयंतो) वर्जता हुआ (सचित्त) सचित्त पदार्थ का (नाहारए) आहार नहीं करता (स) वही (भिक्खू) भिक्षु होता है ॥ ३ ॥

मूलार्थ—जो पखे आदि से न स्वयं हवा करता है एव न औरों से करवाता है , तथा जो हरित काय का न स्वय छेदन करता है एव न औरों से कर वाता है , तथा जो बीजादिका सचित आहार न स्वय करता है एव न औरों से कर वाता है , वही सच्चा भिक्षु कहलाने योग्य होता है ॥ ३ ॥

भाष्य—जो महानुभाव, महापुरुष बनने की इच्छा से भिक्षुपद धारण करते हैं , उनका कर्तव्य है कि—व न तो स्वय किसी पंखे आदि से हवा करें , न औरों से कर वावें , न अनुमोदन करें । तथा वनस्पति काय का न स्वय छेदन करें , न औरों से करवावें न अनुमोदन करें । तथा यावन्मात्र

बीज, पुष्प, फलादि का सचित्त आहार न स्वयं करे न औरों को करने की आज्ञा दे, न करने वालों का अनुमोदन करे। भाव यह है कि साधु को वायु एवं वनस्पति की किसी प्रकार से भी हिंसा नहीं करनी चाहिये ॥ ३ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, औद्देशिक आदि आहार का परित्याग बतलाते हैं—

वहण तसथावराण होइ, पुढवीतणकट्ठनिस्सिआण।
तम्हा उद्देसिअ न भुंजे, नोवि पए न पयावए जे स भिक्खू ॥४॥

वचनं त्रसस्थावराणां भवति, पृथिवीतृणकाष्ठनिश्रितानाम्।
तस्मादौद्देशिकं न भुङ्क्ते, नापि पचति न पाचयति यः सः भिक्षुः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—भोजन तैयार करते समय (पुढवी तण कट्ठनिस्सिआण) पृथिवी, तृण, काष्ठ के आश्रित रहे हुये (तसथावराण) त्रस और स्थावर जीवों का (वहण) वध होता है (तम्हा) इसलिये (जे) जो साधु (उद्देसिय) औद्देशिक आहार को (न भुंजे) नहीं भोगता है, तथा जो (नोवि पए) न स्वयं पकाता है (नपयावए) न औरों से पकवाता है (स) वह (भिक्खू) भिक्षु है ॥४॥

मूलार्थ—भोजन पकाते हुये पृथिवी, तृण, काठ आदि की निश्राय में रहने वाले त्रस और स्थावर जीवों का वध होता है, अतएव जो औद्देशिक आदि आहार नहीं भोगता है, तथादि स्वयं

नहीं पकाता है, तथा दूसरों से भी नहीं पकवाता है, वही आदर्श साधु होता है ॥ ४ ॥

भाष्य—इस काव्य में इस बात का प्रकाश किया गया है कि औद्देशिक आदि कुआहारों के परित्याग से त्रस और स्थावर जीवों का भले प्रकार रक्षण होता है। यथा—साधु का नाम रखकर जब आहार तैयार किया जायगा तब भूमि, तृण और काठ आदि के आश्रय में रहे हुये त्रस और स्थावर जीवों का वध हो जायगा। अतः उक्त जीवों की रक्षा के लिये मुनि औद्देशिक आदि आहारों का आसेवन न करे। तथा स्वयं भोजन न पकावे, तथा औरों से प्रेरणा करके न पकवावे, तथा स्वयमेव पकाते हुए और लोगों का अनुमोदन भी न करे।

कारणकि—आहार की विशुद्धता पर ही भिक्षु की विशुद्धता है। यह सर्व मान्य बात है कि जैसा आहार होता है वैसा मन होता है एवं जैसा मन होता है, वैसा ही आचरण होता है। हिंसा जन्य आहार, हिंसा वृत्ति जागृत कर, साधु को वास्तविक पथ से पराङ्मुख करदेता है ॥ ४ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, संवर आदि का उपदेश देते हैं—

रोइअ नायपुत्तवयणे, अत्तसमे मन्निज्ज छप्पि काए।
पंच य फासे महव्वयाइं, पंचासवसंवरे जे स भिक्खू ॥ ५ ॥

रोचयित्वा ज्ञातपुत्रवचनं, आत्मसमान् मन्यते षडपि कायान्।
पंच च स्पृशति महाव्रतानि, पंचाश्रवसंवृतो यः स भिक्षुः ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (नायपुत्तवयणे) ज्ञातपुत्रवचनों को (रोइअ) प्रिय जानकर (पचासव-संवरे) पंच आश्रवों का निरोध करता है (छप्पिकाए) छः काय के जीवों को (अत्तसमे) अपनी आत्मा के समान (मन्निज्ज) मानता है (य) तथा (पंच) पाँच (महव्वयाइं) महाव्रतों को (फासे) पूर्णरूप से पालता है (स) वह (भिक्खू) भिक्षु है ॥ ५ ॥

मूलार्थ—जो भव्य जीव ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर के प्रवचनों पर अटल श्रद्धा रखकर, पाँच आस्रवों का निरोध करता है, तथा षट् काय के जीवों को अपनी आत्मा के समान प्रिय समझता है, तथा पाँच महाव्रतों का यथावत् स्पर्शन—पालन करता है, वह भिक्षुपद वाच्य होता है ॥ ५ ॥

भाष्य—इस काव्य में भी भिक्षु के गुण वर्णन किये गए हैं। यथा-जो व्यक्ति भगवान् महावीर स्वामी के कल्याण प्रदायक सुपवित्र प्रवचनों पर 'श्रद्धा सकल सुख मूल है, श्रद्धा बिना सब धूल है' की नीति को लेकर पूर्ण श्रद्धा रखता है। तथा पृथ्वी काय आदि षट्काय प्राणी संसार के छोटे बड़े सभी जीवों को अपनी आत्मा के समान सुख दुःख के योग से सुखी-दुःखी होने वाले समझता है। तथा विधिपूर्वक अहिंसा आदि पाँचों महाव्रतों को प्राणों की बाजी लगाकर सर्वथा निर्दोष रीति से पालन करता है। तथा आत्मसरोवर को कलुषित करने वाले प्रमादादि पाँच आस्रवों के गंदे नालों का भी निरोधन करता है। तथा चंचल घोड़े के समान इधर-उधर भटकाने वाली पाँचों इन्द्रियों को भी भले प्रकार वश में रखता है, वही वास्तव में भिक्षु होता है।

भाव यह है कि—जब श्रीभगवान् के प्रवचन विधि ग्रहण और भावना द्वारा प्रिय किये हुये होंगे, तो फिर यह आत्मा तदनुसार अवश्य क्रिया करने लगेगा, जिससे फिर उसकी भाव भिक्षु संज्ञा होजाती है ॥ ५ ॥

उत्थानिका—अब, कषाय परित्याग के विषय में कहते हैं—

चत्तारि वमे सया कसाए, धुवजोगी हविज्ज बुद्धवयणे।
अहणे निज्जायरूवरयए, गिहिजोग परिवज्जए जे स भिक्खू ॥ ६ ॥

चतुरो वमति सदा कषायान्, ध्रुवयोगी भवति बुद्धवचने।
अधनो निर्जातरूपरजत, गृहियोगं परिवर्जयति य स भिक्षुः ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (सया) सदा (चत्तारि) चार (कसाए) कषायों को (वमे) त्यागता है, तथा (बुद्धवयणे) श्री तीर्थंकर देवों के प्रवचनों में (धुवजोगी) ध्रुवयोगी (हविज्ज) होता है, तथा (अहणे) धन से रहित अकिंचन है, तथा (निज्जायरूवरयए) चाँदी और सुवर्ण का त्यागी है, तथा (गिहिजोग) गृहस्थों के साथ अधिक संसर्ग भी (परिवज्जए) नहीं करता है (स) वह (भिक्खू) भिक्षु है ॥ ६ ॥

मूलार्थ—चारों कषायों का परित्याग करने वाला, तीर्थंकर देवों के प्रवचनों में ध्रुवयोगी रहने

वाला, धन—चतुष्पदादि एवं सुवर्ण—चाँदी आदि के परिग्रह से अपने को मुक्त रखने वाला, तथा गृहस्थों के साथ सस्तव और परिचय नहीं करने वाला, वीर पुरुष ही भिक्षु होता है ॥ ६ ॥

भाष्य—जिस सत्पुरुष ने क्रोध मान माया और लोभ का परित्याग कर दिया है—श्री तीर्थंकर देवों के प्रतिपादित वचनों में ध्रुवयोगी होगया है—चतुष्पदादि धन से तथा सुवर्ण आदि से अपने को सर्वथा अलग कर लिया है—तथा गृहस्थों के साथ विशेष परिचय रखना भी छोड़ दिया है-इतना ही नहीं किन्तु जो गृहस्थों के व्यापार से भी सदा अलग रहता है—वही सच्चा भिक्षुक है। क्योंकि—भिक्षुपद आत्म—विकाश पर अवलम्बित है, और आत्म विकाश के साधन ये ऊपर बताये हुए हैं।

सूत्र में जो 'बुद्धवयणे' सप्तमी विभक्ति का रूप दिया है, वह टीकाकार के मत से तृतीया विभक्ति के अर्थ में है। यथा— तीर्थंकर वचनेन ध्रुवयोगी भवति यथागममेवेति भावः'— श्रीतीर्थंकर देवों के वचन से ध्रुवयोगी होता है, जैसा कि आगम में प्रतिपादन किया है ॥ ६ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, समदृष्टि बनने का उपदेश देते हुये कहते हैं—

सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे, अत्थि हु नाणे तवेसजमे अ।
तवसा धुणइ पुराणपावगं, मणवयकायसुसंवुडे जे स भिक्खू ॥ ७ ॥

सम्यग्दृष्टिः सदा अमूढः ...

तपसा धुनोति पुराणपापकं, मनोवाक्कायसुसम्वृतः यः स भिक्षुः ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(ज) जो (सम्मद्दिट्ठी) सम्यग् दृष्टि है (सया) सदा (अमूढे) अमूढ है-चतुर है (हु) निश्चय से (नाणे) ज्ञान (तवे) तप (अ) और (संजमे) संयम (अत्थि) है, ऐसा मानता है (मणवयकायसुसंवुडे) मन, वचन और काय से सम्वृत है, तथा (तवसा) तप से (पुराणपावगं) पुराण पापकर्मों को (धुणइ) नष्ट करता है (स) वह (भिक्खू) भिक्षु है ॥ ७ ॥

मूलार्थ—जो सम्यग् दर्शी है, सदा अमूढ है, ज्ञान तप और संयम का विश्वासी है, मन वचन और काय को सम्वृत करता है, तथा तपश्चर्या द्वारा पुरातन पापकर्मों को आत्मा से पृथक् करता है, वही भिक्षु होता है ॥ ७ ॥

भाष्य—जिन की आत्मा में सम्यगदर्शिता का शान्त समुद्र हिलोरें लेता रहता है-यानी जिनके चित्त में कभी किसी प्रकार का भी विक्षेप नहीं होता। तथा जिनके हृदय में लोकमूढता देव मूढता आदि से कभी विमूढता नहीं आती। तथा जो हेय, ज्ञेय, उपादेय रूप पदार्थों के विज्ञापक ज्ञान का-कर्ममल को दूर करने के लिये जल के समान बाह्याभ्यन्तर भेद वाले तपका-एवं नवीन कर्मों के निरोध करने वाले संयम का—अस्तित्व दृढविश्वास से स्वीकृत करता है। तथा जो मन वचन और काय का त्रिगुप्ति द्वारा भले प्रकार सम्वृत्त करता है और उग्र तप द्वारा अनेक जन्मार्जित पापमल को अपनी पवित्र आत्मा से दूर करता है। वही वास्तव में भिक्षु होता है।

सूत्रकारने जो यह ध्यान, तप और संयम पर विश्वास रखने को ओर दिया है सो बड़ी ही दूरदर्शिता से दिया है। क्योंकि बिना विश्वास के कुछ नहीं होता। प्रथम विश्वास होता है और फिर तदनुसार आचरण होता है। चरित्र मन्दिर की बुनियाद विश्वास की भूमिपर रक्खी गई है ॥७॥

उत्थानिका—अब, अशनादि चार आहारों को रात्रि में न रखने के विषय में कहते हैं—

तहेव असण पाणग वा , विविह खाइम साइम लभित्ता ।
होही अट्ठो सुए परे वा , त न निहे न निहावए जे स भिक्खू ॥८॥

तथैव अशनं पानकं वा , विविधं खाद्यं स्वाद्यं लब्ध्वा ।
भविष्यति अर्थः श्वः परश्वो वा , तत् न निधत्ते न निधापयति यः सः भिक्षुः ॥८॥

अन्वयार्थ—(तहेव) इसी प्रकार (जे) जो (असण) अशन (पाणग) पानी (वा) और (विविहं) नाना प्रकार के (खाइम) खाद्य (साइमं) स्वाद्य पदार्थ (लभित्ता) प्राप्त कर (सुए) यह कल के (वा) अथवा (परे) परसों के (अट्ठो) प्रयोजनार्थ (होही) होगा—इस प्रकार विचार कर (त) उक्त पदार्थों को (न निहे) बासी नहीं रखता है , तथा (न निहावए) औरों से बासी नहीं रखवाता है (स) वह (भिक्खू) भिक्षु है ॥ ८ ॥

मूलार्थ—जो भली अशन , पान , खादिम और स्वादिम पदार्थों को पाकर ' यह कल तथा

परसों क दिन काम आयगा ' इस विचार स उक्त भोज्य पदार्थों को न स्वय रात्रि में बासी रखता है और न औरों से बासी रखवाता है , वही भिक्षु होता है ॥ ८ ॥

भाष्य—इस काव्य में इस बात का प्रकाश किया गया है कि—जो साधु अपनी इच्छानुसार अशन पानादि चतुर्विध आहार को प्राप्त करके ' यह पदार्थ कल तक या परसों तक काम में आसकेगा, अतः इन पदार्थों का रात्रि में रखना आवश्यक है ' ऐसे पुरुषार्थ हीन एव लालची विचारों से उक्त पदार्थों को स्वय रात्रि में रखता है , तथा दूसरों से प्रेरणा करके रखवाता है , तथा रखने वालों का समर्थन करता है , वह हर्गिज़ साधु नहीं होसकता । सच्चा साधु वही होता है , जो अच्छे से अच्छे सरस पदार्थों क मिल जाने पर भी रात्रि में रखना रखवाना एव अनुमोदन नहीं करता ।

कारण कि—साधु की उपमा पक्षी से दीगई है । जिस प्रकार पक्षी क्षुधा लगने पर इधर—उधर घूम-घाम कर अपनी प्रकृति क योग्य भोजन से पेट भर लेता है , किन्तु भविष्य के लिय कुछ सग्रह करक नहीं रखता ठीक इसी प्रकार साधु भी जो कुछ अपने योग्य मिलता है उससे क्षुधा निवृत्ति कर लता है , किन्तु कभी किसी भोज्य पदार्थ का सग्रह करके नहीं रखता । आत्मदर्शी बनन क लिय ममता का त्याग करना ज़रूरी है ॥ ८ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, समानधर्मी साधुओं को भोजनार्थ निमंत्रित करने का सदुपदेश देत हैं—

तहेव असण पाणग वा , विविह खाइम साइम लभित्ता ।

छंदिअ साहम्मियाण भुंजे, भुच्चा सज्झायरए जे स भिक्खू ॥ ९ ॥

तथैव अशनं पानकं वा, विविधं खाद्यं स्वाद्यं लब्ध्वा ।

छन्दित्वा समानधार्मिकान् भुंक्ते, भुक्त्वा च स्वाध्यायरतः यः स भिक्षुः ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(तहेव) उसी प्रकार (जे) जो (असणं) अन्न (पाणगं) पानी (वा) तथा (विविहं) नाना प्रकार के (खाइमं) खाद्य और (साइमं) स्वाद्य पदार्थों को (लभित्ता) प्राप्तकर (साहम्मियाण) स्वधर्मी साधुओं को (छंदित्ता) निमन्त्रित करके ही (भुंजे) खाता है, तथा (भुच्चा) खाकर (सज्झायरए) स्वाध्याय तप में रत हो जाता है (स) वही (भिक्खू) भिक्षु होता है ॥ ९ ॥

मूलार्थ—जो अशनादि चतुर्विध आहार के मिलने पर, अपने समानधर्मी साधुओं को भोजनार्थ निमन्त्रित करके ही आहार करता है; और आहार करके श्रेष्ठ स्वाध्याय कार्य में संलग्न हो जाता है, वही सच्चा साधु होता है ॥ ९ ॥

भाष्य—इस काव्य में वात्सल्य भाव का दिग्दर्शन कराया गया है। यथा—गृहस्थों के घरों से अन्न पानी आदि चतुर्विध आहार के प्राप्त होने पर, अपने समान धर्म पालन करने वाले साधर्मी साधुओं को भोजन का निमन्त्रण देकर ही साधु को स्वयं भोजन करना चाहिये तथा भोजन कर के शीघ्र ही सर्वश्रेष्ठ स्वाध्याय कार्य में लग जाना चाहिये। क्योंकि सच्चे भिक्षु का यही मार्ग है।

... पूर्ण प्रकाश पड़ता है। उपर्युक्त नियम से वात्सल्य भाव और स्वाध्याय विषयक तल्लीनता पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। देखिए सूत्रकारने कितना ऊंचा आदर्श रक्खा है? अकेले खाने को कितना निषिद्ध ठहराया है? तथा भोजन के पश्चात् प्रमाद के वश होकर सो जाने का एवं इधर-उधर की निन्दा-विकथा करने का कितना जोर दार खण्डन किया है? ॥ ९ ॥

उत्थानिका—अब, साधु को सदा उपशान्त रहने का उपदेश दिया जाता है—

न य वुग्गहियं कहं कहिज्जा, न य कुप्पे निहुइंदिए पसंते ।
संजमधुवजोगजुत्ते, उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू ॥ १० ॥

न च वैग्रहिकीं कथां कथयति, न च कुप्यति निभृतेन्द्रियः प्रशान्तः ।
संयमे ध्रुवयोगेन युक्तः, उपशान्तः अविहेठकः यः स भिक्षुः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (वुग्गहिअं) क्लेश उत्पन्न करने वाली (कहं) कथा (न य कहिज्जा) नहीं करता (न य कुप्पे) किसी पर क्रोध नहीं करता (निहुइंदिए) इन्द्रियों को चंचल नहीं होने देता (पसंते) सदा प्रशान्त रहता है (संजम धुवजोगजुत्ते) संयम में तीनों योगों को ध्रुव रूप से जोड़ता है (उवसंते) कष्ट पड़ने पर आकुल-व्याकुल नहीं होता है × (अविहेडए) उचित कार्य का कभी अनादर नहीं करता है (स) वही (भिक्खू) भिक्षु है ॥ १० ॥

× अविहेठः न कस्यचिदुचिते ऽनादरवान्। क्रोधादीनां विष्कम्भ इत्यर्थः।

मूलार्थ—क्लेशोत्पादक वार्तालाप नहीं करने वाला, शिक्षादाता पर क्रुद्ध नहीं होने वाला, मन एवं इन्द्रियों को सदा स्थिर रखने वाला, पूर्ण रूप से शान्त रहने वाला, संयम-क्रियाओं में ध्रुवयोग जोड़ने वाला, कष्ट पड़ने पर आकुलता और सोचित कार्य का अनादर नहीं करने वाला, व्यक्ति ही सच्चा साधु कहलाता है ॥ १० ॥

भाष्य—इस काव्य में चारित्र को लक्ष्य करके कहा गया है कि—जो साधु, परस्पर कलह उत्पन्न करने वाली कथा-वार्ता नहीं करता; गलती होजाने पर गुरुजनों के शिक्षा देते समय चित्त में क्षोभ नहीं लाता; अपनी इन्द्रियों को कड़े नियंत्रण से संयम की सीमा से बाहर नहीं जाने देता। मोह-ममता के वेग से चित्त को कभी नहीं डुलाता। स्वीकृत संयम से मनोवाक् काय तीनों योगों में से किसी एक योग को भी कदापि नहीं हटाता, आकस्मिक भय के आने पर चपलता एवं आकुलता नहीं करता मौका पड़ने पर स्वयोग्य कार्य के करने से कभी आना कानी करके अलग नहीं होता। वही वास्तव में स्वपरउद्धारकपदवाच्य भिक्षु बनता है ॥१०॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, कटुवचन एवं ताड़न तर्जन को समभाव से सहने का उपदेश देते हैं—

जो सहइ हु गामकंटए, अक्कोसपहारतज्जणाओ अ।

भयभेरवसद्दसप्पहासे, समसुहदुक्खसहे अ जे स भिक्खू ॥ ११ ॥

यः सहते खलु ग्रामकण्टकान् , आक्रोशप्रहारतर्जनाश्च ।
भैरवभयशब्दसप्रहासे , समसुखदुःखसहश्च यः सः भिक्षुः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (गामकटए) इन्द्रियों को कंटक के समान दुःख उत्पन्न करने वाले (अक्कोसपहारतज्जणाओ) आक्रोश, प्रहार और तर्जनादि को (सहइ) सहन करता है (अ) तथा जो (भय भेरव सद्दसप्पहासे) अत्यन्त भय के उत्पन्न करने वाले वेतालादिके अट्टहास आदि शब्द जहाँ होते हों, ऐसे उपसर्गों के होने पर (सम सुहदुक्खसहे) सुख और दुःखों में समभाव रखता है (स) वही (भिक्खू) भिक्षु होता है ॥ ११ ॥

मूलार्थ—जो महापुरुष श्रोत्र आदि इन्द्रियों को कण्टक तुल्य पीड़ा देने वाले आक्रोश, प्रहार और तर्जना के कार्यों को शान्ति से सहन करता है, तथा जो अत्यन्त भयकारी अट्टहास आदि शब्द वाले उपसर्गों के आनेपर सुख–दुःखों को समविचार से सहता है वही भिक्षु होता है ॥११॥

भाष्य—इस काव्य में भी साधु के गुणों का वर्णन किया गया है। यथा—जो महात्मा, इन्द्रियों को कंटक के समान घनघोर पीड़ा पहुँचानेवाले आक्रोश = तूकार रेकार आदि क्षुद्र वचन, प्रहार = चाबुक आदि द्वारा की गई मार-पीट, तर्जना = असूया आदि के कारण से नाक मुँह करके यानी त्योरी चढ़ाकर अंगुली या बेंत आदि दिखाकर झिड़कना—इत्यादिको शान्त होकर सहन करता है । तथा

मूलार्थ—क्लेशोत्पादक वार्तालाप नहीं करने वाला, शिक्षादाता पर क्रुद्ध नहीं होने वाला, मन एवं इन्द्रियों को सदा स्थिर रखने वाला, पूर्ण रूप से शान्त रहने वाला, संयम-क्रियाओं में ध्रुवयोग जोड़ने वाला, कष्ट पड़ने पर आकुलता और शोभित कार्य का अनादर नहीं करने वाला, व्यक्ति ही सच्चा साधु कहलाता है ॥ १० ॥

भाष्य—इस काव्य में चारित्र को लक्ष्य करके कहा गया है कि—जो साधु, परस्पर कलह उत्पन्न करने वाली कथा-वार्ता नहीं करता। गलती होजाने पर गुरुजनों के शिक्षा देते समय चित्त में क्षोभ नहीं लाता। अपनी इन्द्रियों को कड़े नियंत्रण से संयम की सीमा से बाहर नहीं जाने देता। मोह-ममता के वेग से चित्त को कभी नहीं डुलाता। स्वीकृत संयम से मनोवाक् काय तीनों योगों में से किसी एक योग को भी कदापि नहीं हटाता आकस्मिक भय के आने पर चपलता एवं आकुलता नहीं करता मौका पड़ने पर स्वयोग्य कार्य के करने से कभी आना कानी करके अलग नहीं होता; वही वास्तव में स्वपरउपकारकपदवाच्य भिक्षु बनता है ॥१०॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, कटुवचन एवं ताडन तर्जन को समभाव से सहने का उपदेश देते हैं—

जो सहइ हु गामकंटए, अक्कोसपहारतज्जणाओ अ।
भयभेरवसद्दसप्पहासे, समसुहदुक्खसहे अ जे स भिक्खू ॥ ११ ॥

देखकर (नो भायए) भयभीत नहीं होता है (अ) तथा (निच्च) सदाकाल (विविहगुणतवोरए) नाना प्रकार के मूल एवं उत्तर गुणों में वा तप में रत रहता है, तथा (सरीरं) शरीर की भी ममता पूर्वक (नअभिकंखए) इच्छा नहीं करता है (स) वह (भिक्खू) भिक्षु है ॥ १२ ॥

मूलार्थ—जो साधुप्रतिमा को अङ्गीकार करके श्मशान भूमि में ध्यानस्थ हुआ, भूतपिशाचादि के भयंकर रूपों को देख कर भयभीत नहीं होता ; तथा नानाविध मूल गुणादि एवं तपादि के विषय में अनुरक्त हुआ और तो क्या , शरीर तक की भी ममता नहीं करता , वही मोक्षसाधक भिक्षु होता है ॥ १२ ॥

भाष्य—मोक्ष प्रेमी साधु, जब अपने साधुधर्म की मासिक आदि प्रतिमा को ग्रहण करके श्मशान भूमि में ध्यान लगाकर खड़ा होवे और यदि वहाँ वेताल आदि देवों के अतीव भयानक रूपों को देखे, तो उसे चित्त में अणुमात्र भी भय नहीं करना चाहिये। किन्तु नाना भाँति के मूल गुणादि एवं तप आदि के विषय में भली प्रकार रत हो जाना चाहिये— जिससे घोरातिघोर उपसर्गों के होने पर भी शरीर पर किसी प्रकार का ममत्व भाव नहीं हो सके। क्योंकि—ममत्व भाव के परित्याग से ही पूर्ण आत्मविकास होता है। आत्म विकास से ही साधु में सच्ची साधुता स्थित होती है।

यहाँ साधु प्रतिमा का उल्लेख केवल संकेत रूप से है। इसका विशेष विवरण श्री दशाश्रुत स्कन्ध सूत्रमें किया गया है, अतः इस विषय के जिज्ञासु पाठक वहाँ देखें ॥ १२ ॥

जिस स्थान पर भूत आदि देवों के अत्यन्त रौद्र भयोत्पादक शब्द एवं विभत्स अट्टहास हों, ऐसे उपसर्गों के होजानेपर सुख वा दुःख को समभाव से सहन करता है—अर्थात् मसान आदि भयानक स्थानों में ठहरा हुआ देवों द्वारा भीषण उपसर्गों के होनेपर भी ध्यानवृत्ति से स्खलित नहीं होता वही वास्तव में जगत्पूज्य भिक्षु होता है।

क्योंकि—उपसर्गों को सहन करना शूर वीर और धैर्यशाली आत्माओं का ही कार्य है। जो वीर आत्माएं उपसर्गों को शान्ति पूर्वक सहन करती हैं, और सुख-दुःखमें एकसी विचार धारा रखती हैं, वे सशक्ति विकास के पथ पर अग्रसर हो कर शीघ्रही स्वोद्देश की पूर्ति करते हैं ॥११॥

उत्थानिका—अब, फिर इसी उक्त विषय को स्पष्ट करते हैं—

पडिम पडिवज्जिआ मसाणे , नो भायए भयभेरवाइ दिअस्स ।
विविहगुणतवोरए अ निच्चं , न सरीरं चाभिकंखए जे स भिक्खू ॥१२॥

प्रतिमां प्रतिपद्य श्मशाने , न बिभेति भैरवभयानि दृष्ट्वा ।
विविधगुणतपोरतश्च नित्यं , न शरीरं च अभिकांक्षते यः स भिक्षुः ॥१२॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (मसाणे) श्मशान में (पडिमं) प्रतिमा को (पडिवज्जिआ) अङ्गीकार करके वहां (भयभेरवाइं) अतीव भय के उत्पन्न करने वाले वैतालिक देवों के रूपों को (दिअस्स)

भाष्य—संसार में सब श्रेष्ठ साधु वही होता है, जो सदैव काल अपने शरीर के प्रतिकर्मों से रहित होता हुआ, सुन्दर वस्त्राभूषणों से शरीर को विभूषित नहीं करता है। तथा जो किसी उद्दण्ड व्यक्ति के कठोर वचनों से ताड़न तर्जन करने पर, लकड़ी आदि से मार पीट करने पर, एवं तलवार आदि शस्त्रों से छेदन-भेदन करने पर भी मधुर हँसी से हँसता है और सर्व सदा पृथिवी के समान एक रूपसे सभी प्रहारों को क्षमाभाव से सहन करता है। तथा जो अपने क्रिया काण्ड के भावी फल की कदापि निदान से आशा नहीं करता है—अर्थात् सदा निष्काम क्रिया करता है। तथा जो नाटक तमाशों के देखने का भी कुतूहल नहीं करता।

क्योंकि—ये सभी उपर्युक्त क्रियाएँ, मोहनीय कर्म उत्पन्न करने वाली हैं। मोहनीय कर्म, वह अमावस्या का घनान्धकार है, जिस में साधुत्व रूप शुभ्र चन्द्रमा उदित नहीं हो सकता। अस्तु, साधुओं को ये क्रियाएँ सभी प्रकार से त्याज्य हैं ॥ १३ ॥

उत्थानिका—अब, फिर इसी विषय पर कहा जाता है—

अभिभूअ काएण परीसहाइं, समुद्धरे जाइपहाउ अप्पयं ।
विइत्तु जाईमरणं महब्भयं, तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ॥१४॥

अभिभूय कायेन परीषहान्, समुद्धरति जातिपथात् आत्मानम् ।
विदित्वा जातिमरणं महाभयं, तपसि रतः श्रामण्ये यः स भिक्षुः ॥ १४ ॥

उत्थानिका—अब, साधु को पृथिवी की उपमा से उपमित करते हैं—

असइं वोसट्ठचत्तदेहे, अकुट्ठे व हए लूसिए वा।
पुढविसमे मुणी हविज्जा, अनिआणे अकोउहल्ले जे स भिक्खू ॥१३

असकृत् व्युत्सृष्टत्यक्तदेहः, आक्रुष्टो वा हतो लूषितो वा।
पृथिवीसमो मुनिर्भवति, अनिदान अकुतूहलो यः सः भिक्षुः ॥१३॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (मुणी) मुनि (असइं) सर्व काल में (वोसट्ठचत्तदेहे) शरीर पर राग द्वेष नहीं करता है—तथा शरीर को आभूषणों से अलंकृत नहीं करता है (अकुट्ठे) आक्रोशित हुआ (वा) किंवा (हए) दण्डादि से हत हुआ (वा) किंवा (लूसिए) खड्गादि से घायल हुआ भी (पुढविसमे) पृथिवी के समान क्षमाशील (हविज्ज) होता है, और (अनिआणे) किसी तरह का निदान नहीं करता है (अकोउहल्ले) नृत्य आदि में अभिरुचि नहीं रखता है (स) वही (भिक्खू) भिक्षु होता है ॥१३॥

मूलार्थ—यदि सच्चा साधु बनना है तो अपने शरीर पर किसी भी दशा में रागादि का प्रतिबन्ध नहीं रखना चाहिये; तथा किसी के झिड़कने पर, मारने-पीटने पर एवं घायल करने पर भी, पृथिवी के समान क्षमा वीर होना चाहिये। तथा निदान और कुतूहल से भी सदा पृथक् रहना चाहिये ॥१३॥

भाष्य—संसार में सब श्रेष्ठ साधु वही होता है जो सदैव काल अपने शरीर के प्रतिकर्मों से रहित होता हुआ, सुन्दर वस्त्राभूषणों से शरीर को विभूषित नहीं करता है। तथा जो किसी उदण्ड व्यक्ति के कठोर वचनों से ताड़न सहन करने पर, लकड़ी आदि से मार पीट करने पर, एवं तलवार आदि शस्त्रों से छेदन-भेदन करने पर भी मधुर हँसी से हँसता है और सर्वसहा पृथिवी के समान एक रूपसे सभी प्रहारों को क्षमाभाव से सहन करता है। तथा जो अपने क्रिया काण्ड के भावी फल की कदापि निदान से आशा नहीं करता है—अर्थात् सदा निष्काम क्रिया करता है। तथा जो नाटक तमाशों के देखने का भी कुतूहल नहीं करता।

कारणकि—ये सभी उपर्युक्त क्रियाएं, मोहनीय कर्म उत्पन्न करने वाली हैं। मोहनीय कर्म, वह अमावस्या का घनान्धकार है, जिस में साधुत्व रूप शुक्लपक्ष चन्द्रमा उदित नहीं हो सकता। अस्तु, साधुओं को ये क्रियाएं सभी प्रकार से त्याज्य हैं ॥ १३ ॥

उत्थानिका—अब, फिर इसी विषय पर कहा जाता है—

अभिभूअ काएण परीसहाइं, समुद्धरे जाइपहाउ अप्पयं ।
विइत्तु जाई मरणं महब्भयं, तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ॥१४॥

अभिभूय कायेन परीषहान्, समुद्धरति जातिपथात् आत्मानम् ।
विदित्वा जातिमरणं महाभयं, तपसि रतः श्रामण्ये यः सः भिक्षुः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (काएण) शरीर से (परीसहाइ) परीषहों को (अभिभूअ) जीत करके (अप्पय) अपनी आत्मा का (जाइपहाउ) जाति पथ से (समुद्धरे) उद्धार करता है, तथा (जाई मरण) जन्म मरण रूप संसार के मूल को (महब्भय) महा भयकारी (विइत्तु) जान करके (सामणिए) श्रामण्य भाव के योग्य (तवे) तप में (रए) रत होता है (स) वही (भिक्खू) भिक्षु है ॥१४॥

मूलार्थ—शरीर द्वारा परीषहों को जीतकर अपनी आत्मा को संसार-मार्ग से अलग हटाने वाला, तथा जन्म मरण के महान् भय को जानकर चारित्र एवं तप में रत रहने वाला, भिक्षु ही संसार में पूज्य होता है ॥ १४ ॥

भाष्य—इस सूत्र में कहा गया है कि—जो साधु, अपने शरीर द्वारा सभी प्रकार के अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों को सहन करता है, वह संसार मार्ग से अपनी आत्मा का उद्धार करलेता है। तथैव जो जन्म मरण से उत्पन्न होने वाले अतीव रौद्र भय के स्वरूप को ठीक तौर से समझ-बूझकर श्रमण वृत्ति के योग्य तप कर्म में रत होजाता है, वही सच्चा भिक्षु पद प्राप्त करता है। क्यों कि परीषहों को वेही वीरों के वीर महापुरुष सहन कर सकेंगे, जो कि संसार चक्र से पूर्णतया भय भीत होंगे।

सूत्रकार ने जो शरीर द्वारा परीषहों का जय करना बतलाया है उसका यह कारण है कि—केवल मन के चिन्तन और वचन के उच्चारण मात्र से ही परीषह नहीं जीते जासकते, किन्तु शरीर

द्वारा ही परीषह जीते जासकते हैं। सो जब साधु शरीर से परीषहों को जीतेगा तभी चारित्र धर्म की सिद्धि होगी एवं अपना उद्धार होगा।

यद्यपि सिद्धान्त की नीति से परीषह जयन में मन और वचन की दृढता भी अत्यावश्यक है, तथापि परीषह सहन में मुख्यतया शरीर ही लिया जाता है॥ १४॥

उत्थानिका—हस्त पादादि की यत्ना के विषय में कहते हैं—

हत्थसजए पायसजए, वायसजए सजएइदिए।
अज्झप्परए सुसमाहिअप्पा, सुत्तत्थ च विआणइ जे स भिक्खू ॥१५॥

हस्तसयतः पादसयतः, वाक्संयतः संयतेन्द्रियः।
अध्यात्मरतः सुसमाहितात्मा, सूत्रार्थं च विजानाति यः सः भिक्षुः ॥१५॥

अन्वयार्थ—(जे) जो व्यक्ति (हत्थसजए) हाथों से सयत है (पायसजए) पैरों से सयत है (वायसजए) वचन से सयत है (सजएइदिए) इन्द्रियों से सयत है (अज्झप्परए) अध्यात्म विद्या में रत है (सुसमाहिअप्पा) गुणों में दृढता होने से सुसमाहितात्मा है (च) तथा (सुत्तत्थं) सूत्रार्थ को यथार्थ रूप से (विआणइ) जानता है (स) वह (भिक्खू) भिक्षु है ॥१५॥

मूलार्थ— जो साधु अपने हस्त, पाद, वचन और इन्द्रियों को पूर्ण सयत रखता है, अध्यात्म-

सिया में रत रहता है; निजात्मा को भले प्रकार समाधिस्थ करता है, तथा सूत्र एवं अर्थ के गुप्त रहस्यों को भली भाँति जानता है, वही कर्मों का क्षय कर सकता है ॥ १५ ॥

भाष्य—इस सूत्र में यत्ना के विषय में विधानात्मक वर्णन किया गया है। यथा—जिस मुनि के हस्त पादादि अवयव संयत रहते हैं अर्थात् जो अपने हस्त पादादि अवयवों को कछुवे के समान संकोचे रहता है किसी खास कार्य के लिये ही उन्हें बड़ी यत्ना से संचालित करता है। तथा जिसका वचन भी संयत है अर्थात् जो पर पीड़ाकारी सावद्य वचनों का तो त्याग करता है और सब हितकारी मधुर सत्य वचनों का यथावसर प्रयोग करता है। तथा जिसकी इन्द्रियाँ भी संयत हैं अर्थात् जो पापकार्यों से अपनी इन्द्रियों को हटा कर धर्म कार्यों में युक्त करता है। तथा जो आर्त और रौद्र दुर्ध्यानों को छोड़ कर धर्म और शुक्ल नामक श्रेष्ठ ध्यानों में संलग्न रहता है। तथा जो अपनी आत्मा को समाधि द्वारा सीपेशवि समान सुविमल एवं सुसमर्पित रखता है—काम विकारों के प्रचण्ड वायु से क्षुब्ध नहीं होने देता है। तथा जो सूत्र और अर्थ को यथावस्थित रूप से जानता है—उस में भाव विपर्यय नहीं करता, वही भिक्षु कर्मकलंक से मुक्त होने योग्य होता है।

कारण कि— पापों की जननी अयत्ना है, सो जब यत्ना द्वारा अयत्ना का नाश हो जायगा, तो फिर पाप कर्म किस प्रकार मुनि की आत्मा को स्पर्शित करेंगे? पापों से मुक्त होना ही साधु पद का परमोद्देश है ॥ १५ ॥

उत्थानिका—अब, भण्डोपकरण में अमूर्च्छा भाव रखने का उपदेश देते हैं—

उवहिंमि अमुच्छिए अगिद्धे, अन्नायउंछ पुलनिप्पुलाए ।
कयविक्कयसंनिहिओ विरए, सव्वसंगावगए अ जे स भिक्खू ॥१६॥

उपधौ अमूर्च्छितः अगृद्धः, अज्ञातोञ्छः पुलाकनिष्पुलाकः ।
क्रयविक्रयसंनिधिभ्यो विरतः, सर्वसंगापगतश्च यः सः भिक्षुः ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (उवहिंमि) अपनी उपधियों में (अमुच्छिए) अमूर्च्छित रहता है (अगिद्धे) किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रखता है (अन्नायउंछं) अज्ञात कुल की गोचरी करता है (पुलनिप्पुलाए) चारित्र को असार कर देने वाले दोषों से रहित है (कयविक्कयसंनिहिओ) क्रय विक्रय और संनिधि से (विरए) विरक्त है (सव्वसंगावगए) सब प्रकार के संग से मुक्त है (स) वही (भिक्खू) भिक्षु है ॥१६॥

मूलार्थ—जो अपने आवश्यक उपकरणों में मूर्च्छाभाव नहीं रखता है, सांसारिक प्रतिबन्धों में नहीं आता है, अज्ञात कुल की गोचरी करता है, चारित्र घातक दोषों से पृथक् रहता है, क्रय विक्रय और संनिधि के व्यापार में नहीं पड़ता है, तथा सब प्रकारके संगों से असंग रहता है, वही भिक्षु होता है ॥१६॥

विधा में रत रहता है, निजात्मा को भले प्रकार समाधिस्थ करता है, तथा सूत्र एवं अर्थ के गुप्त रहस्यों को भली भाँति जानता है, वही कर्मों का क्षय कर सकता है ॥ १५ ॥

भाष्य—इस सूत्र में यत्ना के विषय में विधानात्मक वर्णन किया गया है। यथा—जिस मुनि के हस्त पादादि अवयव संयत रहते हैं अर्थात् जो अपने हस्त पादादि अवयवों को कछुए के समान संकोच रखता है किसी खास कार्य के लिये ही उन्हें यहाँ यत्ना से संचालित करता है। तथा जिसका वचन भी संयत है अर्थात् जो पर पीड़ाकारी सावद्य वचनों का तो त्याग करता है और सब हितकारी मधुर सत्य वचनों का यथावसर प्रयोग करता है। तथा जिसकी इन्द्रियाँ भी संयत हैं अर्थात् जो पापकार्यों से अपनी इन्द्रियों को हटा कर धर्म कार्यों में युक्त करता है। तथा जो आर्त और रौद्र दुर्ध्यानों को छोड़ कर धर्म और शुक्ल नामक श्रेष्ठ ध्यानों में संलग्न रहता है। तथा जो अपनी आत्मा को समाधि रूप सीपेश्वि समान सुविमल एवं सुमर्यादित रखता है—काम विकारों के प्रबल वायु से क्षुब्ध नहीं होने देता है। तथा जो सूत्र और अर्थ को यथावस्थित रूप से जानता है—उस में भाव विपर्यय नहीं करता, वही भिक्षु कर्मकलंक से मुक्त होने योग्य होता है।

कारण कि— पापों की जन्मदात्री अयत्ना है सो जब यत्ना द्वारा अयत्ना का नाश हो जायगा, तो फिर पाप कर्म किस प्रकार मुनि की आत्मा को स्पर्शित करेंगे ? पापों से मुक्त होना ही साधु पद का परमोद्देश है ॥ १५ ॥

उत्थानिका—अब, भण्डोपकरण में अमूर्च्छा भाव रखने का उपदेश देते हैं—

उवहिंमि अमुच्छिए अगिद्धे, अन्नायउंछ पुलनिप्पुलाए।
कयविक्कयसंनिहिओ विरए, सव्वसंगावगए अ जे स भिक्खू ॥१६॥

उपधौ अमूर्च्छित अगृद्ध, अज्ञातोञ्छ पुलाकनिष्पुलाकः।
क्रयविक्रयसंनिधिभ्यो विरत, सर्वसंगापगतश्च यः स भिक्षुः ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (उवहिंमि) अपनी उपधियों में (अमुच्छिए) अमूर्छित रहता है (अगिद्धे) किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रखता है (अन्नायउंछं) अज्ञात कुल की गोचरी करता है (पुलनिप्पुलाए) चारित्र को असार कर देने वाले दोषों से रहित है (कयविक्कयसंनिहिओ) क्रय विक्रय और संनिधि से (विरए) विरक्त है (सव्वसंगावगए) सब प्रकार के संग से मुक्त है (स) वही (भिक्खू) भिक्षु है ॥१६॥

मूलार्थ—जो अपने आवश्यक उपकरणों में मूर्छभाव नहीं रखता है, सांसारिक प्रतिबन्धों में नहीं आता है, अज्ञात कुल की गोचरी करता है, चारित्र घातक दोषों से पृथक् रहता है, क्रय विक्रय और संनिधि के व्यापार में नहीं पड़ता है, तथा सब प्रकारके संगों से असंग रहता है, वही भिक्षु होता है ॥१६॥

भाष्य—यदि मोक्षपद साधन करना है, तो साधु बनिए। बिना साधु बने मोक्ष की सिद्धि कदापि न हो सकेगी। मन के साधु होने से भी कुछ नहीं बनेगा, जो बनेगा वह धर्म के साधु होने से ही बनेगा। 'धर्म का साधु' इस सूत्रोक्त रीति से बना जा सकता है, जिन्हें बनना है व शास्त्र से पढ़ें।

पद्य—साधु को और तो क्या अपने धर्मोपकरण-वस्त्र, पात्र, मुख वस्त्रिका रजोहरणादि तक पर भी ममत्व भाव नहीं करना चाहिए। तथा किसी क्षेत्र या किसी गृहस्थ का प्रतिबन्ध नहीं रखना चाहिये; पवन की तरह अप्रतिहतगति ही रहना ठीक है। तथा अज्ञात कुलों में से ही उपधि की भिक्षा करनी चाहिये; वही भी थोड़ी थोड़ी करके ही ज्यादह नहीं। तथा जिन दोषों के सेवन से संयम की सारता नष्ट होती है उन दोषों का भी सेवन नहीं करना चाहिए; दोष वर्जित जीवन ही सच्चा जीवन है। पदार्थों के क्रय—खरीद न विक्रय—बेचन और संग्रह करने के झगड़े में भी नहीं पड़ना चाहिये साधु पद में व्यापार कैसा! तथा द्रव्य और भाव के भेदों से सभी प्रकार के संगों का त्याग करना चाहिये-अर्थात् गृहस्थ आदि के साथ विशेष सम्बन्ध-परिचय नहीं करना चाहिए। भाव यह है कि जिसकी आत्मा सांसारिक क्रियाओं से निवृत्त होकर केवल आत्म विकास की ओर ही लग जाती है वही वास्तव में मोक्ष साधक काम करने वाला भिक्षु होता है।

सूत्र में जो 'पुलाकनिष्पुलाए'—पुलाकनिष्पुलाक पद दिया है उसका स्पष्ट भाव यह है कि—संयमासारतापादकदोषरहित—संयम को सार हीन करने वाले दोषों से अलग रहने वाला ही वास्तव में मुनि होता है ॥ १६ ॥

उत्थानिका—अब, फिर इसी विषय पर कहा जाता है—

अलोल भिक्खू न रसेसु गिज्झे, उंछं चरे जीविअनाभिकंखी।
इड्ढिं च सक्कारण पूअणं च, चए ठिअप्पा अणिहे जे स भिक्खू ॥१७॥

अलोलः भिक्षुः न रसेषु गृद्धः, उञ्छं चरति जीवितं नाभिकांक्षते।
ऋद्धिं च सत्कारं पूजनं च, त्यजति स्थितात्माऽनिभः यः सः भिक्षुः ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (भिक्खू) साधु (अलोल) लोलुपता रहित है (रसेसु) रसों में (न गिज्झे) गृद्ध नहीं है (उंछं) अज्ञात कुलों में आहारार्थ (चरे) जाता है (जीविअ) संयम रहित जीवन को (नाभिकंखए) नहीं चाहता है (ठिअप्पा) ज्ञानादि के विषय में अपनी आत्मा को स्थित रखता है (अणिहे) छल से रहित है, तथा जो (इड्ढिं) लब्धि प्रमुख ऋद्धि को (च) और (सक्कारण) सत्कार को (च) और (पूअणं) पूजा को (चए) छोड़ता है (स) वही (भिक्खू) सच्चा भिक्षु होता है ॥ १७ ॥

मूलार्थ—जो मुनि लोभ-लालच नहीं करता है, रसों में मूर्च्छित नहीं होता है, ×अज्ञात कुलों में से लाया हुआ भिक्षान्न भोगता है, असंयम जीवन की इच्छा नहीं करता है, ऋद्धि सत्कार और पूजा-प्रतिष्ठा भी नहीं चाहता है, तथा जो स्थिर स्वभावी और निश्छल होता है, वही कर्म समूह को नष्ट

× पूर्व सूत्र में उपधि को लेकर कथन किया गया था और इस सूत्र में आहार को लेकर कथन किया गया है, अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है।

करता है ॥ १७ ॥

भाष्य—सच्चा भिक्षुपद वही प्राप्त कर सकता है जो लोलुपता से रहित होता है अर्थात् अप्राप्त भोग वस्तु की इच्छा नहीं करता है। तथा जो मधुर-लवणादि रस वाले पदार्थों के मिलने पर उनमें गृद्ध नहीं होता है, रूखा सूखा जैसा मिल जाता है उसी में सन्तोष करता है। तथा जो अज्ञात अर्थात् अपरिचित घरों से भ्रमण कर थोड़ी-थोड़ी उदर पूर्ति योग्य भिक्षा लाता है। तथा जो असंयत जीवन की भूलकर भी इच्छा नहीं करता है अर्थात् जो मरण संकट के आनेपर भी व्रत भंग करके जीवन रखने की मन में भावना तक नहीं लाता। तथा जो सामर्थ्य वर्धा आदि ऋद्धि की, वस्त्रादि द्वारा सत्कार की एवं स्तवनादि द्वारा पूजा की, इच्छा का भी परित्यागी है, अर्थात् जो उक्त कार्यों की प्राप्ति के लिये कभी प्रयत्नशील नहीं होता। तथा जो अपनी आत्मा को छल कपट के फन्दे में नहीं फंसाता, प्रत्युत ज्ञानादि समाधियों के विषय में ही सदैव लीन रहता है।

यह उपर्युक्त विवेचन भावभिक्षु को लक्ष्य कर किया है द्रव्य भिक्षु को लक्ष्य कर नहीं। भाव के साथ ही द्रव्य की शोभा होती है, बिना भावों के निरा द्रव्य तो पोली मुट्ठी के समान बिल्कुल निःसार है। अतः केवल द्रव्य की पूजा करने वालों का भाव की तरफ लक्ष्य देना चाहिये। सच्चा भिक्षुत्व भाव में ही है ॥ १७ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, साधु को अहमन्य न बनने का उपदेश देते हैं—

न पर वइज्जासि अय कुसीले, जेण च कुप्पिज्ज न त वइज्जा।

जाणिअ पत्तेअ पुन्नपाव , अत्ताण न समुक्कसे जे स भिक्खू ॥ १८ ॥

न पर वदति अय कुशीलः , येन च कुप्यति न तद् वदति ।
ज्ञात्वा प्रत्येक पुण्य-पापं , आत्मान न समुत्कर्षति यः सः भिक्षु ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (पर) दूसरे को (अय) यह (कुसीले) दुश्चरित्री है (न वइज्जा) ऐसा नहीं कहता है, तथा जो (पुण्ण पाव) पुण्य और पाप (पत्तेअं) प्रत्येक जीव अपना किया आपही भोगता है, दूसरा नहीं (जाणिअ) यह जानकर (जेण) जिससे (अन्नं) अन्य को (कुप्पिज्ज) क्रोध हो (त) वह वचन (न वइज्जा) नहीं बोलता है, तथा जो (अप्पाणं) अपनी आत्मा को (नसमुक्कसे) सब से बड़कर मानता हुआ अहकार नहीं करता है (स) वही (भिक्खू) भिक्षु होता है ॥ १८ ॥

मूलार्थ—महाव्रत धारी भिक्षु , दूसरों को× कुशीलिया-दुराचारी कहकर तिरस्कृत नहीं करे, तथा ' जो जसा पुण्य पाप करता है वह वैसाही फल भोगता है–' यह विचार कर किसी को क्रोधोत्पादक कटु वचन न कहे , तथा ' मैं ही सब से बड़ा हूँ ' यह गर्व करके अपने को उत्कृ-ष्ट भी नहीं माने ॥ १८ ॥

+ यहाँ कुशील ' शब्द कुत्सित आचार का वाचक है ।

भाष्य—इस सूत्र में 'पर निन्दा का परित्याग करना' यही साधु का सर्वोपरि लक्षण है—यह प्रतिपादन किया है। यथा—जो साधु, अपने से भिन्न लोगों को यह कहता है कि— ये लोग दुराचारी हैं, धर्म भ्रष्ट हैं-वह साधु नहीं है। क्योंकि ऐसा कहने से उन लोगों के हृदय में अप्रीति तथा जैन शासन की अकुशल आदि महान् दोष होते हैं। यहाँ कबीर का यह भाव याद रखना चाहिए, जो उन्होंने एक दोहे में कहा है—"बुरा जो दुखन मैं चला, बुरा न देखा कोय; जो घट सोधूं आपना मुझ से बुरा न कोय।"

इस उपर्युक्त कथन से यह भाव नहीं लगाना चाहिए कि-स्वपक्ष वालों एवं परपक्ष वालों को शिक्षा बुद्धि से दुराचार की निवृत्ति के अर्थ भी कुछ नहीं कहना। हाँ साधु, दुराचार की निवृत्ति के लिये तो सभी पक्षवालों को बड़े शौक से सदुपदेश दे सकता है, क्योंकि साधु का जीवन ही दूसरों के उपकार के लिये होता है। परन्तु शिक्षा देते समय यह बात सदैव स्मरण रखनी चाहिए कि—जो कुछ कथन हो, वह अतीव मधुर भाषा में प्रेमभरी हित बुद्धि से हो द्वेष बुद्धिसे नहीं। द्वेष की तो शिक्षा भी कुछ नहीं होती।

तथा साधु को वह वचन भी नहीं बोलना चाहिए-जिससे सुनने वाले के हृदय में क्रोधाग्नि प्रदीप्त होजाय। जैसे कि—चोर को चोर एवं व्यभिचारी को व्यभिचारी कहना। यद्यपि यह सत्य है, तथापि अवाच्य है। क्योंकि साधु को इन बातों से क्या पड़ा? जो जैसा भला-बुरा होता है, वह वैसा अपने लिये ही होता है, दूसरों के लिये नहीं। "पारक् करणं तारक भरणम्" की भांति जीव कर्म में भी व्यक्तित नहीं हो सकती। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि पुण्य एवं पाप के कारण कोई

तो कोई और फिर भर कोई। जो अग्नि में हाथ देता है उसी का हाथ जलता है। अस्तु साधुओं का कार्य उपदेश का है, किसी की निन्दा का नहीं। जो नहीं माने, उसपर साधु को सदा माध्यस्थ भाव रखना चाहिए।

तथा कुछ अपनी तरफ भी देखा-भाली करनी चाहिये। वह यह कि अपने में चाहे कितने ही क्यों न सद्गुण विद्यमान हों, परन्तु अपनी सर्व श्रेष्ठता का यों कभी गर्व नहीं करना चाहिये कि- 'बस एक मैं ही आदर्श गुणी पुरुष हूँ। मैं विमल चन्द्रमा हूँ और सब मेरे प्रतिबिम्ब हैं।' क्योंकि हमेशा अभिमान का शिर नीचा और नम्रता का शिर ऊँचा रहता है। सच्ची सर्वश्रेष्ठता अपने को सब से तुच्छ एवं गुण हीन समझने में ही है। अपने को सदा अपूर्ण मानने वाले ही आगे जाकर पूर्ण होते हैं, पूर्ण मानने वाले नहीं।

सूत्र का संक्षिप्त सारांश यह है कि साधु को बड़ी सावधानी के साथ अपनी स्तुति एवं पर की निन्दा से सदा अलग-थलग रहना चाहिये ॥ १८ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मद-परित्याग का उपदेश देते हैं—

न जाइमत्ते न य रूवमत्ते, न लाभमत्ते न सुएणमत्ते।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता, धम्मज्झाण रए जे स भिक्खू ॥ १९ ॥

न जातिमत्तः नच रूपमत्तः, न लाभमत्तः न श्रुतमत्त।

भाष्य—इस सूत्र में 'पर निन्दा का परित्याग करना' यही साधु का सर्वोपरि लक्षण है—यह प्रतिपादन किया है। यथा—जो साधु, अपने से भिन्न लोगों को यह कहता है कि— ये लोग कुपचारी हैं, धर्म भ्रष्ट हैं-यह साधु नहीं है। क्योंकि ऐसा कहने से उन लोगों के हृदय में अप्रीति तथा जैन शासन की लघुता आदि महान् दोष होते हैं। यहाँ कबीर का यह भाव याद रखना चाहिए, जो अप्रीति एक दोहे में कहा है—"बुरा जो ढूँढन मैं चला, बुरा न देखा कोय। जो घट खोजूं आपना मुझ से बुरा न कोय।"

इस उपर्युक्त कथन से यह भाव नहीं लगाना चाहिये कि—स्वपक्ष वालों एवं परपक्ष वालों को शिक्षा बुद्धि से कुपचार की निवृत्ति के अर्थ भी कुछ नहीं कहना। हाँ साधु, कुपचार की निवृत्ति के लिये तो सभी पक्षवालों को बड़े शौक से सदुपदेश दे सकता है। क्योंकि साधु का जीवन ही दूसरों के उद्धार के लिये होता है। परन्तु शिक्षा देते समय यह बात सदैव स्मरण रखनी चाहिये कि—जो कुछ कथन हो, वह अतीव मधुर भाषा में प्रेमभरी हित बुद्धि से हो द्वेष बुद्धि से नहीं। द्वेष की तो शिक्षा भी कुछ नहीं होती।

तथा साधु को वह वचन भी नहीं बोलना चाहिये-जिससे सुनने वाले के हृदय में कोपाग्नि प्रदीप्त होजाय। जैसे कि—चोर को चोर एवं व्यभिचारी को व्यभिचारी कहना। यद्यपि यह सत्य है, तथापि अवाच्य है। क्योंकि साधु को इन बातों से क्या पड़ा? जो जैसा भला-बुरा होता है, वह अपने लिये ही होता है, दूसरों के लिये नहीं। "यादृक् करणं तादृक् भरणम्" की नीति तीन लोक में भी स्खलित नहीं हो सकती। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि पुण्य एवं पाप के करने वाले

सो करोड़ और फिर भरे कोई। जो अग्नि में हाथ देता है उसी का हाथ जलता है। अस्तु साधुओं का कार्य उपदेश का है, किसी की निन्दा का नहीं। जो नहीं माने, उसपर साधु को सदा माध्यस्थ भाव रखना चाहिये।

साथ कुछ अपनी तरफ भी देखा-भाली करनी चाहिये। वह यह कि अपने में चाहे कितने ही क्यों न सद्गुण विद्यमान हों, परन्तु अपनी सर्व श्रेष्ठता का यों कभी गर्व नहीं करना चाहिये कि-'बस एक मैं ही आदर्श गुणी पुरुष हूँ। मैं विमल चन्द्रमा हूं और सब मेरे प्रतिबिम्ब हैं।' क्योंकि हमेशा अभिमान का शिर नीचा और नम्रता का शिर ऊंचा रहता है। सच्ची सर्वश्रेष्ठता अपने को सब से तुच्छ एवं गुण हीन समझने में ही है। अपने को सदा अपूर्ण मानने वाले ही आगे आकर पूर्ण होते हैं, पूर्ण मानने वाले नहीं।

सूत्रका संक्षिप्त सारांश यह है कि साधु को बड़ी सावधानी के साथ अपनी स्तुति एवं पर की निन्दा से सदा अलग-थलग रहना चाहिये॥ १८॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मद-परित्याग का उपदेश देते हैं—

न जाइमत्ते न य रूवमत्ते, न लाभमत्ते न सुएणमत्ते।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता, धम्मज्झाण रए जे स भिक्खू॥ १९॥

न जातिमत्तः नच रूपमत्तः, न लाभमत्तः न श्रुतमत्तः।

भाष्य—इस काव्य में 'पर निन्दा का परित्याग करना' यही साधु का सर्वोपरि लक्षण है—यह प्रतिपादन किया है। यथा—जो साधु, अपने से भिन्न लोगों को यह कहता है कि— ये लोग दुराचारी हैं, धर्म भ्रष्ट हैं-यह साधु नहीं है। क्योंकि ऐसा कहने से उन लोगों के हृदय में अप्रीति तथा जैन शासन की लघुता आदि महान् दोष होते हैं। यहाँ कबीर का यह भाव याद रखना चाहिए, जो उन्होंने एक दोहे में कहा है—" बुरा जो ढूंढन मैं चला, बुरा न देखा कोय ; जो घट शोधूं आपना मुझ से बुरा न कोय।"

इस उपर्युक्त कथन से यह भाव नहीं लगाना चाहिए कि-स्वपक्ष वालों एवं परपक्ष वालों को शिक्षा बुद्धि से दुराचार की निवृत्ति के अर्थ भी कुछ नहीं कहना। हाँ साधु, दुराचार की निवृत्ति के लिए तो सभी पक्षवालों को बड़े शौक से सदुपदेश दे सकता है; क्योंकि साधु का जीवन ही दूसरों के उद्धार के लिए होता है। परन्तु शिक्षा देते समय यह बात सदैव स्मरण रखनी चाहिए कि—जो कुछ कथन हो, वह अतीव मधुर भाषा में प्रेमभरी हित बुद्धि से हो द्वेष बुद्धि से नहीं। द्वेष की तो शिक्षा भी कुछ नहीं होती।

तथा साधु को वह वचन भी नहीं बोलना चाहिए-जिससे सुनने वाले के हृदय में क्रोधाग्नि प्रदीप्त हो जाय। जैसे कि—चोर को चोर एवं व्यभिचारी को व्यभिचारी कहना। यद्यपि यह सत्य है, तथापि अवाच्य है। क्योंकि साधु को इन बातों से क्या पड़ा ? जो जैसा भला-बुरा होता है, वह वैसा अपने लिये ही होता है, दूसरों के लिये नहीं। "यादृक् कर्त्ता तादृक भरणम्" की नीति तीन काल में भी स्खलित नहीं हो सकती। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि पुण्य एवं पाप के करने वाले

सो कोई और फिर भरे कोई। जो अग्नि में हाथ देता है उसी का हाथ जलता है। अस्तु साधुओं का कार्य उपदेश का है, किसी की निन्दा का नहीं। जो नहीं माने, उसपर साधु को सदा माध्यस्थ भाव रखना चाहिए।

तथा कुछ अपनी तरफ भी देखा-भाली करनी चाहिये। वह यह कि अपने में चाहे कितने ही क्यों न सद्गुण विद्यमान हों, परन्तु अपनी सर्व श्रेष्ठता का यों कभी गर्व नहीं करना चाहिये कि-'बस एक मैं ही आदर्श गुणी पुरुष हूँ। मैं विमल चन्द्रमा हूं और सब मेरे प्रतिबिम्ब हैं।' क्योंकि हमेशा अभिमान का शिर नीचा और नम्रता का शिर ऊंचा रहता है। सच्ची सर्वश्रेष्ठता अपने को सब से तुच्छ एवं गुण हीन समझने में ही है। अपने को सदा अपूर्ण मानने वाले ही आगे जाकर पूर्ण होते हैं, पूर्ण मानने वाले नहीं।

सूत्र का संक्षिप्त सारांश यह है कि साधु को बड़ी सावधानी के साथ अपनी स्तुति एवं पर की निन्दा से सदा अलग-थलग रहना चाहिये ॥ १८ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मद-परित्याग का उपदेश देते हैं—

न जाइमत्ते न य रूवमत्ते, न लाभमत्ते न सुएणमत्ते।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता, धम्मज्झाण रए जे स भिक्खू ॥ १९ ॥

न जातिमत्त नच रूपमत्तः, न लाभमत्तः न श्रुतमत्तः।

भाष्य—इस काव्य में 'पर निन्दा का परित्याग करना' यही साधु का सर्वोपरि लक्षण है—यह प्रतिपादन किया है। यथा—जो साधु, अपने से भिन्न लोगों को यह कहता है कि—'ये लोग दुराचारी हैं, धर्म भ्रष्ट हैं-वह साधु नहीं है। क्योंकि ऐसा कहने से उन लोगों के हृदय में अप्रीति तथा जैन शासन की लघुता आदि महान् दोष होते हैं। यहाँ कबीर का यह भाव याद रखना चाहिए, जो उन्होंने एक दोहे में कहा है—" बुरा जो ढूढन मैं चला, बुरा न देखा कोय ; जो घट खोजूं आपना मुझ से बुरा न कोय।"

इस उपर्युक्त कथन से यह भाव नहीं लगाना चाहिए कि—स्वपक्ष वालों एवं परपक्ष वालों को शिक्षा बुद्धि से दुराचार की निवृत्ति के अर्थ भी कुछ नहीं कहना। हाँ साधु, दुराचार की निवृत्ति के लिये तो सभी पक्षवालों को बड़े चाव से सदुपदेश दे सकता है। क्योंकि साधु का जीवन ही दूसरों के उपकार के लिए होता है। परन्तु शिक्षा देते समय यह बात सदैव स्मरण रखनी चाहिए कि—जो कुछ कथन हो, वह अतीव मधुर भाषा में प्रेमभरी हित बुद्धि से हो द्वेष बुद्धि से नहीं। द्वेष की तो शिक्षा भी कुछ नहीं होती।

तथा साधु को वह वचन भी नहीं बोलना चाहिए-जिससे सुनने वाले के हृदय में क्रोधाग्नि प्रदीप्त हो जाय। जैसे कि—चोर को चोर एवं व्यभिचारी को व्यभिचारी कहना। यद्यपि यह सत्य है, तथापि अवाच्य है। क्योंकि साधु को इन बातों से क्या पड़ा? जो जैसा भला-बुरा होता है, वह फल भरने के लिये ही होता है, दूसरों के लिये नहीं। "पारक करम तारक मरणम्" की भांति तीव्र पाप में भी स्वलित नहीं हो सकती। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि पुण्य एवं पाप के फलस्य को

तो कोई और फिर भरे कोई। जो अग्नि में हाथ देता है उसी का हाथ जलता है। अस्तु साधुओं का काम उपदेश का है, किसी की निन्दा का नहीं। जो नहीं माने, उसपर साधु को सदा माध्यस्थ भाव रखना चाहिए।

तथा कुछ अपनी तरफ भी देखा-भाली करनी चाहिये। वह यह कि अपने में चाहे कितने ही क्यों न सद्गुण विद्यमान हों, परन्तु अपनी सर्व श्रेष्ठता का यों कभी गर्व नहीं करना चाहिये कि-'बस एक मैं ही आदर्श गुणी पुरुष हूँ। मैं विमल चन्द्रमा हूं और सब मेरे प्रतिबिम्ब हैं।' क्योंकि हमेशां अभिमान का शिर नीचा और नम्रता का शिर ऊंचा रहता है। सच्ची सर्वश्रेष्ठता अपने को सब से तुच्छ एवं गुण हीन समझने में ही है। अपने को सदा अपूर्ण मानने वाले ही आगे जाकर पूर्ण होते हैं, पूर्ण मानने वाले नहीं।

सूत्र का संक्षिप्त सारांश यह है कि साधु को बड़ी सावधानी के साथ अपनी स्तुति एवं पर की निन्दा से सदा अलग-थलग रहना चाहिये ॥ १८ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, मद–परित्याग का उपदेश देते हैं—

न जाइमत्ते न य रूवमत्ते, न लाभमत्ते न सुएणमत्ते।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता, धम्मज्झाण रए जे स भिक्खू ॥ १९ ॥

न जातिमत्तः नच रूपमत्तः, न लाभमत्तः न श्रुतमत्तः।

मदान् सर्वान् विवर्ज्य , धर्मध्यानरतो यः सः भिक्षुः ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (न जाइमत्ते) जाति का मद नहीं करता (न य रूवमत्ते) रूप का मद नहीं करता (अ) तथा (न सुएण मत्ते) श्रुत का मद नहीं करता ; तात्पर्य यह है कि (सव्वाणि) सब (मयाणि) मदों को (विवज्जइत्ता) छोड़कर केवल (धम्मज्झाणरए) धर्मध्यान में रत रहता है (स) वही (भिक्खू) भिक्षु है ॥ १९ ॥

मूलार्थ—जो मुनि जाति, रूप, लाभ और श्रुत आदि सभी प्रकार के मदों का परित्याग करके, हमेशा धर्मध्यान में ही लीन रहता है , वही दुःखों का क्षय कर सकता है ॥ १९ ॥

भाष्य—इस काव्य में इस बात का प्रकाश किया गया है कि—जो सब प्रकार के मदों का परित्याग करता है वही वास्तव में भिक्षु होता है। यथा—

जातिमद—अपनी उच्च जाति का गर्व करना और दूसरों को हीन जाति का अपवाद करना। जैसे कि—मैं ब्राह्मण हूं मैं क्षत्री हूं अन्य सब लोग शूद्र हैं। ये चमार आदि अछूत हैं—नीच हैं, इनसे उच्च जाति वालों को सदा अलग रहना चाहिये। क्योंकि इनके स्पर्श से आत्मा अपवित्र होती है।

रूपमद—अपने रूप—सौन्दर्य का गर्व करना और अन्य रूप हीन जनों की सोपहास निन्दा करना। जैसे कि—मेरा कैसा सुन्दर रूप है मेरी जोड़ी का कोई और है ही नहीं। ये लोग कितने काले

कलूट हैं, इन्हें देखते ही कै होने को होती है।

लाभमद—अपने लाभ पर प्रसन्न होना और दूसरों की हानि पर उपहास करना। जैसे कि—मैं जिस काम में हाथ डालता हूँ वहाँ से मुझे लाभ ही लाभ मिलता है—हानि तो कभी होती ही नहीं। इसके विपरीत फलां आदमी कितना भाग्य हीन है जो लाभ के काम में भी हानि ही पाता है।

श्रुतमद—अपने को ज्ञानी और दूसरों को अज्ञानी मान कर स्वस्तुति एवं पर निन्दा करना। जैसे कि—मैं सब शास्त्रों का जानने वाला एवं पण्डित हूं, अन्य सब मूर्ख हैं। ये मेरा शत्रु भला मेरा क्या मुकाबला कर सकते हैं।

ये ऊपर मदों के नाम उदाहरण स्वरूप दिये हैं। अतः यह नहीं समझना कि बस इतने ही मद हैं अन्य नहीं। उपलक्षण से कुलमद एवं ऐश्वर्य मद आदि का भी ग्रहण करलेना चाहिये। सूत्रकारने जो जाति आदि कह कर भी 'मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता' अलग पद दिया है, वह अन्य मदों का संसूचक है।

अब सूत्रकार का मदों के विषय में यह कहना है कि—जो साधु उपर्युक्त जाति आदि सभी मदों को छोड़कर सदैव काल धर्म ध्यान के विषय में आसक्त रहता है, वही मोक्षगामी होता है। क्योंकि जब सब पदार्थ क्षणनश्वर हैं तो भला फिर इन जाति एवं रूपादि का मद कैसा ? मनुष्य जाति से सब एक हैं, कोई ऊंच-नीच नहीं। उच्चता और नीचता तो कर्मों के ऊपर है। जो जैसा कर्म करता है, वह उसी के अनुसार ऊँच-नीच होता है। जो दूसरों को नीच समझता है, वही वस्तुतः नीच होता

मदान् सर्वान् विवर्ज्य, धर्मध्यानरतो यः सः भिक्षुः ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (न जाइमत्ते) जाति का मद नहीं करता (न य रूवमत्ते) रूप का मद नहीं करता (अ) तथा (न सुएण मत्ते) श्रुत का मद नहीं करता ; तात्पर्य यह है कि (सव्वाणि) सब (मयाणि) मदों को (विवज्जइत्ता) छोड़कर केवल (धम्मज्झाणरए) धर्मध्यान में रत रहता है (स) वही (भिक्खू) भिक्षु है ॥ १९ ॥

मूलार्थ—जो मुनि जाति, रूप, लाभ और श्रुत आदि सभी प्रकार के मदों का परित्याग करके, हमेशा धर्मध्यान में ही लीन रहता है, वही दुःखों का क्षय कर सकता है ॥ १९ ॥

भाष्य—इस काव्य में इस बात का प्रकाश किया गया है कि—जो सब प्रकार के मदों का परित्याग करता है वही वास्तव में भिक्षु होता है। यथा—

जातिमद—अपनी उच्च जाति का गर्व करना और दूसरों को हीन जाति का अपवाद करना। जैसे कि—मैं ब्राह्मण हूं मैं क्षत्री हूं अन्य सब लोग शूद्र हैं। ये चमार आदि अछूत हैं—नीच हैं, इनसे उच्च जाति वालों को सदा अलग रहना चाहिये। क्योंकि इनके स्पर्श से आत्मा अपवित्र होती है।

रूपमद—अपने रूप—सौन्दर्य का गर्व करना और अन्य रूप हीन जनों की लोपहास निन्दा करना। जैसे कि-मेरा कैसा सुन्दर रूप है मेरी जोड़ी का कोई और है ही नहीं। ये लोग किस काले

दूसरों को भी धर्म में स्थित करता है; संसार के दूषित कीचड़ से बाहर निकल कर, कुशील लिङ्ग को छोड़ देता है, तथा कभी निन्द्य-परिहास की उत्पन्न करने वाली कुचेष्टाएँ भी नहीं करता है, वही वस्तुत भिक्षु होता है ॥ २० ॥

भाष्य—इस काव्य में यह कहा गया है कि—जो मुनि बिना किसी स्वार्थ के केवल परोपकार की दृष्टि से ही आर्यपद का—शुद्ध अहिंसा सत्य आदि धर्म का—भव्य जीवों को सदुपदेश देता है। तथा जो स्वय धर्म में मन्दराचल के समान अडोल एवं अकम्प रूप से स्थिर हुआ अन्य धर्म से स्खलित होती हुई आत्माओं को भी अपने ज्ञान-बल से धर्म में दृढतया स्थापित करता है। तथा जो पूर्ण वैराग्य भावना द्वारा संसार सागर से निकल कर, फिर आरम्भ-समारम्भ आदि की कुशील चेष्टाओं का भी परित्याग कर देता है; क्यों कि संसार को छोड़कर जब साधु ही हो गये तो फिर सांसारिक कुशील चेष्टाओं का क्या काम ? तथा जो हास्य युक्त असभ्य चेष्टाओं का भी परित्याग करता है; क्योंकि—अतीव कुत्सित परिहास से मोहनीय कर्म का विशेष बन्ध हो जाता है जिससे चारित्र धर्म का दुर्ग मूलत: ध्वस्त होजाता है। अस्तु वही मुनि, संसार सागर को संयम की नौका द्वारा सुख पूर्वक पार कर, अक्षय मोक्षधाम में जाता है।

सूत्रोक्त 'कुशील लिङ्ग' का यह भी अर्थ होता है कि-साधु, साधुवृत्ति लेकर फिर कुशील लिङ्ग धारण न करे। जैसेकि—मुनि के लिये श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने 'श्वेत वस्त्र धारण करना मुखपर मुखवस्त्रिका लगाना, रजोहरण और काष्ठ पात्र रखना, हमेशा नंगे सिर और नंगे पैरों

है। अस्तु, जाति आदि का मद आत्म-स्थित अनन्त शक्ति का बाधक है। सो आत्म-शक्ति प्रेमी भव्यों को इन सभी मदों से अपने को बचाए रखना चाहिए ॥ १९ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, शुद्ध धर्मोपदेश देने के विषय में कहते हैं–

पवेअए अज्जपय महामुणी, धम्मेठिओ ठावयई पर पि।
निक्खम्म वज्जिज्ज कुसीललिंग, न आवि हासकुहए जे स भिक्खू ॥ २० ॥

प्रवेदयति आर्यपद महामुनिः, धर्मे स्थितः स्थापयति परमपि।
निष्क्रम्य वर्जयति कुशीललिङ्गं, न चापि हास्यकुहकः यः स भिक्षु ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (महामुणी) महामुनि (अज्जपय) परोपकार के लिये आर्यपद शुद्ध उपदेश (पवेअए) कहता है, तथा (धम्मे) स्वय धर्म में (ठिओ) स्थित हुआ (परपि) पर आत्माओं को भी (ठावयई) धर्म में स्थापित करता है (निक्खम्म) ससार से निकल करके (कुसीललिंग) कुशील लिंग को (वज्जिज्ज) छोड़देता है (हासं कुहए) हास्य उत्पन्न करने वाली कुचेष्टाएँ (न) नहीं करता है (स) वही (भिक्खू) भिक्षु होता है ॥ २० ॥

मूलार्थ—जो महामुनि परोपकारार्थ शुद्ध धर्म का उपदेश देता है; स्वय धर्म में स्थित हुआ

मूलार्थ—रत्नत्रयस्थित पूर्वोक्तक्रियापालक साधु, शुक्र शोणित पूर्ण इस अशुचिमय एवं विनाश शील शरीरको सदा के लिये परित्याग कर देता है तथा जन्म मरण के बन्धनों को काटकर 'जहाँ जाने के बाद फिर ससार में आना नहीं होता' ऐसे मुक्ति स्थान को प्राप्त कर लेता है ॥ २१ ॥

भाष्य—इस काव्य में यथावत् रूप से भिक्षु धर्म का पालन करने से भिक्षुओं को किस महा फल की प्राप्ति होती है! यह बतलाते हुये इस प्रस्तुत दशवें अध्ययन का उपसंहार करते हैं। यथा-

जो भिक्षु मोक्षपदप्रदाता सम्यग्दर्शन सम्यग् ज्ञान और सम्यक चारित्र में पूर्ण रूप से लीन रहता है उसे पहला लाभ तो यह होता है कि—वह इस अपावन शरीर से सदा के लिये सम्बन्ध छोड़ देता है। क्योंकि यह शरीर शुक्र और शोणित से उत्पन्न होता है, मलका कारण है, सदा काल अपवित्र ही रहता है तथा प्रतिक्षण पूर्व पर्याय का नाश और उत्तर पर्याय की उत्पत्ति होने से अशाश्वत है—प्रतिक्षण हाय मान होता चला जाता है। अनेकानेक भयंकर रोगों की खान है। भाव यह है कि—शरीर क सम्बन्ध से ही आत्मा को दु:ख होता है। जब आत्मा का शरीर से सम्बन्ध छुट गया तो दुःखों से अपने आप छुट गया। 'न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी।'

अब प्रश्न यह होता है कि—जब आत्मा इस अपवित्र शरीर को छोड़ देती है—इसमें नहीं रहती है, तो फिर कहाँ जाती है-कहाँ निवास करती है? प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार स्वयं ही कहते हैं कि—जो आत्माएं शरीर का सदा के लिये परित्याग कर देती हैं, वे अनादिकालीन जन्म मरण के बन्धन को मूलतः छेदन करके, उस अव्याबाध सिद्ध गति को प्राप्त करते हैं—जो अपुनरागमन

रजना इत्यादि शुद्ध धार्मिक वेष बतलाया है, यही स्वलिंग है। मुनि को यही स्वलिंग धारण करना चाहिये। राजमुद्रा लगजाने पर ही स्वर्ण विशेष उपयोगी होता है ॥ २० ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, भाव भिक्षु के फल का वर्णन करते हुये अध्ययन का उपसंहार करते हैं–

त देहवास असुइ असासय , सया चए निच्चहिअट्ठिअप्पा ।
छिंदित्तु जाईमरणस्स बंधण , उवेइ भिक्खू अपुणागम गइ ॥ २१ ॥ त्तिबेमि ।

त देहवासमशुचिमशाश्वतं , सदा त्यजति नित्यहितस्थितात्मा ।
छित्वा जातिमरणस्य बन्धन , उपैति भिक्षुरपुनरागमां गतिम् ॥ २१ ॥ इति ब्रवीमि ।

अन्वयार्थ—(निच्चहिअट्ठिअप्पा) नित्यहितरूप–सम्यग् दर्शनादि में अपनी आत्मा को सुस्थित रखने वाला (भिक्खू) पूर्वोक्त साधु (असुइ) अशुचिमय एवं (असासय) नश्वर (त) इस (देहवास) देह वास को (सया) सदा के लिये (चए) छोड़ देता है तथा (जाईमरणस्स) जन्म मरण के (बंधण) बंधन को (छिंदित्तु) छेदन कर (अपुणागम) अपुनरागमन नामक (गइ) गति को–सिद्धपदवी को (उवेइ) प्राप्त करलेता है ॥ २१ ॥

(त्तिबेमि) इस प्रकार मैं तीर्थंकरों के उपदेशानुसार कहता हूं ।

मूलार्थ—रत्नत्रयस्थित पूर्वोक्तक्रियापालक साधु, शुक्र शोणित पूर्ण इस अशुचिमय एव विनाश शील शरीरका सदा के लिये परित्याग कर देता है तथा जन्म मरण के बन्धनों को काटकर 'जहाँ जाने के बाद फिर संसार में आना नहीं होता' ऐसे मुक्ति स्थान को प्राप्त कर लेता है ॥ २१ ॥

भाष्य—इस काव्य में यथावत् रूप से भिक्षु धर्म का पालन करने से भिक्षुओं को किस महा फल की प्राप्ति होता है ! यह बतलाते हुये इस प्रस्तुत दशवें अध्ययन का उपसंहार करते हैं। यथा-

जो भिक्षु मोक्षपथप्रदर्शक सम्यग्दर्शन सम्यग् ज्ञान और सम्यक चारित्र में पूर्ण रूप से लीन रहता है उसे पहला लाभ तो यह होता है कि—वह इस अपावन शरीर से सदा के लिये सम्बन्ध छोड़ देता है। क्योंकि यह शरीर शुक्र और शोणित से उत्पन्न होता है, मलका कारण है, सदा काल अपवित्र ही रहता है तथा प्रतिक्षण पूर्व पर्याय का नाश और उत्तर पर्याय की उत्पत्ति होने से अशाश्वत है—प्रतिक्षण हास मान होता चला आता है। अनेकानेक भयंकर रोगों की खान है। भाव यह है कि—शरीर के सम्बन्ध से ही आत्मा को दुःख होता है। जब आत्मा का शरीर से सम्बन्ध छूट गया तो दुःखों से अपने आप छूट गया। 'न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी।'

अब प्रश्न यह होता है कि—जब आत्मा इस अपवित्र शरीर को छोड़ देती है—इसमें नहीं रहती है, तो फिर कहाँ जाती है-कहाँ निवास करती है ? प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार स्वयं ही कहते हैं कि—जो महात्मा शरीर का सदा के लिये परित्याग कर देते हैं, वे अनादिकालीन जन्म मरण के बन्धन को मूलतः छेदन करके, उस अव्याबाध सिद्ध गति को प्राप्त करते हैं—जो अपुनरागमन

रहना' इत्यादि शुद्ध धार्मिक वेष बतलाया है, यही स्वलिंग है। मुनि को यही स्वलिंग धारण करना चाहिये। पञ्चमुद्रा लगाने पर ही स्वर्ण विशेष उपयोगी होता है॥ २० ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, भाव भिक्षु के फल का वर्णन करते हुये अध्ययन का उपसंहार करते हैं—

त देहवास असुइ असासय , सया चए निच्चहिअट्ठिअप्पा ।
छिंदित्तु जाईमरणस्स बंधणं , उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं ॥ २१ ॥ त्तिबेमि ।

त देहवासमशुचिमशाश्वतं , सदा त्यजति नित्यहितस्थितात्मा ।
छित्वा जातिमरणस्य बन्धनं , उपैति भिक्षुरपुनरागमां गतिम् ॥ २१ ॥ इति ब्रवीमि ।

अन्वयार्थ—(निच्चहिअट्ठिअप्पा) नित्यहितरूप—सम्यग् दर्शनादि में ,अपनी आत्मा को सुस्थित रखने वाला (भिक्खू) पूर्वोक्त साधु (असुइं) अशुचिमय एवं (असासयं) नश्वर (तं) इस (देहवासं) देह वास को (सया) सदा के लिये (चए) छोड़ देता है तथा (जाईमरणस्स) जन्म मरण के (बंधणं) बंधन को (छिंदित्तु) छेदन कर (अपुणागमं) अपुनरागमन नामक (गइं) गति को—सिद्धपदवी को (उवेइ) प्राप्त करलेता है ॥ २१ ॥

(त्तिबेमि) इस प्रकार मैं तीर्थंकरों के उपदेशानुसार कहता हूं।

भावना द्वारा नरक, तिर्यच मनुष्य और देवगति की स्पृहा छोड़कर संसार चक्र से छुटने के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। (२)

तथा सूत्रमें जो 'नित्यहितस्थितात्मा' पद दिया है, उसका यह कारण है कि—जब आत्मा को मोक्षपद के सुखों का सम्यक् तया बोध हो जायगा तभी यह आत्मा संसार चक्र से छुटने के लिये मोक्ष प्राप्त करने के लिये, प्रयत्नशील हो सकेगा। "प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोपि न प्रवर्तते।"

यहाँ सूत्र समाप्ति पर सूत्र के विषय में एक बात यह कहनी आवश्यक है कि—यह सूत्र प्रायः चारित्र ही का प्ररूपक है। परन्तु इस से यह नहीं समझना कि 'केवल चारित्र से ही कार्य सिद्धि हो जाता है इस में अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं।' चारित्र कार्य सिद्ध करने वाला अवश्य है, किन्तु है ज्ञान दर्शन के साथ हो, अकेला नहीं। स्वय सूत्रकारने भी सप्तम अध्ययन की 'नाणदंसण' ४९ की गाथा में यही वर्णन किया है। क्योंकि ज्ञान द्वारा सभी वस्तु-भाव जाने जाते हैं, फिर दर्शन द्वारा उनपर दृढ विश्वास किया जाता है, फिर चारित्र द्वारा पुरातन कर्मों का क्षय और नूतन कर्मों का निरोध किया जाता है। अस्तु संक्षिप्त सार यह है कि—'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः'—ज्ञान और क्रिया से ही मोक्ष होता है। ज्ञानपूर्वक ही करी हुई क्रिया फलवती होती है।

अब पाठक वृन्द की सेवा में निवेदन है कि यदि आप को मोक्ष प्राप्त करने की सच्ची लगन लगा है, तो सदा ज्ञानपूर्वक ही क्रिया करो। इसीसे जन्म मरण के बंधन कटेंगे। इसीसे आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन कर, अक्षय सुख एवं अनन्त वीर्य से युक्त सादि अनन्त सिद्ध पद प्राप्त कर सकेगी ॥ २१ ॥

है, यानी यहाँ आने के पश्चात् फिर वापिस इस दुःखमय संसार चक्र में आना नहीं होता। क्यों कि—आत्मा तो मूल स्वभाव से अकम्प है—अचल है। इसमें जो यह जन्म मरण की चपलता है सो कर्मों के कारण से है। अब उग्र तप की प्रचण्ड अग्नि द्वारा आत्मा ने कर्म बीज को दग्ध कर दिया तो फिर उसका संसार में जन्म मरण कैसा? संसार में आना जाना कैसा? वह तो वहीं शाश्वत पद रूप में अखण्ड एवं एक रस होजाती है।

यदि यहाँपर यह प्रश्न उठाया जाय कि जब कर्मों का फल सादि सान्त बतलाया है, तो फिर आत्मा मुक्ति स्थान में शाश्वत पद किसप्रकार प्राप्त कर सकती है? मुक्ति भी तो एक शुभरूप पुण्य कर्मों का फल है? समाधान में कहना है कि—जैन शास्त्रकार किसी कर्म के फल से मुक्ति नहीं मानते किन्तु कर्मों के क्षय से ही मुक्ति मानते हैं। वस्तुतः बात यह है कि—कर्म की कालिमा के नष्ट हो जाने पर, जो आत्मा की वास्तविक शुद्ध अवस्था होती है उसी का नाम मोक्ष है। मोक्ष कोई अलग कर्मों के फल से मिलने वाली-वस्तु नहीं है। मुक्ति प्राप्ति के लिये करे ज्ञान चारु जप-तप कर्म नहीं है, किन्तु कर्मों को आत्मा से अलग करने के साधन हैं। जैसे मूसल आदि के प्रहार से चाँवल के ऊपर का उत्पादक छिलका अलग कर दिया जाता है और फिर चावल का उगना बन्द होजाता है, ठीक इसी तरह जप-तप द्वारा आत्मा का संसार में जन्म लेना बंद होजाता है। बिना कारण के कोई कार्य नहीं हो सकता। 'छिन्ने मूले कुतः शाखा।'

सूत्र में 'अशुचि और 'अशाश्वत पद दिये हैं उनका क्रमशः यह भाव है कि—अशुचि भावना द्वारा शरीर पर से मोह ममत्व के भावों का परित्याग करदेना चाहिये (१), तथा अनित्य

भावना द्वारा नरक, तिर्यच मनुष्य और देवगति की स्पृहा छोड़कर संसार चक्र से छूटने के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। (२)

तथा सूत्रमें जो निस्थिरस्थितात्मा पद दिया है, उसका यह कारण है कि—जब आत्मा को मोक्षपद के सुखों का सम्यक् तथा बोध हो जायगा तभी यह आत्मा संसार चक्र से छूटने के लिये मोक्ष प्राप्त करने के लिये, प्रयत्नशील हो सकेगा। "प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोपि न प्रवर्तते।"

यहाँ सूत्र समाप्ति पर सूत्र के विषय में एक बात यह कहनी आवश्यक है कि—यह सूत्र प्रायः चारित्र ही का प्ररूपक है। परन्तु इस से यह नहीं समझना कि 'केवल चारित्र से ही कार्य सिद्धि हो जाती है इस में अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं।' चारित्र कार्य सिद्ध करने वाला अवश्य है। किन्तु है ज्ञान दर्शन के साथ हो, अकेला नहीं। स्वयं सूत्रकारने भी उत्तम अध्ययन की 'नाणवस णसपम ४९ की गाथा में यही वर्णन किया है। क्योंकि ज्ञान द्वारा सभी वस्तु-भाव जाने जाते हैं, फिर दर्शन द्वारा उनपर दृढ विश्वास किया जाता है, फिर चारित्र द्वारा पुरातन कर्मों का क्षय और नूतन कर्मों का निरोध किया जाता है। अस्तु संक्षिप्त सार यह है कि—'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः'—ज्ञान और क्रिया से ही मोक्ष होती है। ज्ञानपूर्वक ही करी हुई क्रिया फलवती होती है।

अब पाठक वृन्द की सेवा में निवेदन है कि यदि आप को मोक्ष प्राप्त करने की सच्ची लगन लगा है, तो सदा ज्ञानपूर्विका ही क्रिया करो। इसीसे जन्म मरण के बंधन कटेंगे। इसीसे आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन कर अक्षय सुख एवं अनन्त वीर्य से युक्त सादि अनन्त सिद्ध पद प्राप्त कर सकेगी ॥ २१ ॥

है, यानी वहाँ जाने के पश्चात् फिर वापिस इस दुःखमय संसार चक्र में आना नहीं होता। क्यों कि—आत्मा तो मूल स्वभाव से अकम्प है—अचल है। इसमें जो यह जन्म मरण की चपलता है सो कर्मों के कारण से है। जब तप की प्रचण्ड अग्नि द्वारा आत्मा ने कर्म बीज को दग्ध कर दिया तो फिर उसका संसार में जन्म मरण कैसा? संसार में आना जाना कैसा? वह तो वहीं शाश्वत पद रूप में अखण्ड एवं एक रस होजाती है।

यदि यहाँपर यह प्रश्न उठाया जाय कि जब कर्मों का फल सादि सान्त बतलाया है तो फिर आत्मा मुक्ति स्थान में शाश्वत पद किसप्रकार प्राप्त कर सकती है? मुक्ति भी तो एक सुखरूप पुण्य कर्मों का फल है! समाधान में कहना है कि—जैन शास्त्रकार किसी कर्म के फल से मुक्ति नहीं मानते किन्तु कर्मों के क्षय से ही मुक्ति मानते हैं। वस्तुतः बात यह है कि—कर्म की कालिमा के नष्ट हो जाने पर, जो आत्मा की वास्तविक शुद्ध अवस्था होती है उसी का नाम मोक्ष है। मोक्ष कोई अलग कर्मों के फल से मिलने वाली-वस्तु नहीं है। मुक्ति प्राप्ति के लिये करे जाने वाले जप-तप कर्म नहीं है, किन्तु कर्मों को आत्मा से अलग करने के साधन हैं। जैसे मूसल आदि के प्रहार से चाँवल के ऊपर का उत्पादक छिलका अलग कर दिया जाता है और फिर चावल का उगना बंद होजाता है, ठीक इसी तरह जप-तप द्वारा आत्मा का संसार में जन्म लेना बंद होजाता है। बिना कारण के कोई कार्य नहीं हो सकता। 'छिन्ने मूले कुतः शाखा।'

सूत्र में 'अशुचि और 'अशाश्वत पद दिये हैं उनका क्रमशः यह भाव है कि—अशुचि भावना द्वारा शरीर पर से मोह ममत्व के भावों का परित्याग करदेना चाहिए (१), तथा अनित्य

भावना द्वारा नरक, तिर्यंच मनुष्य और देवगति की स्पृहा छोड़कर संसार चक्र से छूटने के लिये
प्रयत्नशील होना चाहिये। (२)
तथा सूत्रमें जो निस्यहितस्थितात्मा पद दिया है, उसका यह कारण है कि—जब आत्मा को
मोक्षपद के सुखों का सम्यक् तथा बोध हो जायगा तभी यह आत्मा संसार चक्र से छूटने के लिये
मोक्ष प्राप्त करने के लिये, प्रयत्नशील हो सकेगा। "प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते।"
यहाँ सूत्र समाप्ति पर सूत्र के विषय में एक बात यह कहनी आवश्यक है कि—यह सूत्र प्रायः
चारित्र ही का प्ररूपक है। परन्तु इस से यह नहीं समझना कि 'केवल चारित्र से ही कार्य सिद्धि हो
जाता है इस में अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं।' चारित्र कार्य सिद्ध करने वाला अवश्य
है, किन्तु है ज्ञान दर्शन के साथ ही, अकेला नहीं। स्वयं सूत्रकारने भी सप्तम अध्ययन की 'नाणदंस
णसपन्न ४९ की गाथा में यही वर्णन किया है। क्योंकि ज्ञान द्वारा सभी वस्तु-भाव जाने जाते हैं,
फिर दर्शन द्वारा उनपर दृढ विश्वास किया जाता है, फिर चारित्र द्वारा पुरातन कर्मों का क्षय और
नूतन कर्मों का निरोध किया जाता है। अस्तु संक्षिप्त सार यह है कि—'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः'—
ज्ञान और क्रिया से ही मोक्ष होती है। ज्ञानपूर्वक ही करी हुई क्रिया फलवती होती है।
अब पाठक वृन्द की सेवा में निवेदन है कि यदि आप को मोक्ष प्राप्त करने की सच्ची लगन
लगा है, तो सदा ज्ञानपूर्विका ही क्रिया करो। इसीसे जन्म मरण के बंधन कटेंगे। इसीसे आत्मा
सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन कर, अक्षय सुख एवं अनन्त वीर्य से युक्त सादि अनन्त सिद्ध पद प्राप्त कर
॥ २१ ॥

"श्री सुधर्मा स्वामी जी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् शिष्य इस सभिक्षु नामक दशवें अध्ययन का जैसा अर्थ मैंने श्री वीर प्रभु से सुना है, वैसा ही मैंने तेरे प्रति कहा है, अपनी बुद्धि से कुछ नहीं बोला।"

इअ सभिक्खु णाम दसमज्झयणं ।

इति सभिक्षु नाम दशममध्ययनम् ।

इति श्री दशवैकालिक सूत्र के सभिक्षु नामक दशवें अध्ययन की 'आत्म ज्ञान प्रकाशिका' नामक हिन्दी भाषा टीका समाप्त हुई।

इति श्री दशवैकालिक सूत्र समाप्तम् ।

अह रइवक्का पढमा चूला ।

अथ रतिवाक्य नामिका प्रथमा चूलिका ।

उत्थानिका—श्री दशवैकालिक सूत्र के दशवें अध्ययन में भिक्षु के गुण प्रतिपादन किये गये हैं। अब यदि कोई भिक्षु कर्मवशात् धर्म पथ से शिथिल होकर भ्रष्ट होता हो, तो उसकी आत्मा को धर्म पथ में पुनः स्थिर करने के लिये चूलिकाओं का अधिकार किया जाता है। क्योंकि ये दोनों चूलिकाएँ सम्यक् प्रकार से अध्ययन की हुई संयम के विषय में आत्म-भावों को भले प्रकार स्थिर करने वाली हैं। ये ही दशवें अध्ययन के साथ इन चूलिकाओं का सम्बन्ध है।

का का आदिम सूत्र यह है—

मो ! पव्वइएण, उप्पण्णदुक्खेण, संजमे अरइसमावन्नचि

" श्री सुधर्मा स्वामी जी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् शिष्य इस सभिक्षु नामक दशवें अध्ययन का जैसा अर्थ मैंने श्री वीर प्रभु से सुना है, वैसा ही मैंने तेरे प्रति कहा है, अपनी बुद्धि से कुछ नहीं जोड़ा।"

इअ सभिक्खु णाम दसमज्झयणं ।

इति सभिक्षु नाम दशममध्ययनम् ।

इति श्री दशवैकालिक सूत्र के सभिक्षु नामक दशवें अध्ययन

की 'आत्म ज्ञान प्रकाशिका' नामक हिन्दी भाषा टीका समाप्त हुई।

इति श्री दशवैकालिक सूत्र समाप्तम् ।

अह रइवक्का पढमा चूला ।

अथ रतिवाक्य नामिका प्रथमा चूलिका ।

उत्थानिका—श्री दशवैकालिक सूत्र के दशवें अध्ययन में भिक्षु के गुण प्रतिपादन किये गये हैं। अब यदि कोई भिक्षु कर्मवशात् धर्म पथ से शिथिल होकर भ्रष्ट होता हो, तो उसकी आत्मा को धर्म पथ में पुनः स्थिर करने के लिये चूलिकाओं का अधिकार किया जाता है। क्योंकि ये दोनों चूलिकाएँ सम्यक् प्रकार से अध्ययन की हुई संयम के विषय में आत्म-भावों को भले प्रकार स्थिर करने वाली हैं। येही दशवें अध्ययन के साथ इन चूलिकाओं का सम्बन्ध है।

प्रथम चूलिका का आदिम सूत्र यह है—

इह खलु भो! पव्वइएण, उप्पण्णदुक्खेण, संजमे अरइसमावन्नचि

चेण, ओहाणुप्पेहिणा, अणोहाइएण, चेव हयरस्सिगयकुसपोयपडागाभूआइ, इमाइ, अट्ठारसठाणाइ, सम्म सपडिलेहिअव्वाइ, भवति ॥

इह खलु भोः प्रव्रजितेन, उत्पन्नदुःखेन, संयमेऽरतिसमापन्नचित्तेन, अवधानोत्प्रेक्षिणा, अनवधावितेन, चैव हयरश्मिगजांकुशपोतपताकाभूतानि, इमानि, अष्टादशस्थानानि, सम्यक् संप्रत्युपेक्षितव्यानि, भवन्ति ॥

अन्वयार्थ—(भो) हे शिष्यो! (उप्पण्णदुक्खेन) दुःख के उत्पन्न हो जाने पर (संजमे) संयम में (अरइ समावन्नचित्तेण) जिसका चित्त अरति समापन्न हो गया है, अतः (ओहाणुप्पेहिणा) जो संयम का परित्याग करना चाहता है, किन्तु (अणोहाइएण) जिसने अभीतक संयम नहीं छोड़ा है (पव्वइएणं) ऐसे दीक्षित साधुको (इह) जिन शासन में (खलु) निश्चय रूप से (हयरस्सिगयकुसपोयपडागा भूआइ) अश्व को लगाम, हस्ती को अंकुश, और जहाज को ध्वजा के समान (इमाइ) ये वक्ष्यमाण (अट्ठारस ठाणाइं) अष्टादश स्थानक (सम्मं) सम्यक् प्रकार से (सपडिलेहिअव्वाइं) आलोचनीय (भवंति) होते हैं ॥

मूलार्थ—हे शिष्यो! किसी बीमारी आपत्ति के आजाने पर, जिस साधु के चित्त में संयम

की तरफ से अरुचि होजाय; किन्तु जबतक संयम नहीं छोड़े, तब तक उसको जिन शासन में ये वक्ष्यमाण अष्टादश स्थानक सम्यक्तया विचारणीय हैं, जो घोड़े को लगाम, हाथी को अंकुश, और जहाज को ध्वजा के समान हैं ॥

भाष्य—इस पाठ में इस बात का प्रकाश किया गया है कि—संयम त्याग करने वाले मुनि को योग्य है कि-वह संयम त्यागने से पहले वक्ष्यमाण अष्टादश बातों का अपने अन्तःकरण में भले प्रकार विचार करे; क्यों कि—सम्यग् विचारी हुई ये अष्टादश शिक्षाएं शारीरिक या मानसिक दुःखों के उत्पन्न होजाने के कारण संयम में अरति रखने वाले संयम त्यागी साधु के चित्त को उसी प्रकार स्थिर कर देती हैं जिस प्रकार चंचल अश्व को लगाम वश में कर लेती है मदोन्मत्त हाथी को अंकुश वश में कर लेता है मार्ग च्युत जहाज को ध्वजा सन्मार्ग पर लाती है ॥

उत्थानिका—अब अष्टादश स्थानों का उल्लेख करते हैं—

तंजहा—हं भो ! दुस्समाए दुप्पजीवी १ लहुसगा इत्तिरिआ गिहीणं कामभोगा २ भुज्जो अ साइबहुला मणुस्सा ३ इमे अ मे दुक्खे न चिरकालोवट्ठाई भविस्सइ ४ ओमजणपुरक्कारे ५ वंतस्स य पडिआयणं ६ अहरगइवासोवसंपया ७ दुल्लहे खलु भो ! गिहीणं धम्मे गिहीवासमज्झे वसंताणं

त्तेण, ओहाणुप्पेहिणा, अणोहाइएण, चेव हयरस्सिगयकुसपोयपडागाभूआइ, इमाइ, अट्ठारसठाणाइ, सम्म सपडिलेहिअव्वाइ, भवति ॥

इह खलु भोः प्रव्रजितेन, उत्पन्नदुःखेन, संयमेऽरतिसमापन्नचित्तेन, अवधानोत्प्रेक्षिणा, अनवधावितेन, चैव हयरश्मिगजांकुशपोतपताकाभूतानि, इमानि, अष्टादशस्थानानि, सम्यक् सम्प्रत्युपेक्षितव्यानि, भवन्ति ॥

अन्वयार्थ—(भो) हे शिष्यो! (उप्पन्नदुक्खेन) दुःख के उत्पन्न हो जाने पर (संजमे) संयम में (अरइ समावन्नचित्तेण) जिसका चित्त अरति समापन्न हो गया है, अतः (ओहाणुप्पेहिणा) जो संयम का परित्याग करना चाहता है, किन्तु (अणोहाइएण) जिसने अभीतक संयम नहीं छोड़ा है (पव्वइएण) ऐसे दीक्षित-साधु को (इह) जिन शासन में (खलु) निश्चय रूप से (हयरस्सिगयंकुसपोयपडागा भूआइ) अश्व को लगाम, हस्ती को अंकुश, और जहाज को ध्वजा के समान (इमाइ) ये वक्ष्यमाण (अट्ठारस ठाणाइ) अष्टादश स्थानक (सम्म) सम्यक् प्रकार से (सपडिलेहिअव्वाइ) आलोचनीय (भवति) होते हैं ॥

मूलार्थ—हे शिष्यो! किसी शरीमारी आपत्ति के आजाने पर, जिस साधु के चित्त में संयम

गहियो कामभोगाः १३ प्रत्येक पुण्यपापम् १४ अनित्य खलु भो । मनुजानां जीवितं कुशाग्र-जलबिन्दुचंचलम् १५ बहु च खलु भो ' कृतानां कर्मणां पूर्वं दुश्चरितानां दुष्पराक्रान्तानां वेद यित्वा मोक्षः , नास्त्यवेदयित्वा, तपसा वा क्षपयित्वा १७ अष्टादश पद भवति । भवति चात्र

+ श्लोकः ।

अन्वयार्थ—(तजहा) जैसे कि-(ह भो) हे शिष्यो (दुस्समाए) दुःषम काल में (दुप्पजीवी) दुःख पूर्वक जीवन व्यतीत किया जाता है १, इस दुष्षम काल में (गिहीणं) गृहस्थ लोगों के (कामभोगा) काम भोग (लहुसग्गा) असार हैं एव (इत्तरिआ) अल्पकालीन हैं २, (भुज्जोअ) तथैव दुष्षमकालीन (मणुस्सा) मनुष्य (साइबहुला) विशेष छल-कपट करने वाले हैं ३, (इमे अ) ये (दुक्खे) दुःख (मे) मुझे (चिरकालोवट्ठाई) चिरकालस्थायी (न भविस्सइ) नहीं होंगे ४, (ओमज्जण पुरक्कारे) संयम छोड़देने पर नीच पुरुषों का सम्मान करना पड़ेगा ५, (वंतस्स) वमन किये हुये विषय भोगों को (पडिआयणं) फिर पीना होगा ६, (अहरगइ वा सोवसपया) नीच गतियों के योग्य कर्म बाँधने होंगे ७, (भो) हे शिष्यो ! (खलु) निश्चय ही (गिहवासमज्झे) गृहपाश में (वसताण) बसते हुये (गिहीणं) गृहस्थों को (धम्मे) धर्म (दुल्लहे) दुर्लभ है ८,

+ श्लोक इति जाति परोनिर्देश-स्वैक वचनम् ।

८ आयके से वहाय होइ ९ सकप्पे से वहाय होइ १० सोवक्केसे गिहवासे, निरुवक्केसे परिआए ११ बधे गिहवासे, मुक्खे परिआए १२ सावज्जे गिहवासे, अणवज्जे परिआए १३ वहुसाहारणा गिहीण कामभोगा १४ पत्तेय पुन्नपाव १५ अणिच्चे खलु भो ! मणुआण जीविए कुसग्गजलबिंदुचचले १६ बहु च खलु भो ! पाव कम्म पगड १७ पावाण च खलु भो ! कडाण, कम्माण, पुव्वि दुच्चिनाण, दुप्पडिकताणं, वेइत्ता मुक्खो, नत्थि अवेइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता १८ अट्ठारसम पय भवइ । भवइ अ इत्थ सिलोगो—

उथथा—ह भो दुष्षमायां दुष्प्रजीविनः १ कथम इत्वरा गृहिणां कामभोगाः २ भूय स्वातिकुटुका मनुष्या ३ इद च मे दुःख न चिरकालोपस्थायि भविष्यति ४ अवमजनपुरस्कारः ५ वान्तस्य प्रत्यापानम् ६ अधोगतिवासोपसपत् ७ दुर्लभ खलु भो ! गृहिणां धर्मः गृहपाशमध्ये वसताम् ८ आतङ्कस्तस्य वधाय भवति ९ सोपक्लेशो गृहवासः, निरुपक्लेशः पर्यायः १० बन्धो गृहवासः मोक्षः पर्यायः ११ सावद्यो गृहवासः, अनवद्यः पर्यायः, १२ बहुसाधारणा

(नत्थि) नहीं होती (वा) किंवा पूर्वकृत कर्मों को (तवसा) तप द्वारा (झोसइत्ता) क्षय करके मोक्ष होती है १८, (अट्ठारसम) यह अट्ठारहवाँ (पय) पद (भव) है और (इत्थ) इसपर (सिलोगो) (भवइ) श्लोक है, जो संग्रह रूप है।

मूलार्थ—हे शिष्यो! इस दुष्षम काल में दुःख पूर्वक जीवन व्यतीत होता है १ गृहस्थ लोगों के काम भोग तुच्छ और क्षणस्थायी हैं २ वर्तमान काल के बहुत से मनुष्य छली एवं मायावी हैं ३ यह जो मुझे दुःख उत्पन्न हुआ है, सो चिरकाल पर्यंत नहीं रहेगा ४ संयम के त्याग ने से नीच पुरुषों की सेवा करनी पड़ेगी ५ वान्त भोगों का पुनः पान करना होगा ६ नीच गतियों में लेजानवाले कर्म बँधेंगे ७ पुत्र पौत्रादि गृहपाशों में फँसे हुये गृहस्थों को, धर्म की प्राप्ति दुर्लभ है ८ विषूचिकादि रोग धर्महीन के वध के लिये होते हैं ९ संकल्प-विकल्प भी उसको नष्ट कर ने वाले हैं १० गृहस्थावास तो क्लेश से सहित है और चारित्र क्लेश से रहित है ११ गृहवास बन्धनरूप है और चारित्र मोक्षरूप है १२ गृहवास पापरूप है और चारित्र पाप से सर्वथा रहित है १३ गृहस्थों के काम भोग बहुत से जीवों को साधारणरूप हैं १४ प्रत्येक आत्मा के पुण्य एवं पाप पृथक् पृथक हैं १५ मनुष्य का जीवन कुश के अग्रभाग पर स्थित जलबिन्दु के समान चञ्चल है, अतएव निश्चित रूप से अनित्य है १६ बहुत ही प्रबल पाप कर्मों का उदय है, जो मुझे ऐसे

(आयंके) सर्वघाती विषूचिका आदि रोग (से) उस धर्म रहित गृहस्थ के (वहाय) वध के लिये (भवइ) होता है ९, (सकप्पे) प्रिय के वियोग और अप्रिय के संयोग से जो संकल्प उत्पन्न होता है, वह (से) उस गृहस्थ के (वहाय) विनाश के लिये (भवइ) होता है १०, (गिहवासे) गृहवास (सोवक्केसे) क्लेश से युक्त है और (परिआए) चारित्र (निरुवक्केसे) क्लेश से रहित है ११, (गिहवासे) गृहवास (बंधे) कर्मों के बंधन का स्थान है, और (परिआए) चारित्र (मुक्खे) कर्म बन्धन से छुड़ाने वाला है १२, (गिहवासे) गृहवास (सावज्जे) पाप स्थान है किन्तु (परिआए) चारित्र (अणवज्जे) पाप से रहित है १३, (गिहीणं) गृहस्थों के (कामभोगा) काम भोग (बहुसाहारणा) चोर जार आदि हर किसी जन को साधारण हैं १४, (पुण्ण पाव) पुण्य और पाप (पत्तेअं) सब जीवों का पृथक् पृथक् है १५, (मणुआणं) मनुष्यों का (जीविए) जीवन (कुसग्गजलबिंदुचंचले) कुशा के अग्रभाग पर ठहरे हुये जलबिंदु के समान चंचल है, अतः (खलु) निश्चय रूप से (अनिच्चे) अनित्य है १६, (मे) मैंने (बहुं) बहुत ही (पाव कम्मं) पाप कर्म किया है, जिससे मेरी बुद्धि विपरीत होरही है १७, (च) तथा (भो) हे शिष्यो (दुच्चिण्णाणं) दुष्ट भावों से आचरण किये हुये (दुप्पडिक्कंताणं) मिथ्यात्व आदि से उपार्जन किये हुये (पुव्विं कडाणं) पूर्वकृत (पावाणं कम्माणं) पाप कर्मों के फल को (वेइत्ता) भोगने के पश्चात् ही (मुक्खो) मोक्ष होती है (अवेइत्ता) बिनाभोगे

(नत्थि) नहीं होती (वा) किंवा पूर्वकृत कर्मों को (तवसा) तप द्वारा (झोसइत्ता) क्षय करके मोक्ष होती है १८, (अट्ठारसम) यह अट्ठारहवाँ (पय) पद (भव) है और (इत्थ) इसपर (सिलोगो) (भवइ) श्लोक है, जो सग्रह रूप है।

मूलार्थ—हे शिष्यो! इस दुष्षम काल में दुःख पूर्वक जीवन व्यतीत होता है १ गृहस्थ लोगों के काम भोग तुच्छ और क्षणस्थायी हैं २ वर्तमान काल के बहुत से मनुष्य छली एवं मायावी हैं ३ यह जो मुझे दुःख उत्पन्न हुआ है, सो चिरकाल पर्यंत नहीं रहेगा ४ सयम के त्याग ने से नीच पुरुषों की सेवा करनी पड़ेगी ५ वान्त भोगों का पुनः पान करना होगा ६ नीच गतियों में लेजानेवाले कर्म बंधेंगे ७ पुत्र पौत्रादि गृहपाशों में फँसे हुये गृहस्थों को, धर्म की प्राप्ति दुर्लभ है ८ विषूचिकादि रोग धर्महीन के वध के लिये होते हैं ९ सकल्प–विकल्प भी उसको नष्ट कर ने वाले हैं १० गृहस्थावास तो क्लेश से सहित है और चारित्र क्लेश से रहित है ११ गृहवास बन्धनरूप है और चारित्र मोक्षरूप है १२ गृहवास पापरूप है और चारित्र पाप से सर्वथा रहित है १३ गृहस्थों के काम भोग बहुत से जीवों को साधारणरूप हैं १४ प्रत्येक आत्मा के पुण्य एव पाप पृथक् पृथक हैं १५ मनुष्य का जीवन कुश के अग्रभाग पर स्थित जलबिन्दु के समान चचल है, अतएव निश्चित रूप से अनित्य है १६ बहुत ही प्रबल पाप कर्मों का उदय है, जो मुझे ऐसे

निम्न विचार उत्पन्न होते हैं १७ दुष्ट विचारों से एवं मिथ्यात्व आदि से बांधे हुये, पूर्वकृत कर्मों के फल को भोगने के पश्चात् ही मोक्ष होती है, बिना भोगे नहीं। अथवा तप द्वारा उक्त कर्मों का क्षय कर देने पर मोक्ष हो सकती है १८ यही अट्ठारहवां पद है, इस पर इसी विषय के प्रतिपादक श्लोक भी हैं—

भाष्य—गुरु कहते हैं—हे शिष्यो! उस संयम त्यागने वाले व्यक्ति को योग्य है—वह यह विचार करे। यथा—

यह दुष्षम काल है, इसमें प्रत्येक मनुष्य का जीवन प्रायः दुःख पूर्वक ही व्यतीत होता हुआ दृष्टि गोचर होता है। यद्यपि कोई जिनके पास सब सामग्री विद्यमान है, वे भी अपना जीवन दुःख पूर्वक ही व्यतीत करते हुए देखे जाते हैं। किन्तु जिसके पास गृहस्थाश्रम योग्य कोई भी सामग्री नहीं है तो फिर उसको विडम्बना और कुगति के अतिरिक्त और क्या मिल सकता है। अतः मुझे गृहस्थाश्रम से क्या प्रयोजन है मैं क्यों दुःख भोगूं। इस प्रकार प्रथम स्थान का विचार करना चाहिए।

(२) इस दुष्षम काल में गृहस्थों के काम भोग—अतीव तुच्छ—और अल्पकालस्थायी हैं, देवों के समान चिरस्थायी नहीं हैं। अतः मुझे इस तुच्छ गृहस्थाश्रम से क्या प्रयोजन—क्या मतलब? तुच्छ सुखों के लिये क्यों संयम रूपी अमूल्य धनकोष को लुटाऊं?

(३) इस दुष्षम काल में बहुत से मनुष्य छल—कपट के करने वाले हैं। अतः मिथ्याचारी

मनुष्यों में रह कर सुखों का उपभोग किस प्रकार होसकता है ? छलिया मनुष्य तो हमेशां दुःख के ही देने वाले होते हैं। तथा छल-कपट द्वारा महा दुष्कर्मों का बन्ध भी होता है, अतः मुझे गृहस्थ होने में कोई भी लाभ नहीं है।

(४) जो मुझे किसी कारण से यह दुःख होगया है सो चिरकालस्थायी नहीं है। सुखके बाद सुख, रथ के पहिये की तरह मनुष्य पर आते-जाते ही रहते हैं। " कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततोवा, नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।" तथा इस कष्ट को सहन करने से कर्मों की निर्जरा और शाश्वत सुख की प्राप्ति होगी। यदि नहीं सहन किया तो नर्कादि गतियों की प्राप्ति होगी, जिससे बहुत अधिक कष्ट भोगना पड़ेगा। अस्तु मेरा कल्याण तो संयम पालन करने में ही है, मैं गृहस्थ नहीं होसकता।

(५) संयम में स्थिर रहने से, व्यवहार पक्ष में तो राजा महाराजा आदि लोग हाथ जोड़ कर सर्व प्रकार से भक्ति करते हैं, परन्तु संयम के त्यागने पर नीच से नीच मनुष्यों की भी सेवा करनी पड़ेगी। उनके कहे हुये असह्य वचन सहन करने पड़ेंगे। सो ये सब धर्म और अधर्म का प्रत्यक्ष फल है, अतः गृहस्थवास से मेरा क्या प्रयोजन है ?

(६) जिन विषय भोगों को मैं हजारों लोगों की साक्षी में वमन कर चुका-त्याग चुका हूं, फिर उनका ही गृहवास में आसेवन करना होगा। वमन तो कुत्ता गीदड़ आदि नीच जीवही ग्रहण करते हैं श्रेष्ठजन नहीं। अस्तु दीक्षित होने से मैं श्रेष्ठ हूं, मुझे इन वमे हुये सब विषय-भोगों का पुनः भोगना कदापि योग्य नहीं है।

निन्द्य विचार उत्पन्न होते हैं १७ दुष्ट विचारों से एवं मिथ्यात्व आदि से बांधे हुये, पूर्वकृत कर्मों के फल को भोगने के पश्चात् ही मोक्ष होती है, बिना भोगे नहीं। अथवा तप द्वारा उक्त कर्मों का क्षय कर देने पर मोक्ष हो सकती है १८ यही अट्ठारहवां पद है, इस पर इसी विषय के प्रतिपादक श्लोक भी हैं—

भाष्य—गुरु कहते हैं-हे शिष्यो ! उस संयम त्यागने वाले व्यक्ति को योग्य है-वह यह विचार करे। यथा—

यह दुष्षम काल है, इसमें प्रत्येक मनुष्य का जीवन प्रायः दुःख पूर्वक ही व्यतीत होता हुआ दृष्टि गोचर होता है। यद्यपि लोग जिनके पास सब सामग्री विद्यमान हैं, वे भी अपना जीवन दुःख पूर्वक ही व्यतीत करते हुए देखे जाते हैं। किन्तु जिसके पास गृहस्थाश्रम योग्य कोई भी सामग्री नहीं है, तो फिर उस को विडम्बना और कुगति के अतिरिक्त और क्या मिल सकता है। अतः मुझे गृहस्थाश्रम से क्या प्रयोजन है मैं क्यों दुःख भोगूं। इस प्रकार प्रथम स्थान का विचार करना चाहिए।

(२) इस दुष्षम काल में गृहस्थों के काम भोग-अतीव तुच्छ और अल्पकालस्थायी हैं, देवों के समान चिरस्थायी नहीं हैं। अतः मुझे इस तुच्छ गृहस्थाश्रम से क्या प्रयोजन-क्या मतलब? तुच्छ सुखों के लिये क्यों संयम रूपी अमूल्य धनकोष को खोऊं ?

(३) इस दुष्षम काल में बहुत से मनुष्य छल-कपट के करने वाले हैं। अतः मिथ्याभाषी

प्रसन्न हैं तो कभी उदास हैं। उनका जीवन तो क्षण क्षण में होने वाले सुख-दुःखों की चोटों से हमेशा घायल हुआ रहता है। अतः मुझे गृहस्थ बनने से कोई लाभ नहीं।

(११) कृषि कर्म, पशुपालन और वाणिज्य आदि के करने से तथा शीत, उष्ण, वर्षा की पीड़ा सहने से तथा घृत लवणादि की अनेक प्रकार की चिन्ताओं से गृहस्थावास में क्लेश पूर्वक समय व्यतीत होता है, किन्तु यह संयम स्थान सर्वथा क्लेश से रहित है। क्यों कि—इसमें उक्त सभी क्रियाओं का अभाव है। अतः मुझे इस निन्दित गृहस्थावास से क्या लाभ।

(१२) गृहस्थावास बन्धन रूप है। इसमें जीव उसी प्रकार फंस जाता है जिस प्रकार रेशम का कीड़ा रेशम के कोष में फस जाता है और छट पटा कर वहीं मर जाता है। इसके विपरीत चारित्र धर्म मोक्ष रूप है। क्यों कि चारित्र द्वारा ही सब कर्म क्षय किये जाते हैं।

(१३) यह गृहवास पाप रूप भी है क्यों कि इसमें हिंसा, झूठ चोरी मैथुन और परिग्रह आदि सब बुरे काम करने पड़ते हैं। इसके विरुद्ध चारित्र पाप से रहित है क्यों कि उसमें उक्त क्रियाओं का सर्वथा निरोध किया जाता है।

(१४) गृहस्थों के पास मात्र काम भोग हैं, उन में से राजा और चोर आदि इतर जन भी भाग लेने की आशा रखते हैं। यानी कर आदि द्वारा राजा धन लेता है और कभी कभी चोर भी चोरी करके सर्व नाश करजाता है। अतः ये संसारी काम भोग बहुत ही साधारण हैं।

(१५) संसार में जितने भी लोग बसते हैं, वे सब अपने किये हुए ही पुण्य पापों का फल भोगते हैं। किन्तु कोई भी अन्य किसी के किये हुये कर्मों के फल को नहीं भोग सकता। अत अब स्वकृत

(७) गृहस्थवास में रहते हुये धर्मरहित व्यक्तियों को नीच गतियों की ही प्राप्ति होती है। क्यों कि उनसे फिर धर्म होना कठिन होजाता है। जो पहले से ही गृहवास में रहते हैं वे तो कुछ अपना उद्धार कर भी लेते हैं, किन्तु जो साधु से फिर गृहस्थ में आते हैं, वे किसी दीन के नहीं रहते उनकी श्रद्धा धर्म से हट जाती है। वे अपना उद्धार किसी भी तरह नहीं कर सकते।

(८) पुत्र कलत्रादि को शास्त्रकारों ने पाश की उपमा दी है, जो गृहपाश में फसे हुये गृहस्थों को फिर सुगमता से धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। कारण कि—कतिपय स्त्री और पुत्र आदि व्यक्तियों के स्नेह पाश में जकड़े जाने के बाद प्रमाद विशेष बढ़ जाता है, जिससे धर्म में समय लगाना कठिन होजाता है। फिर तो एक रामा रामा एवं रमा रमा की ही हाय तोबा मची रहती है।

(९) बहुत से इस प्रकार के रोग हैं कि—जो तत्काल ही जीव और शरीर को अलग अलग कर देते हैं, जैसे विषूचिका ग्रन्थि आदि रोग। अस्तु ये रोग, जो धर्म से रहित व्यक्ति है, उनको घेर ही लिया करते हैं। उस समय वह कुछ नहीं कर सकता। बेचारा हताश होकर रोता पीटता पाप की भारी गठड़ी सिर पर धरे, अधोगतियों में दुःख-भोगने के लिये चल देता है। अतएव मैं गृहस्थ होकर क्या नफा उठाऊंगा? मैं-तो साधु ही रहूंगा और धर्म का संचय करूंगा, जिससे मौत चाहे कभी क्यों आवे, कुछ कष्ट न रहे। पूंजी पल्ले होने के बाद मुसाफिर बेखटके होजाता है। जब भी चाहे तब आनन्द से मुसाफिरी कर सकता है।

(१०) गृहस्थों को जो इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग होता है, जो वे लोग उन संकल्पों के द्वारा ही बन्ध का ग्रास होते हैं। क्योंकि—इससे वे कभी सुखी हैं, तो कभी दुःखी हैं कभी

स्थिरता होती है और संसार की दशा का पूर्ण परिचय होजाने से आत्मा संयम भाव में संलग्न हो जाता है। यह अष्टादश स्थानों का वह अचूक प्रयोग है, जिस के करने से संसार सागर में के भान डूबती हुई आत्माएं भी समल गई हैं और अपना कार्य सिद्ध करगई हैं।

अब इन स्थानों पर शिक्षा रूप श्लोक भी प्रतिपादन किये गये हैं, जो अतीव गम्भीर हैं एवं मननीय हैं। उनमें उक्त अङ्गों का या अन्य विषयों का बड़ाही अच्छा स्फीत दिग्दर्शन कराया गया है। इति गद्यम् ॥

उत्थानिका—संयम छोड़ने वाला साधु, आगामी काल को नहीं देखता; यह कहते हैं—

जया य चयई धम्मं, अणज्जो भोगकारणा।
से तत्थ मुच्छिए बाले, आयइं नावबुज्झइ ॥ १ ॥

यदा च त्यजति धर्मं, अनार्यः भोगकारणात्।
स तत्र मूर्च्छितो बालः, आयतिं नावबुध्यते ॥१॥

अन्वयार्थ—(जया) जब (अणज्जो) अनार्य साधु (भोगकारणा) भोगों के कारण से (धम्मं) चारित्र धर्म को (चयई) छोड़ता है, तब (से) वह (बाले) अज्ञानी साधु (तत्थ) उन काम भोगों में (मुच्छिए) मूर्च्छित हुआ (आयइं) भविष्यत् काल को (नावबुज्झइ) सम्यक्तया नहीं

कर्मों के फलों को स्वयं ही भोगना है, तो फिर गृहस्थावास से क्या प्रयोजन ? स्त्री पुत्रादि मेरे कर्मों को तो घटा नहीं सकते।

(१६) मनुष्य का जीवन क्षण भङ्गुर है। इसकी उपमा कुशा के अग्रभाग पर पड़े हुए जलबिंदु से दी गई है। जैसे वह हवा के झोंके के साथ ही गिरपड़ता है और नष्ट होजाता है वैसे ही मनुष्य का जीवन भी रोग आदि अनेक उपद्रवों के कारण से देखते-देखते ही नष्ट होजाता है। अतः क्षण विनाशी मानवीय जीवन के तुच्छ भोगों के लिये मैं क्यों साधुपना छोड़कर गृहस्थ पना लूं ?

(१७) मेरे अत्यन्त ही पाप कर्मों का उदय है, जो मेरे शुद्ध हृदय में इस प्रकार के अतीव अपवित्र विचार उत्पन्न होते हैं, क्योंकि जो पुण्यवान् पुरुष होते हैं उनके भाव तो चारित्र में सदैव काल ध्रुव की उपमा से स्थिर हुए रहते हैं। पाप कर्मों के उदय से ही मनुष्य का लक्ष्य अध पतन की ओर होता है।

(१८) प्रमाद कषाय के अथवा मिथ्यात्व अविरत आदि के वशीभूत होकर, जो पूर्वजन्म में मैंने पाप कर्म किये हैं, उनके भोगे बिना मोक्ष नहीं मिल सकती। उन कर्मों को भोगने के पश्चात् ही जीव दुःखों से छूट कारा पासकता है। अतः क्यों नहीं मैं इस आई हुई विपत्ति को भोगूं ? इसके भोगे ही पिंड छूटेगा। अथवा उत्कृष्ट तप द्वारा ही कर्म क्षय किये जा सकते हैं। जिसके फल स्वरूप मोक्ष प्राप्ति होती है। अतएव मुझे भी योग्य है कि मैं तप करके अपने उन कर्मों का क्षय करूँ, और अक्षय मोक्ष सुख का भागी बनूं।

इस प्रकार इन अठारह स्थानों को अपनी सूक्ष्म-तर्कणा बुद्धि द्वारा संक्षिप्त रूप से किंवा विस्तार रूप से परिस्फुटतया विचारना चाहिये। क्योंकि इस विचार से चित्त की समभाव पूर्वक

सव्वधम्मपरिब्भट्ठो, स पच्छा 'परितप्पइ'॥ २ ॥

यदाऽवधावितो भवति, इन्द्रो वा पतति क्ष्माम्।
सर्वधर्मपरिभ्रष्टः स, पश्चात् परितप्यते ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(छम) पृथिवी पर (पडिओ) पतित हुये (इंदो वा) इन्द्र के समान (जया) जब कोई साधु (ओहाविओ) चारित्र धर्म से भ्रष्ट (होइ) होजाता है, तब (से) वह (सव्वधम्मपरिब्भट्ठो) सब धर्मों से सभी प्रकार से भ्रष्ट होता हुआ (पच्छा) पीछे से (परितप्पइ) अनुताप करता है कि अफ़सोस मैंने यह कैसा अकार्य किया! ॥२॥

मूलार्थ—जिस प्रकार स्वर्ग लोक से च्युत होकर पृथ्वी तल पर आता हुआ इन्द्र पश्चाताप करता है, ठीक इसी प्रकार जो चारित्र धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, वह भी सभी धर्म कर्मों से परिभ्रष्ट होता हुआ अतीव पश्चाताप करता है ॥ २ ॥

भाष्य—इस गाथा में उपमा अलङ्कार द्वारा संयम त्याग का फल बतलाया गया है। जैसेकि जब देवाधिपति इन्द्र पुण्य क्षय होने पर स्वर्ग लोक से च्यव कर मनुष्य लोक में आता है। तब वह बहुत अधिक शोक करता है—पश्चात्ताप करता है। उस समय उसका हृदय भावी सङ्कट की व्यथा से चूर्ण-विचूर्ण होजाता है। वह रोता-पीटता है कि—हाय! मेरा यह अतुलित वैभव नष्ट होगया

मानता ॥ १ ॥

मूलार्थ—कामभोगों के कारण से जब अनार्य साधु, चारित्र धर्म को छोड़ता है, तब वह अज्ञानी साधु, उन काम भोगों में मूर्च्छित हुआ आगामी कालको ध्यान में नहीं रखता ॥ १ ॥

भाष्य—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि—जब साधु संयम को छोड़ता है, तब वह आगामी काल के ध्यान को भूल जाता है। यथा—

जब साधु के भाव संयम छोड़ने के हो जाते हैं, तब उसकी आत्मा अनार्यों के—म्लेच्छों के समान दुष्ट क्रियाएं करने लग जाती है, क्योंकि वह केवल शब्दादि विषयों के वास्ते ही संयम को छोड़ता है और त्यागन किये हुये गृहस्थवास में पुन आता है। अस्तु, वह अज्ञानी साधु उन शब्दादि विषयों में अतीव मूर्च्छित होता हुआ आगामी काल में होने वाले सुख किंवा दुःख सभी को भूल जाता है। कारण कि—वर्तमान काल के तपस्स्यापी सुखों में निमग्न हो जानेपर भविष्यत् कालका परिबोध नहीं रहता। वर्तमान काल की मोहमयी अवस्था में पड़कर भविष्यकाल की अवस्था को भुला देना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? भविष्य में होने वाले कर्तव्य के कटु परिणामों को ध्यान में रखने वाला ही सच्चा बुद्धिमान् है ॥ १ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, पदभ्रष्ट इन्द्र की उपमा से संयम त्याग का निषेध करते हैं—

जया ओहाविओ होइ, इन्दो वा पडिओ छमं ।

सव्वधम्मपरिब्भट्ठो , स पच्छा 'परितप्पइ' ॥ २ ॥

यदाऽवधावितो भवति , इन्द्रो वा पतति क्ष्माम् ।
सर्वधर्मपरिभ्रष्टः सः, पश्चात् परितप्यते ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(छमं) पृथिवी पर (पडिओ) पतित हुये (इंदो वा) इन्द्र के समान (जया) जब कोई साधु (ओहाविओ) चारित्र धर्म से भ्रष्ट (होइ) होजाता है, तब (से) वह (सव्वधम्मपरिब्भट्ठो) सब धर्मों से सभी प्रकार से भ्रष्ट होता हुआ (पच्छा) पीछे से (परितप्पइ) अनुताप करता है कि अफसोस मने यह कैसा अकार्य किया ! ॥२॥

मूलार्थ—जिस प्रकार स्वर्ग लोक से च्युत होकर पृथ्वी तल पर आता हुआ इन्द्र पश्चाताप करता है, ठीक इसी प्रकार जो चारित्र धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, वह भी सभी धर्म कर्मों से परिभ्रष्ट होता हुआ अतीव पश्चाताप करता है ॥ २ ॥

भाष्य—इस गाथा में उपमा अलंकार द्वारा संयम त्याग का फल बतलाया गया है। जैसेकि जब देवाधिपति इन्द्र पुण्य क्षय होने पर स्वर्ग लोक से च्यव कर मनुष्य लोक में आता है। तब वह बहुत अधिक शोक करता है—पश्चाताप करता है। उस समय उसका हृदय भावी संकट की व्यथा से पूर्ण-विपूर्ण होजाता है। वह रोता-पीटता है कि—हाय ! मेरा यह अतुलित वैभव नष्ट होगया

है, मैं अब आगे कष्ट भोगूंगा! अस्तु ठीक इसी भाँति जब साधु भी अपने क्षमा, शील, संतोष आदि धर्मों से च्युत होजाता है एवं लौकिक गौरव आदि से भी भ्रष्ट होजाता है, तब सिर धुन-धुन कर पश्चात्ताप करता है कि हाय! मैंने यह क्या अकार्य किया! इससे तो मैं किसी दीन का नहीं रहा। लोक और परलोक दोनों से भ्रष्ट होगया।

पश्चात्ताप करने का कारण यह है कि—जब साधु धर्म से स्खलित होता है तब तो मोहनीय कर्म का विशेष उदय होता है, जिससे समझना मुश्किल होजाता है। किन्तु जब पीछे से एक से एक भयंकर दुःख आ-आकर पड़ते हैं और मोहनीय कर्म का उदय मन्द भाव में आजाता है तब वह इन्द्र के समान शोक और परिताप करने लगजाता है।

सूत्रमें आया हुआ 'छमं' पृथिवी का वाचक है, क्षमा का नहीं। क्योंकि इसका संस्कृत रूप 'क्ष्मा' होता है। क्ष्मा नाम पृथिवी का है—'क्ष्मा धरित्री क्षितिश्च कुः' इति धनञ्जयः ॥ २ ॥

उत्थानिका—अब, स्वर्ग च्युत देवता की उपमा देते हैं—

जया अ वंदिमो होइ, पच्छा होइ अवंदिमो।
देवया व चुआ ठाणा, स पच्छा परितप्पइ ॥ ३ ॥

यदा च वन्द्यो भवति, पश्चाद् भवत्यवन्द्यः।
देवतेव च्युता स्थानात्, सः पश्चात् परितप्यते ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(जया) जब साधु संयम में रहता है, तबतो (वंदिमो) वन्दनीय (होइ) होता है (य) किन्तु (पच्छा) संयम छोड़ने के पश्चात् वही (अवंदिमो) अवंदनीय (होइ) हो जाता है (स) वह साधु (ठाणा) अपने स्थान से (चुआ) च्युत हुई (देवया_व) देवी-इन्द्राणी के समान (पच्छा) पीछे से (परितप्पइ) पछताता है ॥ २ ॥

मूलार्थ—जब साधु संयम पालन करता है, तबतो सब लोगों से अभिवन्दनीय होता है; किन्तु जब संयम से च्युत होजाता है तब वही सब लोगों से तिरस्करणीय होजाता है। संयमच्युत साधु, उसी प्रकार पश्चात्ताप करता है, जिस प्रकार स्थानच्युत देवी पश्चात्ताप किया करती है ॥ २ ॥

भाष्य—जिस समय साधु अपने संयम स्थान में स्थिर चित्त रहता है एवं संयम को भले प्रकार पालन करता है, उस समय तो वह राजा आदि प्रधान पुरुषों द्वारा वन्दनीय होता है। किन्तु वही साधु जब संयम धर्म को छोड़कर भोगी गृहस्थ हो जाता है तब उन्हीं सत्कार करने वाले मनुष्यों से ही असह्य तिरस्कार पाता है। तिरस्कार क्या, कभी कभी तो उसकी ऐसी दुर्गति होती है कि कुछ पूछिये ही नहीं। गलितकाय श्वान की तरह वह जहाँ जाता है, वहीं से हठात् दुत्कारा जाता है।

तिरस्कृत होने पर वह बहुत कुछ पश्चात्ताप करता है। किस प्रकार करता है, इस के लिये स्थान च्युत देवी की उपमा दी गई है। जिस प्रकार स्थानच्युत इन्द्रवर्जित देवी अपने पूर्वकालीन सुखों को एवं असत्यड गौरव को याद कर करके शोक करती है, उसी प्रकार साधु भी संयम से भ्रष्ट

है, मैं अब आगे कष्ट भोगूंगा। अस्तु ठीक इसी भाँति जब साधु भी अपने क्षमा, शील, संतोष आदि धर्मों से च्युत होजाता है एवं लौकिक गौरव आदि से भी भ्रष्ट होजाता है, तब सिर धुन–धुन कर पश्चात्ताप करता है कि हाय! मैंने यह क्या अकार्य किया? इससे तो मैं किसी दीन का नहीं रहा। लोक और परलोक दोनों से भ्रष्ट होगया।

पश्चात्ताप करने का कारण यह है कि—जब साधु धर्म से स्खलित होता है तब तो मोहनीय कर्म का विशेष उदय होता है जिससे समझना मुश्किल होजाता है। किन्तु जब पीछे से एक से एक भयंकर दुःख आ–आकर पड़ते हैं और मोहनीय कर्म का उदय मन्द भाव में आजाता है तब वह इन्द्र के समान शोक और परिताप करने लगजाता है।

सूत्र में आया हुआ 'छमं' पृथिवी का वाचक है, क्षमा का नहीं। क्योंकि इसका संस्कृत रूप 'क्ष्मा' होता है। क्ष्मा नाम पृथिवी का है—'क्ष्मा धरित्री क्षितिश्च कुः' इति धनंजयः ॥ २ ॥

उत्थानिका—अब, स्वर्गच्युत देवता की उपमा देते हैं—

जया अ वंदिमो होइ, पच्छा होइ अवंदिमो।
देवया व चुआ ठाणा, स पच्छा परितप्पइ ॥ ३ ॥

यदा च वन्द्यो भवति, पश्चाद् भवत्यवन्द्यः।
देवतेव च्युता स्थानात् स पश्चात् परितप्यते ॥ ३ ॥

भाष्य—जब साधु अपने चारित्र धर्म में स्थिर रहता है, तब तो सब लोग उसकी भोजन वस्त्रादि से पूजा किया करते हैं; किन्तु जब चारित्र धर्म को छोड़ देता है, तब वही सब लोगों के लिए अपूज्य हो जाता है। उसकी कोई बात नहीं पूछता। जिस प्रकार राजा राज्य से भ्रष्ट हो जाने के पश्चात् पूर्व गौरव को याद करके, अपने मन में बहुत भारी पश्चात्ताप किया करता है ठीक इसी प्रकार साधु भी संयम से पतित हो जाने के बाद पूर्व दशा को स्मृति में लाकर अपने मन में घुट घुट कर झूरता रहता है। नष्ट गौरव की स्मृति मनुष्य से पश्चात्ताप कराया ही करती है ॥ ४ ॥

उत्थानिका—अब, नजरबद सेठ की उपमा देते हैं—

जया अ माणिमो होइ, पच्छा होइ अमाणिमो।
सेट्ठि व्व कब्बडे छूढो, स पच्छा परितप्पइ ॥ ५ ॥

यदा च मान्यो भवति, पश्चाद् भवत्यमान्यः।
श्रेष्ठीव कर्बटे क्षिप्तः, स पश्चात् परितप्यते ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(जया) जब साधु (माणिमो) मान्य होता है और (पच्छा) शील से भ्रष्ट होने के पश्चात् शीघ्र ही (अमाणिमो) अमान्य हो जाता है (कब्बडे) अत्यन्त क्षुद्र ग्राममें (छूढो) अवरुद्ध (सट्ठिव्व) सेठ के समान (स) वह (पच्छा) पीछे से (परितप्पइ) परितप्त होता है ॥ ५ ॥

होकर संयम सम्बन्धी गौरव को बारंबार याद करके, हमेशां अपने मनमें झूर-झूर पछताता रहता है ॥३॥

उत्थानिका—अब, राज्य भ्रष्ट राजा की उपमा देते हैं—

जया अ पूइमो होइ, पच्छा होइ अपूइमो ।
राया व रज्जपब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पइ ॥ ४ ॥

यदा च पूज्यो भवति, पश्चाद् भवत्यपूज्यः ।
राजेव राज्यप्रभ्रष्टः, स पश्चात् परितप्यते ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(जया) जब संयमी रहता है, तबतो साधु (पूइमो) पूज्य (होइ) होता है (अ) फिर वही (पच्छा) चारित्र से पतित होने के पश्चात् (अपूइमो) अपूज्य (होइ) हो जाता है (रज्जपब्भट्ठो) राज्य भ्रष्ट (रायाव) राजा की तरह (स) वह साधु (पच्छा परितप्पइ) पश्चाताप करता है ॥ ४ ॥

मूलार्थ—जब साधु अपने धर्म में स्थित रहता है, तब तो सब लोगों से पूजनीय होता है, किन्तु धर्म से भ्रष्ट होजाने के पश्चात् वही अपूजनीय होजाता है। भ्रष्ट साधु, राज्य भ्रष्ट राजा के समान सदा पश्चात्ताप करता रहता है ॥ ४ ॥

मत्स्य इव गलं गिलित्वा, स पश्चात् परितप्यते ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(अ) जो साधु (जया) जब (समइक्कतजुव्वणो) यौवनावस्था के बीत जाने पर (थेरओ) स्थविर होजाता है, तब संयम का परित्याग करता है (स) वह (गल) बडिश को (गिलित्ता) निगल कर (व्व) जैसे (मच्छु) मत्स्य पश्चात्ताप करता है, तद्वत् (पच्छा) पीछे से (परितप्पइ) दुःखित होता है ॥ ६ ॥

मूलार्थ—जो साधु यौवन अवस्था के अतीत होजाने पर स्थविरावस्था में संयम छोड़ता है, वह लोहकंटक के गले में फँस जाने पर मछली के समान पश्चात्ताप करता है ॥ ६ ॥

भाष्य—जिस प्रकार मच्छ, भोजन के लोभ से धीवरों द्वारा गेरे हुए लोह कंटक को निगल लेता है, और फिर गले के अवरुद्ध होजाने पर पश्चात्ताप करता है ; इसी प्रकार यौवन अवस्था के व्यतीत होजाने पर वृद्धावस्था के समय संयम से पतित होने वाला साधु भी पश्चात्ताप करता है । क्योंकि मत्स्य न तो उस बडिश को गले के नीचे उतार सकता है, और नाही गले से बाहर निकाल सकता है। ठीक इसी तरह साधु भी न तो भोगों को भोग ही सकता है और नाही उनसे मुक्त हो सकता है। यों ही कष्टमय जीवन समाप्त कर मत्स्य के समान आखिर कार मृत्यु के मुख में पहुंच जाता है ॥ ६ ॥

उत्थानिका—अब, बंधन-बद्ध हस्ती की उपमा देते हैं—

मूलार्थ—संयमधारी श्रमण (साधु), जब संयम का पालन करता है, तब तो सर्वमान्य होता है, किन्तु संयम छोड़ने के पश्चात् अत्यन्त अपमानित हो जाता है। यह संयमभ्रष्ट साधु, ठीक उसी प्रकार दुःख करता है, जिस प्रकार किसी छोटे से गँवारू गाँव में कैद किया हुआ, नगर सेठ दुःख करता है ॥ ५ ॥

भाष्य—जब साधु, अपने शील और धर्म में स्थिर चित्त वाला होता है, तब तो वह अभ्युत्थान एवं आज्ञापालन आदि द्वारा सब लोगों से मान्य होता है; किन्तु जब धर्म से भ्रष्ट होजाता है, तब फिर वही उन्हीं सत्कार करने वाले लोगों से अमान्य होजाता है। जिस प्रकार किसी अपराध के कारण राजा के हुक्म से नगर सेठ, किसी छोटे ग्राम में नजरबन्द किया हुआ पश्चात्ताप करता है, ठीक इसी प्रकार शील धर्म का परित्याग करने वाला साधु भी असम्माननीय बन जाता है और शारीरिक एवं मानसिक दुःखों से पीड़ित होता रहता है ॥ ५ ॥

उत्थानिका—अब, मत्स्य का दृष्टान्त दिया जाता है—

जया अ थेरओ होइ, समइक्कंत जुव्वणो।
मच्छु व्व गलं गिलित्ता, स पच्छा परितप्पइ ॥ ६ ॥
यदा च स्थविरो भवति, समतिक्रान्तयौवनः।

मत्स्य इव गलं गिलित्वा, सः पश्चात् परितप्यते ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(अ) जो साधु (जया) जब (समइक्कतजुव्वणो) यौवनावस्था के बीत जाने पर (थेरओ) स्थविर होजाता है, तब संयम का परित्याग करता है (स) वह (गल) बडिश को (गिलित्ता) निगल कर (व्व) जैसे (मच्छु) मत्स्य पश्चात्ताप करता है, तद्वत् (पच्छा) पीछे से (परितप्पइ) दुःखित होता है ॥ ६ ॥

मूलार्थ—जो साधु यौवन अवस्था के अतीत होजाने पर स्थविरावस्था में संयम छोड़ता है, वह लोहकण्टक के गले में फँस जाने पर मछली के समान पश्चात्ताप करता है ॥ ६ ॥

भाष्य—जिस प्रकार मच्छ, भोजन के लोभ से धीवरों द्वारा गेरे हुए लोह कंटक को निगल लेता है, और फिर गले के अवरुद्ध होजाने पर पश्चात्ताप करता है। इसी प्रकार यौवन अवस्था के व्यतीत होजाने पर वृद्धावस्था के समय संयम से पतित होने वाला साधु भी पश्चात्ताप करता है। क्योंकि मत्स्य न तो उस बडिश को गले के नीचे उतार सकता है, और नाही गले से बाहर निकाल सकता है। ठीक इसी तरह साधु भी न तो भोगों को भोग ही सकता है और नांही उनसे मुक्त हो सकता है। यों ही कष्टमय जीवन समाप्त कर मत्स्य के समान आखिर कार मृत्यु के मुह में पड़ जाता है ॥ ६ ॥

उत्थानिका—अब, बंधन-बद्ध हस्ती की उपमा देते हैं—

जया अ कुकुडुवस्स , कुतत्तीहिं विहम्मइ ।
हत्थी व बंधणे बद्धो , स पच्छा परितप्पइ ॥ ७ ॥

यदा च कुकुटुम्बस्य , कुतप्तिभिर्विहन्यते ।
हस्तीव बन्धने बद्धः , सः पश्चात् परितप्यते ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(जया) जब संयम त्यागी साधु (कुकुडंबस्स) दुष्ट कुटुम्ब की (कुतत्तीहिं) दुष्ट चिन्ताओं से (विहम्मइ) प्रतिहनित होता है, तब वह साधु (बंधणेबद्धो) विषय के लालच से बंधन में बँधे हुये (हत्थीव) हस्ती के समान (पच्छा) पीछे से (परितप्पइ) पछताता है ॥ ७ ॥

मूलार्थ—संयम भ्रष्ट साधु को, जब नीच कुटुम्ब की कुत्सित चिंताएँ चारों ओर से अभिभूत करती हैं, तब वह बन्धन-बद्ध हस्ती के समान नितान्त पश्चात्ताप करता है ॥ ७ ॥

भाष्य—जब साधु संयम से पतित होजाता है तब उसे अनुकूल परिवार के न मिलने के कारण प्रतिकूल क्रियाओं से उसकी आत्मा प्रतिदिन हनन होने लगती है। जिस प्रकार हाथी बन्धनों से बंधा हुआ घोर दुःख भोगता है, इसी प्रकार वह साधु भी विषय रूपी बन्धनों में घोर दुःख भोगता है। कारण कि—इष्ट संयोग के न मिलने से उसे विषय भोगों में विघ्न पड़ता है, जिससे उसकी आत्मा महादुःख पाती है। इसी वास्ते सूत्र में लिखा है कि 'कुतत्तिभिः'—कुत्सित चिन्ताभिः वासनाः

संतापकारणमिति विज्ञेयम् ।

सूत्रकार ने जो यह बंधनबद्ध हाथी का दृष्टान्त दिया है, सो इसका यह भाव है कि—हाथी पकड़ने वाले लोग वनमें एक बड़ासा गढा खोदते हैं। फिर उस गढे को पतली—पतली लकड़ियों से ढाँप कर उसपर कागज की हथिनी बनाकर खड़ी कर देते हैं। वनका स्वच्छंद हाथी उसे असली हथिनी समझ कर ज्यों ही उस पर आता है, त्यों ही गढे में गिर पड़ता है और पकड़ लिया जाता है। फिर लोहमयी शृंखलाओं से बधा हुआ वह हाथी घोर यातनाएं भोगता है। इसी भाँति साधु भी विषय भोगों के झूठे लालच में फँसकर घोर दुःख उठाता है ॥ ७ ॥

उत्थानिका—अब, पंकमग्न हस्ती की उपमा देते हैं—

पुत्तदारपरीकिन्नो, मोहसंताणसंतओ ।
पंकोसन्नो जहा नागो, स पच्छा परितप्पइ ॥ ८ ॥

पुत्रदारपरिकीर्ण, मोहसंतानसंततः ।
पंकावसन्नो यथा नागः, स पश्चात् परितप्यते ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(पुत्तदारपरीकिन्नो) पुत्र और स्त्री से घिरा हुआ (मोहसंताणसंतओ) दर्शन मोहनीय आदि कर्मों से संतत हुआ (स) वह साधु (जहा) जैसे (पंकोसन्नो) कीच में फँसा हुआ

जया अ कुकुडुवस्स , कुतत्तीहिं विहम्मइ ।
हत्थी व बंधणे बद्धो , स पच्छा परितप्पइ ॥ ७ ॥

यदा च कुकुटुम्बस्य , कुतप्तिभिर्विहन्यते ।
हस्तीव बन्धने बद्धः , सः पश्चाद् परितप्यते ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(जया) जब संयम त्यागी साधु (कुकुडुंवस्स) दुष्ट कुटुम्ब की (कुतत्तीहिं) दुष्ट चिन्ताओं से (विहम्मइ) प्रतिहनित होता है, तब वह साधु (बंधणेबद्धो) विषय के लालच से बंधन में बंधे हुये (हत्थीव) हस्ती के समान (पच्छा) पीछे से (परितप्पइ) पछताता है ॥ ७ ॥

मूलार्थ—संयम भ्रष्ट साधु को , जब नीच कुटुम्ब की कुत्सित चिंताएँ चारों ओर से अभिभूत करती हैं, तब वह बंधन-बद्ध हस्ती के समान नितान्त पश्चात्ताप करता है ॥ ७ ॥

भाष्य—जब साधु संयम से पतित होजाता है तब उसे अनुकूल परिवार के न मिलने के कारण प्रतिकूल चिंताओं से उसकी आत्मा प्रतिदिन दग्ध होने लगती है। जिस प्रकार हाथी बन्धनों में बंधा हुआ घोर दुःख भोगता है उसी प्रकार वह साधु भी विषय रूपी बन्धनों में घोर दुःख भोगता है। कारण कि—इष्ट संयोग के न मिलने से उसे विषय भोगों में विघ्न पड़ता है जिससे उसकी आत्मा महादुःखी होती है। इसी वास्ते सूत्र में लिखा है कि 'कुतत्तिभिः'—कुत्सित चिन्ताभि परमात्मा

सपहमरिष्यं पर्याये, आमण्ये जिनदेशिते ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(अज्ज) आज (अह) मैं (गणी) आचार्य (हुंतो) होता (जइ) यदि (अहं) मैं (भाविअप्पा) भावितात्मा और (बहुस्सुओ) बहुश्रुत होकर (जिणदेसिए) जिनोपदेशित (सामण्णे) साधुसम्बन्धी (परिआए) चारित्र में (रमंतो) रमण करता ॥ ९ ॥

मूलार्थ—यदि मैं भावितात्मा और बहुश्रुत होता एवं जिनोपदेशित साधु धर्म में रमण करता, तो आज के दिन महान् आचार्य पद पर सुशोभित होता ॥ ९ ॥

भाष्य—फिर सचेतन साधु पतित हुआ इस प्रकार की विचारणा किया करता है—

" आज पर्यन्त तो मैं आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हो जाता, यदि मैं शुभ भावनाओं द्वारा अपनी आत्मा की शुद्धि करने वाला होता तथा दोनों लोकों में हितकारी बहुत से आगमों की विद्या से युक्त होता तथा श्रीजिनेन्द्र प्रतिपादित श्रमण भाव में रमण करता। मैं तो बड़ा ही मूर्ख निकला—जो साधुपना छोड़कर विषय भोगों के जाल में पड़ गया। अफसोस! मैंने विषय रूपी पङ्कपङ्कपूर्ण अर्थबिन्दु के लिए अद्वितीय आचार्य पद जैसे महान् गौरव रूपी क्षीरसिन्धु को छोड़ दिया।"

सूत्र में का 'जिनदेशित' शब्द प्रकट करता है कि-शाक्यादि के उपदेशित किये हुये श्रमण भाव में नहीं, किन्तु जिनदेशित श्रमणभाव में ही रमण करने से आत्म विकाश का श्रेष्ठ पद 'आचार्य' मिलता है ॥ ९ ॥

(नागो) हाथी पश्चात्ताप करता है, वैसे ही (पच्छा) पीछे से (परितप्पइ) परितप्त होता है ॥ ८ ॥

मूलार्थ—पुत्र और स्त्री जनों से घिरा हुआ एवं मोहप्रवाह से सतप्त हुआ, यह संयम भ्रष्ट साधु, कर्दममग्न हाथी के समान अतीव पश्चात्ताप करता है ॥ ८ ॥

भाष्य—जब साधु संयम छोड़देता है, तब पुत्र और स्त्री आदि से घिर जाता है तथा दर्शन मोहनीय आदि कर्मों से सतप्त होजाता है। उस समय वह जिस प्रकार हाथी दल-दल में फँसा हुआ दुःख पाता है तद्वत् कुटुंब के मोह जाल में फँसा हुआ दुःख पाता है। कारणकि—वह सोचता है-हाय! मैंने यह असमंजस काम क्यों किया! यदि मैं संयम क्रियाओं में दृढ रहता तो मेरी आज इस प्रकार की दुर्गति क्यों होती? संयम छोड़कर मैंने क्या लाभ उठाया!

सूत्रकर्ता ने जो हस्ती का हेतु दिया है, उसका यह भाव है कि—जिस भाँति हाथी के लिये कर्दम बन्धन है ठीक इसी भाँति साधु के लिये संसार में विषय विकार रूपी कर्दम बन्धन है ॥ ८ ॥

उत्थानिका—अब, फिर दूसरे प्रकार से पश्चात्ताप के विषय में कहते हैं-

अज्ज आहं गणी हुंतो, भाविअप्पा बहुस्सुओ।
जइ ऽहं रमंतो परिआए, सामण्णे जिणदेसिए ॥ ९ ॥

अद्य तावदहं गणी स्याम्, भावितात्मा बहुश्रुतः।

यदहमरिष्य पर्याये, श्रामण्ये जिनदेशिते ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(अज्ज) आज (अहं) मैं (गणी) आचार्य (हुंतो) होता (जइ) यदि (अहं) मैं (भाविअप्पा) भावितात्मा और (बहुस्सुओ) बहुश्रुत होकर (जिणदेसिए) जिनोपदेशित (सामण्णे) साधुसम्बन्धी (परिआए) चारित्र में (रमंतो) रमण करता ॥ ९ ॥

मूलार्थ—यदि मैं भावितात्मा और बहुश्रुत होता एवं जिनोपदेशित साधु धर्म में रमण करता, तो आज के दिन महान् आचार्य पद पर सुशोभित होता ॥ ९ ॥

भाष्य—कोई सचेतन साधु पतित हुआ इस प्रकार की विचारणा किया करता है—

"आज पर्यन्त तो मैं आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होजाता, यदि मैं शुभ भावनाओं द्वारा अपनी आत्मा की शुद्धि करने वाला होता तथा दोनों लोकों में हितकारी बहुत से आगमों की विद्या से युक्त होता तथा श्रीजिनेन्द्र प्रतिपादित श्रमण भाव में रमण करता। मैं तो बड़ा ही मूर्ख निकला—जो साधुपना छोड़कर विषय भोगों के जाल में पड़ गया। अफसोस! मैंने विषय रूपी एक पंकपूर्ण जलबिंदु के लिए अद्वितीय आचार्य पद जैसे महान् गौरव रूपी क्षीरसिन्धु को छोड़ दिया।"

सूत्र में का 'जिनदेशित' शब्द प्रकट करता है कि-शाक्यादि के उपदेशित किये हुये श्रमण भाव में नहीं, किन्तु जिनदेशित श्रमणभाव में ही रमण करने से आत्म विकाश का श्रेष्ठ पद 'आचार्य' मिलता है ॥ ९ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, अधिकारी भेद से संयम को स्वर्ग और नर्क की उपमा देते हैं—

देवलोगसमाणो अ, परिआओ महेसिण।
रयाण अरयाण च, महानरयसारिसो ॥ १० ॥

देवलोकसमानस्तु, पर्यायो महर्षीणाम्।
रतानामरतानां च, महानरकसदृशः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(रयाण) संयमरत (महेसिण) महर्षियों को (परिआओ) चारित्र पर्याय (देवलोगसमाणो) देव लोक के समान है (अ) किन्तु (अरयाण) संयम में रति नहीं रखने वालों को वही चारित्र-(महानरयसारिसो) महान् नरक के समान है ॥ १० ॥

मूलार्थ—जो महर्षि संयमक्रिया में रत हैं, उन्हें तो यह संयम स्वर्ग लोक के समान सुख दायक है, किन्तु जो संयम में अरुचि रखने वाले हैं, उन्हें महान् रौरव नरक के समान दुःख दायक है ॥ १० ॥

भाष्य—इस गाथा में जो साधु संयम त्यागने की इच्छा रखते हैं उनको स्थिर करने के लिये यह उपदेश प्रतिपादन किया है। यथा—

श्री भगवान् उपदेश करते हैं कि-हे आर्यो! जो साधु संयम पर्याय में रति रखने वाले हैं, उनके लिए यह संयम देवलोक के समान सुखप्रद है ; क्योंकि—जिस प्रकार देवता देवलोक में नृत्य आदि के देखने में लगे रहते हैं, तथा सदैव काल प्रसन्नता से समय व्यतीत करते हैं ठीक उसी प्रकार साधु भी यागादि क्रियाओं में निमग्न होता हुआ, वर्षों से बढ़कर सुखों का अनुभव करता है। इसके विपरीत जो साधु संयम क्रियाओं में रति हीन होते हैं, उनके लिये यह चारित्र पर्याय महानरक (रौरव) के समान दुःखप्रद है, क्यों कि—वे विषयाभिलाषी होने से हमेशां भगवान् के वेष की विडम्बना ही करते रहते हैं। मानसिक दुःखों का विशेष उदय होजाने से उनकी आत्मा महान घोर दुःखों की अनुभव करने वाली होजाती है ॥ १० ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, प्रस्तुत वर्णन का उपसंहार द्वारा निगमन करते हुये कहते हैं—

अमरोवम जाणिअ सुक्खमुत्तम , रयाण परिआइ तहारयाण ।
निरओवम जाणिअ दुक्खमुत्तम , रमिज्ज तम्हा परिआइ पंडिए ॥ ११ ॥

अमरोपम ज्ञात्वा सौख्यमुत्तम , रतानां पर्याये तथाऽरतानाम् ।
नरकोपमं ज्ञात्वा दुःखमुत्तमं , रमेत तस्मात् पर्याये पण्डितः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(तम्हा) इसलिये (पंडिए) पंडित साधु (परिआइ) चारित्र में (रयाण) रत रहने वालों के (अमरोम) देवोपम (उत्तम) उत्तम (सुक्खं) सुख को (जाणिअ) जानकर (तहा) तथा

उत्थानिका—अब सूत्रकार , अधिकारी भेद से संयम को स्वर्ग और नर्क की उपमा देते हैं-

देवलोगसमाणो अ , परिआओ महेसिण ।
रयाण अरयाण च , महानरयसारिसो ॥ १० ॥

देवलोकसमानस्तु , पर्यायो महर्षिणाम् ।
रतानामरतानां च , महानरकसदृशः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(रयाणं) संयमरत (महेसिणं) महर्षियों को (परिआओ) चारित्र पर्याय (देवलोगसमाणो) देव लोक के समान है (अ) किन्तु (अरयाणं) संयम में रति नहीं रखने वालों को वही चारित्र-(महानरयसारिसो) महान् नरक के समान है ॥ १० ॥

मूलार्थ—जो महर्षि संयमक्रिया में रत हैं , उन्हें तो यह संयम स्वर्ग लोक के समान सुख दायक है , किन्तु जो संयम में अरुचि रखने वाले हैं , उन्हें महान् रौरव नरक के समान दुःख दायक है ॥ १० ॥

भाष्य—इस गाथा में जो साधु संयम त्यागने की इच्छा रखते हैं उनको स्थिर करने के लिये यह उपदेश प्रतिपादन किया है । यथा—

धर्माद्भ्रष्टं श्रियोऽपेतं, यज्ञाग्निं विध्यातमिवअल्पतेजसम् ।
हीलयन्ति एनं दुर्विहित कुशीलाः, उद्धृतदंष्ट्रं घोरविषमिव नागम् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(कुसीला) कुत्सित लोक (सिरिओ अवेय) तपोरूप लक्ष्मी से रहित (दुव्विहं) दुष्ट व्यापार करने वाले (धम्मा उ भट्ठा) धर्म से भ्रष्ट (ण) उस पुरुष की (विज्झाए) बुझी हुई (अप्पतेअ) तेजो रहित (जन्नग्गिमिव) यज्ञ की अग्नि के समान तथा (दाढुद्धिअ) जिस की दाढें निकाल दी गई हैं, ऐसे (घोरविस) रौद्र विष वाले (नागमिव) सर्प के समान (हीलंति) अवहेलना करते हैं ॥ १२ ॥

मूलार्थ—जो साधु, धर्म से भ्रष्ट एवं तप के अद्वितीय तेज से हीन होजाता है; उस की नीच से नीच मनुष्य भी अवहेलना करते हैं। दुराचारी संयम भ्रष्ट साधु, लोगों से उसी प्रकार तिरस्कृत होता है, जिस प्रकार तेजःशून्य बुझी हुई यज्ञ की अग्नि और दंष्ट्रा रहित महाविषधारी सर्प के समान तिरस्कृत होता है ॥ १२ ॥

भाष्य—संसार में गुणवानों की ही पूजा होती है, गुणहीनों की नहीं। अस्तु, जो मनुष्य विषय भोगों में फसकर संयम से भ्रष्ट होजाते हैं तथा अन्तर्ज्वाज्वल्यमान तपोरूप अग्नि के अलौकिक तेज से हीन होकर गतप्रभाव हो जाते हैं, तथा निन्द्य व्यवहार करने लग जाते हैं; उनकी धार्मिक पुरुष

(अरयाण) संयम में रत नहीं रहने वालों के (निरओवमं) नरकोपम (उचमं) महान् (दुक्ख) दुःख को (जाणिअ) जानकर (परिआए) संयम के विषय में (रमिज्ज) रमण करे ॥ ११ ॥

मूलार्थ—संयम में रत रहने वाले, देवों के समान सुख भोगते हैं और संयम से विरक्त रहने वाले, रौरव नर्क के समान दुःख भोगते हैं,—इस प्रकार सत्य तत्त्व को जानकर बुद्धिमान् साधु को, संयमपर्याय में रमण करना चाहिये ॥ ११ ॥

भाष्य—इस काव्य में उक्त प्रकरण का उपसंहार करते हुये निगमन किया गया है कि—जो साधु संयम में सब प्रकार से रति मानने वाले हैं, तथा जो संयम में दृढ़चित्त नहीं हैं, उन दोनों के विषय में यह विचार करना चाहिये कि—जो संयम में रत हैं, वे तो देवलोक के समान उत्तम सुखों का अनुभव कर रहे हैं, किन्तु जो संयम में अरति रखने वाले हैं, वे महाघोर नरक के समान दुःख भोग रहे हैं। अतः धार्मिक मुनि को योग्य है कि—वह संयम पर्याय में ही रमण करे, क्योंकि—जब इन दोनों प्रकार से ज्ञान प्राप्त कर लिया तो फिर उसे संयम में ही प्रसन्न चित्त होना चाहिए ॥ ११ ॥

उत्थानिका—संयम भ्रष्ट को इस लोक में होने वाले दोषों का उल्लेख करते हैं—

धम्मा उ भट्ठं सिरिओ अवेयं , जन्नग्गि विज्झाअमिवप्पतेअं ।
हीलंति णं दुव्विहिअं कुसीला , दाढुड्ढिअं घोरविसं व नागं ॥ १२ ॥

धर्माद्भ्रष्टं श्रियोऽपेत , यज्ञाग्निं विध्यातमिवअल्पतेजसम् ।
हीलयन्ति एनं दुर्विहित कुशीला , उद्धृतदंष्ट्रं घोरविषमिव नागम् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(कुसीला) कुत्सित लोक (सिरिओ अवेय) तपोरूप लक्ष्मी से रहित (दुव्विहं) दुष्ट व्यापार करने वाले (धम्मा उ भट्ठं) धर्म से भ्रष्ट (णं) उस पुरुष की (विज्झाए) बुझी हुई (अप्पतेअ) तेजो रहित (जन्नग्गिमिव) यज्ञ की अग्नि के समान तथा (दाढुद्धरिअं) जिस की दाढें निकाल दी गई हैं, ऐसे (घोरविस) रौद्र विष वाले (नागमिव) सर्प के समान (हीलंति) अवहेलना करते हैं ॥ १२ ॥

मूलार्थ—जो साधु, धर्म से भ्रष्ट एव तप के अद्वितीय तेज से हीन होजाता है, उस की नीच से नीच मनुष्य भी अवहेलना करते हैं। दुराचारी सयम भ्रष्ट साधु, लोगों से उसी प्रकार तिरस्कृत होता है, जिस प्रकार तेजःशून्य बुझी हुई यज्ञ की अग्नि और दंष्ट्रा रहित महाविषधारी सर्प के समान तिरस्कृत होता है ॥ १२ ॥

भाष्य—संसार में गुणवानों की ही पूजा होती है, गुणहीनों की नहीं। अस्तु, जो मनुष्य विषय भोगों में फसकर सयम से भ्रष्ट होजाते हैं, तथा अन्तर्ज्वाजवल्यमान तपोरूप अग्नि के अलौकिक तेज से हीन होकर गतप्रभाव हो जाते हैं, तथा निन्द्य व्यवहार करने लग जाते हैं, उनकी धार्मिक पुरुष

(अरयाण) संयम में रत नहीं रहने वालों के (निरओवम) नरकोपम (उत्तम) महान् (दुक्ख) दुःख को (जाणिअ) जानकर (परिआई) संयम के विषय में (रमिज्ज) रमण करे ॥ ११ ॥

मूलार्थ—संयम में रत रहने वाले, देवों के समान सुख भोगते हैं और संयम से विरक्त रहने वाले, रौरव नर्क के समान दुःख भोगते हैं,—इस प्रकार सत्य तत्व को जानकर बुद्धिमान् साधु को, संयमपर्याय में रमण करना चाहिये ॥ ११ ॥

भाष्य—इस काव्य में उक्त प्रकरण का उपसंहार करते हुये निगमन किया गया है कि—जो साधु संयम में सब प्रकार से रति मानने वाले हैं, तथा जो संयम में दृढ़चित्त नहीं हैं, उन दोनों के विषय में यह विचार करना चाहिये कि—जो संयम में रत हैं वे तो देवलोक के समान उत्तम सुखों का अनुभव कर रहे हैं, किन्तु जो संयम में अरति रखने वाले हैं, वे महाघोर नरक के समान दुःख भोग रहे हैं। अत वास्तव मुनि को योग्य है कि—वह संयम पर्याय में ही रमण करे, क्योंकि—जब इन दोनों प्रकार से ज्ञान प्राप्त कर लिया तो फिर उसे संयम में ही प्रसन्न चित्त होना चाहिए ॥ ११ ॥

उत्थानिका—संयम भ्रष्ट को इस लोक में होने वाले दोषों का उल्लेख करते हैं—

धम्मा उ भट्ठ सिरिओ अवेयं , जन्नग्गि विज्झाअमिवप्पतेअं ।
हीलंति णं दुव्विहियं कुसीला , दाढुद्धियं घोरविसं व नागं ॥ १२ ॥

इहेवऽधम्मो अयसो अकित्ती, दुन्नामधिज्जं च पिहुज्जणम्मि।
चुअस्स धम्माउ अहम्मसेविणो, सभिन्नवित्तस्स य हिट्ठओ गइ ॥ १२ ॥

इहैव अधर्मोऽयशोऽकीर्तिः, दुर्नामधेयं च पृथग् जने।
च्युतस्य धर्मादधर्मसेविनः, सम्भिन्नवृत्तस्य चाधस्ताद् गतिः ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—जो व्यक्ति (धम्माउ) धर्म से (चुअस्स) पतित है (अहम्मसेविणो) अधर्म का सेवन करने वाला है (य) तथा (सभिन्नवित्तस्स) गृहीतव्रतों को खण्डित करने वाला है, वह (इहेव) इस लोक में (अधम्मो) अधर्मी कहलाता है (अयसो) अपयश और (अकित्ती) अकीर्ति पाता है (पिहुज्जणम्मि) साधारण लोगों में (दुन्नामधिज्ज) बदनाम होजाता है, तथा अन्त में (हिट्ठओ गइ) परलोक का यात्री बनकर नीच गतियों में उत्पन्न होता है ॥ १२ ॥

मूलार्थ—धर्म भ्रष्ट, अधर्म सेवी एवं व्रत भग्न कर्ता मनुष्य इस लोक में तो अपयश–अकीर्ति का भागी होता है, अधार्मिक–म्लेच्छ कहलाता है एवं नीच मनुष्यों द्वारा घृणित नामों से पुकारा जाता है। तथा परलोक में नरक आदि नीच गतियों में चिरकाल तक असह्य दुःख भोगता है ॥ १२ ॥

भाष्य—इस काव्य में धर्म से पतित मनुष्य की इस लोक और परलोक में होने वाली दुर्दशा

तो जो भर्त्सना करते हैं, सो करते हैं ही, किन्तु आचारहीन नीच पुरुष भी उसको घृणा की दृष्टि से देखते हैं। वे हँसी करके कहते हैं कि—क्यों साहब! कर आये गढ फतह! वे दिन याद हैं न, जब हमें दुराचारी कहा करते थे और स्वयं सदाचारी बना करते थे? अब तो तुमसे हमीं अच्छे हैं न, जो धुलपिये नहीं बने! आदि। क्योंकि किसी कार्य क्षेत्र में नहीं आने की अपेक्षा, कायरता के कारण, आकर वापिस लौट जाना अधिक बुरा समझा जाता है।

सूत्रकारने उपयुक्त साधु के तिरस्कार की उपमा बुझी हुई यज्ञ की अग्नि और उखाड़ी हुई दाढ वाले सर्प से दी है। ये उपमाएँ प्रतिपादित विषय को बहुत ही स्फुट करने वाली हैं। यज्ञ की अग्नि जब तक जलती रहती है, तब तक तो लोग उस में घृत मधु आदि श्रेष्ठ वस्तुएँ गेरते हैं और दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं, किन्तु बुझ जाने के बाद उसी भस्म हुई अग्नि को बाहर फेंक देते हैं और लोग उसको पैरों तले रौंदते हुये चले जाते हैं। इसी भाँति जब तक सर्प के मुख में दंष्ट्राएँ रहती हैं, तब तक तो सब कोई उससे डरते हैं और प्रणाम भरते हैं, किन्तु वही सर्प जब मदारी द्वारा दंष्ट्रा रहित कर दिया जाता है, तो बड़े आदमी तो क्या छोटे-छोटे बच्चे भी आ आकर उसे छेड़ते हैं और उसकी पूंछ मारते हैं एवं उसके मुँह में अंगुली देते हैं। कितना बड़ा अपमान तिरस्कार है? पदभ्रष्टों की यही दुर्दशा होती है॥ १२॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, इस लोक के साथ परलोकसम्बन्धी फल के विषय में भी कहते हैं—

इहेवऽधम्मो अयसो अकित्ती , दुन्नामधिज्जं च पिहुज्जणंमि ।
चुअस्स धम्माउ अहम्मसेविणो , संभिन्नवित्तस्स य हिट्ठओ गइ ॥ १३ ॥

इहैव अधर्मोऽयशोऽकीर्तिः , दुर्नामधेयं च पृथग् जने ।
च्युतस्य धर्मादधर्मसेविनः , सभिन्नवृत्तस्य चावस्ताद् गति ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—जो व्यक्ति (धम्माउ) धर्म से (चुअस्स) पतित है (अहम्मसेविणो) अधर्म का सेवन करने वाला है (य) तथा (संभिन्नवित्तस्स) गृहीतव्रतों को खण्डित करने वाला है , वह (इहेव) इस लोक में (अधम्मो) अधर्मी कहलाता है (अयसो) अपयश और (अकित्ती) अकीर्ति पाता है (पिहुज्जणंमि) साधारण लोगों में (दुन्नामधिज्ज) बदनाम होजाता है , तथा अन्त में (हिट्ठओ गइ) परलोक का यात्री बनकर नीच गतियों में उत्पन्न होता है ॥ १३ ॥

मूलार्थ—धर्म भ्रष्ट, अधर्म सेवी एवं व्रत भग्न कर्ता मनुष्य इस लोक में तो अपयश–अकीर्ति का भागी होता है , अधार्मिक–म्लेच्छ कहलाता है एवं नीच मनुष्यों द्वारा घृणित नामों से पुकारा जाता है । तथा परलोक में नरक आदि नीच गतियों में चिरकाल तक असह्य दुःख भोगता है ॥ १३ ॥

भाष्य—इस काव्य में धर्म से पतित मनुष्य की इस लोक और परलोक में होने वाली दुर्दशा

तो भी भर्त्सना करते हैं, सो करते हैं ही, किन्तु व्यवहारहीन नीच पुरुष भी उसको घृणा की दृष्टि से देखते हैं। वे इसी तरह कहते हैं कि—क्यों साहब! कर आये गढ़ फतह! वे दिन याद हैं न, जब हमें दुराचारी कहा करते थे और स्वयं सदाचारी बना करते थे? अब तो तुमसे हमीं अच्छे हैं न, या चुल्लूभर पानी में डूब मरे! धिक्कार है! क्योंकि किसी कार्य क्षेत्र में नहीं आने की अपेक्षा, कायरता के कारण, आकर वापिस लौट जाना अधिक बुरा समझा जाता है।

सूत्रकारने प्रथम भ्रष्ट साधु के तिरस्कार की उपमा बुझी हुई यज्ञ की अग्नि और उखाड़ी हुई दाढ़ वाले सर्प से दी है। ये उपमाएँ प्रतिपादित विषय को बहुत ही स्फुट करने वाली हैं। यज्ञ की अग्नि जब तक जलती रहती है, तब तक तो लोग उस में घृत मधु आदि श्रेष्ठ वस्तुएँ गेरते हैं और उसको हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं, किन्तु बुझ जाने के बाद वही भस्म हुई अग्नि को बाहर फेंक देते हैं और लोग उसको पैरों तले रौंदते हुये चले जाते हैं। इसी भाँति जब तक सर्प के मुख में दंष्ट्राएँ रहती हैं, तब तक तो सब कोई उससे डरते हैं और मकम मांगते हैं, किन्तु वही सर्प जब मदारी द्वारा दंष्ट्रा रहित कर दिया जाता है, तो बड़े आदमी तो क्या छोटे-छोटे बच्चे भी आ आकर उसे छेड़ते हैं और उसकी पूंछ मारते हैं एवं उसके मुंह में अंगुली देते हैं। कितना लज्जा जनक तिरस्कार है? पतितों की यही दुर्दशा होती है॥ १२॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, इस लोक के साथ परलोकसम्बन्धी फल के विषय में भी कहते हैं—

तो जो भर्त्सना करते हैं, सो करते हैं ही, किन्तु आचारहीन नीच पुरुष भी उसको घृणा की दृष्टि से देखते हैं। वे इसी प्रकार कहते हैं कि—क्यों साहब ! कर आये गढ फतह ? वे दिन याद हैं न जब हमें दुराचारी कहा करते थे और स्वयं सदाचारी बना करते थे ? अब तो तुमसे हमीं अच्छे हैं न, जो बहुरूपिये नहीं बने ? आदि। क्योंकि किसी कार्य क्षेत्र में नहीं आने की अपेक्षा, कायरता के कारण, आकर वापिस लौट जाना अधिक बुरा समझा जाता है।

सूत्रकारने संयम भ्रष्ट साधु के तिरस्कार की उपमा बुझी हुई यज्ञ की अग्नि और उखाड़ी हुई दाढ वाले सर्प से दी है। ये उपमाएँ प्रतिपादित विषय को बहुत ही स्फुट करने वाली हैं। यज्ञ की अग्नि जब तक जलती रहती है, तब तक तो लोग उस में घृत मधु आदि श्रेष्ठ वस्तुएँ गेरते हैं और उसको हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं, किन्तु बुझ जाने के बाद उसी भस्म हुई अग्नि को बाहर फेंक देते हैं और लोग उसको पैरों तले रौंदते हुये चले जाते हैं। इसी भाँति जब तक सर्प के मुख में दाढ़ाएँ रहती हैं, तब तक तो सब कोई उससे डरते हैं और भयंकर मानते हैं, किन्तु वही सर्प जब मदारी द्वारा दंष्ट्रा रहित कर दिया जाता है, तो बड़े आदमी तो क्या छोटे-छोटे बच्चे भी आ आकर उसे छेड़ते हैं और उसकी पूँछ मरोड़ते हैं एवं उसके मुँह में अंगुली दे देते हैं। कितना बड़ा भयंकर तिरस्कार है ? पतितों की यही दुर्दशा होती है ॥ १२ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, इस लोक के साथ परलोकसम्बन्धी फल के विषय में भी कहते हैं—

गतिं च गच्छति अनभिध्यातां दुःखां बोधिश्चास्य न सुलभा पुनः पुनः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—संयम त्यागी साधु (पसज्झ चेअसा) दत्तचित्त से (भोगाइ) भोगों को (भुजित्तु) भोग कर एव (तहाविह) तथाविध (बहु) बहुत से (असजम) असयम कृत्य (कट्टु) करके काल धर्म को प्राप्त होता है तब (दुह) दुःख देने वाली (अणिहिज्जिअ) अनिष्ट (गइ) नरकादि गति को (गच्छइ) जाता है (अ) और (से) उसे (बोही) बोधितत्व (पुणो पुणो) बारबार (नो सुलहा) सुलभ नहीं होता ॥ १४ ॥

मूलार्थ—संयमभ्रष्ट व्यक्ति, बड़ी लगन से भोगों को भोगकर एव नानाविध असयम कार्यों को करके जब मरता है, तो अनिष्ट एव दुःखद नरकादि नीच गतियों में जाता है। फिर उसे सुख पूर्वक जिनधर्मप्राप्तिरूप बोधि कभी नहीं मिल सकती ॥१४॥

भाष्य—जिस मनुष्य ने सयम वृत्ति का परित्याग कर धर्म की अपेक्षा नहीं रखते हुये बड़ी लालसा के साथ विषय भोगों को भोगा है, तथा अयोग्य हिंसाकारी महान् अकृत्य किये हैं, वह असतोष भाव से कुत्ते की मौत मर कर उन नर्कादि गतियों में जाता है, जो स्वभावतः ही भयानक एवं असह्य दुःखप्रद हैं। तथा घोर से घोर दुःखों में पड़ा हुआ भी प्राणी वहाँ जाने की इच्छा नहीं कर सकता।

यदि नर्क के घोर दुःख भोगने के बाद दुःखों से पिंडा छूट जाय, तो भी गनीमत है, परन्तु उसका

का दिग् दर्शन कराया गया है। यथा—

जो साधु सांसारिक भोग विलासों के अवलम्ब से, धर्म से पतित होकर एवं गृहित व्रतों को खण्डित करके पुनः संसार में आजाता है और अधार्मिक कार्य करने लग जाता है उसकी इसलोक में शुभ पराक्रम न होने के कारण अपकीर्ति होती है। तथा वह प्राकृत श्रेणी के मनुष्यों द्वारा धर्मभ्रष्ट, कायर म्लेच्छ, पतित आदि नामों से भी चिढ़ाया जाता है। इतना ही नहीं, किन्तु बहुत से सज्जन तो उसे देखते तक नहीं। उसके दर्शन में भी पाप समझा जाता है।

यह तो रहा इस लोक का हाल। अब परलोक का हाल देखिये—संयम भ्रष्ट मनुष्य, जब दुःख पूर्वक अपना जीवन समाप्त कर परलोक में जाता है, तो वहाँ अच्छा स्थान नहीं मिलता। उसे स्थान मिलता है नरक और नीच तिर्यंच का, जहाँ पलक झपने तक का भी सुख नहीं मिलता। दिन रात की हाय-हाय, मरा-मरा की ही करुण पुकार में सारा जीवन व्यतीत होता है। सूत्रकार का 'अधर्मसेवी' शब्द बतला रहा है कि-स्त्री आदि के वास्ते निर्दयतापूर्वक षट्काय के संहार करने वाले अधर्मी जीवों को कदापि सद्गति नहीं मिल सकती ॥ १३ ॥

उत्थानिका—अब फिर विशेष कष्ट पाने के विषय में कहते हैं—

भुंजित्तु भोगाइ पसज्झ चेअसा, तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं।
गइं च गच्छे अणभिज्झिअं दुहं, बोही अ से नो सुलहा पुणो पुणो ॥१४॥

भुक्त्वा भोगान् प्रसह्य चेतसा, तथाविधं कृत्वा संयमं बहुम्।

बन चुका है, परन्तु जब वहाँ के पल्योपम एवं सागरोपम जैसे महान् दीर्घ आयुष को भोगकर क्षय कर दिया और वहाँ से निकल आया, तो फिर यह चारित्रविषयक मानसिक दुःख तो है ही क्या चीज ? यह तो अभी नष्ट हुआ जाता है ॥ १५ ॥

भाष्य—इस काव्य में इस बातका प्रकाश किया गया है कि—दुःखों को सहन करने के लिये किस प्रकार से सहनशक्ति उत्पन्न करनी चाहिये ? यथा—संयम पालते हुये किसी दुःख के उत्पन्न होजाने पर साधु को इस प्रकार की विचारणा करनी चाहिये कि—इस मेरे जीवने अनन्ती वार नरक गति में जाकर शारीरिक एवं मानसिक दुःखों को पल्योपम और सागरोपम आयु प्रमाण सहन किया है; इतनाही नहीं किन्तु अतीव क्लेशयुक्त होते हुये नानाविध दुःखों को भोगा है, तो फिर यह जो मुझे संयम में अरति के कारण दुःख हुआ है सो तो है ही क्या। क्योंकि जिस प्रकार वह दुःख भोग कर क्षय किया जा चुका है, इसी प्रकार यह भी क्षय होजायगा। अतः मुझे संयम के विषय में दृढता धारण करनी चाहिये-संयम का परित्याग नहीं करना चाहिये।

सूत्रकारने यह नरक के दुःखों का दृष्टान्त बड़े ही महत्त्व का एवं समय को लगता हुआ दिया है। इससे भ्रष्ट होता हुआ संयमी पुनः संयम में स्थिर हो जाता है। यह दृष्टान्त साहस एवं धैर्य की डिगती हुई भित्ति को अतीव सुदृढ बनाने वाला है ॥ १५ ॥

उत्थानिका—अब फिर दुःखों की अनित्यता के विषय में कहते हैं—

...फिर भी दुःखों से पिंडा नहीं छूटता। क्योंकि दुःखों से छुड़ाने वाली जिनधर्मप्राप्ति
...ति है सो ही उसे अशुभ कर्मोदय के कारण सुख पूर्वक मिल नहीं सकती। प्रवचन विराधना का
...ही कटु फल होता है, अतः संयमपरित्याग भूल कर भी नहीं करना चाहिये ॥ १४ ॥

उत्थानिका—अब फिर इसी नरक गति के विषय में कहते हैं—

इमस्स ता नेरइअस्स जंतुणो , दुहोवणीअस्स किलेसवत्तिणो ।
पलिओवमं झिज्झइ सागरोवमं , किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं ॥ १५ ॥

अस्य तावत् नारकस्य जन्तोः , दुःखोपनीतस्य क्लेशवृत्तेः ।
पल्योपमं क्षीयते सागरोपमं , किमंग पुनर्ममेदं मनोदुःखम् ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(नेरइअस्स) नरक में गये हुये (दुहोवणीअस्स) दुःख से युक्त हुये एवं (किलेस-वत्तिणो) एकान्त क्लेशवृत्ति बने हुये (इमस्स) मेरे इस (जंतुणो) जीव की जब नरक सम्बन्धी (पलिओवमं) पल्योपम तथा (सागरोवमं) सागरोपम आयु भी (झिज्झइ) समाप्त होजाती है (पुण) तो फिर (अंग) हे जीव (मज्झ) मेरा (इमं) यह (मणोदुहं) मानसिक दुःख तो क्या है, कुछ भी नहीं।१५।

मूलार्थ—संकट आपड़ने पर संयम से डिगने वाले साधु को यह विचार करना चाहिये कि-यह मेरा जीव कई बार पहले नरक में जा चुका है और वहाँ के असह्य दुःख भोगकर क्लेशवृत्ति वाला

वल चुका है; परन्तु जब वहाँ के पल्योपम एवं सागरोपम जैसे महान् दीर्घ आयुष को भोगकर क्षय कर दिया और वहाँ से निकल आया, तो फिर यह चारित्रविषयक मानसिक दुःख तो है ही क्या चीज ? यह तो अभी नष्ट हुआ जाता है ॥ १५ ॥

भाष्य—इस काव्य में इस बातका प्रकाश किया गया है कि—दुःखों को सहन करने के लिये किस प्रकार से सहनशक्ति उत्पन्न करनी चाहिये ? यथा—संयम पालते हुये किसी दुःख के उत्पन्न होजाने पर साधु को इस प्रकार की विचारणा करनी चाहिये कि—इस मेरे जीवने अनंती बार नरक गति में आकर शारीरिक एवं मानसिक दुःखों को पल्योपम और सागरोपम आयु प्रमाण सहन किया है, इतनाही नहीं किन्तु अतीव क्लेशयुक्त होते हुये नानाविध दुःखों को भोगा है, तो फिर यह जो मुझे संयम में अरति के कारण दुःख हुआ है, सो तो है ही क्या। क्योंकि जिस प्रकार वह दुःख भोग कर क्षय किया जा चुका है इसी प्रकार यह भी क्षय होजायगा। अतः मुझे संयम के विषय में दृढ़ता धारण करनी चाहिये-संयम का परित्याग नहीं करना चाहिये।

सूत्रकारने यह नरक के दुःखों का दृष्टान्त बड़े ही महत्त्व का एवं समय को लगाता हुआ दिया है। इससे भ्रष्ट होता हुआ संयमी पुनः संयम में स्थिर हो जाता है। यह दृष्टान्त साहस एवं धैर्य की गिरती हुई भित्ति को अतीव सुदृढ़ बनाने वाला है ॥ १५ ॥

उत्थानिका—अब फिर दुःखों की अनित्यता के विषय में कहते हैं—

न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सइ , असासया भोगपिवास जंतुणो ।
न चे सरीरेण इमेणऽविस्सइ , अविस्सई जीविअपज्जवेण मे ॥ १६ ॥

न मम चिरं दुःखमिदं भविष्यति , अशाश्वती भोगपिपासा जन्तोः ।
न चेच्छरीरेण अनेन अपयास्यति, अपयास्यति जीवित पर्यायेण मे ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(इमं) यह (मे) मेरा (दुक्खं) दुःख (चिरं) चिरकाल तक (न भविस्सइ) नहीं रहेगा , क्योंकि (जंतुणो) जीवकी (भोगपिवास) भोगपिपासा (असासया) अशाश्वती है (न) यदि विषयतृष्णा (इमेण) इस (सरीरेण) शरीर से (न अविस्सइ) न जायगी तो (मे) मेरे (जीविअपज्जवेण) जीवन के अन्त में तो (अविस्सई) अवश्य जायगी ही ॥ १६ ॥

मूलार्थ—साधु को अरति के समय ऐसा विचार करना चाहिये कि—यह मेरा अरतिजन्य दुःख अधिक दिनों तक नहीं ठहर सकेगा, क्योंकि जीव की विषयवासना अशाश्वती है। यदि यह शरीर के रहते हुये नहीं नष्ट होगी, तो आखिर मरने पर तो नष्ट होकर ही रहेगी ॥ १६ ॥

भाष्य—यदि कभी किसी [illegible] के कारण से संयम में अरति उत्पन्न होजाय तो साधु को ऐसी विचारणा करनी चाहिये कि—मुझे जो यह दुःख हुआ है, वो चिरकाल तक नहीं रहेगा—[illegible]
[illegible] नहीं । [illegible]

रह रह कर भोग पिपासा जागृत होती है जिसके कारण चित्त चलायमान होजाता है, सो नियमतः अशाश्वती है। इसका अधिक जोर यौवन अवस्था तक ही रहता है—इसके पीछे तो यह आपही ढीली पड़ जाती है। अत मैं क्यों इसके फंदे में आऊं। खैर यदि थोड़ी सी देर के लिये यह भी मान लिया जाय कि—, यह वृद्धावस्था तक—शरीर स्थिति तक—नहीं भी पिंड छोड़ेगी—तो फिर भी कोई बात नहीं। जब मृत्यु समय आयगा, तब तो यह हाथ मार कर अलग होवेगी ही। तब तो यह किसी भी हालत में नहीं रह सकेगी।

अब ऊपर की बात का तत्व यह है कि जब शरीर ही अनित्य है तो भोगवासना नित्य किस प्रकार होसकती है? दुःख और सुख किस प्रकार स्थिर रह सकते हैं? अत नश्वर भोगवासना एवं दुःख के कारण, अनतकल्याणकारी संयम का किसी भी प्रकार से त्याग नहीं करना चाहिये ॥ १६ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, धर्म पर प्राण न्यौछावर करने का उपदेश देते हैं—

जस्सेवमप्पा उ हविज्ज निच्छिओ, चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं।

तं तारिसं नो पइलंति इंदिआ, उविंतिवाया व सुदंसणं गिरिं ॥१७॥

यस्यैवमात्मा तु भवेत् निश्चितः, त्यजेत् देहं न तु धर्मशासनम्।

तं तादृशं न प्रचालयति इन्द्रियाणि, उत्पतद्वाता इव सुदर्शनं गिरिम् ॥१७॥

अन्वयार्थ—(जस्स) जिस की (अप्पा उ) आत्मा (एवं) पूर्वोक्त प्रकार से (निच्छिओ) दृढ

(इविज्ज) होती है, वह (देह) शरीर को (न) नहीं छोड़ता (व) जिस प्रकार (उप्पायवाया) महा-वायु (सुदसणगिरिं) मेरु पर्वत को चलित नहीं कर सकता, इसी प्रकार (इंदिया) इन्द्रियां भी (तारिसं) मेरु के समान दृढ़ (त) पूर्वोक्त साधु को (न पइलति) प्रचलित नहीं कर सकती ॥ १७॥

मूलार्थ—जिस मुनि की आत्मा दृढ़ होती है, वह अवसर पड़ने पर शरीर का तो सहर्ष परित्याग कर देता है, किन्तु धर्मशासन को नहीं छोड़ता। जिस प्रकार प्रलयकाल की महावायु पर्वतराज सुमेरु को नहीं डिगा सकती, उसी प्रकार चपल इन्द्रियाँ भी उक्त मुनि को विचलित नहीं कर सकती ॥ १७ ॥

भाष्य—जिस मुनि की आत्मा परम दृढ़ होती है, वह धर्म में विघ्नों के उपस्थित होजाने पर अपने शरीर को तो छोड़ देगा, किन्तु स्वीकृत धर्म को कदापि नहीं छोड़ेगा। अतः एवंविध दृढ़ आत्मा वाले मुनि को चंचल इन्द्रियाँ उसी प्रकार धर्म पथ से चलायमान नहीं कर सकती जिस प्रकार प्रलय काल की प्रचण्ड वायु मेरु पर्वत को कपायमान नहीं कर सकती।

अतएव सिद्ध हुआ कि—आत्मार्थी मुनि को योग्य है-वह आत्म-निश्चय कर लेने पर धर्म के विषय में दृढ़ता धारण करे, और विषयवासनाओं से अपनी आत्मा को पृथक् रक्खे। इसी में अपना कल्याण है, पर का कल्याण है, और सारे संसार का कल्याण है ॥ १७ ॥

उत्थानिका—अब, प्रस्तुत चूलिका का उपसंहार करते हैं—

इच्चेव सपरिसअ बुद्धिम नरो , आय उवाय विविह विआणिआ ।
काएण वाया अदु माणसेण , तिगुत्तिगुत्तो जिणवयणमाहिट्ठिज्जासि ॥ १८ ॥ त्तिबेमि

इत्येव सम्प्रेक्ष्य बुद्धिमान्नरः , आयमुपायं विविध विज्ञाय ।
कायेन वाचा ऽथवा मानसेन , त्रिगुप्तिगुप्तो जिनवचनमधितिष्ठेत् ॥ १७ ॥ इति ब्रवीमि ।

अन्वयार्थ—(बुद्धिम) बुद्धिमान् (नरो) मनुष्य (इच्चेव) इस प्रकार (सपस्सिए) विचार कर के (विविह) नाना विध (आय) ज्ञानादि के लाभ के (उवाय) विनयादि उपायों को (विआणिआ) जान कर (काएण) काय से (वाया) वचन से (अदु) अथवा (माणसेणं) मन से (तिगुत्तिगुत्तो) त्रिगुप्ति से गुप्त होता हुआ (जिणवयणं) जिन वचनों का (अहिट्ठिज्जासि) आश्रय करे —अर्थात् जिन वचनानानुकूल क्रिया करके स्वकार्य की सिद्धि करे ॥१८॥

(त्तिबेमि) इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—बुद्धिमान् पुरुष को पूर्वोक्त रीत्या विचार करके, ज्ञानादि लाभ के उपायों को जानना चाहिये एवं मन , वचन और काय के योग से त्रिगुप्ति गुप्त होकर, जिन वचनों का यथावत् पालन करना चाहिये । यही रीति कार्य सिद्ध करने की है ॥ १८ ॥

भाष्य—इस सूत्र में चूलिका का उपसंहार किया गया है। यथा—बुद्धिमान् पुरुष को योग्य है कि—जो विषय इस अध्ययन में वर्णन किया गया है, उसको भले प्रकार विचार कर तथा ज्ञानादि की प्राप्ति के विनयादि उपायों को जान कर, तीनों गुप्तियों को धारण करके जिन वचनों के विषय में दृढ़ता रक्खे—अर्थात् अरिहंतों के उपदेश द्वारा आत्म कल्याण करे। इसका अन्तिम फल निर्वाणप्राप्ति है।

सूत्र में जो 'इच्चेयं' शब्द दिया है, उसका यह भाव है कि—प्रथम सूत्र में जो अठारह स्थान बतलाए हैं, उनसे लेकर सम्पूर्ण अध्ययन का सम्यग् विचारों से विचार करना चाहिए। क्योंकि—अच्छी प्रकार विचारी हुई यह अष्टादशस्थानप्रतिपादिका चूलिका, संयम से विचलित होते हुये जीवों को, पुनः संयम में स्थिरीभूत करने वाली ॥ १८ ॥

इति प्रथमा चूलिका।

इति श्री दशवैकालिक सूत्र की प्रथम चूलिका की

आत्मज्ञान प्रकाशिका नामक हिन्दी भाषा टीका समाप्त हुई।

अह विवित्तचरिया बिजिआ चूला ।

अथ विविक्तचर्या द्वितिया चूलिका ।

उत्थानिका—प्रथम चूला द्वारा धर्म में स्थिर होना प्रतिपादन किया गया, अब इस द्वितीय चूला द्वारा साधु को अप्रतिबद्ध होकर विहार करने का उपदेश देते हैं। क्योंकि—जो धर्म में दृढ होता है, वही सूत्रोक्त क्रियाओं के करने में कटिबद्ध होता है। यही इन दोनों चूलिकाओं का आपस में सम्बन्ध है।

अब सूत्रकार, फलनिर्देशपूर्वक चूलिका की प्रशंसा करते हुये, प्रथम प्रतिज्ञा सूत्र कहते हैं—

चूलिअं तु पवक्खामि, सुअं केवलिभासिअं ।
जं सुणित्तु सुपुण्णाणं, धम्मे उप्पज्जए मई ॥ १ ॥

चूलिकां तु प्रवक्ष्यामि, श्रुतां केवलिभाषिताम् ।
यां श्रुत्वा सुपुण्यानां, धर्मे उत्पद्यते मतिः ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(केवलिभासिअं) केवलभाषित (सुअं) श्रुतरूप (चूलिअं) चूलिका को (पवक्खामि) कहूँगा (जं) जिस को (सुणित्तु) सुन करके (सुपुण्णाण) अच्छे पुण्यवान् जीवों को (धम्मे) चारित्र धर्म में (मई) श्रद्धा (उप्पज्जए) उत्पन्न होती है ॥ १ ॥

मूलार्थ—जो भगवद्भाषित है, जो श्रुतस्वरूप है, और जिस के श्रवण से पुण्यात्मा जीवों को धर्म में दृढ श्रद्धा होती है, ऐसी द्वितीय चूलिका को कहता हूँ ॥ १ ॥

भाष्य—चूलिका के रचयिता मुनि कहते हैं कि—मैं जो यह चूलिका कहता हूँ, सो कुछ मनःकल्पित एवं फलशून्य नहीं है। यह तो वह चूलिका है, जो केवली भगवन्तों द्वारा प्रतिपादन की गई है, जिस को श्रुतज्ञान में स्थान मिला हुआ है, और जिसको सुन कर पुण्यानुबन्धी पुण्य वाले श्रेष्ठ जीवों को चारित्रधर्म में अतीव दृढ सुमति एवं श्रद्धा उत्पन्न होती है। 'धम्मे उप्पज्जए मई' पद के कहने का यह भाव है कि—जिस की चारित्र धर्म में संलग्नता होजाती है, उसकी सब मनःकामनाएं पूर्ण होजाती हैं। क्योंकि धर्म यह अचिन्त्य चिन्तामणि रत्न है सकलचिन्तापूरक है।

यह प्रथम सूत्र प्रतिज्ञा सूत्र है, क्योंकि इस में केवल माहात्म्यवर्णन के साथ 'मैं चूलिका कहता हूँ' यही कथन किया गया है। विषय का वर्णन आगे के सूत्रों में किया जाने वाला है ॥ १ ॥

उत्थानिका—अब, विषयभोगों से पराङ्मुख रहने का उपदेश देते हैं—

अणुसोअपट्ठिअबहुजणम्मि, पडिसोअलद्धलक्खेणं।

पड़िसोअमेव अप्पा , दायव्वो होउ कामेण ॥ २ ॥

अनुस्रोतः प्रस्थिते बहुजने , प्रतिस्रोतो लब्धलक्ष्येण ।

प्रतिस्रोत इव आत्मा , दातव्यो भवतु कामेन ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—जिस प्रकार नदी में गिरा हुआ काष्ठ, प्रवाह के वेग से समुद्र की ओर जाता है , उसी प्रकार (बहुजणंमि) बहुत से मनुष्य (अणुसोअपट्ठिअ) विषयप्रवाह के वेग से ससाररूप समुद्र की ओर बहते हैं , किन्तु (पडिसोअलद्धलक्खेण) विषयप्रवाह से पृथक् रहे हुये सयम की तरफ लक्ष्य रखने वाले (होउकामेण) मुक्ति जाने की इच्छा करने वाले पुरुषों को तो (अप्पा) अपनी आत्मा (पडिसोअमेव) विषयप्रवाह से पराङ्मुख ही (दायव्वो) करनी चाहिये ॥ २ ॥

मूलार्थ—नदी के जलप्रवाह में पड़े हुये काष्ठ की तरह बहुत से प्राणी, विषय रूपी नदी के प्रवाह में पड़े हुये ससारसमुद्र की ओर बहे जाते हैं , किन्तु जिनका लक्ष्य विषय प्रवाह से बहिर्भूत (द्वीपसम) सयम की ओर लग गया है, और जो ससार से मुक्त होने की इच्छा रखते हैं, उनका कर्तव्य है कि वे अपनी आत्मा को सदा विषय प्रवाहों से पराङ्मुख ही रक्खें ॥२॥

भाष्य—इस गाथा में शिक्षा का वर्णन किया गया है। यथा—जब काठ नदी के प्रवाह में गिर जाता है, तब वह नदी के वेग से समुद्र की ओर बहने लगता है, ठीक इसी भाँति विषय रूपी नदी के प्रवाह में जो जीव पड़े हुये हैं वे भी संसार समुद्र की ओर ही बहे जाते हैं किन्तु जो आत्माएं संसार सागर से पराङ्मुख होकर मुक्ति जाने की इच्छा रखने वाली हैं उनको योग्य है कि वे अपनी आत्मा को विषय रूपी प्रवाह से हटा कर संयम रूपी द्वीप में स्थापन करें।

कारण कि—अनुस्रोत=संसार के विषय विकारों का नाम है और प्रतिस्रोत=' विषय विकारों से निवृत्ति का नाम है। सो 'द्रव्य अनुस्रोत' नदी का प्रवाह है और 'भाव अनुस्रोत' विषय विकार है। अनुस्रोत गामी जीव अन्त में नरक आदि के दुःखों के भागी होते हैं और प्रतिस्रोत गामी जीव निर्वाण प्राप्त कर अनंत सुखों के भागी होते हैं। अतएव निर्वाणसुखाभिलाषी भव्य पुरुषों को सदा प्रतिस्रोत की ओर ही गमन करना चाहिये ॥ २ ॥

उत्थानिका—अब फिर यही विषय स्पष्ट किया जाता है—

अणुसोअ सुहो लोओ, पडिसोओ आसवो सुविहिआण।
अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥ ३ ॥

अनुस्रोतः सुखो लोकः, प्रतिस्रोत आस्रवः सुविहितानाम्।
अनुस्रोतः संसारः, प्रतिस्रोतस्तस्मादुत्तारः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(ससारो) ससार (अणुसोओ) अनुस्रोत है, और (तस्स) उससे (उत्तारो) पार होना (पडिसोओ) प्रतिस्रोत है। अतः (सुविहिआण) साधु पुरुषों का (आसवो) इन्द्रियजय रूप व्यापार तथा (आसमो) दीक्षा रूप आश्रम (पडिसोओ) प्रतिस्रोत है, सो इस में ससारी जीवों का जाना कठिन है, क्योंकि (लोओ) ससारी जीव तो (अणुसोअसुहो) अनुस्रोत में ही सुख मानते हैं ॥ ३ ॥

मूलार्थ—यह ससार अनुस्रोत के समान है और सुविहित साधुओं का दीक्षारूप आश्रम प्रतिस्रोत के समान है, क्योंकि—इसी से ससारसमुद्र पार किया जाता है। अस्तु, ससारी जीवों को प्रतिस्रोत का मार्ग कठिन प्रतीत होता है, वे तो अनुस्रोत में ही सुख मानते हैं ॥ ३ ॥

भाष्य—इस गाथा में पूर्व विषय को स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है। यथा—जिस प्रकार काष्ठ नदी के अनुस्रोत में तो सुख पूर्वक चला जाता है; किन्तु प्रतिस्रोत में कठिनता से जाता है, उसी प्रकार संसारी जीव भी स्वभावतः अनुस्रोत रूप विषय भोगों की ओर ही ढलते हैं; किन्तु प्रतिस्रोत के समान साधुओं का दीक्षा रूप जो आश्रम है उसमें प्रत्येक जीव सुख पूर्वक गमन नहीं कर सकते। वीर से वीर कहलाने वाले मनुष्य भी संयम के प्रति अपनी असमर्थताही प्रगट करते हैं।

अनुस्रोत से संसार और प्रतिस्रोत से सयम के कहने का यह भाव है कि—यदि शब्दादि विषय भोगों में ही लगे रहोगे, तो ससार सागर में डूबोगे। यदि इसके विपरीत विषय भोगों का

भाष्य—इस गाथा में शिक्षा का वर्णन किया गया है। यथा—जब काठ नदी के प्रवाह में गिर जाता है तब वह नदी के वेग से समुद्र की ओर बहने लगता है, ठीक इसी भाँति विषय रूपी नदी के प्रवाह में जो जीव पड़े हुये हैं वे भी संसार समुद्र की ओर ही बहे जाते हैं किन्तु जो आत्माएं संसार सागर से पराङ्मुख होकर मुक्ति जाने की इच्छा रखने वाली हैं उनको योग्य है कि वे अपनी आत्मा को विषय रूपी प्रवाह से हटा कर संयम रूपी द्वीप में स्थापन करें।

कारण कि—अनुस्रोत = संसार के विषय विकारों का नाम है और 'प्रतिस्रोत—' विषय विकारों से निवृत्ति का नाम है। सो 'द्रव्य अनुस्रोत' नदी का प्रवाह है और 'भाव अनुस्रोत' विषय विकार है। अनुस्रोत गामी जीव अन्त में नरक आदि के दुःखों के भागी होते हैं और प्रतिस्रोत गामी जीव निर्वाण प्राप्त कर अनन्त सुखों के भागी होते हैं। अतएव निर्वाणसुखाभिलाषी भव्य पुरुषों को सदा प्रतिस्रोत की ओर ही गमन करना चाहिये ॥ २ ॥

उत्थानिका—अब फिर यही विषय स्पष्ट किया जाता है—

अणुसोअ सुहो लोओ, पडिसोओ आसवो सुविहिआण।
अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥ ३ ॥

अनुस्रोतः सुखो लोकः, प्रतिस्रोत आश्रवः सुविहितानाम्।
अनुस्रोतः संसारः, प्रतिस्रोतस्तस्मादुत्तारः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(ससारो) ससार (अणुसोओ) अनुस्रोत है, और (तस्स) उससे (उत्तारो) पार होना (पडिसोओ) प्रतिस्रोत है। अतः (सुविहिआण) साधु पुरुषों का (आसवो) इन्द्रियजय रूप व्यापार तथा (आसमो) दीक्षा रूप आश्रम (पडिसोओ) प्रतिस्रोत है, सो इस में ससारी जीवों का जाना कठिन है, क्योंकि (लोओ) ससारी जीव तो (अणुसोअसुहो) अनुस्रोत में ही सुख मानते हैं ॥ ३ ॥

मूलार्थ—यह ससार अनुस्रोत के समान है और सुविहित साधुओं का दीक्षारूप आश्रम प्रतिस्रोत के समान है, क्योंकि—इसी से ससारसमुद्र पार किया जाता है। अस्तु, संसारी जीवों को प्रतिस्रोत का मार्ग कठिन प्रतीत होता है, वे तो अनुस्रोत में ही सुख मानते हैं ॥ ३ ॥

भाष्य—इस गाथा में पूर्व विषय को स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है। यथा—जिस प्रकार काष्ठ नदी के अनुस्रोत में तो सुख पूर्वक चला जाता है, किन्तु प्रतिस्रोत में कठिनता से जाता है, उसी प्रकार संसारी जीव भी स्वभावतः अनुस्रोत रूप विषय भोगों की ओर ही ढलते हैं, किन्तु प्रतिस्रोत के समान साधुओं का दीक्षा रूप जो आश्रम है उसमें प्रत्येक जीव सुख पूर्वक गमन नहीं कर सकते। वीर से वीर कहलाने वाले मनुष्य भी सयम के प्रति अपनी असमर्थता ही प्रगट करते हैं।

अनुस्रोत से ससार और प्रतिस्रोत से संयम के कहने का यह भाव है कि—यदि शब्दादि विषय भोगों में ही लगे रहोगे, तो ससार सागर में डूबोगे। यदि इसके विपरीत विषय भोगों का

परित्याग कर संयम धारण करोगे तो निर्वाण पद प्राप्त करोगे।

सूत्र में 'आसवो'-और- आसमो यह दोनों शब्द मिलते हैं। दोनों का संस्कृत रूप क्रमशः 'आस्रवा'-और-'आश्रम' होता है। भावार्थ दोनों का एकसा ही है॥ ३॥

उत्थानिका—अब, नियमों को यथा समय पालन का उपदेश देते हैं—

तम्हा आयारपरक्कमेण , संवरसमाहिबहुलेण ।

चरिआ गुणा अ नियमा अ , हुंति साहूण दट्ठव्वा ॥ ४ ॥

तस्मादाचारपराक्रमेण , संवरसमाधिबहुलेन ।

चर्या गुणाश्च नियमाश्च , भवन्ति साधूनां द्रष्टव्याः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(तम्हा) इसलिये (आयारपरक्कमेणं) आचारपालन में पराक्रमी होने से (संवरसमाहिबहुलेण) संवर समाधि में बहुलता युक्त होने से (साहूण) साधुओं को (चरिआ) अपनी चर्या (गुणा) मूलगुण वा उत्तर गुण (अ) तथा (नियमा) पिंडविशुद्धि आदि नियम, जिस समय जो आचरण करने योग्य हों, उसी समय वही (दट्ठव्वा) आसेवन करने योग्य (हुंति) होते हैं॥ ४ ॥

मूलार्थ—अतएव जो मुनि आचार क्रिया में पराक्रमी हैं एवं संवर समाधि की विशेषता

वाले हैं, उन्हें अपने विहार, मूलोत्तर गुण और नियम आदि–जिस समय जो आवश्यक हों उस समय वेही कर्तव्य है ॥ ४ ॥

भाष्य—जो साधु ज्ञानादि आचारों में पराक्रम करता है तथा इन्द्रियजय रूप संयम का धनी है—अर्थात् चित्त की अनाकुलता रूप समाधि से संपन्न है उसको योग्य है कि—वह भिक्षु-भावसाधिका अनियतवासादिस्वरूपा चर्या का, तथा मूलोत्तर रूप गुणों का, तथा पिण्डविशुद्धि आदि नियमों का, शास्त्रनिर्दिष्ट समय के अनुसार ही आचरण करना चाहिए। भाव यह है कि—शास्त्रों में जिस जिस समय जो जो क्रियाएं करने आवश्यक बतलाई हों, उस उस समय उन उन क्रियाओं का ही साधु को आचरण करना चाहिए विपरीत नहीं।

कारण कि—सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान द्वारा जो चारित्र की आराधना की जाती है वही सम्यग् रूप होने से आत्म कल्याण करने वाली होती है। बिना देश काल का सम्यग् ज्ञान किए, कहीं चारित्र सुखकर हुआ है? कभी नहीं ॥ ४ ॥

उत्थानिका—अब चर्या के विषय में कहते हैं–

अनिएअवासो समुआण चरिआ, अन्नायउञ्छ पइरिक्कया अ।

अप्पोवही कलहविवज्जणा अ, विहारचरिआ इसिण पसत्था ॥ ५ ॥

अनियतवास समुदानचर्या, अज्ञातोञ्छ प्रतिरिक्तता च।

अल्पोपधि. कलहविवर्जना च, विहारचर्या ऋषीणां प्रशस्ता ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(अनिएअवासो) एकही स्थान पर सदा नहीं रहना (समुआणचरिआ) अनेक घरों से भिक्षाचरी द्वारा भिक्षा ग्रहण करना (अ) तथा (अन्नायउञ्छं) अज्ञात कुलों से स्तोक स्तोक मात्र धर्मोपकरण लेना (पइरिक्कया) एकान्त स्थान में निवास करना (अप्पोवही) अल्प उपधि रखना (अ) एव (कलहविवज्जणा) कलह का परित्याग करना , यह (इसीण) ऋषियों की (विहारचरिआ) विहार चर्या है , जो (पसत्था) अतीव प्रशस्त है ॥ ५ ॥

मूलार्थ—प्रायः सदा एक ही स्थानपर नहीं रहना, समुदानी भिक्षा करना, अज्ञात कुल से थोडा-थोडा करके आवश्यक धर्मोपकरण लेना, एकान्त स्थान में निवास करना, अल्प उपधि रखना, और कलह का त्यागना—ऐसी विहारचर्या ऋषियों के लिये प्रशस्त है ॥ ५ ॥

भाष्य—इस काव्य में साधु की विहार चर्या के विषय में वर्णन किया गया है। यथा—साधु को बिना किसी रोगादि के एकही स्थानपर स्थिरवास नहीं करना चाहिये, क्योंकि—एक जगह अधिक रहने से ममत्व भाव का उदय होता है। तथा अनेक घरों से भिक्षाचरी द्वारा भिक्षा ग्रहण करनी चाहिये, क्योंकि एक घर के आहार में आरंभ समारम्भ का दोष लगता है। तथा अज्ञात कुलों से स्तोक स्तोक मात्र ही विशुद्ध धर्म सम्बन्धी उपकरण लेने चाहियें, क्योंकि ज्ञातकुल से लेने में क्रीतकृत आदि दोषों की संभावना रहती है। तथा प्रायः भीड रहित एकान्त स्थान में ही रहना

चाहिये; क्योंकि विना एकान्त स्थान के कोलाहल के कारण से चित्त में स्थिरता नहीं आती। तथा उपधि = धर्मोपकरण अल्प ही रखने चाहियें; क्योंकि अधिक रखने से परिग्रह की वृद्धि होकर ममत्व भाव बढ़ेगा। तथा किसी के साथ कलह भी नहीं करना चाहिये; क्योंकि कलह से आत्मा की शान्ति भंग होती है और जनता में धर्म के प्रति घृणा के भाव उत्पन्न होते हैं।

उपर्युक्त अनियतवासरूप विहार चर्या मुनियों के लिये भगवतोंने प्रतिपादित की है; जो अतीव सुन्दर है। विहार चर्या का मन्तव्य मर्यादावर्ती होना है, सो इसमें पूर्ण रूप से है॥ ६ ॥

उत्थानिका— अब फिर इसी विषय पर कहा जाता है—

आइन्नओमाणविवज्जणा अ, ओसन्नदिट्ठाहडभत्तपाणे।

संसट्ठकप्पेण चरिज्ज भिक्खू, तज्जायसंसट्ठ जई जइज्जा॥ ६ ॥

आकीर्णावमानविवर्जना च, उत्सन्नदृष्टाहृत भक्तपानम्।

संसृष्टकल्पेन चरेद् भिक्षुः, तज्जातसंसृष्ट यतिर्यतेत॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(भिक्खू) भिक्षण शील (जइ) साधु को (आइन्नओमाणविवज्जणा) राजकुल संखडी एवं स्वपक्ष और परपक्ष से उत्पन्न अपमान, इन दोनों को वर्जना चाहिये (ओसन्नदिट्ठाहड भत्तपाणे) प्रायः उपयोगपूर्वक ही प्रशस्त आहार पानी ग्रहण करना चाहिये (संसट्ठकप्पेण)

अल्पोपधिः कलहविवर्ज्जना च, विहारचर्या ऋषीणां प्रशस्ता ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(अनिएअवासो) एकही स्थान पर सदा नहीं रहना (समुआणचरिआ) अनेक घरों से भिक्षाचरी द्वारा भिक्षा ग्रहण करना (अ) तथा (अन्नायउंछ) अज्ञात कुलों से स्तोक स्तोक मात्र धर्मोपकरण लेना (पइरिक्कया) एकान्त स्थान में निवास करना (अप्पोवही) अल्प उपधि रखना (अ) एव (कलहविवज्जणा) कलह का परित्याग करना, यह (इसीण) ऋषियों की (विहारचरिआ) विहार चर्या है, जो (पसत्था) अतीव प्रशस्त है ॥ ५ ॥

मूलार्थ—प्रायः सदा एक ही स्थानपर नहीं रहना, समुदानी भिक्षा करना, अज्ञात कुल से थोड़ा-थोड़ा करके आवश्यक धर्मोपकरण लेना, एकान्त स्थान में निवास करना, अल्प उपधि रखना, और कलह का त्यागना—ऐसी विहारचर्या ऋषियों के लिये प्रशस्त है ॥ ५ ॥

भाष्य—इस काव्य में साधु की विहार चर्या के विषय में वर्णन किया गया है। यथा—साधु को बिना किसी रोगादि के एकही स्थानपर स्थिरवास नहीं करना चाहिये, क्योंकि—एक जगह अधिक रहने से ममत्व भाव का उदय होता है। तथा अनेक घरों से भिक्षाचरी द्वारा भिक्षा ग्रहण करनी चाहिये; क्योंकि एक घर के आहार में आरंभ समारंभ का दोष लगता है। तथा अज्ञात कुलों से स्तोक स्तोक मात्र ही विशुद्ध धर्म सम्बन्धी उपकरण लेने चाहियें, क्योंकि ज्ञातकुल से लेने में औदेशिक आदि दोषों की संभावना रहती है। तथा साधु स्त्री पशु पंडक वर्जित एकान्त स्थान में ही ठहरना

हो, तो उसे ही लेलेना चाहिये। अन्यथा संसर्जन दोष की उत्पत्ति होती है।

यह उपर्युक्त वृत्ति मुनियों के लिये प्रशस्त रूप से प्रतिपादन की गई है। अतः इसको पालन करने के लिए यतियों को पूर्ण यत्न करना चाहिये। इस वृत्ति के पालन में पुरुषार्थ करने से आत्मा का वास्तविक कल्याण होता है ॥ ६ ॥

उत्थानिका—अब, अध्यात्मिक उपदेश देते हैं—

अमज्जमसासि, अमच्छरीआ, अभिक्खण निव्विगइगया य।
अभिक्खण काउसग्गकारी, सज्झायजोगे पयओ हविज्जा ॥ ७ ॥

अमद्यमांसाशी अमत्सरी च, अभीक्ष्णं निर्विकृतिं गतश्च।
अभीक्ष्णं कायोत्सर्गकारी, स्वाध्याययोगे प्रयतो भवेत् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(अमज्जमसासि) मद्य और मांस का परित्यागी (अमच्छरी) द्वेष से रहित (य) तथा (अभिक्खण) वार बार (निव्विगइ) निर्विकृति को (गया) प्राप्त करने वाला अर्थात् विगइयों का त्याग करने वाला (अ) तथा (अभिक्खणं काउसग्गकारी) वार वार कायोत्सर्ग करने वाला साधु (सज्झायजोगे) स्वाध्याय योग में (पयओ) प्रयत्नवान् (हविज्ज) होवे ॥ ७ ॥

मूलार्थ—यदि सच्चा साधु बनना है तो मद्य मांस से घृणा करो, किसी से ईर्षा मत करो,

संसृष्ट हस्तादि द्वारा ही आहार लेते हुये (चरिज्ज) विचरना चाहिये, तथा (तज्जायससठ्ठ) यदि उसी पदार्थ से हस्तादि संसृष्ट हों तो उसी के ग्रहण करने में (जइज्ज) यत्न करना चाहिये ॥ ६॥

मूलार्थ—वस्तुतः कर्मों को क्षय करने वाला यत्नशील साधु वही होता है, जो जनाकीर्ण राज सवारी का और अपमान का परित्याग करता है, जो उपयोग पूर्वक ही शुद्ध भिक्षा ग्रहण करता है, जो खरड़े हुये हस्त आदि से ही आहार-वस्तु लेता है, एवं यदि दीयमान पदार्थ से संसृष्ट हों तो उन्हीं को लेने का यत्न करता है ॥ ६ ॥

भाष्य—इस सूत्रमें साधुचर्या के विषय में ही वर्णन किया गया है। यथा—जिस राजकुलादि में प्रीति भोज हो रहा हो और जो अनेक मनुष्यों के यातायात से खचाखच भरा हुआ हो, ऐसे स्थान में साधु को भिक्षार्थ नहीं जाना चाहिये। क्योंकि वहाँपर स्त्री आदि का संघट्टा होता है तथा भीड़ के कारण किसी के धक्के से गिरने पर चोट लगजाने की भी संभावना है। तथा स्वपक्ष और परपक्ष की ओर से यदि अपना अपमान हो रहा हो, तो उसे शान्ति से सहना चाहिये। क्योंकि यही मार्ग बढ़ती हुई अशान्ति के स्थान में शान्ति का करने वाला है। तथा उपयोग पूर्वक ही शुद्ध आहार ग्रहण करना चाहिये, अन्यथा बहुत अधिक आधाकर्म आदि दोषों के लग जाने की आशंका है। तथा किन्हीं योग्य पदार्थों से हस्त या कड़छी आदि संसृष्ट हों-खरड़े हुये हों, तो उन्हीं से आहार लेना चाहिये, अन्यथा पुरः कर्म दोष की संभावना है। तथा जिस पदार्थ के लेने की इच्छा हो, यदि उसीसे हस्तादि संसृष्ट

हों, तो उसे ही लेलना चाहिये; अन्यथा ससर्जन दोष की उत्पत्ति होती है।

यह उपर्युक्त वृत्ति मुनियों के लिये प्रशस्त रूप से प्रतिपादन की गई है। अतः इसको पालन करने के लिये यतिवरों को पूर्ण यत्न करना चाहिये। इस वृत्ति के पालन में पुरुषार्थ करने से आत्मा का वास्तविक कल्याण होता है ॥ ६ ॥

उत्थानिका—अब, अध्यात्मिक उपदेश देते हैं—

अमज्जमसासि, अमच्छरीआ, अभिक्खण निव्विगइगया य।
अभिक्खण काउसग्गकारी, सज्झायजोगे पयओ हविज्जा ॥ ७ ॥

अमद्यमांसाशी अमत्सरी च, अभीक्ष्णं निर्विकृतिं गतश्च।
अभीक्ष्णं कायोत्सर्गकारी, स्वाध्याययोगे प्रयतो भवेत् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(अमज्जमसासि) मद्य और मांस का परित्यागी (अमच्छरी) द्वेष से रहित (च) तथा (अभिक्खण) वार वार (निव्विगई) निर्विकृति को (गया) प्राप्त करने वाला अर्थात् विगइयों का त्याग करने वाला (अ) तथा (अभिक्खण काउसग्गकारी) बार बार कायोत्सर्ग करने वाला साधु (सज्झायजोगे) स्वाध्याय योग में (पयओ) प्रयत्नवान् (हविज्ज) होवे ॥ ७ ॥

मूलार्थ—यदि सच्चा साधु बनना है तो मद्य मांस से घृणा करो, किसी से ईर्षा मत करो,

बारबार पौष्टिक भोजन का परित्याग और कायोत्सर्ग करते रहो, तथा स्वाध्याय योग में प्रयत्नवान् बनो ॥ ७ ॥

भाष्य—साधु को मद्य और मांस का कदापि सेवन नहीं करना चाहिये, क्यों कि—ये दोनों अभक्ष्य पदार्थ हैं—बुद्धि को भ्रष्ट करने वाले हैं। तथा किसी से ईर्षा भी नहीं करनी चाहिये; क्योंकि ईर्षा से विश्वबन्धुत्व की भावना नष्ट होती है और आत्मा में अयोग्य संकीर्णता आती है। तथा बारंबार घृतादि पौष्टिक पदार्थों का भी सेवन नहीं करना चाहिये; क्योंकि—पौष्टिक पदार्थों का प्रतिदिन सेवन करने से मादकता की वृद्धि होती है। तथा प्रतिदिन पुन पुन कायोत्सर्ग-ध्यान करना चाहिये; क्योंकि ध्यान से आत्म-शुद्धि होती है। तथा वाचनादि स्वाध्याय योग में प्रयत्न शील होना चाहिये; क्योंकि स्वाध्याय से ज्ञान की वृद्धि होती है एवं चित्त में स्थिरता आती है। उपलक्षण से साधु की अन्य वृत्तियों का भी इसी प्रकार ग्रहण कर लेना चाहिये।

उपर्युक्त क्रियाओं के करने से साधु की विहार चर्या ठीक होती है एवं पराधीनता के स्थान में स्वतंत्रता की भावना जागृत होती है। शुभ क्रियाओं का अन्तिम फल निर्वाण होता है। यही मुनि का चरम लक्ष्य है ॥ ७ ॥

उत्थानिका—अब, शयनासन आदि की ममता नहीं करने का उपदेश देते हैं—

ण पडिन्नविज्जा सयणासणाइं, सिज्जं निसिज्जं तह भत्तपाणं।

गामे कुले वा नगरे व देसे , ममत्त भाव न कहिंपि कुज्जा ॥ ८ ॥

न प्रतिज्ञापयेत् शयनासने, शय्यां निषद्यां तथा भक्त पानम् ।

ग्रामे कुले वा नगरे वा देशे , ममत्वभाव न क्वचिदपि कुर्यात् ॥ ८ ।

अन्वयार्थ—मास कल्पादि की समाप्ति पर जब विहार करने का समय आवे, तब साधु (सयणासणाइ) सन्तारक और आसन (सिज्ज) वसति (निसिज्जं) स्वाध्याय भूमि (तह) तथा (भत्तपाण) अन्न पानी को लेकर (ण पडिण्णविज्जा) श्रावक को यह प्रतिज्ञा न करावे कि—"जब मैं लौट कर आऊँगा , तब उक्त पदार्थों को ग्रहण करूँगा , अतः ये पदार्थ मुझे ही देना, और किसी को नहीं ।" अतएव साधु (गामे) ग्राम में (नगरे) नगर में (व) तथा (देसे) देश में (वा) तथा (कुले) कुल में (कहिंवि) किसी स्थान पर भी (ममत्तभावं) ममत्व भाव (न कुज्जा) न करे ॥ ८ ॥

मूलार्थ—शयन, आसन, शय्या, स्वाध्यायभूमि एवं अन्न-पानी के विषय में साधु को श्रावक से यह प्रतिज्ञा नहीं करानी चाहिये कि—जब मैं वापस लौट कर आऊँ, तब ये पदार्थ मुझे ही देने, और किसी को नहीं । क्योंकि साधु को ग्राम, नगर, कुल और देश आदि किसी भी वस्तु पर ममत्व-

बारंबार पौष्टिक भोजन का परित्याग और कायोत्सर्ग करते रहो, तथा स्वाध्याय योग में प्रयत्नवान् बनो ॥ ७ ॥

भाष्य—साधु को मद्य और मांस का कदापि सेवन नहीं करना चाहिये, क्यों कि—ये दोनों अभक्ष्य पदार्थ हैं—बुद्धि को भ्रष्ट करने वाले हैं। तथा किसी से ईर्षा भी नहीं करनी चाहिये; क्योंकि ईर्षा से विश्वबन्धुत्व की भावना नष्ट होती है और आत्मा में अयोग्य संकीर्णता आती है। तथा बारंबार घृतादि पौष्टिक पदार्थों का भी सेवन नहीं करना चाहिये। क्योंकि—पौष्टिक पदार्थों का प्रतिदिन सेवन करने से मादकता की वृद्धि होती है। तथा प्रतिदिन पुनः पुनः कायोत्सर्ग-ध्यान करना चाहिये। क्योंकि ध्यान से आत्म-शुद्धि होती है। तथा वाचनादि स्वाध्याय योग में प्रयत्न शील होना चाहिये। क्योंकि स्वाध्याय से ज्ञान की वृद्धि होती है एवं चित्त में स्थिरता आती है। उपलक्षण से साधु की अन्य वृत्तियों का भी इसी प्रकार ग्रहण कर लेना चाहिये।

उपर्युक्त क्रियाओं के करने से साधु की विहार चर्या ठीक होती है एवं पराधीनता के स्थान में स्वतन्त्रता की भावना जागृत होती है। शुभ क्रियाओं का अन्तिम फल निर्वाण होता है। यही मुनि का परम लक्ष्य है ॥ ७ ॥

उत्थानिका—अब, शयनासन आदि की ममता नहीं करने का उपदेश देते हैं—

ण पडिन्नविज्जा सयणासणाइं, सिज्जं निसिज्जं तह भत्तपाणं।

गामे कुले वा नगरे व देसे , ममत्त भाव न कहिंपि कुज्जा ॥ ८ ॥

न प्रतिज्ञापयेत् शयनासने, शय्यां निषद्यां तथा भक्त पानम् ।

ग्रामे कुले वा नगरे वा देशे , ममत्वभाव न क्वचिदपि कुर्यात् ॥ ८ ।

अन्वयार्थ—मास कल्पादि की समाप्ति पर जब विहार करने का समय आवे, तब साधु (सयणासणाइं) सन्तारक और आसन (सिज्जं) वसति (निसिज्जं) स्वाध्याय भूमि (तह) तथा (भत्तपाण) अन्न पानी को लेकर (न पडिन्नविज्जा) श्रावक को यह प्रतिज्ञा न कराये कि—" जब मैं लौट कर आऊँगा , तब उक्त पदार्थों को ग्रहण करूँगा , अतः ये पदार्थ मुझे ही देना, और किसी को नहीं ।" अतएव साधु (गामे) ग्राम में (नगरे) नगर में (व) तथा (देसे) देश में (वा) तथा (कुले) कुल में (कहिंवि) किसी स्थान पर भी (ममत्तभावं) ममत्व भाव (न कुज्जा) न करे ॥ ८ ॥

मूलार्थ—शयन, आसन, शय्या, स्वाध्यायभूमि एवं अन्न-पानी के विषय में साधु को श्रावक से यह प्रतिज्ञा नहीं करानी चाहिये कि—जब मैं वापस लौट कर आऊँ, तब ये पदार्थ मुझे ही देने, और किसी को नहीं । क्योंकि साधु को ग्राम, नगर, कुल और देश आदि किसी भी वस्तु पर ममत्व

बारंबार पौष्टिक भोजन का परित्याग और कायोत्सर्ग करते रहो, तथा स्वाध्याय योग में प्रयत्नवान् बनो ॥ ७ ॥

भाष्य—साधु को मद्य और मांस का कदापि सेवन नहीं करना चाहिये, क्यों कि—ये दोनों अभक्ष्य पदार्थ हैं—बुद्धि को भ्रष्ट करने वाले हैं। तथा किसी से ईर्षा भी नहीं करनी चाहिये; क्योंकि ईर्षा से विश्वबन्धुत्व की भावना नष्ट होती है और आत्मा में अयोग्य संकीर्णता आती है। तथा बारंबार घृतादि पौष्टिक पदार्थों का भी सेवन नहीं करना चाहिये; क्योंकि—पौष्टिक पदार्थों का प्रतिदिन सेवन करने से मादकता की वृद्धि होती है। तथा प्रतिदिन पुनः पुनः कायोत्सर्ग-ध्यान करना चाहिये; क्योंकि ध्यान से आत्म-शुद्धि होती है। तथा वाचनादि स्वाध्याय योग में प्रयत्न शील होना चाहिये, क्योंकि स्वाध्याय से ज्ञान की वृद्धि होती है एवं चित्त में स्थिरता आती है। उपलक्षण से साधु की अन्य वृत्तियों का भी इसी प्रकार ग्रहण कर लेना चाहिये।

उपर्युक्त क्रियाओं के करने से साधु की विहार चर्या ठीक होती है एवं पराधीनता के स्थान में स्वतंत्रता की भावना जागृत होती है। शुभ क्रियाओं का अन्तिम फल निर्वाण होता है। यही मुनि का चरम लक्ष्य है ॥ ७ ॥

उत्थानिका—अब, शयनासन आदि की ममता नहीं करने का उपदेश देते हैं—

ण पडिन्नविज्जा सयणासणाइं, सिज्जं निसिज्जं तह भत्तपाणं।

असंक्लिष्टैः सम वसेत् , मुनिश्चारित्रस्य यतो न हानिः ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(मुणी) साधु (गिहिणो) गृहस्थ की (वेआवडिअं) वैयावृत्य (वा) अथवा (अभिवायणवंदण पूअण) अभिवादन, वन्दन और पूजन आदि सत्कार (न कुज्जा) न करे और (जओ) जिससे (चरित्तस्स) चारित्र की (हाणी) हानि (न) न हो, ऐसे (असंकिलिट्ठेहिं) संक्लेश रहित साधुओं के (सम) साथ (वसिज्जा) निवास करे ॥ ९ ॥

मूलार्थ—वास्तविक साधुता उसी साधु में आती है, जो गृहस्थों का वैयावृत्य, अभिवादन, वन्दन और पूजन आदि से सत्कार नहीं करता है, तथा जिससे चारित्र की हानि न होवे, ऐसे संक्लेश रहित साधुओं के संसर्ग में रहता है ॥ ९ ॥

भाष्य—साधु को साधु वृत्ति से पराङ्मुख होकर किसी आशा के कारण से गृहस्थों के साथ वैयावृत्य = सेवा भक्ति का, अभिवादन = वचन द्वारा सत्कार करने का वन्दन = काय द्वारा हाथ जोड़ कर प्रणाम करने का, तथा पूजन = वस्त्रादि द्वारा सत्कार करने का, वर्ताव किसी भी अवस्था में नहीं करना चाहिए। क्योंकि—ऐसे सम्बन्ध से भोगविलासों की तरफ रुचि होती है एवं चारित्र की तरफ से उदासीनता होती है। जैसा संसर्ग होता है, वैसा होकर ही रहता है।

अब प्रश्न यह होता है कि—यदि साधु ऐसे काम करता हुआ गृहस्थों के संसर्ग में न रहे तो

माव करना उचित नहीं है ॥ ८ ॥

भाष्य—किसी क्षेत्र में ठहरे हुये जब मासकल्प आदि पूरा होजावे, तब विहार करते समय साधु को श्रावकों से यह नहीं कहना चाहिये कि—"ये शयन = संस्तारक, आसन = पीठ फलक आदि, शय्या = वसति, निषद्या = स्वाध्याय भूमि तथा तत्कालावस्थायी खड खाद्य द्राक्षापान आदि, वस्तुएं खूब सुरक्षित रखना। जब मैं पुन लौटकर आऊ, तब मुझे ही देना। यदि कोई और मांगे तो स्वतः नहीं करदेना।" इस प्रकार कहने का निषेध इसलिये किया है कि—ऐसा करने से ममत्व भाव का दोष लगता है।

ममत्वभाव का सार्वत्रिक निषेध करते हुये सूत्रकार और भी स्पष्टता कथन करते हैं कि—ग्राम, नगर, कुल, और देशादि किसी स्थान पर भी साधु को ममत्व भाव नहीं करना चाहिये। क्योंकि सासारिक दुःखों का मूल कारण ममत्वभाव ही है। जिसने ममत्व को जीत लिया, उसने सब कुछ जीत लिया ॥ ८ ॥

उत्थानिका—अब, अव्रती के पास रहने का निषेध करते हैं—

गिहिणो वेआवडिय न कुज्जा, अभिवायण-वदण पूअण वा।
असकिलिट्ठेहिं सम वसिज्जा, मुणी चरित्तस्स जओ न हाणी ॥ ९ ॥

गृहिणो वैयावृत्यं न कुर्यात्, अभिवादन ...

असंक्लिष्टैः समं वसेत् , मुनिश्चारित्रस्य यतो न हानिः ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(मुणी) साधु (गिहिणो) गृहस्थ की (वेआवडिअ) वैयावृत्य (वा) अथवा (अभिवायणवंदण पूअण) अभिवादन, वन्दन और पूजन आदि सत्कार (न कुज्जा) न करे और (जओ) जिससे (चरित्तस्स) चारित्र की (हाणी) हानि (न) न हो, ऐसे (असंकिलिट्ठेहिं) संक्लेश रहित साधुओं के (समं) साथ (वसिज्जा) निवास करे ॥ ९ ॥

मूलार्थ—वास्तविक साधुता उसी साधु में आती है, जो गृहस्थों का वैयावृत्य, अभिवादन, वन्दन और पूजन आदि से सत्कार नहीं करता है, तथा जिससे चारित्र की हानि न होवे, ऐसे संक्लेश रहित साधुओं के संसर्ग में रहता है ॥ ९ ॥

भाष्य—साधु को साधु वृत्ति से पराङ्मुख होकर किसी आशा के कारण से गृहस्थों के साथ वैयावृत्य = सेवा भक्ति का, अभिवादन = वचन द्वारा सत्कार करने का वन्दन = काय द्वारा हाथ जोड़ कर प्रणाम करने का, तथा पूजन = वस्त्रादि द्वारा सत्कार करने का, वर्ताव किसी भी अवस्था में नहीं करना चाहिए। क्योंकि—ऐसे सम्बन्ध से भोगविलासों की तरफ रुचि होती है एवं चारित्र की तरफ से उदासीनता होती है। जैसा संसर्ग होता है, वैसा होकर ही रहता है।

अब प्रश्न यह होता है कि—यदि साधु ऐसे काम करता हुआ गृहस्थों के संसर्ग में न रहे तो

फिर किनके संसर्ग में रहे ? सूत्रकार उत्तर देते हैं कि—जो मुनि सभी प्रकार के गृहस्थसम्बन्धी संक्लेशों से रहित हैं—उत्तम चारित्री हैं, उन्हीं के संसर्ग में—साथ में साधु को रहना चाहिये। कारण कि—साधु को उन्हीं के साथ रहना उचित है, जिनके साथ रहने से स्वीकृत चारित्र में किसी प्रकार की हानि न पहुंचे। सहवास समान धर्म वालों का ही उपयुक्त होता है।

यह सूत्र 'अनागत काल विषयक' जानना चाहिये। क्योंकि—प्रणयनकाल में संक्लिष्ट साधुओं का अभाव होता है। अतएव उक्त कथन की सिद्धि नहीं हो सकती॥ ९॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यदि श्रेष्ठ मुनि न मिलें तो फिर क्या करना चाहिये ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

ण या लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहिअं वा गुणओ समं वा।
इक्कोवि पावाइं विवज्जयंतो विहरिज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ १० ॥

न यदि लभेत निपुणं सहायं, गुणाधिकं वा गुणतः समं वा।
एकोऽपि पापानि विवर्जयन्, विहरेत् कामेषु असज्जमानः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(या) यदि (गुणाहिअं) गुणों से अधिक (वा) किंवा (गुणओसमं) गुणों से तुल्य (वा) किंवा (निउणं) संयम पालने में निपुण कोई (सहायं) सहायक साधु (न लभिज्जा)

न मिले तो साधु (पावाई) पाप कर्मों को (विवज्जयतो) वर्जता हुआ (कामेसु) काम भोगों में (अमज्जमाणो) आसक्त न होता हुआ (एगोवि) अकेला ही (विहरिज्ज) विचरे ॥ १० ॥

मूलार्थ—यदि अपने से गुणों में अधिक, गुणों में तुल्य एवं संयम क्रिया में निपुण कोई साधु न मिले तो मुनि, पापकर्मों का परित्याग करता हुआ एवं काम भोगों में आसक्त न होता हुआ अकेला ही विचरे, किन्तु शिथिलाचारी साधुओं के संग न रहे ॥ १० ॥

भाष्य—यदि कभी कालदोष के माहात्म्य, से संयमानुष्ठान में कुशल, परलोक साधन में सहायक, अपने से ज्ञानादि गुणों में अधिक, तथा गुणों में समान, कोई विशुद्ध मुनि न मिले तो मुनि को सहर्ष अकेला ही विचरना चाहिये। किन्तु भूल कर भी शिथिलाचारी और संक्लेशी मुनियों के साथ नहीं विचरना चाहिये। क्यों कि—शिथिलाचारी मनुष्यों के साथ विचरने से चारित्र धर्म की हानि होती है और जन समाज में अपनी अप्रतीति होती है। अयोग्य साथी से सिवा हानि के और कुछ लाभ नहीं।

पर अकेले विचरने वाले मुनियों से सूत्रकार एक शर्त लगाते हैं, उसका पालन करना आवश्यक होगा। वह शर्त यह है कि—अकेले विचरते समय पापकर्मों की ओर चित्त नहीं लगाना चाहिये। कठिन से कठिन संकट में भी पापकर्मों को हलाहल विषके समान समझे और स्पर्श न करे। तथा कामभोगों में आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। विषय भोग, कैसे ही क्यों न सुलभ और सामह निमन्त्रित

फिर किनके संसर्ग में रहे ? सूत्रकार उत्तर देते हैं कि—जो मुनि सभी प्रकार के गृहस्थसम्बन्धी संक्लेशों से रहित हैं—अक्षय चारित्री हैं, उन्हीं के संसर्ग में—साथ में साधु को रहना चाहिये। कारण कि—साधु को उन्हीं के साथ रहना उचित है, जिनके साथ रहने से स्वीकृत चारित्र में किसी प्रकार की हानि न पहुंचे। सहवास समान धर्म वालों का ही उपयुक्त होता है।

यह सूत्र 'अनागत काल विषयक' जानना चाहिये। क्योंकि—अवसर्पिणीकाल में सहिष्णु साधुओं का अभाव होता है। अतएव उक्त कथन की सिद्धि नहीं हो सकती॥ ९॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, यदि श्रेष्ठ मुनि न मिलें तो फिर क्या करना चाहिये ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

ण या लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
इक्कोवि पावाइं विवज्जयंतो विहरिज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ १० ॥

न यदि लभेत निपुणं सहायं, गुणाधिकं वा गुणतः समं वा।
एकोऽपि पापानि विवर्जयन्, विहरेत् कामेषु असज्जमानः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(या) यदि (गुणाहियं) गुणों से अधिक (वा) किंवा (गुणओसमं) गुणों से तुल्य (वा) किंवा (निउणं) संयम पालने में निपुण कोई (सहायं) सहायक साधु (न लभिज्जा)

(सुत्तस्स) सूत्र का (अत्थो) अर्थ (जह) जिस प्रकार (आणवेइ) आज्ञा करे, उसी प्रकार (भिक्खू) साधु (सुत्तस्स) सूत्र के (मग्गेण) मार्ग से (चरिज्ज) चले ॥ ११ ॥

मूलार्थ—एक स्थान पर वर्षाऋतु में चार महिने और अन्य ऋतुओं एक महिने ठहरने का उत्कृष्ट प्रमाण कथन किया है, अतः उसी स्थान पर दूसरा चतुर्मास अथवा मास कल्प मुनि को नही करना चाहिये। क्योंकि सूत्र के उत्सर्ग और अपवाद रूप अर्थ की जिस प्रकार से आज्ञा हो, उसी प्रकार से सूत्रोक्त मार्ग पर मुनि को चलना चाहिये ॥ ११ ॥

भाष्य—जिस साधु ने जिस स्थान पर चतुर्मास वा मासकल्प किया हो, तब फिर उसी साधु को उसी स्थान पर दूसरा चतुर्मास वा मासकल्प कदापि नहीं करना चाहिये अर्थात् दो किंवा तीन चतुर्मासादि अन्यत्र करके फिर उसी स्थान चतुर्मासादि करना उचित है। अतएव जिस प्रकार सूत्रार्थ की आज्ञा हो उसी प्रकार साधु को वर्तना चाहिये। क्योंकि—सूत्रोक्त मार्ग से चलता हुआ साधु आज्ञा का आराधक होता है। अस्तु जो मुनि सूत्र के भावों को सम्यक् प्रकार से विचार करके फिर तदनुसार चलते हैं, वे तो अपने कार्य की सिद्धि कर लेते हैं किन्तु जो मुनि इसके विपरीत चलते हैं वे कार्य सिद्धि तो क्या, अपनी सत्ता भी खो बैठते हैं ॥ ११ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, आत्म विचारणा के विषय में कहते हैं—

जो पुव्वरत्तावररत्तकाले, संपेहए अप्पगमप्पएणं।

हों, तोभी उनकी ओर दृष्टि तक न करे। अकेले पन में किसी की रोक-रुकावट नहीं रहती; इसी लिये ये शर्तें लगाई हैं।

इस प्रकरण से अकेले विचर कर अपनी मनमानी करने वाले, स्वच्छन्द वृत्ति के साधु फायदा न उठावें। यहाँ सूत्रकार अकेले विचरने की आज्ञा नहीं देरहे हैं, बल्कि अपवाद बतला रहे हैं। अपवाद सदा के लिए नहीं, कुछ काल के लिए ही होता है। और फिर इस में तो अकेले विचरने का समय भी तो बहुत कठिन माँगा गया है। ऐसा समय हर किसी को नहीं मिलता ॥ १० ॥

उत्थानिका—अब, विहार काल का मान बतलाते हैं—

> सवच्छरं वावि परं पमाणं, बीअं च वासं न तहिं वसिज्जा।
> सुत्तस्स मग्गेण चरिज्ज भिक्खू, सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ ॥ ११ ॥

> संवत्सरं वाऽपि परं प्रमाणं, द्वितीयं च वर्षं न तत्र वसेत्।
> सूत्रस्य मार्गेण चरेद् भिक्षुः, सूत्रस्यार्थो यथा आज्ञापयति ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(संवच्छरं) वर्षाकाल में चार मास (वावि) अन्य ऋतुओं में एक मास रहने का (परं) उत्कृष्ट (पमाणं) प्रमाण है, सो जहाँ पर चतुर्मास किया हो वा मास कल्प किया हो (तहिं) वहाँ पर (बीअं) द्वितीय (वासं) चतुर्मास वा मासकल्प (न वसिज्जा) नहीं रहना चाहिये; क्योंकि

के पहले पहर और पिछले पहर में अपनी आत्मा को (कर्म भूत) अपनी आत्मा द्वारा ही (करणभूत) सम्यक् प्रकार से अर्थात् सूत्रोपयोगिनीनीति से देखना चाहिये, तथा सर्वेव काल एकान्त स्थान में यह विचार करना चाहिये कि—मैंने क्या क्या शुभ कृत्य किये हैं ? तथा मुझे कौन कौन से तपश्चरणादि करने बाकी हैं ? तथा वे कौन—कौन से कृत्य हैं जिनके करने की मुझ में शक्ति तो है, परन्तु मैं प्रमाद के कारण उन्हें आचरण नहीं करता हूं ?

कारणकि—ऐसा करने से श्रम का पहुंचा दूर होता है, स्वकर्तव्य का भान होता है, आलस्य के स्थान पर पुरुषार्थ का उत्थान होता है तथा पापमल के दूर होने पर निजात्मा की शुद्धि होती है, जिससे अजर अमर मोक्ष धाम में पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति होती है ।

सूत्रमें 'किं मे कृत्य' वाक्य में जो मे यह षष्ठी विभक्ति दी है, वह 'मया' इस तृतीया के स्थान पर है। यह प्रयोग छान्दस है अतः शुद्ध है ॥ १२ ॥

उत्थानिका—अब फिर, उक्त विषय पर ही कहा जाता है—

किं मे परो पासइ किं च अप्पा , किं वाऽहं खलिअं न विवज्जयामि ।

इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो , अणागयं नो पडिबंध कुज्जा ॥ १३ ॥

किं मम परः पश्यति किं चात्मा , किं वाऽहं स्खलितं न विवर्जयामि ।

इत्येव सम्यगनुपश्यन् , अनागतं न प्रतिबंधं कुर्यात् ॥ १३ ॥

किं मे कडं किंच मे किच्चसेसं, किं सक्कणिज्जं न समायरामि ॥ १२ ॥

यः पूर्वरात्रापररात्रकाले, संप्रेक्षते आत्मानमात्मना ।

किं मया कृतं किंच मम कृत्यशेषं, किं शक्यं न समाचरामि ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(मे) मैंने (किं) क्या (किच्चं) करने योग्य कार्य (कडं) किया है तथा (मे) मेरा (किं) क्या (किच्च) कृत्य (सेसं) शेष रहा है, तथा (किं) क्या (सक्कणिज्ज) कार्य करने की मेरे में शक्ति है, जिस में (न समायरामि) आचरण नहीं करता हूँ—इस भांति (जो) जो साधु (पुव्वरत्तावररत्तकाले) रात्रि के प्रथम प्रहर और चरम प्रहर में (अप्पगं) अपनी आत्मा को (अप्पएणं) अपनी आत्मा द्वारा ही (संपिक्खए) सम्यक् प्रकार से देखता है, वही श्रेष्ठ है ॥ १२ ॥

मूलार्थ—जो साधु, रात्रि के प्रथम प्रहर और अन्तिम प्रहर में अपनी आत्मा को अपनी आत्मा द्वारा सम्यक् प्रकार से देखता है और, विचारता है कि मैंने क्या किया है, मुझे क्या करना शेष है, मेरे में किस कार्य के करने की शक्ति है, जिसे मैं नहीं कर रहा हूँ—वही सर्व शिरोमणि साधु होता है ॥ १२ ॥

भाष्य—इस सूत्र में आत्मदर्शी बनने के लक्षण वर्णन किये हैं। यथा—साधु को रात्रि

भाव यह है कि—जो मुनि, उपर्युक्त रीति से सम्यक्तया अपने आत्म स्वरूप को देखता है वह अनागत काल में किसी प्रकार का दोष नहीं लगा सकता है। वह जब कभी कोई भूल होती है तब शीघ्र ही उस भूल को स्मृति में लाकर भविष्य में ऐसी भूल न होने के लिये सावधान होजाता है। स्खलित होना बुरा है किन्तु इससे भी बुरा वह है, जो स्खलित होकर फिर सम्भलने की चेष्टाएं नहीं करता ॥ १३ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, साधु को सँभलने के लिये अश्व का दृष्टान्त देते हैं—

जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्त, काएण वाया अदु माणसेण।
तत्थेव धीरो पड़िसाहरिज्जा, आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीण ॥ १४ ॥

यत्रैव पश्येत् क्वचिद् दुष्प्रयुक्त, कायेन वाचाऽथवा मानसेन।
तत्रैव धीरः प्रतिसंहरेत्, आकीर्णः क्षिप्रमिव खलिनम् ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—प्रतिलेखन प्रमुख क्रिया के किसी भी समय (जत्थेव) जिस स्थान पर (काएण) काय से (वाया) वचन से (अदु) अथवा (माणसेण) मन से अपने आप को (दुप्पउत्त) दुष्प्रयुक्त-प्रमादयुक्त (पासे) देखे तो (धीरो) धैर्यवान् साधु (तत्थेव) उसी स्थान पर अपने आपको (पड़िसाहरिज्जा) शीघ्रतया सभाल ले (इव) जिस प्रकार (आइन्नओ) जातिवान् अश्व (खिप्पं)

अन्वयार्थ—(परो) अन्य पुरुष (मे) मेरी (किं) क्या (खलिअं) स्खलना (पासइ) देखता है (च) तथा (अप्पा) मैं स्वयं अपने प्रमाद के प्रति (किं) क्या देखता हूं (वा) तथा (अहं) मैं (किं) क्या (खलिअं) स्खलित (न) नहीं (विवज्जयामि) छोड़ता हूं (इच्चेव) इस प्रकार (सम्मं) सम्यक्तया (अणुपासमाणो) विचार करता हुआ साधु (अणागयं) अनागत काल के (पडिबंधं) प्रतिबंध को (न कुज्जा) न करे, अर्थात् भविष्य में कोई दोष न लगावे ॥ १३ ॥

मूलार्थ—दूसरे लोग मुझे किस प्रकार स्खलित अवस्था में देखते हैं ? मैं अपने आत्मिक-कार्य सम्बन्धी प्रमाद को किस प्रकार देखता हूं ? मैं अपने इस स्खलित भाव को क्यों नहीं छोड़ता हूं ? —इस प्रकार सम्यक्तया विचार करता हुआ मुनि, भविष्य काल में किसी प्रकार का दोषात्मक-प्रतिबन्ध न करे ॥ १३ ॥

भाष्य—इस गाथा में साधु को पुनरपि विचार करने के लिए कहा गया है। यथा—आत्मार्थी मुनि शान्तचित्त से विचार करे कि— जब मैं किसी संयमसम्बन्धी नियम से स्खलित होता हूं तब मुझे स्वपक्ष और परपक्ष वाले सभी लोग किस घृणा की दृष्टि से देखते हैं ? तथा जब मैं प्रमाद के कारण चारित्र पथ से स्खलित होता हूं तब मैं 'यह कार्य करना मुझे उचित नहीं है'—इस भाँति विचार कर अपने आत्मस्वरूप को किस प्रकार से देखता हूं तथा मैं अपने इस दुष्ट प्रमाद के छोड़ने में किस कारण से असमर्थ हूं—क्यों नहीं इस को छोड़ता ?

भाव यह है कि—जो मुनि, उपर्युक्त रीति से सम्यक्तया अपने आत्म स्वरूप को देखता है, वह अनागत काल में किसी प्रकार का दोष नहीं लगा सकता है। वह जब कभी कोई भूल होती है तब शीघ्र ही उस भूल को स्मृति में लाकर भविष्य में ऐसी भूल न होने के लिये सावधान होजाता है। स्खलित होना बुरा है किन्तु इससे भी बुरा यह है, जो स्खलित होकर फिर सम्भलने की चेष्टाएँ नहीं करता ॥ १३ ॥

उत्थानिका—अब सूत्रकार, साधु को सँभलने के लिये अश्व का दृष्टान्त देते हैं—

जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्त, काएण वाया अदु माणसेण ।
तत्थेव धीरो पड़िसाहरिज्जा, आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीण ॥ १४ ॥

यत्रैव पश्येत् क्वचिद् दुष्प्रयुक्त, कायेन वाचाऽथवा मानसेन ।
तत्रैव धीरः प्रतिसहरेत्, आकीर्णः क्षिप्रमिव खलिनम् ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—प्रतिलेखन प्रमुख क्रिया के किसी भी समय (जत्थेव) जिस स्थान पर (काएण) काय से (वाया) वचन से (अदु) अथवा (माणसेण) मन से अपने आप को (दुप्पउत्त) दुष्प्रयुक्त-प्रमादयुक्त (पासे) देखे तो (धीरो) धैर्यवान् साधु (तत्थेव) उसी स्थान पर अपने आपको (पड़िसाहरिज्जा) शीघ्रतया सभाल ले (इव) जिस प्रकार (आइन्नओ) जातिवान् अश्व (खिप्प)

शीघ्र (खलीण) लगाम ग्रहण करता है और संभल जाता है ॥ १४ ॥

मूलार्थ—अपने आप को जब मन से, वचन से एवं काय से स्खलित होता हुआ देखे, तब बुद्धिमान् साधु को शीघ्र ही सँभलजाना चाहिये। जिस भाँति जातियुक्त अश्व नियमित मार्ग पर चलने के लिये शीघ्र ही लगाम को ग्रहण करता है, उसी भाँति साधु भी संयममार्ग पर चलने के लिये सम्यक् विधि का अवलम्बन करे ॥ १४ ॥

भाष्य—विचारशील साधु जब संयम सम्बन्धी प्रतिलेखना आदि क्रियाएं करे, तब यदि प्रमाद वश कोई मन वचन एवं काय योग से भूल हो जाय, तो उसी समय शीघ्र ही अपनी आत्मा को सम्भालले—अर्थात् निजात्मा को आलोचना द्वारा दोष से पृथक् करले। क्योंकि उसी समय न संभलने से फिर आगे चलकर अनेक दोषों की उत्पत्ति हो जायगी। 'छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति'।

अपने आप को किस प्रकार संभालले—इसपर सूत्रकार अश्व का दृष्टान्त देते हैं। जिसका भाव यह है कि जिस प्रकार उत्तम जातिवन्त शिक्षित घोड़ा लगाम के संकेत के अनुसार विपरीत मार्ग को छोड़ कर, नियमित मार्ग पर—चलता है और सुखी होता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् साधु भी शास्त्रीय विधि के अनुसार जो संयम का मार्ग नियत है, उसपर असंयम मार्ग को छोड़कर चले और लोक-परलोक दोनों में सुखी बने ॥ १४ ॥

उत्थानिका—अब प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

जस्सेरिसा जोग जिइंदिअस्स , धिईमओ सप्पुरिसस्स निच्च ।
तमाहु लोए पड़िबुद्धजीवी , सो जीअई संजमजीविएण ॥ १५ ॥

यस्य ईदृशाः योगाः जितेन्द्रियस्य , धृतिमतः सत्पुरुषस्य नित्यम् ।
तमाहुर्लोके प्रतिबुद्धजीवी , स जीवति संयमजीवितेन ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(जिइंदिअस्स) इन्द्रियजयी (धिईमओ) धैर्यवान् (जस्स) जिस (सप्पुरिसस्स) सत्पुरुष के (जोग) मन वचन काय योग (निच्च) सदा (एरिसा) इस प्रकार के रहते हैं (त) उसको (लोए) लोक में (पडिबुद्धजीवी) प्रतिबुद्ध जीवी (आहु) कहते हैं , क्योंकि (सो) वह (संजमजीविएण) संयम जीवन से (जीवइ) जीता है ॥ १५ ॥

मूलार्थ—जिसने चंचल इन्द्रियों को जीत लिया , जिसके हृदय में संयम के प्रति अदम्य धैर्य है , जिसके तीनों योग सदैव वश में रहते हैं , उस सत्पुरुष को विद्वान् लोग प्रतिबुद्धजीवी कहते हैं ; क्योंकि वह संसार में संयम जीवन से ही जीता है ॥ १५ ॥

भाष्य—जिसने स्पर्श आदि पाँचों इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया है जो संयम क्रियाओं के करने में अदम्य धैर्ययुक्त है जिसके मन वचन और काय योग वशीभूत हैं , जो सदैव काल

प्रमाद को सीखता है, तथा जो नित्य प्रति अपनी संयमसम्बन्धी क्रियाओं में लगा रहता है, ऐसे श्रेष्ठ मुनि को विद्वान् लोग संसार में 'प्रतिबुद्धजीवी'—यानी प्रमाद रहित जीवन वाला कहते हैं

कारण कि—वह साधु संयमजीवन से जीता है—अर्थात् उसका जीवन चारित्र धर्म से युक्त है। बात यह है कि—जो मनुष्य धर्मप्रेमी है वही जीवित गिना जाता है, धर्म हीन नहीं। धर्म हीन मनुष्य की तो मृतक से उपमा दी गई है। कुछ साँस के चलते रहने से ही जीवन नहीं गिना जाता, यों तो लुहार की धौंकनी भी साँस लेती रहती है। सच्चा जीवन तो संयम से ही सम्बन्ध रखता है। अतः संयमजीवी ही प्रतिबुद्धजीवी कहलाता है ॥ १५ ॥

उत्थानिका—अब चूलिका की समाप्ति में आत्म-रक्षा का उपदेश देते हैं—

अप्पा खलु सयय रक्खियव्वो, सव्विन्दिएहिं सुसमाहिएहिं ।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ, सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ ॥ १६ ॥ त्तिबेमि ।

आत्मा खलु सततं रक्षितव्यः, सर्वेन्द्रियैः सुसमाहितेन ।
अरक्षितो जातिपथमुपैति, सुरक्षितः सर्वदुःखेभ्यो मुच्यते ॥१६॥ इति ब्रवीमि ।

अन्वयार्थ—(सव्विन्दिएहिं सुसमाहिएहिं) समग्र इन्द्रियों द्वारा सुसमाहित मुनि से (अप्पा) यह आत्मा (खलु) निश्चय ही (सययं) सदाकाल (रक्खियव्वो) रक्षणीय है, क्योंकि (अरक्खिओ)

अरक्षित आत्मा तो (जाइपह) जातिपथ को (उवेइ) प्राप्त होती है और (सुरक्खियस्सो) सुरक्षित आत्मा (सव्वदुहाण) सब दु खों से (मुच्चइ) मुक्त होती है ॥ १६ ॥

(त्तिबेमि) इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जो मुनि स स्त इन्द्रियों द्वारा सुसमाहित हैं, उनका कर्तव्य है कि—वे अपनी आत्मा की सर्वकाल रक्षा करते रहें, क्योंकि अरक्षित आत्मा जातिपथ को प्राप्त होती है और सुरक्षित आत्मा सब दुःखों से मुक्त होजाती है ॥ १६ ॥

भाष्य—इस सूत्र में शास्त्र का उपसंहार और उपदेश का फल बतलाया गया है। यथा—साधु को अपनी आत्मा की बड़ी सावधानी से सदाकाल रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि—रक्षित की हुई आत्मा ही शारीरिक और मानसिक दुःखों से मुक्त होकर अनन्त निर्वाण सुख को प्राप्त होती है। इसके विपरीत जो आत्मा अरक्षित रहती है, वह एकेन्द्रिय आदि नानाविध जातियों के पथ की पथिक बनती है जहाँ वह ताडन-तर्जन आदि के अनेकानेक असह्य कल्पनातीत दुःख भोगती है।

अब प्रश्न यह होता है कि—आत्मा की रक्षा किस प्रकार करनी चाहिये? सूत्रकार उत्तर देते हैं कि-पाँचों इन्द्रियों के विकारों से निवृत्त होकर, समाधिस्थ होजाने से आत्मा की रक्षा होती है-अर्थात् तप संयम द्वारा ही आत्मा सुरक्षित की जा सकती है, और अजर अमर सर्वपद पासकती है॥१६॥

" गुरु श्री अपने शिष्य से कहते हैं कि—हे वत्स ! जिस प्रकार मैंने इस द्वितीय चूलिका का भाव गुरुमुख से श्रवण किया था, उसी प्रकार वर्णन किया है, अपनी बुद्धि से कुछ भी नहीं कहा है।"

इअ दसवेआलिअसुत्तस्स विवित्तचरिआ चूलिआ समत्ता ।

इति दशवैकालिकसूत्रस्य द्वितीया चूलिका समाप्ता ।

इति श्री दशवैकालिक सूत्र की विविक्तचर्या नामक दूसरी चूलिका की
" आत्म ज्ञान प्रकाशिका " नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ।

आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, जयपुर

इति श्री दशवैकालिकं सूत्रं समाप्तम् ।

श्री गुमानबाई गोलेछा की तरफ से भेंट—